विश्व-इतिहास-कोष

Encyclopedia of World History

चतुर्थ खण्ड

("कि" से लेकर "कौ" तक के विश्व-इतिहास के नामों का संकलन)

लेखक व सम्पादक

श्री चन्द्रराज भण्डारी "विशारद"

प्रकाशक

ज्ञान-मन्दिर, भानपुरा (मध्य-प्रदेश)

(१५ अगस्त १९६०)

प्रथम संस्करण } मूल्य पन्द्रह रुपये
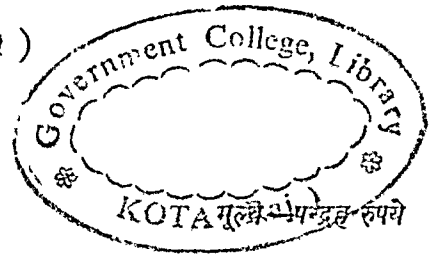
पूरा सेट १६ भागों का पेशगी मूल्य—१५० रुपये

प्रकाशक—
श्री चन्द्रराज भण्डारी
ज्ञान-मन्दिर, भानपुरा (मध्य-प्रदेश)

लेखक की अन्य पुस्तकें

(१) भगवान् महावीर—ऐतिहासिक जीवनी, पृष्ठ संख्या ५०० प्रकाशन सन् १९२५।

(२) भारत के हिन्दू सम्राट्—ऐतिहासिक ग्रंथ पृष्ठ संख्या ३००, भूमिका लेखक रायबहादुर स्व० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा। प्रकाशन सन् १६२५

(३) समाज-विज्ञान—समाज-शास्त्र का मौलिक ग्रंथ, कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा में स्वीकृत, पृष्ठ संख्या ६०० प्रकाशन सन् १६२७।

(४) अग्रवाल जाति का इतिहास—(दो खण्ड) पृष्ठ संख्या २००० प्रकाशन सन् १६३६।

(५) नैतिक-जीवन—पृष्ठ संख्या २०० प्रकाशन सन् १६२५।

(६) सिद्धार्थ कुमार (बुद्धदेव सम्बन्धी नाटक) प्रकाशन सन् १६२३।

(७) सम्राट् अशोक (नाटक) प्रकाशन सन् १६२४।

(८) बनौषधि-चन्द्रोदय (वानस्पतिक विश्व-कोष) १० भाग। २२०० पृष्ठ, प्रकाशन सन् १६३८ से १६४४ तक।

(९) भारत का औद्योगिक विकास—पृष्ठ संख्या ७०० प्रकाशन सन् १६६०।

(१०) ओसवाल जाति का इतिहास—पृष्ठ संख्या १००० प्रकाशन सन् १६३४।

(११) सम्पादक—जीव-विज्ञान (मासिक-पत्र) प्रकाशन सन् १६४६।

बुक-बाइण्डर
दफ्तरी एण्ड को०
चुलानाला,
वाराणसी।

मुद्रक—
प्रकाश प्रेस,
मध्यमेश्वर, वाराणसी।
फोन : ४८७८ :

विषय-सूची नं० १

(अकारादि क्रम से)

(पृष्ठ १३ का शेष)

प्रकीर्णक

विषय-सूची नं० २

(विषयानुक्रम से)

देश, नगर और प्रान्त

साहित्यकार-साहित्य ग्रन्थ

धर्म-धर्माचार्य्य-धर्मग्रन्थ

विज्ञान और वैज्ञानिक

(शेष पृष्ठ ८ पर)

प्रकाश—स्तम्भ !

इस ग्रन्थ की रचना में जिन महान् ग्रन्थकारों और विद्वानों की रचनाओं ने प्रकाश-स्तम्भ की तरह हमारे मार्ग को प्रकाशित किया है, उनके प्रति हम अपनी नम्र-श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उन रचनाओं की संक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है। पूरी और विस्तृत सूची ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दी जायगी।

हिन्दी

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी	हिन्दी-विश्व-कोष (भाग १–२–३–४)
श्री नगेन्द्र नाथ वसु	हिन्दी-विश्व-कोष (२२ भाग तक)
महापंडित राहुल सांकृत्यायन	मध्य-एशिया का इतिहास (भाग १—२) और अकबर
डा० भगवत् शरण उपाध्याय	विश्व-साहित्य की रूप-रेखा, प्राचीन भारत का इतिहास
रा० व० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	राजपूताने का इतिहास (८ भाग)
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार	एशिया का आधुनिक इतिहास, यूरोप का आधुनिक इतिहास
श्री गंगा प्रसाद एम० ए०	अंग्रेज जाति का इतिहास
श्री शिवचन्द्र कपूर एम० ए०	इंग्लैंड का इतिहास
वरवे और चतुर्वेदी	इंगलैण्ड का इतिहास
श्री पट्टाभि सीतारामैय्या	कांग्रेस का इतिहास
श्री ज्योति प्रसाद सूद एम० ए०	राजनैतिक विचारों का इतिहास, (भाग १—२)
श्री आचार्य नरेन्द्र देव	बौद्ध-दर्शन
श्री सुख-सम्पत्ति राय भंडारी	भारत के स्वतंत्र्य-संग्राम का इतिहास, भारत के देशी राज्य
श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ	भारत के प्राचीन राजवंश (भाग १–२–३)
आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
श्री पं० बलदेव उपाध्याय	संस्कृत-साहित्य का इतिहास
श्री ब्रजरत्न दास	उर्दू-साहित्य का इतिहास
श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय	शेर और शायरी
पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी	भारतीय-चरिताम्बुधि

डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०, डी-लिट्०	बंगला-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
के० भाष्करन् नायर	मलयालम-साहित्य का इतिहास
श्री सुरेन्द्रनाथ बिसारिया	आधुनिक राजनीतिक विचार धाराएँ
श्री परशुराम चतुर्वेदी	सन्त-काव्य, उत्तर भारत की सन्त परंपरा
डॉ० प्रभात कुमार भट्टाचार्य	प्रतिनिधि राजनैतिक विचारक
श्री देवीप्रसाद मुन्सिफ	मारवाड़ राज्य का इतिहास
श्री जयचंद्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य	हिन्दू-भारत का अन्त
पं० रामनरेश त्रिपाठी	कविता-कौमुदी (५ भाग)
श्री गुलाबराय एम० ए०	विज्ञान-विनोद
श्री गुरुनाथ शर्मा	मिस्र की राष्ट्रीय प्रगति
श्री रामदास गौड़ एम० ए०	हिन्दुत्व
श्री 'इन्द्र' विद्या वाचस्पति	आर्य-समाज का इतिहास
श्री पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी	समाचार-पत्रों का इतिहास
श्री शंकर राव जोशी	रोम-साम्राज्य
प्लूटार्क, अनुवादक श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव	ग्रीस और रोम के महापुरुष
डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार	इंग्लैण्ड का इतिहास
एल० मुकुर्जी	युरोप का इतिहास
श्री सुरेन्द्रनाथ सेन	अठारह सौ सत्तावन
श्री पी० वी० बापट	बौद्धधर्म के २५०० वर्ष
श्री रामनारायण दूगड़	मुणोत नेणसी की ख्यात
महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह	मालवा में युगान्तर
श्री रामदत्त सांकृत्य	मेगास्थनीज का भारतीय
श्री सुरेश्वर प्रसाद एम० ए०	विश्व-सभ्यता का इतिहास
श्री शान्तिकुमार गोखुरू एम० एस० सी०	सरल सामान्य विज्ञान
श्री आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल	मेगास्थनीज-इण्डिका
श्री नाथूराम प्रेमी	जैन-साहित्य और इतिहास
श्री अशर्फी मिश्र बी० ए०	धनकुबेर कार्नेगी
श्री गोपाल नारायण बहुरा एम० ए०	रास-माला
श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	विश्व-साहित्य
श्री सत्यदेव विद्यालंकार	हमारे राष्ट्रपति
श्री द्विजेन्द्रलाल राय	कालिदास और भवभूति
श्री कामता प्रसाद जैन	संक्षिप्त जैन इतिहास
श्री रामकर्ण	मारवाड़ का मूल इतिहास
श्री सुखसम्पत्ति राय भंडारी	जगद्गुरु भारत वर्ष

श्री सुन्दर लाल — भारत में अंग्रेजी-राज्य
श्री हरिवंश राय 'बच्चन' — उमर खयाम की रुबाइयाँ
श्री चन्द्रराज भंडारी — समाज-विज्ञान, भगवान् महावीर, भारत के हिन्दू-सम्राट, भारत का औद्योगिक विकास और अग्रवाल-जाति का इतिहास

साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', साप्ताहिक, 'धर्मयुग', 'कादम्बिनी' और हिन्दीनवनीत के करीब ३०० प्राचीन अंक।

गुजराती—

श्री मोहनलाल दुलीचन्द — जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास
श्री रतीलाल नायक — विज्ञान-कथा
श्री कृष्णलाल मोहनलाल जवेरी — गुजराती-साहित्यना मार्ग-सूचक स्तम्भो
श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री — आयुर्वेदनो इतिहास
श्री मुनि विद्या विजय — म्हारी कच्छ-यात्रा

English

H. G. Wells — Out line of History
K M. Pannikar — A survcy of Indian History
Moreland — India from Akabar to Aurangzeb
Homes — History of Indian Mutiny
K. M. Pannikar — The future of South East Asia
Roy-Chaudhari — Political history of Ancient India
Bhandarkar — Early History of Daccan, Asoka
E. G. Browne — Literary History of Persia
H. H. Howarth — History of Mangol
L. A. Mills — The New World of South East Asia
Chaldea — The Story of the Nations
John Macy — The Story of the World's Literature
Nawrice W. Ph-d. — A Story of Indian Literature
Hays C. J. H. — A History of Modern Europe
A. Bersidale Keith — A History of Sanskrit Literature
Sarkar & Srivastava — The World Year-Book

विश्व-इतिहास-कोष

Encyclopedia of World History

[चतुर्थ खण्ड]

ज्ञान-मन्दिर—प्रकाशन

विश्व-इतिहास-कोष

चतुर्थ खंड

कानून

मनुष्य की आसुरी वृत्ति और अपराध-प्रवृत्ति पर नियंत्रण करके, उसे सामाजिक जीवन को योग्य बनाने के लिए निर्मित एकशास्त्र और शक्ति-सम्पन्न संस्था। जिसका विकास भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से और भिन्न-भिन्न समयों में हुआ। इसे अरबी में कानून, फारसी में "आईन" और अंग्रेजी में लॉ (Law) कहते हैं।

मनुष्य जबसे सामाजिक जीवन में रहने का अभ्यस्त हुआ तभी से उसके अन्तर्गत कानून और सामाजिक न्याय की सूक्ष्म भावनाओं का उदय हुआ। बलवान के द्वारा दुर्बलों पर होने वाले अत्याचार और "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली मनुष्य को आसुरी प्रवृत्ति से रक्षा करने के लिए इस प्रकार की भावनाओं को क्रमशः सक्रिय रूप मिलना प्रारम्भ हुआ।

मनुष्य जिस समय घूमने-फिरने वाले कबीलाई जीवन में रहता था, उस समय शक्ति का सिद्धान्त ही सर्वोपरि था। प्रत्येक शक्तिशाली कबीला कमजोर कबीलों पर आक्रमण करके उसकी सम्पत्ति और स्त्रियों को लूट लेता था और पराजित लोगों को गुलाम बना लेता था।

मगर जब यही कबीले धीरे-धीरे एक स्थान पर स्थायी होकर बसने लगे और खेती-बाड़ी करने लगे, तब इन्होंने ही छोटे-छोटे राज्यों का रूप धारण किया और समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए कुछ नियमों की रचना की। इन्हीं नियम-उपनियमों ने आगे जाकर कानून का रूप धारण किया।

संसार के उन देशों में जहाँ निरंकुश राज्यतंत्र की पद्धतियाँ कायम हुईं, वहाँ कानून और न्याय की सारी शक्ति राजा के अन्दर केन्द्रित रहती थी और वहाँ "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाँव"—यह कहावत चरितार्थ होती थी।

जहाँ किसी रूप में प्रजातंत्र-पद्धतियाँ कायम हुईं वहाँ 'सिनेट' अर्थात् राज्य-सभाएँ, ऐसे कानूनों का निर्माण करती थीं।

अब हम अत्यन्त संक्षिप्त में यह देखना चाहते हैं कि संसार के विभिन्न देशों में कानून का विकास किस-किस प्रकार हुआ।

सम्राट् हम्मूराबी की कानून-संहिता

ईस्वी सन् से २१२३ वर्ष पहले बेबिलोनिया में सम्राट् हम्मूराबी नामक एक प्रतापी सम्राट् हुआ। उसने अपने राज्य में एक कानून संहिता का निर्माण करके उसे शिलाओं पर खुदवा दिया। वे ही शिलाएँ अभी प्राप्त हुई हैं। कई इतिहासकारों के मत से हम्मूराबी की यह कानून संहिता ही संसार का सबसे पहला लिखित 'विधान' है।

हम्मूराबी की इस कानून-संहिता से पता चलता है कि उस समय मेसोपेटोमियाँ में सारा समाज तीन भागों में बँटा हुआ था। सबसे उच्च वर्ग में राजवंश के सदस्य उच्च पदाधिकारी और धर्म-पुरोहित माने जाते थे। भारतवर्ष में जो स्थान ब्राह्मणों का था, वही वहाँ पर पुरोहितों का था। दूसरे वर्ग में व्यवसायी और किसानों का स्थान था। यह वर्ग भी बहुत सुखी और सम्पन्न था। इस वर्ग के पास अपने छोटे-छोटे संघ और न्यायालय थे, जहाँ ये स्वयं अपने छोटे-मोटे मामलों के फैसले कर लेते थे। तीसरा वर्ग गुलामों और मजदूरों का था। यह वर्ग सबसे दुःखी और असहाय था। ये दास अपने स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे।

कानून भी इन तीनो वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का था। राज्यवर्ग को यदि कोई शारीरिक यातना पहुँचाता तो अपराधी को उसी प्रकार का यातना दण्ड दिया जाता था। मध्यमवर्ग को यदि कोई यातना देना तो अपराधी पर चाँदी के सिक्कों का जुर्माना होता था। मगर यदि कोई दासवर्ग को यातना पहुँचाता तो उसके लिए कोई जुर्माना या सजा नहीं थी। हम्मूराबी की कानून संहिता में जुलाहे, रंगरेज, बढ़ई, इंट बनाने वाले, सुनार, जौहरी, मूर्त्तिकार, कुम्हार, दर्जी, शराब बनाने वाले इत्यादि सभी पेशे के लोगों का वर्णन आया है और इन सभी लोगों के अधिकार कानून के द्वारा सुरक्षित थे।

सम्राट् हम्मूराबी की कानून संहिता में २८५ धाराएँ हैं। जिनमें व्यापार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, जमीदारी, परिवार-प्रणाली और कानून तथा दण्ड व्यवस्था इत्यादि सभी विषयों की धाराएँ सम्मिलित है।

बेबिलोन की कानून व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए सम्राट् हम्मूराबी ने एशिया के दूसरे राज्यों का अनुकरण नहीं किया। इस सम्राट् ने कानून-व्यवस्था को धर्माधिकारियों के हाथ से छीन कर स्वतन्त्र न्यायाधीशों की नियुक्ति की। इन न्यायाधीशो को "रबिअनु" कहा जाता था। ये लोग शान्ति और व्यवस्था के भी उत्तरदायी थे। इनको सलाह देने के लिए जूरियों की तरह "शिबूतो" नामक लोगों की एक समिति रहती थी।

रबिअनु नामक न्यायाधीश के फैसले पर अपील नगर के महान्यायाधीश "शर्कनक्कू" की अदालत में होती थी इस अदालत में भी कानून की सहायता के लिए दस व्यक्तियों की एक कमेटी रहती थी। अन्तिम अपील राज-दरबार में होती थी। अदालत में गवाही देनेवालों को उस समय भी देवताओं की शपथ लेनी पड़ती थी। जिस रबिअनु के अधिकार क्षेत्र में चोरी, डाकेजनी, हत्या इत्यादि अपराध हो जाते थे और अपराधी नहीं पकड़े जाते थे तो उस क्षेत्र के लोगों और स्वयं रबिअनु को नुकसान-दार की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

धोखेबाजी करना, चोरी करना, अपने से बड़े लोगों का अपमान करना इत्यादि अपराधों में कोड़े मारने की सजा का निर्देश था। बलात्कार, डकैती, हत्या, जहर देना, रणस्थल से पीठ दिखा कर भाग आना इत्यादि अपराधों के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। कई अपराधों में हाथ पैर काटना, आँखें निकाल लेना, आदि भयङ्कर दण्ड भी दिये जाते थे। व्यभिचारिणी स्त्री और डाईनों को फरात नदी के तेज बहावमें फेंक देने का विधान था। मगर यदि वे वहाँ से किसी प्रकार जीवित बच जाती तो निर्दोष समझकर छोड़ दी जाती थी। बहुत से अपराधों में अर्थ-दण्ड दिया जाता था जो १० शेकल (उस समय का सिक्का) से १०० शेकल तक होता था।

इसी प्रकार दीवानी कानून, जायदाद सम्बन्धी कानून, बटवारा कानून, विवाह कानून, तलाक कानून इत्यादि कई प्रकार के कानून बने हुए थे।

हम्मूराबी की कानून-संहिता में स्त्रियो के अधिकारो की बड़ी सुरक्षा रखी गई है। यद्यपि पितृ-सत्तात्मक समाज होने से स्त्रियो की अवस्था पुरुषों से हीन थी और उन्हें उनकी अधीनता में रहना पड़ता था, फिर भी हम्मूराबी के शासन-काल में उनके अधिकार कानून से सुरक्षित कर दिये गये थे। पुरुषों के अधीन होते हुए भी वे स्वतंत्र रूप से अपनी सम्पत्ति रख सकती थीं। जायदाद खरीद और बेच सकती थीं, मुकद्दमा दायर कर सकती थीं और न्यायालय में बहस कर सकती थी। हम्मूराबी के शासन-काल में पुरुषो की तरह उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार भी मिल गया था। पिता की सम्पत्ति में पुत्र और पुत्री दोनों का अधिकार होता था। वे शिक्षा प्राप्त कर लेखक (Scribe) का पेशा भी कर सकती थीं, मन्दिर की पुजारिनें भी बन सकती थीं।

विवाह के समय दहेज की प्रथा चालू थी। विवाह में एक इकरारनामा बनाया जाता था। बिना इकरारनामे के कोई विवाह वैध नहीं समझा जाता था। इस इकरारनामे में पुरुष प्रतिज्ञा करता था कि वह अपनी स्त्री को आदर-पूर्वक रखेगा और यदि तलाक देना होगा तो उस स्त्री को तलाक के समय एक निश्चित रकम देगा। स्त्री भी प्रतिज्ञा करती थी कि वह अपने पति के प्रति पूर्ण वफादार और पतिव्रता रहकर उसकी सेवा करेगी। हम्मूराबी के कानून में व्यभिचारिणी स्त्री को प्राणदण्ड देने का विधान था। विवाह-विच्छेद का अधिकार दोनों को समान रूप से

था। सन्तान न होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था, मगर इससे पहली स्त्री के आदर में कोई कमी नहीं आती थी।

हम्मूराबी की इस व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि—"बेबीलोनिया के समाज में विवाहिता स्त्रियों की स्थिति न केवल तत्कालीन संसार में अद्वितीय थी, बल्कि उनकी स्वतंत्रता और समानता के सम्बन्ध में उनकी तुलना आधुनिक यूरोप के बहुत से देशों के नारी-वर्ग के साथ की जा सकती है।

प्राचीन यूनान में कानून

प्राचीनकाल में यूनान कई छोटे छोटे नगर-राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें प्रजातांत्रिक ढङ्ग की राजव्यवस्था थी। इनमें एथेन्स का नगरराज्य सबसे प्रमुख था।

वहाँ पर कानून बनाने का काम बाऊल (Boule) और एकेलेसिया नामक-दो सभाएँ करती थीं। इनमें से एकेलेसिया (Ecelesia) जनता की सभा थी। इस सभा का कार्य्य शासनकर्ताओं के प्रबन्ध की जाँच करना, खाद्य तथा सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करना तथा देशद्रोह के अपराध या जप्त की गई सम्पत्ति के फैसले करना था।

उन दिनों एथेन्स की जनता १० भिन्न वर्गों में विभक्त थी। इन दसों वर्गों में से प्रत्येक वर्ग अपने पचास-पचास प्रतिनिधि चुनता था और एक वर्ग के पचास सदस्य वर्ष के दसवें भाग तक काम करते थे। इसलिए इन्हें "पेट्रानीज" कहा जाता था। ये पेट्रानीज ही शेष नौ वर्गों में से एक-एक प्रतिनिधि लेकर उनके साथ बैठकर काम करते थे। पेट्रानीज का अध्यक्ष इन्हीं पचास सदस्यों में से एक दिन के लिए लाटरी के द्वारा चुना जाता था। सभा का अधिवेशन प्रातःकाल पौ फटने पर सार्वजनिक चौराहे पर होता था। कार्यारम्भ होने से पहले एक वेदी पर सूअर की बलि दी जाती थी और उसके रक्त से मण्डप की परिधि खींचकर ईश्वर से विघ्न-बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना की जाती थी। उसके बाद कार्यारम्भ होता था। यही सभा कानून बनाने का काम करती थी।

न्याय-पालिका को हेलिया कहा जाता था। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में न्यायाधीश १० पेनलों में विभाजित थे, जिन्हें डिकास्ट्री कहते थे। निजी मुकद्दमों में मुआवजा वादी को प्राप्त होता था। न्यायालय की फीस जमानत के रूप में जमा होती थी और निर्णय से पूर्व मुकद्दमा उठा लेने पर वादी को कोई दण्ड नहीं मिलता था। परन्तु सार्वजनिक मुकद्दमों में, जिनमें फौजदारी के मुकद्दमे भी सम्मिलित थे, मुआवजा धन के रूप में होने पर राज्य को मिलता था और दण्ड (सजा) के रूप में होने पर राज्य से दिया जाता था। न्यायालय की कोई फीस नहीं जमा होती थी और निर्णय से पूर्व मुकद्दमा वापस लेने पर या निर्णय में न्यायालय का पञ्चमांश मत भी वादी के पक्ष में न होने पर उसे १०० ड्राख्म (यूनानी सिक्का) जुरमाने में देना पड़ता था और वह भविष्य में ऐसे मुकद्दमे लाने का अधिकार खो बैठता था।

यूनान के महान् तत्ववेत्ता 'अरस्तू' ने राज्य तथा सामाजिक जीवन के लिए कानून की आवश्यकता को अनिवार्य समझा है। उनका कथन है कि "बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य का काम भी समाज में कानून के बिना नहीं चल सकता। मनुष्य में स्वाभाविक ऐसी कमजोरियाँ और विकार रहते हैं कि उन पर कानून का नियंत्रण न हो तो समाज में अशान्ति और अराजकता का वातावरण पैदा हो जाता है। इसलिए, यदि हम चाहते हैं कि राज्य और समाज पर मानवीय विकारों का प्रभाव न पड़े तो हमें कानून को सर्वोपरि और राज्य को उसके अधीन बनाना होगा। कानून की छाया में मनुष्य की आत्मा पर नियंत्रण होकर उसको पूर्ण विकसित होने का अवसर मिलता है।"

इन सब बातों से पता चलता है कि उस युग के हिसाब से एथेन्स में कानूनी व्यवस्था का काफी विकास हो चुका था। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि कानून का यह लाभ वहाँ के नागरिकों को ही प्राप्त था। दासवर्ग और स्त्रियाँ—इस कानून के लाभ से बिल्कुल वञ्चित थीं। दासों को अपने स्वामियों की और स्त्रियों को अपने पतियों की निर्बाध गुलामी करनी पड़ती थी। स्वयं अरस्तू ने इन दोनों वर्गों को नागरिकता के अधिकार से वञ्चित रखने का समर्थन किया है।

प्राचीन रोम की कानून-व्यवस्था

रोम के प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से वहाँ पर एक प्रकार से प्रजातांत्रिक व्यवस्था चालू थी। मगर वहाँ पर 'प्लेबियन' और 'पैट्रीशियन' नामक समाज में दो दल थे और इन दोनों दलों में बड़ा संघर्ष चलता रहता था। पैट्रिशियन दल में उच्चकुल के लोग, राजपुरुष और अधिकारी लोग थे और प्लेबियन लोगों में साधारण जनता थी। वहाँ की विधान-सभा 'सीनेट' कहलाती थी। और इस सभा में पैट्रिशियन लोगों का ही विशेष बहुमत रहता था। फलस्वरूप पैट्रिशियन और प्लेबियन लोगों का संघर्ष बहुत वर्षों तक चलता रहा। अन्त में प्लेबियन लोगों को बहुत कुछ अधिकार मिले। रोमन-प्रजातंत्र में "सिनेट" नामक एक व्यवस्थापिका सभा, शासन करने और कानून बनाने का काम करती थी और इसी के बनाये हुए कानून का वहाँ के न्यायालय उपयोग करते थे।

'आगस्टस सीजर' के समय तक रोम अपने साम्राज्य का विस्तार करने और बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के काम में व्यस्त रहा, मगर आगस्टस सीजर ने साम्राज्य में शान्ति-स्थापन करने और आन्तरिक व्यवस्था को ठीक करने का काम हाथ में लिया। इसके समय में रोम की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। इसी के समय में रोम की कानून-संहिता में भी सुधार हुए। रोम के तत्कालीन न्यायालय अपनी कानूनी व्यवस्था के लिए उस समय प्रसिद्ध हो गये थे।

इसी रोमन कानून की आधार-शिला पर आधुनिक यूरोपीय कानून की बुनियाद रखी गयी है।

प्राचीन भारत में कानून का विकास

भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय से न्याय और कानून का विकास हो चुका था।

यहाँ के प्राचीन साहित्य में स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। इन्हीं स्मृति-ग्रन्थोंके आधार पर मानवीयधर्म को लक्ष्य में रख कर, हमारे यहाँ कानून के सिद्धान्तों का निरूपण होता था। ये स्मृतियाँ कुल मिलाकर बीस हैं और इनमें मनुस्मृति सबसे प्रधान है तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति, पाराशर-स्मृति इत्यादि भी बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इन स्मृतियों के आधार पर राज्य के धर्म-गुरु कानून के सिद्धान्तों का निरूपण करते थे और उन सिद्धान्तों को राजा लोग अपने न्यायालयों में सक्रिय रूप दिलवाते थे।

इन स्मृतियों में प्रधानतः तीन विषयों का समावेश है आचार, व्यवहार और प्रायश्चित।

इनमें से दूसरे विषय "व्यवहार" में ही कानून का समावेश होता है। इस "व्यवहार" शब्द में दीवानी फौजदारी सभी कानून आ जाते हैं। फौजदारी कानून के अन्तर्गत दण्डव्यवस्था और उसकी रूप-रेखा, गवाह और गवाहियों के प्रकार, शपथग्रहण, अग्नि शुद्धि, व्यवहार की प्रक्रिया तथा न्यायाधीश के गुण तथा न्याय पद्धति का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दीवानी कानून के अन्तर्गत सम्पत्ति का विभाजन, दाय भाग के अधिकारी, दायका अंश तथा इसके अतिरिक्त सीमा का निर्धारण, कर पद्धति की व्यवस्था इत्यादि बातों का विवेचन किया गया है।

सम्पत्ति के कानूनी अधिकार पर भी स्मृति ग्रंथों में काफी विवेचन किया गया है। वशिष्ठ स्मृति के अनुसार सम्पत्ति कानून तीन प्रकार का था। दस्तावेज, गवाही और कब्जा। यही प्रमाण अधिकार के लिए भी माने जाते थे। खेतों में गाड़ी घूम जाय इतना रास्ता रखना कानूनन अनिवार्य था। प्रत्येक दो मकानों के बीच में तीन फुट चौड़ा रास्ता रहना आवश्यक समझा गया था। पड़ोसियों की गवाही अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती थी। विरोधी गवाही से पहले कागज पत्रों पर विश्वास किया जाता था। यदि कागजों से भी मामला न सुलझे तो गाँव के वृद्ध लोगों की गवाही को प्रमाण भूत माना जाता था।

इन स्मृतियों में राजधर्म का वर्णन करते हुए उसके साथ कृषि-कानून, सम्पत्ति-कानून, उत्तराधिकार कानून, बटवारा कानून, फौजदारी कानून इत्यादि सभी कानूनों का वर्णन किया गया है।

इन सभी स्मृतियों में वर्णभेद के अनुसार दण्डभेद की व्यवस्था का ही समर्थन है।

बोधायन स्मृति के अनुसार ब्राह्मण यदि ब्राह्मण की हत्या करे तो उसके ललाट में गर्म लोहे का दाग लगा कर छोड़ दिया जाता था। मगर यदि को नीचेवाले वर्ण का

व्यक्ति किसी ब्राह्मण की हत्या कर दे तो उसे प्राणदण्ड मिलता था और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी।'

गौतम-स्मृति के अनुसार व्यभिचार के लिए अपराधी को उसकी जाति के अनुसार दण्ड दिया जाता था। व्यभिचार के अपराधी ब्राह्मण को देश निकाले की और उसी अपराध में शूद्र को प्राणदण्ड की सजा मिलती थी।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी उसके व्यवहार अध्याय में सब प्रकार के कानूनों पर व्यवस्था दी गई है। इसी स्मृति पर की गई विज्ञानेश्वर की टीका "मिताक्षरा" ही वर्तमान हिन्दू-लॉ की आधारशिला है।*

रघुवंशी राजाओंके राज्यकाल में इस न्याय-व्यवस्था का काफी विकास हो गया था। खास करके रामचन्द्र का 'रामराज्य' तो अपनी न्याय-व्यवस्था के लिए आज तक भी आदर्श माना जाता है।

फिर भी संसार के और देशों की तरह इस देश में भी न्याय की तराजू सब लोगों के लिए समान नहीं थी। वर्णाश्रम-धर्म की परम्परा के अनुसार उच्च वर्गों की न्याय-परम्परा भिन्न थी निम्ननवर्ग की भिन्न थी। पुरुषों को न्याय-व्यवस्था को जिस तराजू से तौला जाता था, स्त्रियों की न्याय-तराजू उससे भिन्न थी। इसके कुछ उदाहरण हमें रामायण में देखने को मिलते हैं—

"एक ब्राह्मण महाराज रामचन्द्र के दरबार में आकर फरियाद करता है कि उसका जवान पुत्र अकाल मृत्यु का ग्रास हो गया है। यह कैसे हुआ, इसका निर्णय होना चाहिए। महाराज रामचन्द्र महर्षि वशिष्ठ से इसका कारण पूछते हैं। महर्षि वशिष्ठ बतलाते हैं कि महाराज! शूद्रक नामक एक शूद्र व्यक्ति जंगल में मुक्ति पाने के लिए कठोर तपस्या कर रहा है। उसी के पाप से इस ब्राह्मण-कुमार की अकाल-मृत्यु हुई है। महाराज रामचन्द्र जंगल में जाकर राजा शूद्रक को तपस्या करते देखते हैं और उसके दण्ड-स्वरूप उसका सिर काट लेने की आज्ञा देते हैं।"

इसी प्रकार स्वयं अपनी प्राणाधिक पत्नी यानी महासती सीता को भी, जो सारे समाज के सम्मुख अपने सतीत्व की अग्निपरीक्षा देकर अपने को निर्दोष सिद्ध कर चुकी थी, उसको भी एक धोबी के अपवाद-मात्र से बनवास की सजा दे देते हैं।

मगर इन घटनाओं से महाराजा रामचन्द्र की न्याय-प्रियता को कोई दोष नहीं दिया जा सकता। वे तो उस समय की कानून-परम्परा से बँधे हुए थे जो ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित की गई थी यह दोष तो कानून-परम्परा का ही था।

महाभारत-काल में भी हमारे यहाँ की न्याय-परम्परा काफी उन्नति पर थी, मगर स्त्रियों और शूद्रों के साथ इस न्याय-परम्परा में भी उसी प्रकार का पक्षपात बरता जाता था। धर्मराज के समान महान् व्यक्ति के द्वारा अपनी पत्नी द्रौपदी को जुए के दांव पर चढ़ा देना और द्रोणाचार्य्य के द्वारा शस्त्र-विद्या में पारङ्गत शूद्र-एकलव्य का अंगूठा कटवा लेना स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत करता है कि उस समय की कानून-परम्परा में शूद्रों और स्त्रियों की क्या स्थिति थी।

मौर्य्य-साम्राज्य में कानून की स्थिति

कौटिल्य-अर्थशास्त्र से पता चलता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय में यहाँ की कानून-व्यवस्था का बहुत विकास हो चुका था। (ई० सन् पूर्व ३२१ वर्ष)

सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन-काल में दीवानी और फौजदारी की अलग-अलग अदालतें चलती थीं। दीवानी अदालत को उस समय "धर्मस्थीय" और फौजदारी अदालत को "कण्टकशोधन" कहते थे।

सबसे छोटी अदालत "संग्रहण" नामक दुर्ग में बैठती थी जो प्रति दस गाँवों के बीच में एक होती थी। यह अदालत "द्रोणमुख" नामक किले की अदालत के ताबे में होती थी जो चार सौ गाँवों के बीच में एक होती थी। द्रोणमुख की अदालत "स्थानीय" नामक दुर्ग की अदालत के मातहत होती थी जो आठ सौ गाँवों के बीच में होती थी। इसके अलावा एक अदालत दो प्रान्तों की सीमा पर और एक राजधानी में होती थी।

सब अदालतों के ऊपर सम्राट् की अदालत होती थी। सम्राट् कई जजों की सहायता से अभियोगों पर विचार करते थे। इसके अतिरिक्त उस समय ग्राम-पंचायतें भी नियुक्त थीं। इनमें गाँव के मुखिया और वृद्ध लोग पंच

* चिरंजीलाल पाराशर-विश्वसभ्यता का विकास।

के रूप में बैठते थे। ये लोग साधारण अपराधों का निपटारा करते थे।

धर्मस्थीय (दीवानी) अदालतों में तीन धर्मस्थ (जज) और तीन अमात्य अभियोग सुनने के लिए बैठते थे। ये तीनों धर्मशास्त्र और कानून के प्रकाण्ड पण्डित होते थे। कण्टकशोधन (फौजदारी) अदालतों में तीन प्रदेष्टा (न्यायाधीश) अभियोग सुनने के लिए नियुक्त रहते थे। दीवानी अदालतें अभियुक्तों पर केवल जुर्माना कर सकती थीं, मगर फौजदारी अदालतों के अधिकार बहुत व्यापक थे। ये अदालतें भारी से भारी जुर्माना और प्राणदण्ड तक की सजाएँ दे सकती थीं।

दण्ड-विधान

इस युग का दण्ड-विधान भी बहुत कठोर था। दण्डों की इस भयंकरता को देख कर अपराध करने वालों की संख्या बहुत कम हो गई थी। 'मेगास्थनीज' के वर्णन से पता चलता है कि उस समय बहुत ही कम अपराध होते थे और दण्डविधान को व्यावहारिक रूप देने का अवसर बहुत ही कम आता था।

इस दण्डविधान के अनुसार गाँठ कतरने वाले अभियुक्त को अंगूठा काटने की, परस्त्री या कन्या को भगाने वाले अभियुक्त को नाक और कान काटने की, किसी कारीगर का अङ्ग-भङ्ग करने वाले अपराधी को, उसका वही अङ्ग काट लेने की, हत्यारे को प्राणदण्ड की, किसी कम उम्रवाली बालिका के साथ बलात्कार करने वाले को हाथ-पैर काट देने की, मासी, बुआ, भाभी, गुरुपत्नी, बहू बेटी तथा बहिन के साथ व्यभिचार करने वाले को, उसकी कामेन्द्रिय काट डालने की तथा राजभार्य्या के साथ गमन करनेवाले को घड़े में बन्द करके आग में डाल देने की सजा दी जाती थी।

इसी प्रकार और भी भिन्न-भिन्न अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न दण्ड नियुक्त थे।

लेकिन दण्डदाताओं को यह हिदायत रहती थी कि दण्ड देते समय, वे अपराधी की हैसियत का पूरा-पूरा ध्यान रखें। विचार करते समय वे इस बात पर गौर करें कि उसने किस ढङ्ग का अपराध किया है-किन परिस्थितियों में पड़कर उसने अपराध किया है-वे कारण बड़े हैं या छोटे, अपराधी उच्चवर्ग का है या साधारण वर्ग का-इन सब बातों पर विचार करके उन्हें उचित निर्णय देना चाहिए।

सम्राट् अशोक के समय में भी कानून की यह व्यवस्था इसी प्रकार चलती रही। दण्ड विधान भी उतना ही कठोर था। यह भी कहा जाता है कि सम्राट् अशोकने कई राजाओं की सलाह से एक कृत्रिम नरक की भी स्थापना की थी। नरक की जो कल्पनाएँ शास्त्रों में अङ्कित हैं, वे सब उसमें बनाई गई थीं। जैसे गरम तेल के कढ़ाव में अपराधी को डाल देना, करौती से अपराधी का सिर काटना आदि। इस नरक में वे ही अपराधी भेजे जाते थे जिन्होंने हत्या, बलात्कार तथा और कोई भयङ्कर अपराध किये हों।

मगर जब सम्राट् अशोक को इस दण्डनीति की भयङ्कर बुराइयाँ बतलाई गईं तो उन्होंने तत्काल उसको बन्द करवा दिया।

मौर्य्य साम्राज्य के पश्चात् गुप्त-युग में भी भारत की कानूनी व्यवस्था काफी अच्छी थी।

मध्ययुग की कानून-व्यवस्था

यूरोप

मध्ययुग में अर्थात् ईसाई-धर्म के प्रचार और रोमन-चर्च की स्थापना के पश्चात् यूरोप की कानून-व्यवस्था में धर्माचार्यों का प्राधान्य हो गया। यद्यपि जन-समाज में होनेवाले अपराधों का निर्णय राजकीय अदालतों में ही होता था, मगर इन अदालतों पर तथा राज्य-शक्ति पर धर्माचार्यों का पूरा प्रभाव था।

धर्माचार्यों का राजाओं पर कितना प्रभाव था और वे राजाओं और कानून को किस प्रकार अपनी उँगलियों पर नचाते थे—इसका एक मनोरंजक उदाहरण यूरोपीय इतिहास में पोप 'ग्रेगरी सप्तम' के समय में पाया जाता है।

उस समय जर्मनी का राजा 'हेनरी चतुर्थ' था। उसके और पोप ग्रेगरी सप्तम के बीच कुछ मतभेद हो गये। राजा जरा स्वतंत्र विचारों का था। इससे उसने पोप की परवाह न कर उसकी आज्ञाओं को उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया। तब ग्रेगरी ने सन् ११०५ में अपने तीन दूतों को पत्र देकर उसके पास भेजा और सूचना दी कि तुम्हारे

अपराध इतने कठोर, दारुण और जघन्य हो गये हैं कि तुम्हें क्यों न राज्य से निकाला जाय ?

राजा 'हेनरी' ने पोप के इस पत्र का भी उद्दण्डतापूर्ण उत्तर दिया। तब पोप ने समस्त ईसाई-जगत् के नाम फतवा निकाल दिया कि—"ईश्वर द्वारा प्रदत्त मैं अपने अधिकारों से बादशाह हेनरी के पुत्र राजा हेनरी चतुर्थ से जर्मनी और इटली के समस्त राज्याधिकार छीनता हूँ, जो चर्च के खिलाफ बड़ी उद्दण्डता से खड़ा हुआ है और मैं तमाम ईसाई-जगत् को आज्ञा देता हूँ कि कोई भी इसे राजा न माने !"

पोप का यह आदेश होते ही जर्मनी और इटली के समस्त लोगों ने उसके राज्याधिकार छीनकर पोप से सुलह करने की सलाह दी।

राजा का फैसला करने के लिए पोप ग्रेगरी आसन्नर्ग आये और वहाँ "कनोसा" के राज्य महल में ठहरे। उनका आगमन सुनकर हेनरी चतुर्थ महल के सामने हाथ जोड़कर विनीत भाव से खड़ा हुआ। वह नंगे पैर, मोटे कपड़े पहने, तपस्वी के वेष में तीन दिन तक महल के बाहर चक्कर लगाता रहा, मगर पोप ने उसे अन्दर नहीं बुलाया। चौथे दिन बहुत अनुनय विनय के बाद उसे ऊपर बुलाया गया और बहुत क्षमा-प्रार्थना करने पर उसे माफ किया गया।

इस प्रकार की कई घटनाओं से यह सहज मालूम हो जाता है कि उस समय राजाओं पर और न्यायालयों पर धर्मगुरुओं का अबाध प्रभाव था।

धर्मगुरुओं के इस प्रभाव के कारण ईसाई धर्म के प्रति 'नास्तिकता' उस समय दुनिया के सारे अपराधों से बड़ा अपराध घोषित की गई और नास्तिकता के अपराधों का निर्णय करने के लिए—

इन्कीजिशन्स

नामक धर्म-अदालतें स्वतंत्र रूप से सारे यूरोप में स्थापित की गईं। इन अदालतों में नास्तिकता का अपराध लगाये हुए अपराधियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के यंत्रों के द्वारा इतनी भीषण शारीरिक यातनाएँ दी जातीं थीं और सार्वजनिक स्थानों पर जीवित जलाकर इतनी यंत्रणा के साथ उनके प्राण लिये जाते थे कि जिन्हें पढ़कर कलेजा काँप उठता है।†

इन धर्म अदालतों के अतिरिक्त दूसरी राजकीय अदालतों पर भी इन धर्मगुरुओं का बड़ा प्रभाव था। इससे उस समय की सारी कानून-व्यवस्था ही इनके हाथ में थी और सारा यूरोप उस समय इस व्यवस्था से ऊब रहा था।

फ्यूडेलिज्म (सामन्तवादी व्यवस्था)

सन् ८१४ में सम्राट् शार्लमेन की मृत्यु के बाद उसका स्थापित किया हुआ विशाल साम्राज्य थोड़े ही समय में छिन्न भिन्न हो गया। सारे यूरोप में कई छोटे २ राज्य बन गये। इन राज्यों के आपसी झगड़ों से सारे यूरोप में एक प्रकार की अव्यवस्था छा गई। और उत्तर दिशा से नोर्समेन (Norsemen) लोगों के आक्रमण पश्चिमी यूरोप पर और पूर्व दिशा से मगयार (Magyers) लोगों के आक्रमण पूर्वी यूरोप पर होने लगे। यूरोपीय जनता का जीवन एकदम अरक्षित हो गया।

इसी भीषण अव्यवस्था से छुटकारा पाने और किसी प्रकार सुरक्षा की स्थिति पैदा करने के लिए वहां पर सामन्तवादी व्यवस्था का उदय हुआ जिसे फ्यूडेलिज्म कहा जाता है।

यूरोप में उस समय ऐसे बड़े-बड़े जमींदार और रईस विद्यमान थे जिनके पास अपने छोटे-छोटे किले बने हुए थे। इन किलों पर बाहरी आक्रमण कठिनाई से होते थे। इसलिए गरीब और किसान लोग अपनी भूमि जमींदार को सौंप देते थे और सब प्रकार से उनकी सेवा करने का वचन देते थे। जमीदार ऐसे लोगों को उनकी सुरक्षा की गारण्टी देते थे और कुछ टैक्स लेकर उनकी जमीन उन्हीं लोगों को सौंप देते थे। इन जमीदारों के पास अपनी छोटी-छोटी सेनाएँ भी होती थीं और हर एक की अपने निशानवाली वरदियाँ और अपने सैनिक निशान भी होते थे।

राजाओं को भी सुरक्षा के लिए सैनिकों की आवश्यकता होती थी और वे इन जमींदारों से सैनिक सेवा का

† पूरा वर्णन "इन्कीजिशन्स" नाम के अन्दर इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में देखें।

वचन लेकर इन सरदारों को बहुत-सी जमीन जागीर में देदेते थे और इनको प्रभुत्व के अधिकार भी सौंप देते थे।

इस सामन्तवादी व्यवस्था के राजनैतिक और सामाजिक दोनो पत्त थे। इस व्यवस्था का विकास ऊपर और नीचे दोनों तरफ से हुआ। नीचे के लोगों को रत्ता की आवश्यकता थी और ऊपर के लोगोंको सेवा की। राजा या सामन्त का काम लुटेरो और आक्रमणकारियों से नीचे की जनता की रत्ता करना और उनके आपसी विवादों और झगड़ो को मिटाने के लिए न्यायालयों में न्याय करना था और नीचे के लोगों का काम उनके सैनिक संगठनों में भरती होकर तथा दूसरे प्रकार की सेवा करके अपना कर्त्तव्य अदा करना था।

इस प्रकार उस समय सारी राजव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण होकर सारी शक्ति इन छोटे-छोटे सामन्तों में बँट गई थी।

इस प्रकार के हजारों सामन्त उस समय सारे यूरोप में फैले हुए थे जिनके पास अपनी-अपनी गद्दियाँ थीं, अपनी अपनी छोटी-छोटी सेनाएँ थी और अपने-अपने न्यायालय थे। जब राजा पर विपत्ति आती तब ये सब लोग इकट्ठे होकर उसकी मदद पर जाते थे।

इस व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से हुआ और उस भयङ्कर अव्यवस्था के युग में सुरत्ता और न्याय इसी व्यवस्था से उपलब्ध हो सके।

मगर यह व्यवस्था एक आपत्तिकालीन समस्या को ही हल कर सकी, इससे कोई स्थायी शान्ति प्राप्त न हो सकी। क्योंकि गरीब और किसान लोग इन सामन्तों के अत्याचार से गुलामों की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। कानूनकी सारी शक्ति एक ओर धर्मगुरुओ के हाथ में और दूसरी ओर इन सामन्तों के हाथ में केन्द्रीभूत हो गई, जिससे निष्पत्त न्याय का मिलना बहुत कठिन हो गया।

मध्य एशिया

जिस समय यूरोप में कानून की यह स्थिति हो रही थी, उस समय एशिया के बहुत बड़े भाग में इस्लामी राज्यों की स्थापना हो चुकी थी और इस्लामी कानून एक सुसंगठित रूप धारण कर चुका था। बड़े-बड़े कानून-शास्त्रियों ने पैदा होकर इस कानून को सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयत्न किया था।

यद्यपि यह कानून भी काफिरों और विधर्मियों के लिए ईसाई कानून की तरह ही अनुदार था और इसमें भी कुफ्र के लिए प्राणदण्ड की सजा थी मगर इस्लाम को ग्रहण कर लेने के पश्चात् यह कानून कई अंशों में समदर्शी हो जाता था। दासों और स्त्रियों के लिए भी इस कानून में अपेत्ताकृत अधिक उदारता थी। शराब पीना, जुआ खेलना, सूद लेना, व्यभिचार करना आदि अपराधों के लिए इसमें उचित दण्डों की व्यवस्था रक्खी गई है।

मगर इस कानून की बागडोर भी धर्मगुरुओं, मौलवियों और काजियों के हाथों में थी और उनके हाथों से कभी-कभी बड़े अत्याचार भी हो जाते थे।

नवीन युग का प्रारम्भ

१६वीं शताब्दी से यूरोप में रेनैंसा अथवा पुनर्जागरण युग का प्रारम्भ होता है। कई धर्म-सुधारकों के प्रयत्नों से धर्मगुरुओं की सत्ता कम होती चली जाती है। दूसरी तरफ निरंकुश राज सत्ता और सामन्तवादी व्यवस्था के प्रति भी लोगो की घृणा बढ़ती हुई चली जाती है। इसके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के अन्दर बड़े जबर्दस्त परिवर्तन होते हैं।

फ्रांस में कानून का विकास

फ्रांस में भी क्रान्ति के पूर्व अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक न्याय और कानून की सारी व्यवस्था सम्राट् के हाथ में थी। वह जैसे चाहता कानून बनाता और जिस प्रकार चाहता न्यायालयों के द्वारा उनका उपयोग करवा सकता था। कहने को सन् १६१४ में वहाँ पर एस्टेट जनरल नामक एक विधान सभा की स्थापना हो चुकी थी। मगर इस सभा को कोई अधिकार न थे। यह राजा को सलाह भर दे सकती थी। राजा इस सभा की कितनी उपेत्ता करता था इसका पता इसी से लग जाता है कि अगले १७५ वर्ष तक वहाँ के राजाओं ने इस सभा का अधिवेशन भी नहीं बुलवाया और बिना इसकी राय लिये ही वे अपना निरंकुश शासन चलाते रहे।

यदि उस समय कोई संस्थाएँ ऐसी थीं जो राजा पर थोड़ा बहुत अंकुश लगा सकती थीं तो वे पार्लमेंट (Parllment) थीं। जिनकी संख्या तेरह थीं। वे इंगलैंड की पार्लमेंट की तरह नहीं थीं। वे न्यायालय के रूप में थी और उनके न्यायाधीश वे लोग थे जिन्होंने इन पदों को खरीद कर कुलीनता प्राप्त कर ली थी। ये पद वंशानुगत हो गये थे। न्याय करने के अतिरिक्त उनका एक कार्य्य राजा के बनाये हुए कानूनों को रजिस्टर करने का था। कोई भी कानून जब तक रजिस्टर्ड नहीं कर लिया जाता तब तक लागू नहीं किया जा सकता था। इन न्यायालयों में पेरिस का न्यायालय सबसे महत्वपूर्ण था। वह कई नये कानूनों को दर्ज करने से इन्कार कर देता था मगर जब राजा का दबाव पड़ता था तब उसे मजबूरन दर्ज करना पड़ता था। इस प्रकार कानून सम्बन्धी सारे अधिकार राजा की मुट्ठी में थे।

इस समय सारे देश के कानून में एकरूपता नहीं थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कानूनों का प्रचलन था। सारे देश में कानूनी धाराओं के ३८५ संग्रह थे जो भिन्न भिन्न भागों में प्रचलित थे।

क्रान्ति के पहले सन् १७८६ में एस्टेट जनरल के आम निर्वाचन हुए। इस समय प्रायः सभी समझदार मतदाताओं ने अपनी शिकायतो और इच्छाओं के स्मृति-पत्र तैय्यार करके अपने-अपने प्रतिनिधियों को दिये। इन स्मृतिपत्रों में प्रायः सारे देश के कानून में एकरूपता लाने, एक विधान द्वारा शासन को मर्यादाएँ निश्चित करने, राजा तथा जनता के अधिकारो को तय करने, व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा लेखन और भाषण की स्वतंत्रता, तथा एस्टेट जनरल को कानून बनाने और कर लगाने के अधिकारों की मांग की गई थी।

५ मई सन् १७८६ को एस्टेट जनरल का अधिवेशन हुआ, मगर राजा ने एस्टेट जनरल की माँगों की परवाह नहीं की और नाराज हो कर २० जून को एस्टेट जनरल का सभाभवन बन्द करवा दिया। राजा अपनी रानी और दरबारियों के प्रभाव में था। उधर जनता भी बहुत उत्तेजित थी फलस्वरूप फ्रान्स की भीषण रक्तपात पूर्ण क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ।

क्रान्ति के पश्चात् करीब दस वर्ष फ्रांसमें एक प्रकार की अराजकता में बीते और अन्त में सारी सत्ता नेपोलियन बोनापार्ट के हाथ में आई जो वहाँ का कौंसिल (Consulate) चुना गया।

नेपोलियन ने कानून बनाने के लिए कोन्सिल ऑफ स्टेट, ट्रिब्यूनेट और कार्पस लेजिस्लेटिफ (Corps Legislatif) नामक तीन सदनों की एक व्यवस्थापिका सभा का निर्माण किया। कानून के मसविदे प्रथम कौंसिल या नेपोलियन के आदेश से तैयार किये जाते थे और उसी की अन्तिम स्वीकृति के बाद उन्हें कानून का रूप दिया जाता था।

नेपोलियन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य फ्रांस के लिए सिविल कोड (Civil Code) का निर्माण करना था। राष्ट्रीय विधान परिषद् ने सन् १७९२ में फ्रांस के लिए कानूनों की एक संहिता तैयार करने के लिये विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की थी। नेपोलियन ने इस काम के लिये एक कमीशन नियुक्त किया और स्वयं उस काम में भाग लेकर सन् १८०४ में उसे समाप्त कर दिया। क्रांति के पहले फ्रांस में अनेक प्रकार के कानून थे। क्रांति के समय में असंख्य नये-नये कानूनों की सृष्टि हुई थी। अब उन सब कानूनों के स्थान पर सारे देश के लिए एक समान, सरल, सुबोध और स्पष्ट कानून बन गया। इस नये कानून का आधार सामाजिक समता थी। यह नया कानून "कोड नेपोलियन" (Code Napoleon) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कानून से प्राचीन कानून व्यवस्था के अनेक दोष दूर हो गये। यह कानून ६ भिन्न-भिन्न संग्रहों में संग्रहीत है। फ्रांस में शीघ्र ही यह नया कानून लागू कर दिया गया और जिन-जिन देशों को नैपोलियन ने विजय किया वहां भी यह कानून लागू कर दिया गया। आज भी यूरोपीय देशों के कानून की आधार-शिला यही "नैपोलियन कोड" है। स्वयं नेपोलियन को अपनी इस कानून संहिता पर बड़ा गर्व था। वह कहा करता था कि "मेरा वास्तविक गौरव मेरे चालीस युद्धों में विजय प्राप्त करने में नहीं है वरन् मेरी उस कानून संहिता में है जो सदा अमिट रहेगी।"

अठारहवें लुई के शासन-काल में २ जून सन् १८१४

को कान्स्टिट्यूशनल चार्टर (Constitutional charter) के द्वारा जनता को नया शासन विधान प्रदान किया गया। जिसके अनुसार उत्तरदायी मंत्रिमण्डल तथा चेम्बर आफ पीयर्स (Chamber of Peers) और चेम्बर आफ डेप्यूटीज (Chamber of Deputies) इस प्रकार दो सदनोंवाली पार्लमेंट की स्थापना की गई। और कानून के सामने सब मनुष्यों की समानता स्वीकार कर ली गई।

सन् १८५१ में तृतीय नैपोलियन ने दूसरे फ्रेञ्च-साम्राज्य की स्थापना करके एक नये विधान की घोषणा की। इस विधान के अनुसार राष्ट्रपति का पद दस साल के लिए निश्चित कर दिया गया और कानून बनाने के लिए तीन सभाएँ बनाई गईं।

(१) राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त राज्यसभा, (२) सार्वजनिक मतों से चुनी हुई व्यवस्थापिका सभा और (३) सीनेट, जो वर्त्तमान कानूनो का संशोधन कर सकती थी और नये कानूनों को प्रस्तावित कर सकती थीं तथा विधान की व्याख्या कर सकती थी। व्यवस्थापिका सभा को अपनी ओर से कानून प्रस्तावित करने का या मसविदों में संशोधन करने का अधिकार न था।

इस प्रकार अनेक घात-प्रतिघातों से होता हुआ फ्रान्स का कानून अपनी वर्त्तमान स्थिति को पहुँचा है।

इंग्लैण्ड में कानून का विकास

इसी प्रकार के परिवर्तन इंग्लैंड में भी होते हुए दिखलाई देते हैं। सन् १२५८ में हेनरी तृतीय के समय में साइमन-डी-मांटफोर्ड के नेतृत्व में आक्सफोर्ड में एक सभा बुलाई गयी। इस सभा में सारा राज्य-प्रबन्ध राजा के हाथ से निकाल कर सभा के हाथ में रखने का प्रस्ताव किया गया। इसी सभा ने आगे जाकर इंग्लैंड की पार्लियामेंट का रूपधारण किया और इसी से साइमन-डी-मांटफोर्ड को पार्लियामेंट का पिता कहा जाता है।

इसके बाद तृतीय एडवर्ड के टाइम में (सन् १३२७ से १३७७ तक) इस राजा ने इंग्लैंड प्रत्येक के प्रान्त में जमींदार मुखिया नियत कर दिये। इन लोगों को जस्टिस ऑफ पीस (Justice of Peace) कहा जाता था। ये अपराधियों को दण्ड देते और शान्ति-स्थापन कार्य करते थे। परन्तु उस समय दण्ड केवल गरीबों को ही दिया जाता था। धनाढ्य लोग अपने धन के बल से छूट ही जाते थे। उस समय इंग्लैंड में पुलिस न थी। हाँ, चौकीदार थे जो रात के समय लालटेन लिए हुए घण्टा बजने पर समय बताया करते थे।

१५वीं शताब्दी में इंग्लैंड के अन्तर्गत दण्ड बहुत कड़े न थे, परन्तु इसके बाद बहुत कठोर हो गये। छोटे-छोटे अपराधों के लिए लोगों को कठघरे में डाल देते थे या तख्ती पर अपराध को लिख कर उसे नगर में घुमाते थे। उस समय पिल्लरी (Pillory) का दण्ड बहुत प्रसिद्ध था। पिल्लरी लकड़ी का एक ढाँचा होता था। जिसमें सिर और दोनों हाथों को बाहर निकालने के लिए तीन छेद होते थे। अपराधी को पिल्लरी के एक ओर खड़ा करके उसके सिर और बाहों को दूसरी ओर निकाल देते थे। जिससे वह हिल-डुल नहीं सकता था। नकली चीजें बेचने वाले, झूठी खबरें फैलाने वाले, धोखा देने वाले लोगों को यह पिल्लरी का दण्ड दिया जाता था। गाली देने वाली स्त्रियों को एक प्रकार की तिपाई से बाँध कर बतख के समान पानी में छोड़ देते थे। इन तिपाइयों को डकिन-स्टूल (Duckine Stool) कहते थे।

१६वीं शताब्दी में राजा सप्तम हेनरी ने फ्यूडेलिज्म या सामन्तवादी प्रथा को तोड़ने का भारी प्रयत्न किया। सबसे पहले इसने जमींदारों के सारे दुर्ग तुड़वा दिये और यह नियम पास कर दिया कि जो जमीदार अपने सैनिकों को अपने निशान वाली वर्दिएँ देगा, वह दण्डनीय समझा जावेगा। इसके अतिरिक्त उसने एक विशेष न्यायालय की स्थापना की जिसे कोर्ट ऑफ स्टार चैम्बर (Court of Star Chamber) कहते थे इस न्यायालय के जज ऐसे दबंग व्यक्ति रखे जाते थे, जो बड़े-से-बड़े जमींदार को निर्भय होकर दण्ड दे सकें। इस कोर्ट में जमींदारों के मुकदमों का न्याय होता था।

स्टुवर्ट राजवंश के राजा प्रथम चार्ल्स के समय में (सन् १६२५ से १६४९) राजा और पार्लमेंट का झगड़ा चरम सीमा पर पहुँच गया। मार्च सन् १६२८ ई० में पार्लमेंट की तीसरी बैठक हुई। चार्ल्स दो पार्लमेंटें पहले

तोड़ चुका था। विना कानून के कई लोग कैद किये जा चुके थे। जज वही फैसला देते थे, जो राजा चाहता था। अतः समस्त प्रजा जान गयी कि अब किसी का धन तथा जीवन सुरक्षित नहीं। इससे पार्लमेंट ने इकट्ठी होते ही सबसे पहले पिटीशन ऑफ़ राइट नामक (Petition of Right) एक अधिकार-पत्र पेश किया, जिसकी धाराएँ इस प्रकार की थीं—

(१) राजा को अधिकार नहीं कि बिना पार्लमेंट की स्वीकृति के किसी पर कर लगावे या किसी को मदद देने के लिए बाध्य करे।

(२) कोई व्यक्ति बिना अभियोग चलाए पकड़ा या कैद न किया जाय।

(३) कोई मनुष्य इच्छा-विरुद्ध सैनिकों का व्यय देने के लिए बाध्य न किया जा।

(४) और सेना सम्बन्धी नियमों का पालन करने के लिए देश वाले विवश न किये जायँ।

इस अधिकार पत्र पर दस्तखत करने के लिए पहले तो राजा ने आनाकानी की, पर अन्त में उसने उस पर लेट राइट बी डन ऐज इज डिजायर्ड' (Let right be done as is desired) लिख कर हस्ताक्षर कर दिये, मगर उसके कुछ ही समय बाद राजा ने पार्लमेंट को तोड़ दिया और ११ वर्ष तक बिना पार्लमेंट के राज्य किया।

अन्त में नवम्बर सन् १६४० में राजा ने फिर से पार्लमेंट का निर्वाचन करा के उसका अधिवेशन किया। यह पार्लमेंट सितम्बर सन् १६४७ तक चलती रही। यह लांग पार्लमेंट इंग्लैंड की समस्त पार्लमेंटों में सबसे बड़ी गिनी जाती है। इसी पार्लमेंट में निरंकुश राज्य की नींव की जड़ को खोद कर हमेशा के लिए नष्ट कर दिया। और उसके स्थान पर नियंत्रित राज्य की स्थापना हुई।

उसके बाद तो पार्लमेंट और चार्ल्स में खुल्लमखुल्ला लड़ाई शुरू हो गयी और क्रॉमवेल के नेतृत्व में राजा चार्ल्स को पकड़ लिया गया। और उसका अभियोग एक विशेष न्यायालय में पेश किया गया। इस न्यायालय के १३५ सभासद थे और उनमें से ६६ उस समय उपस्थित थे। ब्रेड-शा इस न्यायालय का अध्यक्ष था। ३० जनवरी सन् १६४६ को इस अदालत ने इंग्लैंड के राजा चार्ल्स-स्टुअर्ट को शिरच्छेद के द्वारा प्राणदण्ड का आदेश दिया। यह घटना इंग्लैंड के इतिहास में अभूतपूर्व थी।

इसके बाद सन् १८२० में पार्लमेंट में नैतिक सुधार का बिल लार्ड रशेल ने पेश किया, मगर यह बिल पास नहीं हो सका, मगर देश भर में नैतिक सुधार की आवाज गूँज उठी। और अन्त में पार्लमेंट को यह बिल पास करना पड़ा। इस बिल के अनुसार पार्लमेंट के १४३ सदस्यों को अलग होना पड़ा। इनमें से ६५ स्थान तो प्रान्तों को दिये गए और शेष बड़े-बड़े नगरों को। वोट देने का अधिकार नगरों में उन लोगों को दिया गया, जो कम-से-कम १० पौंड वार्षिक किराये के मकान में रहते थे। और प्रान्तों में उनको दिया गया, जिनके पास ५० पौंड वार्षिक लगान की भूमि अथवा मकान थे।

इसी समय से टोरी-दल का नाम कंजरवेटिव दल पड़ा और विग-दल का नाम लिबरल हो गया। कंजरवेटिव-दल कहता था कि हम इंग्लैंड की प्राचीन परंपराओं को स्थिर रखना चाहते हैं और लिबरल-दल कहता था कि हम संसार भर में नैतिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित करना चाहते हैं।

४ जून सन् १८३२ को यह रिफार्म बिल (Reform Bill) पास हुआ और उसके बाद तो इंग्लैंड के कानून में सुधारों की बाढ़-सी आ गयी।

सन् १८३४ ई० में सुप्रसिद्ध गुलामी प्रथा का विरोधी बिल पास हुआ जिसके अनुसार सैकड़ों वर्षों से चली आयी गुलामी की भयंकर प्रथा को गैर-कानूनी ठहरा दिया गया। इंगलिश उपनिवेशों में जिन अंग्रेजों के पास गुलाम थे, उनको प्रति गुलाम २२॥ पौंड मुआवजा दिया गया। इस प्रकार दो करोड़ पौंड मुआवजे में दिये गये।

लार्ड ग्रे के मन्त्रित्व-काल में मजदूर लोगों ने पीपल्स चार्टर (Peaples Charter) माँगना शुरू किया। इस चार्टर की भी कई धाराएँ मंजूर कर ली गयीं।

राबर्ट पील के मन्त्रित्व-काल में सन् १८४२ में माइन्स एक्ट (Mines Act) अर्थात् खदान सम्बन्धी कानून पास हुआ। जिसके अनुसार स्त्रियों और बच्चों के लिए भूमि के नीचे खदानों में कार्य करने का निषेध हो गया।

सन् १८४४ ई० में फैक्टरी ऐक्ट (Factory Act) पास हुआ, जिससे बच्चों के लिए कार्य करने का समय बाँध दिया गया और उनकी स्वास्थ्य विषयक बातों के लिए निरीक्षक नियुक्त किया गया। इसी वर्ष दैनिक आवश्यकताओं की ७१० वस्तुओं पर से चुंगी टैक्स एकदम से उठा दिया गया।

सन् १८४६ में अन्न पर से चुंगी उठा दी गयी।

सन् १८८१ में एक और कानून पास हुआ, जिससे किसानों को अपनी काश्त की हुई भूमि के बेचने का अधिकार प्राप्त हुआ और उन्हें जमीन से बेदखल न करने का अधिकार मिला और साथ ही उचित लगान निर्धारित करने के लिए एक अदालत भी नियुक्त हो गयी।

पहले छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी इंग्लैंड में प्राणदण्ड दिया जाता था, मगर राबर्ट पील के समय में बहुत से अपराधों के दण्ड की मर्यादा बाँध दी गयी। अब केवल हत्या और विद्रोह के लिए ही प्राणदण्ड दिया जाता है। अंग भंग का दण्ड बन्द कर दिया गया।

सन् १९०६ में एक कानून बना जिसके अनुसार निश्चित हुआ कि यदि कारखाने में काम करते हुए किसी मजदूर की मृत्यु हो जाय या अग-भंग हो जाय तो उसे उचित मुआवजा दिया जाय।

सन् १९०८ में वृद्धावस्था पेंशन कानून बना, जिसके अनुसार उन वृद्ध लोगों को जिनकी वार्षिक आमदनी ३१ पौंड १० शिलिंग से कम है, सरकार की तरफ से एक निर्धारित पेंशन दी जाय।

मजदूरों को अपनी शिकायतें दूर करने के लिए शान्तिपूर्वक धरना देने और दूसरे मजदूरों को समझाने का अधिकार दिया गया। हाउस ऑफ कामन्स की ओर से और भी कई उपयोगी कानून पेश किये गये, मगर लार्ड्स सभा के विरोध के कारण वे पास नहीं किये जा सके। अन्त में लार्ड्स सभा के अधिकारों को कम करने का प्रस्ताव सन् १९११ में पेश किया गया। अनुदार-दल के सदस्यों ने इसका बहुत बड़ा विरोध किया। मगर अन्त में उन्हें झुकना पड़ा और यह कानून पास हो गया। इस कानून के अनुसार तय हुआ कि बजट तथा कर सम्बन्धी कानून यदि कामन्स-सभा से पास होकर लार्ड-सभा में भेजा जाय और एक महीने के भीतर वहाँ से पास न हो जाय तो राजा की स्वीकृति मिल जाने पर वह कानून बन जायगा, और कानूनों के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि यदि कोई कानून तीन बार लगातार कामन्स सभा से पास होता जाय और लार्ड्स-सभा उसे रद्द करती जाय तो वह भी राजा की स्वीकृति हो जाने पर कानून बन जायगा।

इसके बाद ज्यों-ज्यो समय बीतता गया त्यों त्यों जनता की सुविधार्थ नये-नये कानून बने। और आज तो इस क्षेत्र में इतनी उन्नति हो गई है कि कानून पर भिन्न-भिन्न कानून शास्त्रियों ने सैकड़ो ग्रन्थों की रचना कर डाली। कानून की बेचलर, (L. L B.) मास्टर (L. L. M.) और डॉक्टरेट तक की उपाधियाँ चालू हो गई। हाईकोर्ट के कई प्रभावशाली जजों ने कानून की भिन्न-भिन्न धाराओं की जो व्याख्याएँ कीं उनकी रिपोर्टें बड़ी-बड़ी जिल्दों के रूप में 'रेफरेन्स बुक्स' की तरह प्रकाशित हुईं।

सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह हुई कि न्याय पालिकाओं को कार्यपालिकाओं से बिलकुल स्वतंत्र कर दिया गया। जिससे किसी राजा या राज-कर्मचारी का प्रभाव इन कोर्टों पर पड़ना बन्द हो गया और ये विशुद्ध न्याय और कानून की दृष्टि से अपने फैसले करने लगीं।

भारतवर्ष में आधुनिक कानून

भारतवर्ष में अंग्रेजी-राज्य की स्थापना के पश्चात् इंग्लैंड के ही अनुकरण पर भारतवर्ष में भी आधुनिक कानून का प्रचार प्रारम्भ हुआ। आधुनिक कानून के आधार पर यहाँ पहली अदालत कलकत्ता में खोली गई।

इंग्लैंड की अपेक्षा भारत में कानून बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि इस देश में हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बड़े परिमाण में बसते हैं और दोनों की सामाजिक रीति-नीतियों में कई स्थानों पर बड़ा मौलिक अन्तर है। इसलिए साधारण कानूनों के साथ कुछ विशिष्ट सामाजिक प्रश्नों के हल के लिए "हिन्दू लॉ" और "मोहम्मडन लॉ" का अलग-अलग निर्माण हुआ।

वैसे आधुनिक कानून के प्रधान रूप से दो अङ्ग हैं जाब्ता दीवानी (Civil Law) और जाब्ता फौजदारी (Criminal Law) दीवानी अदालतों को सिविल कोर्ट और फौजदारी अदालत को क्रिमिनल कोर्ट कहते हैं।

इन दोनों कानूनों की शाखा-उपशाखाओं के रूप में और भी भिन्न-भिन्न समयों पर कई कानूनों का निर्माण हुआ, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं -

१—इण्डियन पिनल कोड (ताजीरात हिन्द) भारतीय दण्ड-विधान सम्बन्धी कानून सन् १८६० में निर्मित हुआ।

२—क्रिमिनल प्रोसीजर कोड-जाब्ता फौजदारी सम्बन्धी कानून का निर्माण सन् १८६८ में हुआ।

३—कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर—जाब्ता दीवानी सम्बन्धी (सम्पत्ति सम्बन्धी) कानून सन् १६०८ में बना।

४—सिविल कोर्ट्स ऐक्ट नं० १२—बंगाल, उत्तर प्रदेश और आसाम के दीवानी न्यायालय का कानून सन् १८८७ में बना।

५—इण्डियन कम्पनीज ऐक्ट नं० ७—तरह-तरह की कम्पनियों का संगठन सम्बन्धी कानून सन् १६१३ में बना।

६—रेलवेज ऐक्ट नं० ६—इसमें रेलवे सम्बन्धी तरह-तरह के कानूनों का विवेचन है। इसका निर्माण सन् १८५४ में और सन् १८६० में हुआ।

७—कण्ट्राक्ट ऐक्ट नं० ६ यह कानून कण्ट्राक्ट या ठेकों से सम्बन्ध रखता है। इसका निर्माण सन् १८७२ में हुआ।

८—कॉपीराइट ऐक्ट—पुस्तक-प्रकाशकों के अधिकारों का निर्णय करने वाला कानून। इसका निर्माण सन् १६१४ में हुआ।

६—कोर्ट फीस ऐक्ट—कोर्ट फीस सम्बन्धी कानून। इसकी रचना सन् १८७० में हुई।

१०—क्यूरेक्टर ऐक्ट—उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून। इसका निर्माण सन् १८४१ में हुआ।

११—इण्डियन एवीडेन्स ऐक्ट—गवाही सम्बन्धी कानून सन् १८७२ में बना।

१२—गार्जियन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट—अभिभावक सम्बन्धी कानून की रचना सन् १८६० में हुई।

१३—हिन्दू विल्स ऐक्ट—हिन्दुओं की वसीयत से सम्बन्ध रखने वाला कानून, सन् १८७० में बना।

१४—हिन्दू विडोज रिमैरिज ऐक्ट—हिन्दू विधवा-विवाह सम्बन्धी कानून का निर्माण सन् १८५६ में हुआ।

१५—प्राविन्शियल इन्सालवेन्सी ऐक्ट—दिवालिया सम्बन्धी प्रान्तीय कानून का निर्माण सन् १६२० में हुआ।

१६—लैण्ड इक्वीजीशन ऐक्ट—भूमि-सम्पत्ति-प्राप्ति का कानून, सन् १८६५ में बना।

१७—लीगल प्रेक्टिशनर ऐक्ट—वकालत सम्बन्धी कानून सन् १८७६ में बना।

१८—इण्डियन मेजरिटी ऐक्ट—बालिग वयस्क मान्यता सम्बन्धी कानून, सन् १८७५ में बना।

१६—निगोशिएबुल इन्स्ट्रूमेंट ऐक्ट—हैण्डनोट, हुण्डी और बैंक सम्बन्धी कानून सन् १८८१ में बना।

२०—नान फारफीचर ऑफ राइट्स नं० २१—धर्म-परिवर्तन से सम्पत्ति पर अधिकार सम्बन्धी कानून, सन् १८५० में तैयार हुआ।

२१—पार्टिशन ऐक्ट—बटवारा सम्बन्धी कानून का निर्माण सन् १८६३ में हुआ।

२२—पेंशन ऐक्ट नं० २३—राज-कर्मचारियों के लिये रिटायर मेंट पर पेंशन-कानून, सन् १८७१ में पास हुआ।

२३—पॉवर ऑफ एटर्नी ऐक्ट—मुख्तारनामा या प्रतिनिधि नियुक्ति सम्बन्धी कानून, सन् १८८२ में पास हुआ।

२४—सोसायटी रजिस्ट्रेशन ऐक्ट—संस्थाओं के रजिस्ट्रेशन सम्बन्धी कानून, सन् १८६० में पास हुआ।

२५—प्राविन्शियल स्माल कॉजेस कोर्ट्स ऐक्ट—प्रान्तीय छोटी अदालतों का कानून, सन् १८८७ में पास हुआ।

२६—इण्डियन स्टाम्प ऐक्ट नं० २—सन् १८६६ में पास हुआ।

२७—वर्कमेन कम्पेंसेसन ऐक्ट—क्षतिग्रस्त मजदूरों की क्षतिपूर्ति सम्बन्धी कानून, सन् १६२३ में पास हुआ।

२८—एबॉलिशन ऑफ स्लेवर्स ऐक्ट नं० ५—गुलामी प्रथा को समाप्त करनेवाला कानून, सन् १६४३ में पास हुआ।

इसी प्रकार प्रेस ऐक्ट, धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी कानून इत्यादि अनेकों प्रकार के कानून, समय-समय पर बने और लागू हुए जिनमें समय-समय पर परिवर्तन और सुधार होते रहते हैं।

हिन्दू-ला (हिन्दुओं का विधान)

हिन्दुओं के लिए विधि-विधान या अधिनियम, जिनके अनुसार उनका न्याय होता है। ये हिन्दू-लॉ पुराने वेद, स्मृति, सदाचार और स्वात्मानुभव—इन चारो के आधार पर बने हुए हैं।

इन हिन्दू-अधिनियमों के ग्रन्थों के नाम हैं—मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका) जो ११ वीं शताब्दी में बनी। मिताक्षरा का प्रचार सम्पूर्ण भारत में है, केवल बंगाल में नहीं। उसका दायभाग बंगाल में भी मान्य है।

बनारस स्कूल (प्रचलन) में (१) मिताक्षरा (२) वीर मित्रोदय और (३) निर्णय-सिन्धु का प्रचार है।

मिथिला स्कूल (प्रचलन) में (१) मिताक्षरा (२) विवाद-चिन्तामणि और (३) विवाद-रत्नाकर का प्रचार है।

बम्बई महाराष्ट्र (प्रचलन) में (१) मिताक्षरा (२) वीर-मित्रोदय (३) व्यवहार-मयूख और (४) निर्णय-सिन्धु का प्रचार है।

मदरास-द्रविड़ (प्रचलन) में (१) मिताक्षरा (२) वीर-मित्रोदय (३) पाराशर माधव और (४) स्मृति-चन्द्रिका का प्रचार है।

पञ्जाब (प्रचलन) में (१) मिताक्षरा (२) वीर मित्रोदय और (३) पञ्जाब की रिवाज प्रचलित है।

इसके अतिरिक्त जीमूती वाहन का प्रसिद्ध ग्रन्थ दाय-भाग माना जाता है, जो १२ वीं शताब्दी में बना। यह कानूनों का समन्वय है। यह केवल बंगाल में मान्य है। मिताक्षरा की मान्यता बंगाल में नहीं। दत्तक-मीमांसा का बनारस और मिथिला में तथा दत्तक-चन्द्रिका का बंगाल में निर्माण और प्रचार हुआ।

ब्रिटिश-शासनकाल में अंग्रेजों ने उपर्युक्त हिन्दू-लॉ में समय-समय पर कई परिवर्तन किये। जैसे, विधवा-विवाह, सती-प्रथा-निषेध आदि।

इस्लामी कानून

मुसलमानों के लिए कानून-आईन, जिसके मुताबिक उनका इंसाफ होता है, वह कुरान, हदीस, या सुन्नत इजमा और कयास—इन चारों पर आधारित है।

हिजरी सन् के पश्चात् १०० वर्ष के भीतर इस्लामी कानून ने एक संगठित रूप धारण कर लिया था।

यह इस्लामी कानून भी मुसलमानों की दो विभिन्न जमातों सुन्नी और शीया के अनुसार दो विभागों में विभाजित है।

हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद इस्लाम के अनुयायी सुन्नी और शीया दो जमातों में विभाजित हो गये। सुन्नी लोग अबूबकर, उमर और उसमान—इन तीन खलीफाओं के साथ हजरतअली को चौथा खलीफा मानते हैं, मगर शीया लोग सिर्फ हजरत अली को ही जायज खलीफा मानते हैं। शेष तीनों को नहीं।

सुन्नी लोगों के कानून के ४ स्कूल्स हैं, जो भारतवर्ष से लेकर स्पेन तक फैले। पहला हनफी स्कूल जिसका प्रचार उत्तर भारत, अरब, सीरिया, मिस्र आदि तक हुआ। दूसरा मलिकी स्कूल, जिसका प्रचार अफ्रिका, स्पेन और मोरक्को में हुआ। तीसरा शफरी स्कूल, जिसका प्रचार दक्षिण भारत और कैरो में हुआ और चौथा हम्बाल स्कूल जिसकाप्रचार अरब के कुछ हिस्सो में हुआ।

ये चार कानूनी स्कूल सुन्नियों के हैं जो यथासमय बनते और चालू होते गये।

शीया लोगों के कानून या दस्तूर हजरत अली के खानदान से चलते हैं। उन्होंने अपनी खिलाफत सीरिया, इजिप्ट और उत्तर अफ्रिका में कायम की। सन् १४६६ में ईरान के सम्राट् ने शीया-धर्म को अपना राज्यधर्म घोषित किया। शीया लोगों के कानूनी सिद्धान्त (उसूल)

तथा कुरान शरीफ के भाष्य—कई अंशों में सुन्नियों से भिन्न हैं, जो उनकी जमात में माने और वरते जाते हैं।

अब्बासी खलीफाओं के शासनकालमें खासकर खलीफा हारूँ-अल-रशीद के समय में इस्लामी कानून, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर चुका था और इसको एक व्यवस्थित रूप प्राप्त हो गया था।

भारत में इस्लामी कानून

अंग्रेजी राज्य के समय से भारतवर्ष में कुछ इस्लामी कानून ब्रिटिश पार्लियामेंट के विधानों तथा यहाँ के 'कांस्टीट्यूशन एक्ट आफ इण्डिया' के द्वारा स्वीकृत तथा भारतीय केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सभाओं के आधार पर माना जाता है।

भारत में मुसलमानों के लिए उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून इस्लामी कानून के आधार पर माना जाता है। हकसफा का कानून भी उसी के मुताबिक चलता है। लेकिन मुहम्मडन क्रिमिनल लॉ (मुसलमानी दण्ड-विधान) और शहादत का कानून भारत के जनरल कानून में नहीं माना जाता।

स्वतन्त्र भारत के नये कानून

सन् १९४७ ई० की १५ अगस्त को भारतवर्ष अंग्रेजों के शासन से मुक्त हुआ। स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर कांग्रेस गवर्नमेंट (भारत सरकार) ने देश के लिए कुछ नये विधि विधान निर्माण किये। उनमें मुख्य-मुख्य के नाम नीचे दिये जाते हैं, जिनके अभिप्राय उनके नाम से ही प्रकट होते हैं—

(१) हिन्दू-मैरिज एक्ट नं० २५—सन् १९५५ ई०। हिन्दुओं के विवाह सम्बन्धी अधिनियम।

(२) एडोप्शन एक्ट नं० ६८—सन् १९५६ ई०। गोद-दत्तक सम्बन्धी अधिनियम।

(३) सक्सेसन एक्ट नं० ३०- सन् १९५६ ई०। वारिस-उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिनियम।

इस प्रकार स्वतन्त्र भारत के लिए विधान विशेषज्ञों के द्वारा नया विधान बनकर स्वीकृत हुआ जो केन्द्र तथा प्रान्तों में लागू हो रहा है।

उपरोक्त सारे इतिहास को देखने से पता चलता है कि यूरोप में कानून को व्यवस्थित और एकरूपता का रूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ही प्राप्त हुआ है। उसके पहले तो वहाँ का कानून निरंकुश राजाओं, सामन्तों और धर्माचार्यों के हाथ का खिलवाड़ बना हुआ था।

मगर इन दो शताब्दियों में और विशेषकर इस बीसवीं सदी में कानून के क्षेत्र में जो धारा-प्रवाही उन्नति हुई, वह आश्चर्यजनक है। इसी युग में दास-प्रथा के समान भयङ्कर कुप्रथा का अन्त किया गया। इसी युग में साधारण जनता और मजदूरों और किसानों को सुविधाएँ पहुँचाने वाले अनेक कानूनों का निर्माण हुआ।

फिर भी बहुत लम्बे अर्से तक यह कानून भी रंग-भेद के अनुसार गोरों और कालों के बीच समानता की रेखा नहीं खींच सका। अभीतक अमेरिका का कानून गोरों और नीग्रो के बीच भेदभाव बरत रहा है और उसके लिए वहाँ पर जोर-शोर से आन्दोलन चालू है।

आधुनिक कानून के कुछ मौलिक सिद्धान्त

नवीन सभ्यता का आधुनिक कानून कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, जिसके कारण प्राचीन कानूनों की अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ आ गई हैं।

इस कानून का एक सिद्धान्त यह है कि न्यायालयों या न्यायाधीशों पर राजा, शासक या शासन का कोई प्रभाव नहीं रहना चाहिए। विधान-सभाओं का काम कानूनों को निर्माण करने का है, मगर उनको प्रयोग में लाने की सम्पूर्ण शक्ति न्यायालयों को होना चाहिए। शासक-वर्ग का उन पर कोई दबाव नहीं होना चाहिए।

इस सिद्धान्त के कारण आजकल के कानून का स्वरूप काफी अंशों में निष्पक्ष हो गया है। पहले शासक या प्रभावशाली लोग न्यायालय पर दबाव डालकर अपने कृपापात्र या सम्बन्धित अपराधियों को छुड़ा लेते थे और न्याय के मार्ग में हमेशा अड़ंगा लगाते रहते थे। जिससे न्यायालय निष्पक्ष न्याय नहीं कर पाते थे। अब वह बात नहीं रही। कानून की इसी सुव्यवस्था को देखकर महात्मा गांधी कहा करते थे कि "अंग्रेजी राज्य में यदि कोई अच्छी चीज दिखलाई देती है तो वह उसके न्यायालय हैं।"

आधुनिक कानून का एक सिद्धान्त यह है कि कानून के शिकञ्जे से, प्रमाणों की कमी से, कोई अपराधी छूट जाय तो उसकी चिन्ता नहीं, मगर न्यायालयों को यह चिंता रखना चाहिए कि कोई निरपराधी सजा न पा जाय। इस सिद्धान्त के कारण किसी भी प्रमाण पर जरा भी सन्देह हो जाने पर उस सन्देह का सारा लाभ अपराधी को मिल जाता है। कानून के इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य निरपराध लोगों की सुरक्षा का है और वह बहुत अच्छा भी है। मगर इससे बहुत से अपराधी अपने वकीलों की दलीलों के आधार पर साफ बच जाते हैं और वे समझने लगते हैं कि अपराध करने के बाद भी वे अपने पैसे और वकीलों के बल से छूट जावेंगे। इसलिए उनकी अपराध-प्रवृत्ति समाप्त नहीं होती। वह चालू रहती है। निरपराधों की रक्षा के लिए कानून का यह पहलू बहुत अच्छा है, मगर समाज से अपराध-प्रवृत्ति को कम करने में यह सहायक नहीं होता।

इस कानून का एक सिद्धान्त यह है कि कानून के क्षेत्र में समस्त मानव-समाज के लोग समान हैं। कानून जाति-पांति, धर्म, प्रान्त, ऊँच-नीच, राजा, रंक किसी के भी बीच (कुछ अपवादों के साथ) में कोई भेद नहीं करता। उसकी धाराएँ सभी लोगों पर समान रूप से लागू होती है। कानून का यह सिद्धान्त इस युग का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। प्राचीन काल से अभी तक कानून का प्रयोग, भिन्न-भिन्न समाजो के लिए भिन्न-भिन्न रूपों से हुआ है। शूद्रों और ब्राह्मणों, पुरुषों और स्त्रियों, दासों और स्वामियों तथा राजवर्ग और सामान्य वर्ग के बीच सब देशों और सब कालो में कानून ने भेदभावपूर्ण व्यवहार किया है। और जहाँ निम्न वर्ग के लोग बुरी तरह कानून की चक्की में पिसे हैं वहाँ उच्च वर्ग के लोग उसकी बिलकुल उपेक्षा करते हुए मनमाने अपराध करके भी प्रतिष्ठा प्राप्त किये रहे हैं। कानून के इस सिद्धान्त ने सारे मानव समाज को एक धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है। यह आधुनिक कानून की महान् विशेषता है। हालां कि कुछ थोड़े से अपवाद इस सिद्धान्त के साथ भी लगे हुए हैं।

इस कानून का एक सिद्धान्त सजायाफ्ता लोगों के लिए जेलो में सुधार और दण्ड पाये हुए लोगों के साथ मानवोचित व्यवहार है। पुराने युग में जहाँ अपराधी कैदियों को दुर्गन्धपूर्ण, प्रकाशविहीन, अन्धकूप में डाल दिया जाता था वहाँ अब अपराधी लोगों के रहने, खाने, पीने और परिश्रम लेने के कामों में मानवोचित व्यवहार किया जाता है। सैद्धान्तिक रूप से और मानवोचित दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त अभिनन्दनीय है। मगर समाज से अपराध वृत्ति को कम करने में यह सिद्धान्त किस सीमा तक सहायक होता है यह प्रश्न बहुत सन्दिग्ध है। दण्ड का अर्थ ही यातनापूर्ण जीवन होता है और उसी यातना के भय से मनुष्य अपराध करने से भय खाता है मगर जब दण्ड में से वह यातना ही निकल जाय तो फिर वह अपराध करने से क्यों डरेगा यह प्रश्न विचारणीय है। पर मानवीयता के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त बहुत उत्तम है।

कानून की सफलता

कानून की स्थापना का मुख्य उद्देश्य समाज में शांति की स्थापना और अपराधों का निर्मूलन करना है।

अपने इस उद्देश्य में कानून कहाँ तक सफल हुआ है यह विषय बड़ा विचारणीय है। समाज में शान्ति की स्थापना और समस्त मानव-समाज में धर्म भेद, जाति-भेद, देश-भेद और रंग-भेद से पैदा हुई विषमता को मिटा कर उन्हे समान मानवीयता के स्तर पर लेआने की जो समस्या थी उसमें वर्तमान कानून को एक हद तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। इन कृत्रिम भेदभावों ने मनुष्य, मनुष्य के बीच विषमता की जो भद्दी रेखाएँ खींच रक्खी थी उनको मिटाने में इस कानून को काफी सफलता मिली है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मगर मनुष्य की अपराधवृत्ति पर नियंत्रण करके समाज से अपराधों की संख्या कम करने का जहाँ तक प्रश्न है उसमें वर्तमान कानून को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। ज्यों-ज्यों कानून अपराधों पर नियन्त्रण करने के लिए कोई कदम उठाता है उसके पहले ही अपराधी उनसे बचने के लिए नये मार्ग ढूँढ निकालते हैं। और जो अपराधी एकाधबार कानून के शिकञ्जे में फँस जाता है वह तो हमेशा अपराध करने का

आदी हो जाता है ऐसा स्वयं कानून का ही विश्वास है। कानून के विकास के साथ-साथ दिन-दिन अपराधों का भी विकास हो रहा है जो प्रति वर्ष निकलनेवाली अपराधों की रिपोर्ट से मालूम पड़ता है।

न्याय और क़ानून

इसका प्रधान कारण है कि आज-कल का कानून न्याय के नैतिक सिद्धान्तों को उतना महत्व न देकर उसके वैधानिक रूप और धाराओं को प्रधान महत्व देता है। ज्यों-ज्यों कानून की पेचीदगियाँ बढ़ती जा रही हैं त्यों-त्यों उसके नैतिक रूप के स्थान पर उसके वैधानिक रूप का ही महत्व अधिक बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक कानून की सारी भित्ति गवाहों या प्रत्यक्षदर्शी गवाहों पर आधारित हैं और आज के युग में सैकड़ों हजारों ऐसे पेशेवर गवाह बन गये हैं जिनका धन्धा ही झूठी गवाही देने का होता है। जो सच्चे गवाह होते हैं वे तो बड़े-बड़े धारा शास्त्रियों की प्रचण्ड बहस में भटक जाते हैं मगर नकली गवाहों का अभ्यास ऐसा हो जाता है कि बड़े-बड़े धाराशास्त्री भी उन्हें नहीं भटका सकते हैं। इन गवाहों के बल पर कई बार बहुत से अपराधी छूट जाते हैं और निरपराधी फँस जाते हैं।

इसके बाद बड़े-बड़े धारा शास्त्री जो अपने विषयों में मंजे हुए होते हैं कानून की धाराओं के विभिन्न अर्थ निकालते हैं और उन भिन्न-भिन्न अर्थों से कानून के स्वरूप में भी परिवर्तन होते जाते हैं।

फिर आज कल के युग में इन अदालतों का और वकीलों का खर्च इतना बढ़ गया है और रिश्वतखोरी भी इतनी बढ़ गई है कि साधारण निम्न और मध्यवर्ग के व्यक्ति के लिए तो न्याय प्राप्ति की आशा दुराशा मात्र हो गई है।

कानन-डायल

इंग्लैंड में शरलाक-होम्स नामक सुप्रसिद्ध जासूसी कथाओं के अमर रचयिता सर आर्थर कानन डायल। जिन्होंने सन् १९०३ में इंग्लैंड के अन्तर्गत भारतीय बैरिस्टर जार्ज एदलजी की एक भयंकर विपत्ति से रक्षा की।

जॉर्ज एदलजी बम्बई के एक ऐसे पारसी कुटुम्ब के कुटुम्बी थे, जो धर्म परिवर्तन करके ईसाई हो गया था और परिवार का मुखिया उस समय इंग्लैंड के स्ट्रेफर्ड-शायर इलाके के वहाँ ग्राम में पादरी था।

सन् १९०३ में कुछ समय से वहाँ और उसके आस-पास के ग्राम में रात के समय में कोई व्यक्ति चुपचाप वहाँ के पशुओं की हत्या कर डालता था। पुलिस के पूरी जाँच करने पर भी उसका पता नहीं लगता था।

एक दिन पुलिस के पास एक गुमनाम पत्र आया जिसमें लिखा था—"पशुओं की हत्या का कुकृत्य करने वाला काले पादरी का लड़का जॉर्ज एदलजी बैरिस्टर है।" इस गुमनाम पत्र के आधार पर पुलिस ने तुरन्त एदल जी को गिरफ्तार कर लिया।

वह युग बादशाह सप्तम एडवर्ड का युग था। उस समय इंगलैंड में गोरे और कालों के बीच में बहुत भेद-भाव किया जाता था। इस कारण वहाँ की कोर्ट (अदालत) ने केवल इसी प्रमाण पर कि एदलजी प्रतिदिन रात को दो बजे घूमने के लिये जाता है। इसलिए वही इस प्रकार की हत्या करता होगा—इस आधार पर उन्हें ७ वर्ष की सख्त सजा दे दी। उच्च-न्यायालय में भी अपील करने पर यह सजा कायम रही।

जब इंगलैंड के समाचार-पत्रों में यह खबर छपी तो सर आर्थर कानन डायल को बहुत बुरा लगा। जासूसी कथाओं के रचयिता होने के कारण जासूसी का शौक उन्हें स्वाभाविक रूप में था।

इस रहस्य का पता लगाने के लिये वे अपने निज के खर्च से एक साधारण मजदूर का वेष धारण कर वहाँ पहुँचे और उन्होंने उस गुमनाम पत्र लिखने वाले व्यक्ति की खोज करना प्रारंभ किया। हस्ताक्षरों की जाँच करने के लिये उन्होंने तीन महीने तक एक पोस्टमैन की एवजी में काम किया। छः महीने बाद उन्हें पता लगा कि पुलिस को गुमनाम पत्र लिखने वाला लुई नामक एक खेत का मजदूर था। उसका अपने मालिक के साथ झगड़ा हो गया था। इस लिए उसने मालिक के पशुओं को मारने के लिये षड्यंत्र रचा। यदि वह सिर्फ मालिक के ही पशुओं को

मारता तो सब लोग उसी पर सन्देह करते। इसलिये उसने गाँव के सभी लोगों के पशुओं को मारने का षड्यंत्र रचा।

सर कानन को यह भी पता लगा कि लुई जब कभी अपनी बुवा के यहाँ दूसरे गाँव चला जाता था, तब यह पशु हत्या बन्द हो जाती थी। उन्हें यह भी पता लगा कि लुई एदलजी जैसे कपड़े और उनके जैसे ही जूते भी पहनता है। उन्होंने एक बार लुई के घर में घुस कर देखा। वहाँ उन्हें एक छुरी दिखाई दी जिसका उपयोग जानवरों की चीर-फाड़ करने के समय किया जाता है।

सब तरह से दृढ़ निश्चय पर पहुँच कर उन्होंने पुलिस से उस फाइल की दुबारा जाँच करने की माँग की। मगर पुलिस ने उस फाइल की दुबारा जाँच करने से इनकार कर दिया। तब उन्होंने इंग्लैंड के होम-मिनिस्टर को इस केस (मुकद्दमे) की दुबारा जाँच करने का आवेदन-पत्र भेजा। मगर होम-मिनिस्टर ने भी इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। उसके बाद उन्होंने हाई-कोर्ट में एदलजी के केस की दुबारा जाँच करने की दरख्वास्त दी। मगर हाई-कोर्ट ने भी इसे अस्वीकार कर दिया। तब उन्होंने पार्लिया-मेंट में इसके बारे में प्रश्न करवाने का प्रयत्न किया। मगर पार्लियामेंट का कोई भी सदस्य किसी काले आदमी के लिए प्रश्न पूछने को राजी न हुआ।

तब उन्होंने अपने नाम से सुप्रसिद्ध पत्र 'डेली टेली-ग्राफ' में इस केस के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखना प्रारंभ की। इस लेखमाला में उन्होंने वहाँ के पुलिस अधिकारियों पर तीव्र आक्षेप किए और इस अन्धेरगर्दी की ओर से आँखें बन्द करने का आरोप गृहमंत्री पर लगा कर उनकी तीव्र भर्त्सना की।

इस लेखमाला की भाषा इतनी तीखी और फटकार इतनी सीधी थी कि गृहमंत्री के लिए सिर्फ तीन ही विकल्प रह गये। (१) या तो कानन डायल के ऊपर मुकदमा चलाये (२) या एदलजी के मुकद्दमे की दुबारा जाँच करायें या (३) इस्तीफा दे दे।

पार्लियामेंट के सभी क्षेत्रों में इस लेखमाला से बड़ी हलचल मच गयी। आज तक इंग्लैंड के न्याय-मंत्री को किसी ने भी इस प्रकार की सीधी चुनौती नहीं दी थी। पार्लियामेंट में भारी गरमा-गरमी के पश्चात् उसी रात को गृहमंत्री को इस्तीफा देना पड़ा। इस केस में जाँच करने वाले पुलिस अधिकारी को भी इस्तीफा देना पड़ा। असली अपराधी लुई वर्लीग्राम से भाग गया। अन्त में सरकार ने इस केस की दुबारा जाँच करने का आदेश दिया और लार्ड चीफ जस्टिस की अदालत में स्पेशल-अपील के रूप में इस केस की दुबारा जाँच की गयी। जिसमें जॉर्ज एदलजी पूर्ण निर्दोष प्रमाणित हुए। सरकार ने उनको ५ हजार पौंड की रकम हर्जाने के रूप में दी। एदलजी ने और कुछ नहीं तो जाँच में होने वाला खर्च मात्र स्वीकार करने की प्रार्थना सर आर्थर कानन डायल से की, किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार नहीं किया।

कानजी स्वामी

एक सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन-परिव्राजक, जिनका सुप्रसिद्ध आश्रम सौराष्ट्र-प्रान्त के सोनगढ़ नामक स्थान पर बना हुआ है।

कानजी स्वामी का जन्म वि० सं० १९४६ में सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में एक स्थानकवासी जैन मोतीचन्द के घर में हुआ था। बचपन से ही इनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी, जिसके फलस्वरूप विक्रम संवत् १९७० में इन्होंने स्थानक वासी साधु की दीक्षा ग्रहण की और आठ वर्षों तक उस दीक्षित अवस्था में रहे।

इसके पश्चात् आपको अचानक दिगम्बर-आम्नाय के आचार्य कुन्द-कुन्द के द्वारा रचा हुआ 'समय-सार' नामक ग्रन्थ पढ़ने को मिला। इस ग्रन्थ के पढ़ने से आपके जीवन में बड़ा अद्भुत परिवर्तन हुआ। इस ग्रन्थ के अध्ययन से इनको एक नवीन दृष्टिकोण की प्राप्ति हुई और करीब १३ वर्षों तक आपने दूसरे दिगम्बर-जैन-ग्रन्थों का भी अध्ययन किया।

इसके बाद इन्होंने स्थानक-वासी-साधु-वृत्ति को छोड़कर दिगम्बर-जैन-परिव्राजक की स्थिति ग्रहण की और सोनगढ़ नामक स्थान पर अपना आश्रम कायम किया, और वहीं पर 'सम्यक् दर्शन' इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर अपने प्रवचन देना शुरू किये।

कानजी स्वामी के प्रवचनों का जैन-समाज और कई अजैनों पर भी बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। दूर-दूर से हजारों

व्यक्ति इनका प्रवचन सुनने के लिये यहाँ पर आने लगे। कई लोगों ने तो अपना जीवन इनको अर्पण कर दिया। इनके प्रभाव से सोनगढ़ ने एक तीर्थ स्थान का रूप ग्रहण कर लिया। श्रीमन्त लोगों ने लाखों रुपये खर्च करके सोनगढ़ में बड़ी-बड़ी इमारतें और मन्दिर बनवा डाले। जिनमें श्री सीमन्धर-स्वामी का मन्दिर, समवशरण, स्वाध्याय मन्दिर, कुन्द-कुन्दाचार्य-मण्डप, श्राविकाशाला, अतिथि-गृह और जैन-श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

कानजी स्वामी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए सोनगढ़ से विशाल साहित्य का प्रकाशन भी होता है। अब तक इस प्रकाशन में कुल ६० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें १२ ग्रन्थ हिन्दी में और ४८ गुजराती में हैं। इस प्रकाशन से, आत्म-धर्म मासिक-पत्र हिन्दी और गुजराती दोनों ही भाषा में निकलता है और प्रवचन-प्रसाद नामक एक दैनिक पत्र भी गुजराती में प्रकाशित होता है।

कामाक्षी-मन्दिर (शिवकाञ्ची)

दक्षिण भारत के शिवकाञ्ची नामक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान में एकाम्रेश्वर-मन्दिर से लगभग २ फर्लाङ्ग पर कामाक्षी-देवी का मन्दिर है। यह दक्षिण-भारत का सर्व प्रधान शक्ति-पीठ है। इसमें कामाक्षीदेवी आद्य-शक्ति त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमूर्ति है। इन्हें कामकोटि भी कहते हैं।

कामाक्षी-देवी का मन्दिर आदि शंकराचार्य के द्वारा बनवाया गया कहा जाता है। यह मन्दिर बहुत विशाल है। इसके मुख्य मन्दिर में कामाक्षी-देवी की बड़ी सुन्दर प्रतिमा है। इसी मन्दिर में अन्नपूर्णा और शारदा के भी मन्दिर हैं। एक स्थान पर आदि शंकराचार्य की भी मूर्ति बनी हुई है।

कालीकट

दक्षिण भारत में मालाबार जिले का एक प्रसिद्ध शहर और बन्दरगाह।

बहुत प्राचीन-काल से कालीकट बन्दर एक प्रधान व्यवसायिक स्थान की तरह विख्यात है। प्रसिद्ध यात्री इब्न-बतूता के अनुसार चीन, जावा, लंका, ईरान, मिस्र, अफ्रिका इत्यादि नाना देशों के व्यससायी इस बन्दर पर वाणिज्य व्यवसाय करने के लिए उतरते हैं।

यहाँ के राजा जमेरिन कहलाते थे। सन् १४८६ में पुर्तगाल के पादरी कोविल्हाम यूरोप से सबसे पहले इस बन्दरगाह पर आये थे। उसके बाद सन् १४९८ में सुप्रसिद्ध वास्को-डिगामा इस बन्दरगाह पर उतरा। सन् १५१३ में पुर्तगालियों को जमोरिन राजा से कालीकट में कोठी बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। सन् १६१६ में अंग्रेजों को और सन् १७२२ में फ्रांसीसियों को यहाँ पर कोठी बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ।

सन् १६९५ ई० में अंग्रेजी सेना के नायक (कप्तान) किंग ने इस नगर को लूटा। सन् १७६६ में हैदरअली के मलाबार पर आक्रमण करने पर कालीकट के अमोरिन राजा राजभवन में आग लगाकर सपरिवार जल मरे।

सन् १७९० ई० में अंग्रेजों ने फौज द्वारा कालीकट पर अधिकार कर लिया! सन् १८१९ ई० में अंग्रेजों ने यह नगर फ्रांसीसियों को सौंप दिया, मगर कुछ समय के पश्चात् उन्होंने इस नगर को फ्रांसीसियों से वापस छीन लिया।

कार्लसंवाद डिक्रोज
(Karlsbade Decrees)

आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मेटरनिख के द्वारा आमंत्रित की हुई यूरोप के मुख्य-मुख्य राज्यों के प्रतिनिधियों की सभा, जो सन् १८१९ में कार्लसंवाद नगर में बैठी।

उस समय मेटरनिख का प्रभाव सारे यूरोप पर छाया हुआ था। मेटरनिख कट्टर साम्राज्यवादी और व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा विचार स्वाधीनता का कट्टर विरोधी था। उसने इस सभा के द्वारा कुछ आदेश जारी किये, जिसके अनुसार विद्यार्थियों की सभाएँ तथा खेल-कूद की संस्थाएँ बन्द कर दी गईं। राजनैतिक सभाओं की मनाही कर दी गयी। विश्व-विद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। और सब जगह अध्यापकों तथा विद्यार्थियों पर कड़ी निगाह

रखने के लिये सरकारी कर्मचारी (Curators) नियुक्त किए गये। समाचार-पत्रों पर अत्यन्त कठोर नियंत्रण की व्यवस्था की गयी और क्रान्तिकारियों का पता लगाने के लिये मेंभ (Mainz) नामक एक केन्द्रीय कमीशन नियुक्त किया गया।

इस प्रकार मेटरनिख ने सम्पूर्ण जर्मनी में पूर्ण प्रतिक्रियावादी राज्य की स्थापना करदी। कार्ल्सबाद के आदेशों ने आस्ट्रिया के प्रभाव को जर्मनी में चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा दिया, और आस्ट्रिया सम्राट ही जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया।

कार्बोनारी

सन् १८१६ में इटली में क्रान्तिकारी लोगों के द्वारा बनाया हुआ एक संगठन। जो शुरू-शुरू में नेपल्स के अन्दर म्युरा के शासन-काल में विदेशियों से देश को मुक्त करने और वैधानिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के उद्देश्य से बना था।

यह संस्था सन् १८१६ में बड़ी शक्तिशाली हो गयी और उसमें सब प्रकार के लोग, कुलीन, सेना के आफिसर, पादरी, कृषक और विशेषकर मध्यम वर्ग के लोग शामिल होने लगे। इस गुप्त समिति के प्रयत्नों के फलस्वरूप इटली में क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात सन् १८२० में नेपल्स में प्रारम्भ हुआ। जहाँ स्पेन के विद्रोह से प्रेरित होकर सेना ने विद्रोह कर दिया और स्पेन के सन् १८१२ के विधान को नेपल्स में लागू करने की माँग की जिसके फलस्वरूप नेपल्स में नये विधान की घोषणा हुई।

क्रानास-लूकस

जर्मनी का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन् १४७२ में और मृत्यु सन् १५५३ में हुई।

यह चित्रकार जर्मनी के फ्रेंकोनिया प्रान्त के क्रोनास नामक स्थान का निवासी था। अपनी कला के विकास में उसको तत्कालीन कलाकार पोलाई-ओलो और फ्लोरेंस के कलाकारों से बहुत कुछ सहायता मिली। ३० वर्ष की उम्र तक यह एक प्रसिद्ध कलाकार के रूप में लोक-प्रसिद्ध हो चुका था, और सेक्सनी के इलेक्टर ने अपविटेन नेवर्ग के दरबार में उसे राजकीय कलाकार के रूप में रख लिया था।

उसके सुप्रसिद्ध चित्रों में सेंट-जेरोम, डाक्टर कुस्पीनियन और मार्टिन् लूथर के चित्र उल्लेखनीय हैं।

क्रानास, मार्टिन् लूथर का समकालीन था। इसलिए उसके विचारों पर मार्टिन लूथर के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। लूथर की पुस्तकों के लिये उसने कई चित्र बनाये थे।

क्रामवेल

इंगलैंड का एक मशहूर शासक, जिसका जन्म सन् १५९९ में तथा मृत्यु सन् १६५८ में हुई। इसका पूरा परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ २६१ पर देखिए।

क्रास-दण्ड

प्राचीन युग के अन्तर्गत यूरोप और एशिया के कुछ भागों में प्राणदण्ड की सजा पाये हुए लोगों के प्राण लेने के लिये फाँसी या सूली की जगह क्रास-दण्ड का प्रयोग किया जाता था।

प्राचीन रोम के अन्तर्गत सिर्फ विद्रोही और गुलाम वर्ग के लोगों को ही इस प्रकार का प्राणदण्ड दिया जाता था। रोम की नागरिकता प्राप्त लोगों को यह दण्ड देना वर्जनीय था।

क्रास-दण्ड बड़ा भयंकर और अपमानपूर्ण समझा जाता था। इस दण्ड के पाने वाले अपराधी को पहले कोड़ों से पीटा जाता था और फिर क्रास-यंत्र के द्वारा उसके प्राण लिये जाते थे। यह क्रासयन्त्र भिन्न-भिन्न आकारों का होता था। कोई क्रास अंग्रेजी के टी T अक्षर के आकार का, कोई एक्स X अक्षर के आकार का और कोई स्वस्तिक के आकार का होता था। मगर अधिकतर क्रास धन-चिन्ह + के आकार के होते थे। अपराधी को पहले भूमि पर लिटाकर उसकी दोनों भुजाओं को फैला कर क्रास की आड़ी लकड़ी पर उनको लगा कर उनमें कीलें

ठोंक देते थे। फिर उसके बाद उस अपराधी को उठाकर उस आड़ी लकड़ी को खड़ी लकड़ी के साथ ठोंक देते थे। उसके पैरों में भी कीलें ठोंक दी जाती थीं। और उसे उसी प्रकार छोड़ दिया जाता था। वहीं पर भूख-प्यास की असह्य वेदना को सहन करता हुआ, वह अपने प्राण त्यागता था।

महात्मा ईसा को भी उनके विरोधियों ने इसी प्रकार क्रास का मृत्युदण्ड दिया था। उसके कुछ समय बाद से ही क्रास का चिन्ह संसार में अत्यन्त पवित्र और विजय का सूचक माना जाने लगा।

रोम के सम्राट कान्स्टेंटाइन ने क्रास-दण्ड की भयंकरता को देखकर अपने साम्राज्य के अन्तिम दिनों में क्रास का यह दण्ड रोमन-साम्राज्य से उठा दिया।

काकाताओ द्वीप

हिन्द महासागर में सूंडा जल डमरूमध्य के बीच बसा हुआ एक द्वीप काकाताओ। जो २७ अगस्त सन् १८८३ को काकातोआ नामक ज्वालामुखी में हुए भयंकर विस्फोट के साथ समुद्र के गर्भ में समा गया।

काकातोआ ज्वालामुखी के विस्फोट की यह दुर्घटना विश्व-इतिहास में एक जबर्दस्त दुर्घटना मानी जाती है। इतना भयंकर विस्फोट पहले कभी देखा नहीं गया था।

और इससे भी आश्चर्य की मनोरंजक बात यह है कि विस्फोट होने से पहले ही, इस विस्फोट का दृश्य बोस्टन के दैनिक समाचार पत्र "बोस्टन ग्लोब' के संवाददाता "एड-सैमसन" को स्वप्न में दिखलाई पड़ा और किस प्रकार वह भयंकर स्वप्न "बोस्टन ग्लोब" में एक वास्तविक घटना के रूप में प्रकाशित हो गया यह एक बड़ी विचित्र घटना है—

तारीख २७ अगस्त १८८३ की रात पाली का काम करके "बोस्टन ग्लोब" के कार्यालय में ही "एड सैमसन" सो गया मगर रात के तीन बजे के करीब वह हड़बड़ा कर उठा। अभी-अभी देखे गये भयंकर स्वप्न का दृश्य उसकी आँखों के सामने घूम रहा था। स्वप्न में जो कुछ उसने देखा था वह बहुत ही भयंकर था। उसने देखा था कि एक पहाड़ ने अपना विकराल मुँह खोल रखा है और उसमें से उमड़-उमड़ कर लाल-लाल लावा निकल कर खेतों और गाँवों को साफ कर रहा है। भयंकर विस्फोटों के कारण जावा के पास का प्रालेप द्वीप एक विशाल अग्नि कुण्ड के रूप में बदल गया है और उसमें से अग्नि की विकराल लपटें और धुएँ की बदलियाँ उठ रही हैं। चारों ओर मीलों तक का समुद्र, हलवाई की कढ़ाई में औटते हुए दूध की तरह उबल रहा है और उसकी लहरें टापू को निगलती जा रही है। एड सैमसन मानो अन्तरिक्ष में कहीं बैठ कर यह दृश्य देख रहा है और उसके देखते-देखते वह टापू समुद्र के गर्भ में समा जाता है।

इस विचित्र और विकराल स्वप्न को देख कर उस पत्रकार ने सोचा कि किसी दिन पत्र में जब समाचारों की कमी होगी तब जनता के मनोरंजनार्थ इस स्वप्न का विवरण छापा जावेगा। यह सोच कर उसने उस स्वप्न के वर्णन को एक कागज पर लिख डाला और उस पर हाशिये में लाल स्याही से "महत्वपूर्ण" लिख दिया। भूल से वह उस कागज को अपनी टेबिल पर छोड़ कर चला गया।

कुछ समय बाद "बोस्टन ग्लोब" का सम्पादक आया और सैमसन की मेज पर उसने वह महत्वपूर्ण समाचार पढ़ा। उसने समझा कि रात को तार से खबर आई होगी जिसे सैमसन ने लिपिबद्ध कर लिया है। उसने उसका सम्पादन करके एक बड़े हेडिंग के साथ मुख पृष्ठ पर छपने के लिए भेज दिया। समाचार छप गया और सम्पादक ने खुशी में भर कर तार के द्वारा यह खबर एसोसिएटेड प्रेस को दे दी। २९ अगस्त १८८३ को सारे बोस्टन में हर एक व्यक्ति की जबान पर यह खबर थी।

लेकिन जब दूसरे स्थानों के समाचार पत्रों के द्वारा इस विषय की पूरी जानकारी माँगने के लिए तार आने लगे तब ग्लोब के सम्पादक का माथा ठनका। क्योंकि जावा से कोई खबर नहीं आ रही थी और जिस संवाददाता ने यह खबर दी थी वह ड्यूटी पर नहीं था।

रात को जब सैमसन ड्यूटी पर आया, मालिक और सम्पादक ने उस पर सवालों की झड़ी लगा दी। इधर अखबार के लायब्रेरियन ने बतलाया कि जावा के पास "प्रालेप" नामक किसी टापू का अस्तित्व ही नहीं है। सैम-सन ने स्पष्टरूप से स्वीकार कर लिया कि यह सारी घटना

कोई घटना नहीं, उसके देखे हुए एक स्वप्न का वर्णनमात्र है। सैमसन उसी समय बरखास्त कर दिया गया। लेकिन मामला इतने से ही सुलझनेवाला नहीं था। एसोसिएटेड प्रेस बुरी तरह झुंझला उठा था क्योंकि उसने यह खबर देश भर के बड़े-बड़े समाचार पत्रों को दे दी थी और उन्होंने बड़ी-बड़ी सुर्खियों के साथ मुख-पृष्ठ पर इस खबर को छापा था। अन्त में "ग्लोब" के सम्पादक को सार्वजनिक रूप से इस खबर के लिए क्षमा याचना करनी पड़ी।

मगर ठीक इसी समय अमरीका के पश्चिमी समुद्र तट पर एकाएक भयंकर दैत्याकार लहरें थपेड़े मारने लगी। आस्ट्रेलिया से समाचार मिला कि आसमान में एक साथ हजारों तोपों के गड़गड़ाने की आवाज आ रही है। मैक्सिको और दक्षिणी अफ्रीका से भी खबर आई कि वहाँ भी समुद्र में जबर्दस्त तूफान उठा है। संसार की विविध वेधशालाओं ने सूचनाएँ भेजी कि कम्पन की तीव्र तरंगे पृथ्वी की तीन बार परिक्रमा कर गयी हैं जैसा पहले कभी नहीं हुआ था।

कुछ दिन बाद तूफान के थपेड़ों से जर्जर हुए जहाज जैसे-तैसे बन्दरगाहों में पहुँचे और उन्होंने समाचार दिया कि सूएडा जलडमरूमध्य में क्राकाताओ नामक द्वीप भयंकर विस्फोट से समुद्र में समा गया है।

अखबारों ने अब समझा कि विश्व-इतिहास में एक जबर्दस्त दुर्घटना हो गई है। "बोस्टन ग्लोब" ने मुख पृष्ठ पर संवाददाता एड सैमसन का फोटो प्रकाशित कर भूल सुधार की भूल सुधार छापी। लेकिन उसमे यह नहीं बतलाया कि इस दुर्घटना का समाचर सैमसनको किस प्रकार मिला था।

पर सैमसन ने इस विनष्ट द्वीप का नाम "प्रालेप" दिया था जब कि उसका वास्तविक नाम "क्राकाताओ' था। मगर कुछ समय बाद हॉलैण्ड की इतिहास परिषद ने इस गुत्थी को भी सुलझा दिया। इस परिषद ने सैमसन के पास एक पुराना नक्शा भेजा, जिसमें क्राकाताओ का डेढ़ सौ साल पहले का प्रचलित नाम "प्रालेप" दिया हुआ था।

इस प्रकार एक पत्रकार के भयंकर स्वप्न ने आश्चर्य-जनक रूप से साकार रूप धारण किया। (हिन्दी नवनीत जुलाई १९६४)

किकुची कान

(Kikuchi Kan)

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ताइशो-युग में जापानी सहित्य का प्रसिद्ध साहित्यकार।

किकुची-कान ताइशो-युग के प्रधान साहित्यकारों में से एक है। इसने साहित्य की सफलता का प्रमाण लोकप्रियता को माना है। शुरू-शुरू में इसने एकांकी नाटकों की रचना की और बाद में उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। वर्त्तमान लोकप्रिय शैली के उपन्यासों की नींव उसी ने डाली। इसकी रचनाओं में "शिञ्जू फूजिन" "सानकातोई" और "शोराई" नामक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं। "बुगेई शुंजु" नामक जापान के सर्वोत्तम साहित्यिक पत्र का वह सम्पादक है।

किंग लूथर

अमेरिका में नीग्रो आन्दोलन के एक प्रसिद्ध नेता जिनका जन्म सन् १९२९ में अमेरिका के दक्षिण राज्य जार्जिया के अटलांगा नामक स्थान में हुआ।

किंग लूथर अपने पिता और दादा की परम्परा के अनुसार एक बैपटिस्ट चर्च के मिनिस्टर हैं। उनके धार्मिक विचार बड़े उदार और प्रगतिशील हैं।

आधुनिक युग में किंग लूथर अमेरिका में नीग्रो आन्दोलन के प्रतीक बन गये है। अमेरिका की प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिका "टाईम" ने सन् १९६३ के वर्ष के लिए डॉ० किंग को वर्ष का श्रेष्ठ व्यक्तित्व घोषित किया। उन्हीं के नेतृत्व में अमेरिका के दो करोड़ नीग्रो नागरिकों ने सारे देश को और सरकार को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि 'अब भेदभाव की नीति और परम्परा को समाप्त करना ही होगा।"

डॉ० किंग लूथर गांधीजी की तरह अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग की प्रणाली के अनुयायी हैं। इसी कारण वे नीग्रो आन्दोलन के वैसे ही एक छत्र नेता बन गये हैं जैसे भारत में गांधी जी थे।

सन् १९६३ में रंगभेद नीति के गढ़ माने जानेवाले शहर बर्मिंघम को श्री किंग लूथर ने रणभूमि बना दिया।

उनके गिरफ्तार हो जाने पर सारा निग्रो समाज जाग उठा और तैंतीस हजार नीग्रो लोगों ने वहाँ की जेलों को भर दिया। अमेरिका के ८०० शहरों में प्रदर्शन, सत्याग्रह और गिरफ्तारियाँ हुईं। इस जबर्दस्त आन्दोलन के कारण कुछ धार्मिक चर्च नेताओं के दिल घबरा उठे और उन्होंने किंग लूथर पर जल्दबाजी का आरोप लगाया। इस आरोप का उत्तर देते हुए किंग लूथर ने जेल से इन चर्च नेताओं के नामपर जो चिट्ठी लिखी वह एक ऐतिहासिक चिट्ठी मानी जाती है और नीग्रो आन्दोलन की शास्त्रीय व्याख्या के रूप में प्रमाणभूत समझी जाती है।

श्री किंगलूथर एक असाधारण वक्ता और बड़े आशावादी व्यक्ति हैं।

किंग लूथर को सन् १९६४ में शान्ति स्थापना के उपलक्ष्य में विश्व का प्रसिद्ध नोबेल प्राइज प्राप्त हुआ है।

किंग लियर

महाकवि शेक्सपिअर का एक सुप्रसिद्ध दुःखान्त नाटक, जिसका इंग्लैंड में, रंगमञ्च पर अभिनय सन् १६०६ में और प्रकाशन सन् १६०८ ई० में हुआ।

शेक्सपिअर के दुखान्त नाटकों में, जो ३-४ नाटक सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनमें यह किंग लियर भी एक है।

किंग लियर का कथानक इंग्लैंड के राजा लियर की जीवनी पर आधारित है। अपनी पत्नी के मृत्यु के पश्चात् राजा लियर का स्वभाव सनकी, तुनक मिजाजी और उतावलेपन से भरपूर हो जाता है। उसके कोई लड़का न था। तीन लड़कियाँ थीं जिनके नाम गोनेरिल, रीगन और कार्डेलिया था।

बुढ़ापा आने पर राजा लियर ने सोचा कि तीनों लड़कियों को अपना राज्य सौंप कर मैं शेष जीवन को शान्तिपूर्ण साधारण अवस्था में व्यतीत करूँगा। अपनी तुनक मिजाजी की वजह से राज्य सौंपने के पहले, उसने उनकी परीक्षा लेनी चाही कि कौन मुझसे अधिक प्रेम करती है। जो मुझसे अधिक प्रेम करेगी, उसी को मैं राज्य का उत्तम भाग दूँगा।

इनमें से दो बड़ी लड़कियों का विवाह हो चुका था, पर तीसरी सबसे छोटी लड़की कार्डेलिया कुँवारी थी। राजा लियर ने इन तीनों लड़कियों को अपने पास बुलाकर अपने नाते-रिश्तेदारों के सामने पूछा कि तुममें कौन सबसे अधिक मुझसे प्रेम करती है। गोनेरिल और रीगन ने बड़ी चटपटी भाषा में अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हुए यह बतलाने की कोशिश की कि संसार में कोई लड़की उनसे अधिक, अपने पिता से प्रेम नहीं करती—जितना कि हम आपसे करती हैं। मगर कार्डेलिया ने सीधी-सादी भाषा में कह दिया कि मैं आप से उतना ही प्रेम करती हूँ कि जितना कोई भी लड़की अपने पिता से करती है।

राजा लियर अपनी पुत्री कार्डेलिया के इस उत्तर से बड़ा क्रोधित हुआ। उसने उसी समय कार्डेलिया के सारे राज्य के हक छीन लिए और उसका भी सारा हिस्सा उन दोनों बहनों को बाँट दिया। उसी स्थानपर कार्डेलिया का मँगेतर फ्रांस का राजकुमार आर्थर भी मौजूद था। जब उसने कार्डेलिया की ऐसी दीन स्थिति देखी तो वह उससे प्रभावित होकर उसे अपने साथ ले गया और उसके साथ अपना विवाह कर लिया।

राजा लियर अपनी दोनों पुत्रियों और दामादों को इंग्लैंड का राज्य देकर बोला कि—मैंने अपना सर्वस्व तुम लोगों को दे दिया है। मेरे पास अब केवल एक सौ सरदार रहेंगे जो मेरे सैनिक तथा सेवक होंगे। मैं बारी-बारी से एक-एक महीना दोनों लड़कियों के यहाँ रहा करूँगा। इस प्रकार आयु के दिन पूरे हो जायँगे।

इस नाटक में राजा लियर के अतिरिक्त ग्लोसेस्टर का अर्ल मार्टिन भी एक प्रमुख पात्र है। उसके दो पुत्र हैं। एडगर और एडमंड। एडगर तो उसकी विवाहिता पत्नी से उत्पन्न हुआ था, किन्तु एडमंड उसकी एक सुन्दर दासी से पैदा हुआ था। इन दोनों पुत्रों का उसने समान भाव से लालन-पालन किया था मगर उन दोनों के स्वभाव में बहुत बड़ा अन्तर था। एडगर खानदानी, सदाचारी और दयालु व्यक्ति था और एडमंड एक दासीपुत्र की तरह ही भ्रष्ट, दगाबाज और दुष्ट था। वह अपने भाई को अपने रास्ते से हटाकर अर्ल की सारी रियासत का उत्तराधिकारी बनना चाहता था। उसने एडगर के नाम

से उसके पिता के खिलाफ कई जाली पत्र तैयार करवाकर उसके पिता का मन उसकी ओर से बिल्कुल फेर दिया। एडगर के सामने भी झूठी-झूठी बातें बनाकर, पिता के भयंकर क्रोध का रूप बतला कर उसने दोनों को एक-दूसरे के खिलाफ भड़का दिया और दोनों के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करता रहा।

अपने दामादों को राज्य का सम्पूर्ण भार देने के पश्चात् राजा लियर अपनी बेटी गोनेरिल का एक महीने के लिए मेहमान हुआ, मगर गोनेरिल ने उसका ऐसा अपमान किया कि वहाँ वह १५ दिन भी नहीं ठहर सका और वहाँ से वह अपना डेरा उठाकर अपनी दूसरी लड़की रीगन के यहाँ जाने का विचार करने लगा। मगर राजा लियर के सन्देश-वाहक टाइगर को रीगन ने टकासा जवाब दे दिया। गोनेरिल के यहाँ से राजा लियर ग्लोसेस्टर के अर्ल मार्टिन के यहाँ पहुँचा और वहीं पर रीगन भी अपने पति के साथ आ गयी। अपनी लड़कियों के इस विश्वासघात से राजा लियर अत्यन्त निराश और विक्षिप्त-सा हो गया।

दूसरी ओर अर्ल ग्लोसेस्टर और उसके लड़के एडगर के खिलाफ दासीपुत्र एडमंड का षड्यंत्र बराबर चल रहा था। इस षड्यंत्र में उसने रीगन के पति कोर्नवाल के ड्यूक को भी अपनी ओर मिला लिया। ड्यूक ने अपने हाथों से, एक दिन एडमंड को टोपी पहना कर उसको ग्लोसेस्टर का अर्ल नियुक्त कर दिया।

राजा लियर विक्षिप्त अवस्था में जब वहाँ रहने को तैयार नहीं हुआ तो ग्लोसेस्टर का अर्लमार्टिन उसे लेकर जंगल में टॉम नामक एक पागल की कुटिया पर पहुँचा। यह टॉम वास्तव में मार्टिन का असली पुत्र एडगर था, जो एडमंड के षड्यंत्र से बचने के लिए टॉम का रूप धारण कर उस जंगल में रह रहा था।

एडमंड और ग्लोरिअस को मालूम था कि लियर और मार्टिन उस पागल के यहाँ ठहरे हुये हैं तो वे वहाँ पर भी उनसे छेड़छाड़ करने लगे। तब मार्टिन ने सम्राट को वहाँ से हटाकर 'डोवर' के किले में भेज दिया और कार्डेलिया के पति फ्रांस के सम्राट् आर्थर को पत्र लिखा कि वह लियर की सहायता करे।

जब यह बात ड्यूक ग्लोसेस्टर को मालूम पड़ी तो उसने मार्टिन को पकड़ कर खंभों से बाँध दिया। रीगन ने आगे बढ़कर मार्टिन की दाढ़ी नोच डाली और ड्यूक ने अपनी तलवार से उसकी दोनों आँखें फोड़ डाली और उसके शरीर को जंगल में फेंकवा दिया। मगर मार्टिन मरा नहीं था। जब वह होश में आया तब उसका वही बड़ा पुत्र टॉम वेषधारी एडगर अपने पिता को लेकर डोवर पहुँच गया।

उधर जब कोर्डेलिया के पति फ्रांस के राजा आर्थर को वह पत्र मिला तो वह सेना लेकर लियर की रक्षा करने के लिये आ पहुँचा। कार्डेलिया भी अपने पिता की सेवा करने वहाँ चली आई।

इधर रीगन और गोनेरिल को जब यह समाचार मिला तो वे भी अपनी सेनाओं सहित आमने-सामने आ खड़ी हुईं।

युद्ध शुरू होने ही वाला था कि एकाएक फ्रांस से खबर आई कि वहाँ के खजाने की चाभी खो गयी है। इसलिए दूसरा प्रबन्ध किया जाय नहीं तो लुट जाने का डर है। इसलिये आर्थर को अपनी सेना कार्डेलिया के जिम्मे कर वहाँ से तुरन्त जाना पड़ा जिससे फ्रांस की सेना में कुछ कमजोरी आ गयी। ब्रिटिश सेना में भी रीगन और गोनेरिल के आपसी मत भेदों से कुछ कमजोरी आ गई थीं। ये दोनों बहनें एडमण्ड पर सामान रूप से मोहित थीं और वे अपने पतियों को छोड़कर एडमण्ड को अपना पति बनाना चाहती थीं। इससे उन दोनों बहनों के बीच में भारी मनमुटाव पैदा हो गया था।

रीगन ने तो अपने पति को पिसा हुआ काँच पिला दिया। गोनोरिल भी जैक्सन से छुटकारा पाने के लिए ऐसा ही कोई उपाय सोच रही थी। मगर यह बात जैक्सन को मालूम पड़ गयी थी, इसलिये वह बड़ा सतर्क हो गया था।

दूसरे दिन सवेरे ही युद्ध का डंका बज उठा और भयकर लड़ाई के पश्चात् फ्रांस की सेना हार गयी और लियर तथा कार्डेलिया को ब्रिटिश सेना ने कैद कर लिया।

उधर अपनी राह का काँटा समझ कर गोनेरिल ने रीगन को जहर पिला दिया जिससे कि वह सवेरे ही मर

गयी। जब यह बात जैक्सन को मालूम हुई तो उसने उत्तेजित होकर कहा—'तू स्त्री है या राक्षसी! तूने पिता की हत्या की।' अब शायद मेरी भी हत्या करेगी। एडमंड बीच में बोल उठा—'सावधान! ड्यूक! आप श्रीमती गोनेरिल को मेरे सामने राक्षसी नहीं कह सकते!'

जैक्सन ने गरज कर कहा—'अरे कुत्ते! तेरा असली रूप प्रकट हो गया है। तू शेर की खाल ओढ़े हुये एक गीदड़ है।' उसने कहा कि सब जगह घोषणा कर दो कि अगर मार्टिन का पुत्र एडगर कहीं हो तो वह आकर एडमंड को दण्ड दे।

ठीक इसी समय भीड़ में से टॉम दौड़ता हुआ आता है और झपटकर एडमंड को दबोच लेता है और उसे अपनी ऊँचाई तक उठाकर धरती पर पटक देता है। 'यह देख अपने बाप का असली बेटा एडगर तेरे सामने मौजूद है।" और उसकी छाती पर चढ़कर उसका गला दबाने लगा। जब उसने हाथ जोड़कर अपने प्राणों की भीख माँगी तो पाँच ठोकर लगा कर उसे छोड़ दिया और कहा—"दुष्ट! तूने पिता की आँखें निकलवायीं—ग्लोरियस को जहर दिलवाया—रीगन की हत्या करवायी। बोल! तुझे इन सब अपराधों के लिये कौन सा दण्ड दिया जाय!"

वह चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा—"ओ सम्राट! ओ पिता! ओ रीगन! ओ कार्डेलिया! मैं तुम सबसे क्षमा माँगता हूँ। उफ़! मैंने तुम सबकी हत्या कर दी।

गोनेरिल यह दृश्य न देख सकी। उसने कटार अपनी छाती में मार कर हत्या कर ली।

इसी समय लड़खड़ाती चाल से अस्त-व्यस्त कपड़ों में परम प्रतापी और परम अभागा वही सम्राट् लियर, जिसके नाम का झंडा सारे यूरोप में लहराता था, वहाँ प्रवेश करता है और कार्डेलिया के शव को छाती से लगाये हुए वहीं गिर कर खत्म हो जाता है।

अपने स्वामी की यह दुर्दशा देखकर कैंट का स्वामिभक्त अर्ल, जो आज तक टाइगर के रूप में सम्राट् की सेवा कर रहा था, अपनी तलवार छाती में भोंक कर लियर के पैरों में गिर पड़ता है। उसके साथ एडमंड भी अपने पाप के बोझ से घबरा कर तलवार भोंक कर वहीं गिर जाता है।

इस प्रकार पागलपन, विश्वासघात, हत्या, रक्तपात और सर्वनाश के दृश्यों के बीच इस नाटक का अन्त होता है। केवल जैक्सन, एडगर और हंटर—ये तीन व्यक्ति बचते हैं। जैक्सन इंग्लैंड का सम्राट् हुआ और एडगर ग्लोसेस्टर का अर्ल बनाया गया।

इस प्रकार इस दुःखान्त नाटक की समाप्ति होती है।

शेक्सपियर के इस नाटक में प्रधान पात्रों के अन्तर्गत राजा लियर, उसकी तीनों लड़कियाँ—गोनेरिल, रीगन और कार्डेलिया, कैंट का अर्ल थामस, ग्लोसेस्टर का अर्ल मार्टिन और उसके दोनों लड़के एडमंड और एडगर के नाम आते हैं।

शेक्सपियर ने राजा लियर को एक भावुक सनकी और उतावले पुरुष के रूप में चित्रित किया। कवि की कलम ने लियर के अविवेकी स्वभाव को चित्रित करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है फिर भी यह समझ में नहीं आता कि इंग्लैंड के समान देश का लोकप्रिय राजा इतना अविवेकी हो जाय कि अपने साम्राज्य का बँटवारा करने के लिए अपनी लड़कियों के प्रेम को कसौटी पर उतारे। इस प्रकार की प्रवृत्ति को तो बाल-सुलभ चंचलता के अन्दर ही छिपाया जा सकता है। लियर सरीखे अनुभवी राजा के द्वारा इस प्रकार का कार्य स्वाभाविक नहीं माना जासकता।

शेक्सपियर रियालिस्टिक स्कूल्स के नाटकों के सर्वोत्कृष्ट कलाकार माने जाते हैं, मगर किंगलियर के चरित्र-चित्रण में इस स्वाभाविकता (रियालिटी) की कहाँ तक रक्षा हुई है—यह प्रश्न विचारणीय है।

प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय लिखते हैं—'किंगलियर तो एक पागल ही है, वह सन्तान की पितृ-भक्ति के परिचय-स्वरूप जानता है केवल मौखिक उच्छ्वास। इसके सिवाय उसका प्रधान दुःख यह है कि रीगन और गोनेरिल ने उसके पार्श्वचर को छीन लिया है। वह पितृ-भक्ति का अभाव देख कर खेद करता है। (Ingratitude thou marble hearted fied.) हे कृतघ्नता! तेरे पाषाण-सदृश हृदय के लिए तुझे धिक्कार है।" उसका यह आक्षेप पागल के प्रलाप-सा जान पड़ता है।"

रीगन और गोनेरिल के चरित्र में भी स्वाभाविकता की झलक देखने को नहीं मिलती। कोई भी लड़की साधा-

रण स्थिति में भी अपने पिता के प्रति विश्वासघात का ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती और फिर लियर तो ऐसा उदार पिता था जिसने अपना सर्वस्व उन लड़कियों को दे दिया था। ऐसी स्थिति में कोई लड़की अपने वृद्ध पिता के जीवन के थोड़े से दिनों के लिए ऐसा दुष्ट व्यवहार करेगी—यह बात इंसानियत की सीमा के अन्तर्गत तो स्वाभाविक नहीं लगती।

मार्टिन का चरित्र और भी हास्यास्पद है। अपने दासी पुत्र एडमंड के द्वारा एडगर के खिलाफ कही गयी बातों और दिखाये गये जाली पत्रों को देखते ही वह एडगर के खिलाफ अपनी सारी मनोवृत्ति को बना लेता है। ग्लोसेस्टर का अर्ल एक साधारण नागरिक की भाँति इतना भी सोचने का कष्ट नहीं करता कि कम से कम एक बार एडगर को बुला कर उससे उसके कामों की सफाई तो माँग लेता?

किंगलियर नाटक में जो आकर्षक और प्रभावशाली चरित्र चित्रण हुआ है—वह कैण्ट के अर्ल थामस का और कार्डेलिया का चरित्र-चित्रण है। कैण्ट का अर्ल अपनी स्वामिभक्ति और ईमानदारी के साथ साहसी और सत्य वक्ता भी था। जिस समय किंग लियर अपनी तीसरी पुत्री कोर्डेलिया के प्रति उसके सत्य और निर्भीक कथन से क्रोधित हो उसके सारे हकों को मार देता है उस समय सिर्फ कैण्ट का अर्ल थामस ही एक ऐसा व्यक्ति था जो लियर के क्रोध की कुछ भी परवाह न करके स्पष्ट कहता है—"सम्राट् आज आपके द्वारा कार्डेलिया के साथ न्याय नहीं हो रहा है। उसे ऐसा कठोर दण्ड न दीजिए।" लियर कहता है—"थामस! मैं कहता हूँ-—धनुष पर बाण चढ़ा कर डोरी खींची जा चुकी है। तुम उसके सामने से हट जाओ।"

थामस ने कहा—"सम्राट्! इस विषैले बाण की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। भले ही वह मेरी छाती में घुस जाय, पर मैं अपने हाथों सदैव ऐसे अन्याय का विरोध करूँगा। इस समय आपका विवेक नष्ट हो गया है जिससे कार्डेलिया की बातों पर गम्भीरता से विचार नहीं कर रहे हैं। क्योंकि उत्तेजित मनुष्य कभी भी सत्य को नहीं पहचान सकता। लेकिन किसी समय आप अपने इस निर्णय पर पछतायेंगे।"

इसके बाद जब गौनेरिल के यहाँ लियर का भयंकर अपमान होता है और वह अपनी बेटी के विश्वासघात से 'त्राहिमाम्' कर उठता है—उस समय कैंट का यही अर्ल थामस, टायगर का रूप धारण कर सम्राट् की सेवा में आ जाता है और निराश और अन्धेरे में भटकते हुये सम्राट् को हर प्रकार की सान्त्वना देकर विपत्ति के सारे दिनों में उसकी सेवा करता है और जब वह मर जाता है तो स्वयं भी अपने पेट में तलवार भोंककर उसी के साथ परलोक में भी जाता है।

सारे नाटक में कैंट के अर्ल का चरित्र दीपक के प्रकाश की भाँति जगमगा रहा है। जिसका चित्रण करने में शेक्सपियर को काफी सफलता मिली है।

कार्डेलिया का चरित्र-चित्रण भी इस नाटक में बड़े स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है। जिस समय उसकी दोनों बड़ी बहनें राज्य हड़पने के लिए बड़ी-बड़ी बातें करके अपने पिता को रिझाने का प्रयत्न कर रही थीं। उस समय कार्डेलिया को उनके छल-कपट पर बड़ा दुःख हो रहा था और जब लियर ने उससे पूछा, कि बताओ, तुम मुझसे कितना प्रेम करती हो? तब उसने स्वाभाविक उत्तर में संक्षिप्त रूप में कहा कि 'पिताजी! मैं आप से उतना ही प्रेम करती हूँ जितना कि एक सन्तान को अपने पिता से करना चाहिये।"

लियर जब क्रोधित होकर कार्डेलिया से अपने शब्दों को बदलने के लिये कहता है तब कार्डेलिया स्पष्ट रूप में जवाब देती है कि "आप मेरे पिता है, जैसा चाहें कर सकते हैं लेकिन मैं अपने स्वार्थ के लिये आपसे झूठ बोलकर आपको अन्धेरे में भटकाना नहीं चाहती।"

अन्त में जब लियर उसका सारा राजकीय और पारिवारिक हक नष्ट करके चले जाने को कहता है, तब भी वह अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोती और चुपचाप सबको शान्तिपूर्वक प्रणाम करके फ्रांस के राजकुमार आर्थर के साथ चली जाती है।

फिर जब अपने दुर्दिनों में अपनी बेटियों और दामादों के विश्वासघात से दुःखी और हतप्रभ होकर किंग लियर डोवर के किले में अपने दिन बिता रहा था—उस समय

कार्डेलिया ही अपने पति और सेना के साथ अपने पिता के अन्धकारपूर्ण दिनों में प्रकाश की ज्योति लेकर वहाँ पर आयी थी और मृत्यु के अन्तिम समय में उसी ने लियर को सान्त्वना प्रदान की थी और वहीं पर उसने अपना जीवन अर्पण किया था।

प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्र लाल राय लिखते हैं कि "शेक्सपिअर के सर्वोत्कृष्ट नाटकों के विषय तो अवश्य महान् हैं, पर उनके नायकों में कोई भी विशेष-गुण नहीं पाया जाता। किंग लियर तो एक पागल ही है। मैकबेथ एक नमकहराम है, एँटोनी कामुक है, जूलिअस सीजर दम्भी है और ओथलो तो इतना ईर्ष्यावश अन्धा हो गया कि बिना प्रमाण माँगे ही उसने अपनी सती स्त्री की हत्या कर डाली।"

"किन्तु शेक्सपिअर के इन नाटकों में नायिकों के अतिरिक्त ऐसे उच्च चरित्रों का समावेश किया है कि उन चरित्रों ने उनके नायकों के चारों ओर एक ज्योति फैलाकर उन नाटकों को उज्वल कर दिया है। हैम्लेट नाटक में होरेशिओ, पालोनियस और ओफेलिया ने, किंग लिअर में कैंट, फूल, एडगर और कार्डेलिया ने, ओथेला में डेस्डीमोना और उसकी सहेली ने, मैकबेथ में बैंको और मेकडफ ने और जूलियस सीजर में ब्रूटस और पोर्शिया ने नायकों को मानो ढँक लिया है।"

"पर शेक्सपिअर ने ऐसा क्यों किया? इसका कारण मेरी समझ में यह है कि वह धन और क्षमता का गर्व रखने वाले अंग्रेज थे। पार्थिव क्षमता ही उनके निकट अत्यन्त लोभनीय वस्तु थी। वे महत् चरित्र की अपेक्षा विराट चरित्र में अधिक मुग्ध होते थे। विराट् क्षमता, विराट् बुद्धि, विराट् विद्वेष, विराट् ईर्ष्या और विराट् प्रतिहिंसा—उनके निकट लोभनीय वस्तुएँ थीं। यह बात नहीं है कि वे स्वार्थत्याग के महत्व को नहीं समझते हों, किन्तु उन्होंने क्षमता और बाहर का भड़कीलापन दिखा कर चारित्र्य-महात्म्य को उसके नीचे स्थान दिया।"

किंगो

(Thomas kingo)

डेनमार्क का एक प्रसिद्ध लिरिक कवि जिसका जन्म सन् १६३४ में और मृत्यु सन् १७०२ में हुई।

थामस किंगो डेनी साहित्य का प्रसिद्ध स्तोत्रकार था। सोलहवीं सदी में डेनी भाषा में प्रार्थना के विशुद्ध स्तोत्रों की रचना होने लगी थी। उसके बनाये हुए स्तोत्र अभी तक डेनमार्क के गिरजाघरों में गाये जाते हैं।

किचनर (लार्ड)

एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज सेनापति, जिनका जन्म सन् १८५० ई० में आयर्लैण्ड में और मृत्यु सन् १९१६ में हुई।

लार्ड किचनर बहुत कुशल और योग्य सेनापति थे। वुलविच की रायल मिलिट्री 'एकाडेमी' में सैनिक शिक्षा प्राप्त कर यह सन् १८८२ ई० में मिस्र की सेना में प्रविष्ट हुए। सन् १८९८ ई० में इन्होंने ओम्स्टर्डम की प्रसिद्ध लड़ाई में विजय प्राप्त करके अपनी विशेष योग्यता का परिचय दिया। दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई में जब अंग्रेजी सेना की बड़ी दुर्गति हो रही थी, तब लार्ड किचनर ने वहाँ जाकर हार को जीत में बदल दिया।

सन् १९०२ ई० से १९०९ तक लार्ड किचनर भारतवर्ष और ईस्ट-इंडीज में सेनापति रहे।

सन् १९१४ ई० में प्रथम युद्ध के प्रारंभ होते ही लार्ड किचनर ब्रिटिश सरकार के युद्ध-मंत्री बना दिये गये। युद्ध-मंत्री के रूप में लार्ड किचनर की प्रतिभा का बहुत बड़ा विकास हुआ। इनकी युद्ध-नीति बड़ी मौलिक और साहस-युक्त थी। इन्होंने 'किचनर-सेना' के नाम से एक नई सेना का संगठन किया। मगर दैव-योग से सन् १९१६ ई० में जब लार्ड किचनर रूस की सेना संगठन करने हैम्प-शायर जहाज पर समुद्र में जा रहे थे, तब जर्मनी के द्वारा बिछाई हुई सुरंग से टकरा कर सब यात्रियों समेत वह जहाज डूब गया और लार्ड किचनर की लाश का भी पता न लगा।

इस दुर्घटना से समस्त इंग्लैंड में बड़ा क्षोभ व्याप्त हो गया, और अपने इस परम साहसी संगठनकर्ता, कुशल सेनापति को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए इंग्लैंड की जनता ने ७ लाख पौंड की लागत से इनका एक विशाल स्मारक निर्माण करवाया।

किंचनजंघा (हिमालय शिखर)

किंचनजंघा हिमालय की एक ऊँची सुरम्य चोटी है जो सिक्किम राज्य में अवस्थित है। इसकी ऊँचाई २८००० फीट के करीब है।

किंचनजंघा की तलहटी का प्रदेश अत्यन्त सुरम्य, सदाबहार, घने वृक्षों से आच्छादित, कलकल नाद करते हुए झरनों से अविरल संगीत पूर्ण है। इसी तलहटी में सिक्किम का छोटा सा राज्य बसा हुआ है। इस प्रदेश की आदिवासी जाति "लेपचा" के नाम से प्रसिद्ध है। दीर्घकाल से प्रकृति के संसर्ग में रहने के कारण लेपचा जाति ने प्रकृति को जीवन के हर एक पक्ष में ढाल लिया है। लेपचा स्त्रियों का सौन्दर्य पहाड़ी प्रदेशों की तुलना में अप्रतिम है।

"रंगित" और "तिस्ता" इस क्षेत्र में बहने वाली दो प्रसिद्ध नदियाँ हैं। इन नदियों के सम्बन्ध में लेपचा जाति में प्रेम सम्बन्धी बड़े मधुर पौराणिक उपाख्यान प्रचलित है। और शादी ब्याह के शुभ अवसर वहाँ की स्त्रियाँ "रंगित" और "तिस्ता" की प्रणय कहानी को बड़े मधुर लोक गीत और बड़े अनूठे नृत्यों के साथ गाती रहती हैं।

लेपचा जाति की दन्त कथाओं के अनुसार 'रंगित" या "रोङ्गइत" पुरुष और "तिस्ता" या "रोङ्ङ्यू" नारी थी। इन दोनों युवक युवती में प्रेम हो गया। सामाजिक बाधाओं के कारण ये लुक छिपकर मिलते रहते थे। मगर जब इनका प्रेम उच्चतम भावनाओं का रूप धारण करने लगा तब इन्हें इस लुकाछिपी से घृणा होने लगी और इन्होंने शीघ्र ही विवाहसूत्र में बंध जाने का निश्चय किया। विवाह कार्य के लिये इन्होंने जो स्थान चुना उसका नाम पेशोक (वहाँ इस समय रंगित और तिस्ता का संगम होता है) था और वह अत्यन्त कठिन, बीहड़ और दुर्गम पहाड़ी स्थान पर था। उस स्थान पर पहुँचना अत्यन्त कठिन था। तब इन दोनों प्रेमियों ने हिमालय से प्रार्थना की कि वह उन्हें सुगमता पूर्वक वहाँ पहुँचा दे। हिमालय ने प्रसन्न होकर रंगित के पथ प्रदर्शन के लिये "तूतफो" नामक पक्षी को और तिस्ता के पथ-प्रदर्शन के लिये "पमोलब्यू" नामक सर्प की व्यवस्था की।

दोनों प्रणयी ज्वलन्त आकांक्षाओं और उग्र लालसाओं को लिये महा मिलन की आशा से अपने पथ प्रदर्शकों के साथ चले। तिस्ता तो सर्प की टेढ़ी मेढ़ी चाल का अनुसरण करती हुई अपने गन्तव्य स्थान पर नियत समय पर पहुँच गई।

मगर 'रंगित' का पथ प्रदर्शक "तूतफो" पक्षी भूख के मारे इधर-उधर दाना चुगने में लग गया और शुभ लग्न की प्रतीक्षित घड़ी निकल गई। तिस्ता उस स्थान पर रंगित का इन्तजार करती रही और मन ही मन उसे झूठा, धोखेबाज ठहरा कर कोसती रही।

रंगित भी पहुँचा मगर बहुत देर के पश्चात्। उस समय तिस्ता अत्यन्त निराश होकर आँखों से आँसू बहा रही थी। रंगित उसे देख कर आश्चर्य चकित हो गया। एक नारी के सामने 'पुरुष" की यह पराजय उसे सह्य नहीं हुई। लज्जा से आक्रान्त वह उलटे पैरों वहां से लौट गया।

इस दुःखदायी घटना के फलस्वरूप उस क्षेत्र में भयङ्कर बाढ़ आई। जल प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। उत्तुङ्ग शिखर वाला पहाड़ जल में समाधि लेने लगा। सभी भारी पर्वत श्रेणियाँ जल में डूब गई। पशु पक्षी बहने लगे। चारों ओर हाहा-कार का दृश्य उपस्थित हो गया।

इस प्रलय से बचने के लिये लोग "माइनोम" नामक ऊँचे पहाड़ी शिखर पर चढ़ गये। मगर वह भी जब डूबने लगा तो उससे भी ऊँचे शिखर "ताङ्ङ" पर चढ़ गये और इसी विपत्ति से बचने के लिये परम पूज्य किंचनजंघा की प्रार्थना करने लगे। तब देवी प्रसन्न होकर "कोडोमफा-प्यूग" नामक पक्षी के रूप में प्रकट हुई और उसकी दया से यह महान विपत्ति टली। इस घटना की स्मृति में आज भी लेपचा जाति के द्वारा अगस्त महीने में "ताङ्ग" नामक पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

रंगित के विरह से "तिस्ता" वियोगिनी होकर पागल की तरह हो गई। वह अपने रूठे हुए प्रेमी को मनाने चली। रंगित के पास पहुँच कर उसने उसको उसके अविवेक के लिये खूब धिक्कारा। उसने कहा तुम्हारे अविवेक के कारण ही यह सारा प्रदेश भयङ्कर विपत्ति में पड़ गया

था। जब प्रेम करने चले हो तो उसमें धीरज भी रखना सीखो। विलम्ब होने में तुम्हारा तो दोष नहीं था तुम्हारे पथ प्रदर्शक "तूतफो" पक्षी का ही दोष था। फिर तुम क्यों रूठ गये। इस प्रकार तिस्ताने रंगित को राजी कर "पे शोक" नामक स्थान पर जहाँ रंगीत और तिस्ताका संगम है शादी कर ली। और वह नाटक दुःखान्त से सुखान्त में बदल गया।

तभी से लेपचा जाति में हरएक शादी के प्रसंग पर रंगित और तिस्ता के प्रेम के ये गीत बड़े ही भाव मधुर स्वर में गाये जाते हैं। इन गीतों की बहार से इनकी शादियों में एक अपूर्व छटा की सृष्टि हो जाती है। सबसे पहले एक लेपचा युवक उच्च-स्वर में गीत प्रारम्भ करता है और उसके प्रत्युत्तर में लेपचा युवतियां संगीत की सुरीली तान में मन मोहक नृत्य के साथ इस प्रेम कहानी को गाने लगती हैं। गीतों की बहार, नृत्य की थिरकन, और "जाँड" नामक मदिरा की घूँटों से सारा वातावरण एक अद्भुत ढंग से मादक बन जाता है।

किण्डर-गार्टन शिक्षा-पद्धति

बाल मनोविज्ञान से सम्बन्धित एक विश्व-विख्यात् बाल-शिक्षा प्रणाली जिसके सिद्धान्तों और रूपरेखा का निरूपण सबसे पहले जर्मन दार्शनिक और शिक्षा शास्त्री फ्रोबेल ने किया।

फ्रोबेल का जन्म दक्षिण जर्मनी के एक ग्राम ओबीस बेंच में सन् १७८२ में हुआ था। प्रारम्भ से ही उसका ध्यान दर्शनशास्त्री और शिक्षा-विज्ञान की तरफ लगा हुआ था। सन् १८१७ में उसने 'कीलहाऊ' में 'यूनिवर्सल जर्मन एज्यूकेशनल इन्स्टीट्यूट की स्थापना की। अपने शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये उसने सन् १८२६ में 'एजूकेशन ऑफ मेन' नामक ग्रन्थ की रचना की। सन् १८३५ में वर्ग डॉर्फ में वह शिक्षा संचालक बना और सन् १८४० में ब्लेकेनवर्ग में उसने 'किण्डरगार्टन' स्कूल की स्थापना की।

फ्रोबेल की विचारधारा कट्टर ईश्वरवादी, प्रकृति और मानव के बीच एकता के सिद्धान्त की पोषक और पूर्णता का प्रति पादन करने वाली थी।

वैसे फ्रोबेल ने शिक्षा के रूप, शिक्षा के विकासस्तर, शिक्षा में एकता के नियम इत्यादि कई विषयों पर बड़ी गम्भीरता पूर्वक विचार किया और उसके सम्बन्ध में कई ग्रन्थों की रचनाएँ भी कीं।

लेकिन उसके जीवन का सब से महत्व पूर्ण कार्य 'किण्डर-गार्टन' शिक्षा प्रणाली का आविष्कार था जिसने आगे जाकर सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

शिक्षा के सम्बन्ध में फ्रोबेल की मौलिक विचार धारा ने ही 'किण्डर गार्टन' शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया। उसकी इस विचार धारा ने संसार में प्रचलित 'बाल-शिक्षा-प्रणाली' को एक बिलकुल नया मोड़ दे दिया। छोटे छोटे बालकों को तरह तरह के खेल खिलौनों तथा उपहारों द्वारा तथा कार्य व्यवहार के द्वारा पुस्तकों के भार से मुक्तकर इस कार्य-प्रणाली ने उनको खेल, स्वतंत्रता और आनन्द के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने का मार्ग बतलाया।

फ्रोबेल ने मानव के विकास में आत्मक्रिया को प्रमुखता दी है। उसकी मान्यता है कि विकास का क्रम भीतर से बाहर की ओर चलता है। इस क्रिया के द्वारा पहले बालक संसार के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है और तत्पश्चात् तुलनात्मक अध्ययन कर स्वयं को पहचानता है। उसके पश्चात् वह प्रकृति और मानवता को अपना अंङ्ग बना लेता है। पहले उसका माध्यम आत्म-क्रिया शीलता है। बालक विभिन्न क्रिया द्वारा किसी वस्तु को स्पर्श करता, घुमाता, खींचता एवं उसका संश्लेषण करता है यही प्रक्रिया उसके ज्ञान का परिमार्जन कर उसे पूर्ण मानव बनाती है। यह क्रिया-शीलता ही बालक के जीवन में सब से महत्व पूर्ण है। इस क्रिया शीलता के अभाव में केवल निर्देशन प्रयोग हीन और बाल विकास के अनुकूल नहीं है।

इसके पश्चात् फ्रोबेल ने बालक की विकास अवस्था को तीन विभागों में बांटकर उनका विवेचन किया है। (१) पहली शिशु अवस्था जो जन्म से तीन वर्ष की आयु तक रहती है (२) बाल्यावस्था जो तीन से छः वर्ष तक रहती है और तीसरी (३) पूर्ण किशोरावस्था जो छः वर्ष से दस वर्ष तक रहती है।

पहली शिशु-अवस्था को उसने पोषण काल कहा है इस अवस्था मे माता-पिता का कर्त्तव्य है कि बालक के लिये शुद्ध वातावरण का निर्माण करे और ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण दे।

दूसरी बाल्यावस्था को शिक्षा का काल कहा गया है। इस अवस्था में शिक्षक को, बच्चे की मूल प्रवृतियों का विकास, इन्द्रियगत अनुभवों का विकास, खेल कूद में अभि रुचि, भाषा का ज्ञान, क्रिया-शीलता का आकार, खेलकूद का समायोजन, इत्यादि विषयो की तरफ ध्यान देना चाहिये।

तीसरी पूर्व किशोरावस्था में बालक के अन्दर प्रत्येक बात सीखने की प्रवृति का अभ्युदय होता है। इसलिये इस काल में निर्देशन का अधिक महत्व है। इस काल में क्रिया शीलता का रूप केवल मनोरंजन न रह कर उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। इस अवस्था में बालक बाह्य जगत से कुछ ज्ञान ग्रहण कर अन्तर्गत् में उनकी स्थापना करता है।

अतः इस आयु में संगीत और चित्रकला के प्रशिक्षण के द्वारा उसकी कलात्मक प्रवृतियो के विकास में, तथा अनुशासन, न्याय और बन्धुत्व की भावनाओ के विकास में सहायता पहुँचाना शिक्षक का कर्तव्य होना चाहिये।

इस शिक्षा-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये फ्रोबेल ने कुछ विशिष्ट उपहारों का किण्डर गार्टन स्कूलो के लिये चुनाव किया। इन उपहारों में (१) भिन्न-भिन्न रंगो की छः ऊन की गेंद (२) बेलनाकार गोला तथा घन (३) और विभिन्न प्रकार के लकड़ी के टुकड़े।

उपहारों के इस चुनाव में भी उसने इस बात का ध्यान रक्खा कि इनसे बालकों की दार्शनिक दृष्टि के विकास में सहायता मिले। बेलनाकर गोला तथा घन के द्वारा बालकों को प्रकृति, ईश्वर और बालक के बीच एकता और विषमता का आभास होता है। गेंद के लुढ़कने को देखकर बालक को जीवन की गतिशीलता का ज्ञान कराया जाता है।

इन उपहारों के द्वारा बालक की विभिन्न क्रियाओं को क्रियाशील बनाने का अवसर मिलता है। विभिन्न घनों और बेलनों से तरह-तरह की डिजाइन बनाये जा सकते हैं। इनके द्वारा रेखाचित्र के त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त इत्यादि का ज्ञान दिया जाता है। इन उपहारो के द्वारा बालकों की सौन्दर्यानुभूति और उनकी कलात्मक प्रतिभा के विकास में सहायता मिलती है।

इस प्रकार फ्रोबेल ने इस नवीन पद्धति का प्रचलन करके बाल-शिक्षा के सम्बन्ध में चली आने वाली कई भ्रान्तियो का साहस पूर्वक मुकाबिला किया। 'बालको की शिक्षा में खेल, संगीत, सौन्दर्य तथा अन्य कलापूर्ण प्रवृत्तियों को काफी महत्व दिया। उसने बाल-शिक्षा की व्याख्या की और संसार का ध्यान आकर्षित किया। इन्द्रिय-प्रशिक्षण की सुन्दर व्यवस्था की। विकास क्रम का आधार क्रियाशीलता को निश्चित किया। बालक के बौद्धिक स्तर और नैतिक विकास की ओर विशेष रूप से लक्ष्य दिया।

सन् १८४० और १८४८ के बीच उसने अपने जीवन काल में १६ किण्डर गार्टन स्कूल और खोले। तथा किण्डर गार्टन स्कूलों में शिक्षा देने के लिए शिक्षकों को तैय्यार करने के लिए उसने एक प्रशिक्षिण केन्द्र की भी स्थापना की।

लेकिन प्राचीन विचार धारा के पोषक कई लोगो ने उसकी नवीन प्रणाली का भयकर विरोध किया। जर्मन सरकार ने भी उसे क्रान्तिकारी ठहरा कर उसकी समस्त शालाओं को बन्द करवा दिया। जिससे दुःखी होकर सन् १८५२ में उसकी मृत्यु हो गई।

इस नवीन किण्डर गार्टन पद्धति का और फ्रोबेल के रहस्यवाद और प्रतीकत्व की कई विद्वानो ने कड़ी आलोचना की। किसी ने "किण्डर गार्टन को बिना आत्मा का शरीर और शीघ्र नष्ट होने वाला सिद्धान्त' तथा किसी ने "किण्डर गार्टन को कुछ निश्चित सामग्रियो का मिथ्या विचारो से युक्त एक महत्वाकांक्षी प्रयोग" बतलाया। किसी ने कहा "किण्डर गार्टन शिक्षा में मनोविज्ञान का अभाव है और सर्वत्र आध्यात्मिकता की ओर अनावश्यक संकेत है। इन अव्यवहारिक सिद्धान्तो और उपदेशों से बालकों को किसी प्रकार का आध्यात्मिक ज्ञान नहीं मिलता।"

इत्यादि, कई प्रकार की कड़ी आलोचनाओं के बावजूद भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि "किण्डर गार्डन शिक्षा प्रणाली ने बाल-शिक्षा के सम्बन्ध में एक मौलिक और नवीन धरातल संसार के सामने प्रस्तुत किया। जिसके आधार पर कई सुधारों और संशोधनों के साथ भावी शिक्षा शास्त्रियों ने इस पद्धति को पुनर्जीवित किया।

सुधार और संशोधन का यह कार्य्य विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में हुआ। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री स्टेनलेहाल, जानड्यूई, किलपैट्रिक, मैकवेनेल इत्यादि शिक्षा शास्त्रियों की विचार धारा के आधार पर किण्डर गार्टन शिक्षाप्रणाली में कई महत्वपूर्ण सुधार हुए। उसके पश्चात् तो बाल शिक्षण पर मौण्टसेरी-पद्धति के समान नवीन और वैज्ञानिक पद्धति अस्तित्व में आ गई। मौण्टेसेरी पद्धति ने भी किण्डर गार्टन पद्धति में सुधार करने में कुछ सहायता पहुँचाई।

अमेरिका में इस बात का भी अध्ययन किया गया कि किण्डर गार्टन पद्धति से बालकों के मानसिक विकास पर क्या असर पड़ता है। इसके सम्बन्ध में जो रिपोर्ट आई उनसे पता लगा कि बच्चे के शिक्षा ग्रहण और व्यक्तित्व विकास पर इस शिक्षा का साधारणतः अच्छा प्रभाव पड़ता है।

किड विलियम*

एक सुप्रसिद्ध समुद्री डाकू जिसने सत्रहवीं सदी के अन्त में सारे हिन्द महासागर में लूटमार का भयंकर आतङ्क फैला दिया था।

किड अपने जीवन के पूर्व-काल में एक स्काटिश व्यापारी था। वह एक व्यापारी नौ-सेना का अधिकारी भी था। जिस समय इंग्लैण्ड और फ्रान्स के बीच में समुद्री लड़ाइयाँ चल रही थीं कहा जाता है कि उस समय उसको एलिजाबेथ की सरकार ने फ्रेञ्च जहाजों को लूटने और डुबोने का काम सौंपा था। इस काम को करते २ उसका साहस बहुत बढ़ गया जिसने आगे चलकर उसे एक भयङ्कर समुद्री डाकू बना दिया।

हिन्द महासागर में किड-विलियम सबसे पहले सन् १६९७ में केप ऑफ गुड होप के समीप दिखाई दिया। उस समय वह "एडवेंचर" नामक जहाज और २८० टन की एक गैली का मालिक था और उसके पास ३२ तोपें और २०० नाविकों का एक दल था।

३१ मार्च सन् १६९७ को उसने "सिडनी" नामक ब्रिटिश व्यापारी जहाज पर जोर-शोर से आक्रमण किया। इसी वर्ष अगस्त महीने में "मोचा" नामक धन-सम्पत्ति से भरे एक डच जहाज पर उसने हमला किया। मगर "मोचा" की रक्षा एक डच जंगी जहाज कर रहा था इसलिए इस हमले से किड को बुरी तरह से हानि उठा कर भागना पड़ा।

मगर इसके तुरन्त बाद ही किड ने 'मेरी' नामक एक स्लूप जहाज पर आक्रमण करके उसकी विशाल धन सम्पत्ति को लूट लिया। उसके कप्तान पारकर को पकड़ लिया और मेरी जहाज को डुबो दिया।

सन् १६९७ के सितम्बर मास तक किड एक बहुत बड़े जहाजी बेड़े का मालिक बन गया, और उसने मालाबार तट पर कारवाड़ खाड़ी में एक अज्ञात स्थान पर अपने जहाजों को ठहराने और लूटी हुई सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए अपना अड्डा बनाया।

अब उसके हमले मलाबार तट से लंका तक के सारे क्षेत्र में बे-रोकटोक होने लगे।

सन् १६९७ के नवम्बर मास में उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के "थैंक फुल" जहाज को और उसके तुरन्त बाद ही कैप्टन डेकर के जहाज को खूब लूटा। थैंक फुल को तो उसने डुबो दिया मगर डेकर के जहाज का नाम बदल कर "नवम्बर" के नाम से उसने अपने बेड़े में मिला लिया।

सन् १६९८ में उसने "क्वैड-मर्चेण्ट" नामक एक अत्यन्त धन सम्पत्ति से भरे हुए ख्वाजा बाबा नामक एक प्रसिद्ध आर्मेनियन व्यापारी के जहाज को लूटा। इस विशाल जहाज के लूटे जाने से मलाबार में बड़ा आतङ्क छा गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इस डाकू का दमन करने के लिए कैप्टन हाइड को "डारली" नामक जहाज

* अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार-धर्मयुग २३ अगस्त १९६४

के साथ भेजा, मगर "किड" किसी प्रकार उसकी पकड़ से निकल भागा।

उसके बाद "किड" मलाबार तट को छोड़ कर मेडागास्कर को चला गया। मेडागास्कर जाते हुए उसने कई जहाजों को लूटा। मेडागास्कर में उसकी एक दूसरे प्रसिद्ध समुद्री डाकू "कुलीफोर्ड" से भेंट हुई। उससे उसने मित्रता कर ली और दोनों ने अपने जहाज के दो कैदियों के हृदय को चीर कर निकाला और उसपर एक दूसरे के प्रति वफादार रहने की शपथ ली।

मेडागास्कर में "किड" करीब एक वर्ष तक रहा और वहां पर इन दोनो डाकुओं ने अनेको जहाजों को लूटकर भयंकर आतंक मचा दिया।

इन डाकुओं के अत्याचारों से तंग आकर यूरोप की प्रायः सभी व्यापारिक कम्पनियो ने संगठित होकर अभियान शुरू किया। इस अभियान से 'किड" भयभीत हो गया और वह वहां से भाग कर न्यू इंग्लैण्ड गया। मगर बोस्टन पहुँचने पर वहां के गवर्नर ने उसे पकड़ लिया। एक साल वह बोस्टन की जेल में रहा। बाद में वह इंग्लैण्ड भेजा गया जहां उसे फांसी की सजा हुई और २३ मई सन् १७०१ को वह अपने छः साथियों के साथ फांसी पर लटका दिया गया।

कि-त्जे

चीन के शैंग-राजवंश का एक सुप्रसिद्ध राज पुरुष जो ईस्वी सन् के करीब ग्यारह सौ वर्ष पूर्व हुआ और जिसने कोरिया या चोसेन का नया देश बसाया।

चाऊ राज वंश के द्वारा शैंग राजवंश की पराजय हो जाने पर शैंग राजवंश का 'किन्त्जे' नामक राजपुरुष अपने पाँच हजार साथियों के साथ चीन देश को हमेशा के लिये छोड़ कर चल निकला और पूर्व दिशा में जाकर उसने 'कोरिया' या 'चोसेन' नामक देश बसाया। 'चोसेन' का अर्थ 'ऊगते हुए सूर्य का देश' होता है। इस प्रकार ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व कि-त्जे के द्वारा स्थापित कोरिया देश का इतिहास प्रारम्भ होता है। कि-त्जे के साथ ही इस देश में चीनी सभ्यता, चीनी कला कौशल, भवन निर्माण कला, कृषि और रेशम की कारीगरी का भी प्रवेश हो गया। कि-त्जे के वंशजों ने करीब नौ सौ वर्षों तक कोरिया पर राज्य किया।

किन्दी-अबू-युसुफ

अरबिस्तान का एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी, दार्शनिक और रसायनशास्त्री, जिसका जन्म ६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

यह समय अरब में अब्बासी खलीफाओं का था, जिसमें चारों ओर ज्ञान-विज्ञान का प्रचार हो रहा था। अबू युसुफ किन्दी की प्रतिभा का विकास अब्बासी खलीफा अल-मामून के समय में हुआ। खलीफा अल्-मामून के दरबार में यह राज-ज्योतिषी के पद पर था।

अबू-युसुफ किन्दी सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी था। ज्योतिष विज्ञान, संगीत शास्त्र इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों पर उसने करीब २६५ ग्रन्थों की रचना की थी, मगर ये सब ग्रन्थ काल के प्रवाह में पड़कर नष्ट हो गये। सिर्फ इनमें से कुछ ग्रन्थों के लेटिन अनुवाद उपलब्ध हैं।

किपलिंग-रुडयार्ड

(Rudyard Kipling)

सन् १६०७ के नोबल पुरस्कार-विजेता अंग्रेज साहित्यकार रुडयार्ड-किपलिंग जिनका जन्म ३० दिसम्बर १८६५ को बम्बई नगर में हुआ।

रुडयार्ड किपलिंग सबसे पहले अंग्रेज साहित्यकार थे, जिन्हें 'नोबलप्राइज' प्राप्त हुआ। इससे पहले फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, इटली इत्यादि देशों के लेखकों को यह पुरस्कार प्राप्त हो चुका था। किपलिंग उन सौभाग्यशाली साहित्यकारों में थे जिन्हें बहुत छोटी उम्र से ही कीर्ति मिलना प्रारम्भ हो गयी थी।

१६ वर्ष की अवस्था से ही भारतवर्ष में इन्होंने अपना लेखन कार्य प्रारम्भ किया और पाँच वर्ष पश्चात् सन् १८८६ में वे लन्दन चले गये। वहाँ पर अपने उपन्यासों में उन्होंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का वर्णन बड़ी

प्रभावपूर्ण भाषा में किया। इससे वहाँ के कुछ कंजरवेटिव लोगों ने इनके उपन्यासों की कड़ी आलोचना भी की।

किपलिंग की एक कविता ने उन दिनों भारत में बड़ी प्रसिद्धि पाई और वह यहाँ के लोगों की जबान पर चढ़ गयी।

Oh ! East is East and west is west
And Never the twin shall meet
Till Earth and sky meet prasently
At Gods Great judgement Seat
But there is Neither east Nor west
Border, Nor breed, Nor Birth
When too strong men stand face to face
though they come from the End of the Earth.

इस एक ही कविता से किपलिंग की ख्याति बहुत बढ़ गई।

किपलिंग की रचनाओं में 'दी लाइट दैट फेल्ड', बैरक रूम बैलड्स (पद्य-संग्रह) 'दी डेजवर्क' 'दी सेवनसीज', 'जंगल बुक', 'पक ऑफ़ पुक्स हिल' 'डेबिट एण्ड क्रेडिट' इत्यादि रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

इनकी 'दी लाइट देट फेल्ड' नामक उपन्यास पर अश्लीलता का दोषारोपण भी किया गया था। मगर फिर भी इसका प्रचार बहुत हुआ।

किपलिंग को रचनाओं के संसार की कई भाषाओं में अनुवाद भी हुए। उनकी रचनाओं पर विख्यात् समालोचक गिलबर्ट चेस्टरटन ने लिखा है कि—'उनकी रचनाओं में ऐसी वीरता और साहस का समिश्रण है जो इंजीनियरों, नाविकों और खच्चरों में मिलती है" लन्दन नेशन नामक पत्र ने लिखा है कि अंग्रेजी साहित्य में किपलिंग की कोटि का कोई लेखक नहीं मिलेगा—जिसने सैनिक वर्णन इतनी सफलता से किया है। मगर आगे चलकर इनकी रचनाओं की लोकप्रियता बहुत कम हो गई।

बयालीस वर्ष की अवस्था में किपलिंग को उनकी आरम्भिक रचनाओं पर सन् १९०७ में नोबल प्राइज मिला। सन् १९३६ में इनका देहान्त हो गया।

किरगिज

प्रारंभ में रूस के साइबेरिया प्रान्त में और उसके पश्चात् मध्य एशिया में घूम फिर कर रहने वाली एक कबीलाई जाति।

किरगिज जाति मूलतः अल्ताई पर्वतमाला के उत्तर-पूर्व में रहने वाली थी, जहाँ पर उनके भाई-बन्धु 'खकाश' अब भी रहते हैं। सन् १७१६ से १७१९ ई० के बीच में 'ओब' और 'इतिश' के बीच की भूमि रूस के हाथ में चले जाने के कारण इनको अपनी मूल भूमि से हट कर मध्य एशिया में आना पड़ा।

किरगिजों की पुरानी परंपरा के अनुसार इनके किसी पौराणिक खान 'अलश' ने इस जाति को तीन कबीलों में बाँट दिया था। (१) बड़ा कबीला (२) बिचला कबीला और (३) छोटा कबीला। इनमें से बड़ा कबीला बल्काश महासरोवर के आसपास सतनद और चीनी तुर्किस्तान में घूमा करता था। 'बिचला कबीला' अराल के उत्तर-पूर्वी तट पर और छोटा कबीला तोगोल नदी और अराल के बीच में अपने पशुओं को चराया करता था।

रूस की साम्राज्ञी अन्ना के टाइम में सन् १७३०—४० के बीच बड़े कबीले का बिचले और छोटे कबीलों के साथ झगड़ा हुआ। इस झगड़े से अपनी रक्षा करने के लिए बिचले और छोटी कबीले ने सन् १७३२ में रूस से सहायता के लिए प्रार्थना की। इन दोनों कबीलों के सहयोग से रूस को अपना साम्राज्य-विस्तार करने में बड़ी सहायता मिली और उसके लिये मध्य एशिया और ईरान की सीमा तक पहुँचना आसान हो गया। इस समय तक 'ओरेनबुर्ग' का प्रसिद्ध व्यापारिक नगर स्थापित हो चुका था।

सन् १८२२ के राज्या देश के अनुसार किरगिजों के छोटे कबीले को ओरेनबुर्ग की सरकार में और मझले कबीले को साइबेरिया प्रदेश में मिला लिया गया।

किरगिजों को रूस का बल मिलने से वे अब बुखारा, खीवा और खोकन्द की परवाह नहीं करते थे और उनके कारवाँ को लूटा करते थे। कभी-कभी वे रूसी कारवाँ को

भी लूटा करते थे और रूसी नर-नारियों को गुलाम बना कर मध्य एशिया के बाजारो में बेच दिया करते थे।

किरगिजों की क्रान्ति

किरगिजो के क्षेत्र में धीरे-धीरे रूसी किसानो और मजदूरो के गॉव बसने लगे और रूसी अफसर किरगिजो की भूमि को छीन-छीन कर रूसी किसानो को देने लगे।

सन् १८७४ ई० में पहले-पहल सतनद और पास की भूमि में रूसियो के गॉव बसने लगे। जो बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ते हुए, किरगिज लोगों की भूमि पर अपना हाथ साफ करते रहे। सन् १९१५ ई० तक १८ लाख एकड़ भूमि केवल 'पिशपेक' के जिले मे 'किरगिजो' के हाथ से छीन कर रूसी किसानो को दे दी गयी। इस भयंकर शोषण से किरगिजो के अन्दर व्यापक रूप से असन्तोष छाया हुआ था। इसी समय सन् १९१६ में प्रथम युद्ध के समय रूस के जार ने एक अध्यादेश निकाल कर किरगिजो और दूसरी एशियाई जातियो को जबर्दस्ती सेना के पीछे काम करने के लिए भर्ती करना प्रारभ कर दी। इसके फलस्वरूप सन् १९१६ के अगस्त महीने महीने में 'किरगिजों' ने एक जबर्दस्त क्रान्ति का प्रारभ किया। इस क्रान्ति को 'जार' की सरकार ने बड़ी निर्दयता पूर्वक दबा दिया। इस क्रान्ति के कारण ९९ प्रतिशत किरगिज जान से मारे गये।

मगर इसके दूसरे ही साल 'बोल्शेविक' क्रान्ति से 'जारशाही सरकार' भी खतम हो गयी।

किरगिज शिक्षा और संस्कृति मे बहुत पिछड़े हुए थे, जिसके कारण राजनैतिक तौर से भी उनका पिछड़ा होना स्वाभाविक था। सन् १९२६ ई० में सोवियट शासन के अन्तर्गत किरगिजों की भूमि का 'किरगिजिस्तान' के नाम से स्वतंत्र स्वायत्त गणराज्य कायम हुआ, जिसे १९३६ ई० में स्वतंत्र गणराज्य के तौर पर सोवियट-संघ का अंग बनने का मौका मिला।

किरगिजिस्तान

किरगिजिस्तान मध्य एशिया के ऊँचे पहाड़ों—'त्यान-शान्' का देश है। यहीं पर ७ हजार मीटर से भी अधिक ऊँचे 'लेनिन्स्क' और 'खान-तिंगरो' के सनातन हिमाच्छादित पर्वत शिखर हैं। इसकी कितनी हिमानियां ६० मील से भी अधिक लंबी हैं। मध्य एशिया की सबसे बड़ी नदियॉ 'वक्षु' 'सिर दरिया' 'चू' 'तलस' और 'जरफेशॉ' यहीं से निकलती हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त किरगिजिजिस्तान में कोयला, पेट्रोल, रॉगा, सुरमा, सोना, चॉदी आदि धातुओं की बड़ी-बड़ी खदाने हैं। चू-उपत्यका, फरगाना और तलस उपत्यका की भूमि खेती और बागवानी के लिये विशेष उर्वरा है। प्रकृति ने इस भूमि को अत्यन्त समृद्ध बनाया है। लेकिन यहॉ के निवासी किरगिज बोल्शेविक क्रान्ति के पहले एशिया की सबसे पिछड़ी हुई जाति के थे और पशुओं को चरा कर अपना गुजारा करते थे।

बोल्शेविक-क्रान्ति के पश्चात् इस क्षेत्र का सांस्कृतिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत बड़ा विकास हुआ और किरगिजिस्तान के नाम से एक स्वतंत्र गणराज्य की स्थापना की गयी।

किरगिजिस्तान का क्षेत्रफल ७८ हजार वर्ग मील और जन सख्या १५ लाख से ऊपर है। किरगिज जाति इस समय मध्य एशिया की पिछड़ी जाति नहीं है, बल्कि रूसियो की तरह आगे बढ़ी हुई जाति हो गयी है।

किरात

पूर्वी हिमालय के अञ्चल मे बसने वाली एक पहाड़ी जाति, जिसका इतिहास बहुत प्राचीन काल से मिलता है।

महाभारत के सभा-पर्व से मालूम पड़ता है कि प्राग्ज्योतिष या आसाम के निकट ही किरात का प्रदेश था। हिमालय के पूर्व में लोहित्य नदी के आगे किरात लोग रहते थे। अंग्रेज-पुरातत्ववेत्ता 'टालेमी' ने किरात जाति का निवास अराकान को बतलाया है।

बर्मा और कंबोडिया से प्राप्त ईसा की ५वी ६ठी सदी के कुछ शिला लेखो से मालूम होता है कि बर्मा और कबोडिया के आदिम निवासियों का नाम 'किरात' था।

इन सब बातों से पता चलता है कि प्राचीन समय मे हिमालय के पूर्वांश में भूटान, मणिपुर, बर्मा तथा कम्बोडिया तक किरात-जाति का वास था और ऐसे स्थान 'किरात-जनपद' के नाम से विख्यात थे।

महाभारत से यह भी मालूम होता है कि 'प्राग ज्योतिष' के राजा भगदत्त ने किरात और चीन की सेना लाकर अर्जुन के साथ युद्ध किया था।

किरातार्जुनीय से पता लगता है कि महाभारत काल में किरात जाति गुप्तचरों का और सैनिकों का काम किया करती थी। स्वयं महादेव ने किरात का रूप धारण करके अर्जुन से युद्ध किया था।

प्लाइनी और मेगास्थनीज के लेखों में भी किरातों का वर्णन पाया जाता है। आज कल नैपाल में यह जाति किरान्ती के नाम से प्रसिद्ध है। यह जाति तीन भागों में विभक्त है। वल्ली-किरान्त, माझ-किरान्त और पल्ल-किरान्त। वल्ली-किरान्तों में लिम्बू, यख और रयस नामक तीन श्रेणियाँ और हैं। लिम्बू किरान्त पत्नी-क्रय करते हैं। जिसके पास पत्नी खरीदने का पैसा नहीं होता, वह श्वसुर के घर कुछ दिन तक नौकरी करता है, उस परिश्रम के बदले में उसे पत्नी प्राप्त होती है।

नैपाल की पर्वतीय 'वंशावली' को पढ़ने से पता चलता है कि अहिर वंश के बाद किरात-वंश के २६ राजाओं ने नैपाल में राज्य किया। अन्त में नैपाल के राजा पृथ्वी नारायण सिंह ने इस राज-वंश को समूल नष्ट कर दिया।

सिक्किम और नैपाल के किरातों में कुछ लोग बौद्ध और कुछ हिन्दू-धर्मावलम्बी हैं।

वराह मिहिर की 'वृहत् संहिता में भारत के दक्षिण-पश्चिम किरात नामक किसी जनपद का उल्लेख है। शक्ति-संगम-तंत्र में 'तप्त कुण्ड' से लेकर 'रामक्षेत्रान्त' पर्यन्त किरात-देश कहा जाता है जो विन्ध्य-पर्वत में अवस्थित है।

इन सब बातों से पता चलता है कि हिमालय प्रदेश में, प्राचीन काल में किरात जाति एक प्रसिद्ध और सैनिक जाति रही।

इससे भी प्रमाणित होता है कि किरात-जाति उस समय में भी युद्ध कला में निपुण थी और इसकी कुछ शाखाएँ भारत के मध्य और दक्षिणी भागों में भी फैल गयी थीं।

किरातार्जुनीय

महाकवि भारवि के द्वारा विरचित संस्कृत का एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य, जो अपने अर्थगौरव के कारण समस्त भारतीय साहित्य में अनुपम माना जाता है। इस महाकाव्य की रचना का काल ७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जाता है।

किरातार्जुनीय संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्यों की 'वृहत्त्रयी' में अपना प्रथम स्थान रखता है। वैसे कालिदास कृत 'रघुवंश' महाकाव्य सर्गादि की दृष्टि से किरातार्जुनीय से लघु काव्य नहीं है, तथापि उसे वृहत्त्रयी में स्थान नहीं दिया गया है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि काव्य-कला के शिल्प-विधान की दृष्टि से किरातार्जुनीय, रघुवंश महाकाव्य से उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण है।

इस महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने एक अत्यन्त छोटे और लघु कथानक के ऊपर इस महाकाव्य की विशाल इमारत खड़ी की है। जिसमें स्थान-स्थान पर कथा-वैचित्र्य की जगह कवि की महान् प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इस छोटे से कथानक को आधार बनाकर कवि ने इसमें संसार भर की राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, समाज नीति, सौन्दर्योपासना, युद्धनीति और तरह-तरह के लोगों के रहन-सहन का सुन्दर वर्णन कर दिया है। इसी कथानक के आधार पर कवि ने इस काव्य में वीररस, शान्त रस, शृंगार रस, रौद्ररस, करुण रस आदि अनेकानेक रसों की धाराएँ बहा दी हैं।

इस काव्य का कथानक इस प्रकार है—

युधिष्ठिर इत्यादि पाँचों पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ १२ वर्ष का वनवास और १ वर्ष का गुप्त वास पूरा करने के लिए वनवास में रह रहे हैं और वहाँ से अपने एक किरात गुप्तचर को राजा दुर्योधन के राज्य की राजनैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजते हैं। गुप्तचर वहाँ का अध्ययन करके वापस आता है और युधिष्ठिर को बतलाता है कि दुर्योधन ने किस प्रकार थोड़े से समय में प्रजा को खुशहाल कर दिया है। अपनी विनयशीलता से अपने शत्रुओं को अपना मित्र बना लिया है। किसानो को सहायता देकर अन्न का उत्पादन बढ़ा दिया

है और अपने राज्य की सुरक्षा के लिए उत्कृष्ट सैनिक तैयारी कर ली है और दिन-प्रति दिन वह लोकप्रियता को प्राप्त कर लिया है।

द्रौपदी और भीम बनवासी के इस कथन को सुनकर अत्यन्त उत्तेजित हो उठते है और महाराज युधिष्ठिर को उनकी कमजोरी के लिए बड़े कड़े शब्दों में धिक्कारते हैं। युधिष्ठिर शान्तिपूर्वक सब बातें सुनते हुए उनको धर्म और नीति का उपदेश करते है।

इतने ही में महर्षि व्यास वहाँ पर आते हैं और वह पाण्डवों को उनकी कमजोरी बतला कर अर्जुन को योग-विद्या देकर 'इन्द्रकील' पर्वत पर जाकर कठिन तपस्या करके 'इन्द्र' तथा शिवजी से 'पाशुपत अस्त्र' तथा कुछ और दिव्यास्त्र प्राप्त करने की सलाह देते हैं। अर्जुन इन्द्र-कील पर्वत पर जाकर कठोर तपस्या करता है। इन्द्र उसका तप भंग करने के लिए अपनी अप्सराओं को भेजता है। मगर वे असफल होकर वापस चली जाती है। इन्द्र उसके सम्मुख आकर उसकी प्रशंसा करते हुए उसे शिवजी की आराधना करने को कहता है। अर्जुन शिवजी की आराधना में और भी कठोरतम तपस्या करता है। तब शिवजी किरात का वेष धारण करके वहाँ आकर उसे युद्ध के लिए ललकारते हैं। दोनो में बड़ा भीषण युद्ध होता है। अन्त में शिवजी अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं और उसे अपना अमोघ 'पाशुपतास्त्र' और इन्द्रादि दिक्पालों ने अर्जुन को कई दिव्यास्त्र प्रदान किये।

इसी कथानक पर इस सारे महाकाव्य की रचना है। मगर इस छोटे से कथानक के एक एक पात्र के द्वारा जो अमूल्य वाणी इस महाकवि ने प्रवाहित की है—वह किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है।

बनवासी गुप्तचर दुर्योधन के राज्य का भेद लेकर उसका वर्णन करते हुए कहता है कि—

'दुर्योधन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं अहंकार रूपी शत्रुओं को जीतकर मनु आदि नीतिज्ञों की बनायी हुई शासन-पद्धति के द्वारा शासन करके अपने पुरुषार्थ को सफल बना रहा है। किसी के साथ कोई विशेष पक्षपात न करके अनासक्त भाव से वह धर्म, अर्थ और काम का सेवन कर रहा है। इन्द्रियों को वश में रखने वाला वह दुर्योधन क्रोध अथवा धन के लोभ से किसी को दण्ड नहीं देता। वह इसे राजा का धर्म समझ कर शत्रु-मित्र या पुत्र सबके साथ समान रूप से दण्ड का प्रयोग करता है।

चिरकाल से प्रजा के कल्याण के लिए यत्नशील उस राजा दुर्योधन ने नदियों और नहरों की सिंचाई की सुविधा से समस्त 'कुरु प्रदेश' की भूमि को हरा-भरा करके नाना प्रकार के अन्नों से देश को समृद्ध कर दिया है।'

दुर्योधन के गुप्तचर-विभाग का वर्णन करते हुए वह दूत कहता है कि 'आरम्भ किये हुए कार्यों को समाप्त करके ही छोड़ने वाले दुर्योधन ने अपने गुप्तचर समस्त भूमण्डल में छोड़ रखे हैं। इनके द्वारा वह सब राजाओं की कार्य-वाहियों को जान लेता है, किन्तु ब्रह्मा के समान उसकी इच्छाओं की जानकारी लोगों को तभी होती है, जब उसका कार्य पूरा हो जाता है।'

दुर्योधन के मित्रों का वर्णन करता हुआ वह बनवासी-गुप्तचर कहता है कि 'महाबलशाली अपने कुल और शील का स्वाभिमान रखने वाले, धन-सम्पत्ति द्वारा सत्कृत, युद्धभूमि में कीर्ति प्राप्त करने वाले, परोपकार परायण, धनुर्धारी शूरवीर उस दुर्योधन का प्राणों से भी प्रिय समझते हैं और उसके कार्यों को पूर्ण करने को अभिलाषा रखते हैं।''

इस प्रकार उस बनवासी ने एक सफल राजा की राजनीति को अपने छोटे से वक्तव्य में कितनी सुन्दरता से चित्रित किया है। बनवासी के उस कथन की द्रौपदी पर क्या प्रतिक्रिया हुई यह द्रौपदी के द्वारा युधिष्ठिर को कही हुई बातों से इस प्रकार प्रकट होता है।

''यद्यपि आप जैसे राजाओं के लिए स्त्रियां द्वारा कही गयी अनुशासन सम्बन्धी बातें उचित नहीं मालूम होती, पर नारीजाति सुलभ शालीनता को छुड़ाने वाली, ये मेरी दुष्ट मनोव्यथाएं मुझे बोलने के लिए विवश कर रही हैं।''

''इन्द्र के समान पराक्रमशाली अपने वंश में उत्पन्न होने वाले 'भरत' आदि राजाओं के द्वारा चिरकाल से सम्पादित इतने बड़े साम्राज्य को तुमने अपने ही हाथों से नष्ट कर दिया।''

"वे मूर्ख बुद्धि के लोग पराजित होते हैं जो अपने मायावी शत्रुओं के साथ मायावी नहीं बनते (क्योंकि दुष्ट लोग सीधे-सादे निष्कपट लोगों को नष्ट कर देते हैं ।)

"हे राजन् ! ऐसी विपत्ति का समय आ जाने पर भी वीर-पुरुषों के लिए निन्दनीय मार्ग पर खड़े हुए आपको मेरे द्वारा बढ़ाया हुआ क्रोध, सूखे हुए शमी वृक्ष को, अग्नि की भाँति क्यों नहीं जला रहा है ।"

"जिसका क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, ऐसे विपत्तियों को दूर करने वाले व्यक्ति के वश में लोग स्वयं ही हो जाते हैं, किन्तु क्रोध से विहीन व्यक्ति की मित्रता से न कोई लाभ होता है और न उसकी शत्रुता से किसी को भय होता है । नीचता पर उतारू शत्रुओं के रहते हुए आप जैसे परम तेजस्वी के लिए १३ वर्ष की अवधि पूरी करने की रक्षा की बात सोचना-अत्यन्त अनुचित है । क्योंकि विजय के अभिलाषी राजा अपने शत्रुओं के साथ किसी न किसी बहाने सन्धि आदि को भंग कर ही देते हैं ।"

द्रोपदी के भाषण के बाद भीम का वक्तव्य भी उसके समर्थन में करीब-करीब उन्हीं सिद्धान्तों पर होता है । इन वक्तव्यों को पढ़ते-पढ़ते पाठक की सहज सहानुभूति भाषण कर्ताओं के साथ हो जाती है, मगर जब युधिष्ठिर का धीर-गम्भीर भाषण सामने आता है, तब इन भाषणों की कमजोरी स्पष्ट रूप से सामने दिखलाई पड़ती है ।

द्रोपदी और भीमसेन के उग्र वक्तव्यों को सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर किञ्चिन्मात्र भी उत्तेजित नहीं हुए । वह उनके भाषणों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं —

"पवित्र हृदय से कहा हुआ निर्मल, मनोरम, मंगल दायक दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति तर्क एवं प्रकारणों से युक्त सुन्दर शब्दों से समलंकृत, हृदयग्राही एवं कल्याणकारी तुम्हारे वक्तव्य में तुम्हारी निर्मल बुद्धि स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है ।

"फिर भी बिना सोच-विचार किये एकाएक जल्दबाजी में किसी कार्य को प्रारंभ न करना चाहिये । अविचार पूर्वक प्रारंभ किया हुआ काम विपत्तियों का प्रमुख कारण बन जाता है । जो कर्तव्य कर्मरूपी जल से, फल की प्रतीक्षा करते हुए वृक्ष को भली भाँति सींचता है, वह मनुष्य फलों की शोभा से अलंकृत शरदृऋतु की भाँति फलसिद्धि प्राप्त करता है ।"

"विजयाभिलाषी पुरुष, क्रोध को त्यागकर उत्तरकाल में सुख देने वाली, गौरवपूर्ण सिद्धि को ध्यान में रखकर अपने पुरुषार्थ का अनुकूल तथा कल्याणदायी मार्ग में उपयोग करते हैं ।"

"भाई भीमसेन, 'तुम तो समुद्र से भी बढ़कर धीर और गम्भीर थे । फिर क्यों आज मन की चञ्चलता को बढ़ा रहे हो, धैर्य में तुम तो समुद्र से भी बढ़ कर हो । जब समुद्र भी क्षोभ में अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता । तब तुम अपनी मर्यादा को छोड़कर उसे अपने से ऊँचा बना रहे हो ।"

"जो मनुष्य शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कर के भी अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोधादि शत्रुओं को नहीं पराजित करते, वे निश्चय ही बहुत शीघ्र अपकीर्ति के भागी होते हैं ।"

"सोचो तो, हम लोगों को जो वनवास की अवधि बँधी हुई है, उसके पूरी हुए बिना ही यदि हम कौरवों के ऊपर अभियान करते हैं तो इस अन्यायपूर्ण कार्य में हमारे यदुवंशीय तथा दूसरे मित्र हम लोगों का साथ किस प्रकार देंगे । इसलिये शान्ति के साथ समय की प्रतीक्षा करो ।"

इसके बाद महर्षि व्यास का आगमन, अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिये योग-विद्या का दान, अर्जुन का यक्ष के साथ तपस्या के लिये हिमालय पर जाना, जिसके मार्ग में पड़ने वाले प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम वर्णन—इस महाकाव्य में किया गया है ।

महाकवि भारवि का प्रकृति-दर्शन भी उनके राजनीतिक ज्ञान की तरह गहरा, सुन्दर और स्वाभाविक है ।

इसके बाद अर्जुन घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं । उस तपश्चर्या की स्थिति का वर्णन करने में भी इस महाकवि की लेखनी का चमत्कार भी स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है ।

स्वर्ग में बैठे हुए इन्द्र को अर्जुन की कठिन तपस्या का हाल मालूम पड़ता है और वह अपने निगम के अनुसार अर्जुन की तपस्या भंग करने के लिये गन्धर्व और अप्सराओं की सेना भेजते हैं । इस स्थान पर उन अप्सराओं

का वर्णन करने में कवि ने शृंगार-रस की जो अद्भुत झाँकी इस महाकाव्य में दी है, वह दर्शनीय है इन अप्सराओं और गन्धर्वों ने अर्जुन को तपस्या को भंग करने के लिये संगीत, नृत्य और नाना प्रकार के हाव-भावों का प्रदर्शन किया, मगर अर्जुन अपनी तपस्या से विचलित न हुए और उन अप्सराओं को असफल होकर वापस लौटना पड़ा।

तब देवराज इन्द्र स्वयं वहाँ पर आये और उन्होंने अर्जुन की तपस्या की प्रशंसा करते हुए कहा कि—"तुम प्रशस्त चित्त वाले हो, जो तुम्हें तपस्या करने की यह कल्याणकारिणी बुद्धि प्राप्त हुई है। क्योंकि संसार में जन्म लेने वाले को सर्वदा दुःख ही दुःख है। ऐसा सोच कर इस त्यागने योग्य संसार में तुम्हारे समान योग्य पुरुष जन्म लेकर, मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, पर मुझे तुम्हारे द्वारा धारण किया हुआ योद्धा को तरह यह वेष और शस्त्रास्त्रों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति समझ में नहीं आती। तुम तो मुक्ति के अभिलाषी हो। अपने शरीर के सम्बन्ध में भी निष्क्रिय एवं जीव मात्र के लिये अहिंसक भावना धारण करने वाले हो, फिर तुमने ये शस्त्रास्त्र क्यों धारण कर रखे हैं?

तब अर्जुन अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान इन्द्र को कराते हैं और कहते हैं कि "मैं समुद्र की तरंगों के समान चञ्चल सुख की कामना नहीं करता और न धन की ही कामना मुझे है। यही नहीं विनाश रूपी वज्र से भयभीत होकर ब्रह्मपद अर्थात् मोक्ष की भी कामना मुझे नहीं है।"

"किन्तु मेरी इच्छा यही है कि शत्रुओं के छल से जो अपयश का कीचड़ हमें लगा है, उसे शत्रुओं की विधवा स्त्रियों के वैधव्य-सन्ताप से निकले हुए अश्रु जल से धो डालें।"

"मैं तो अपने शत्रुओं का संहार करके अपनी वंश-परंपरा द्वारा प्राप्त राजलक्ष्मी का उद्धार किये बिना मुक्ति को भी, विजयश्री की प्राप्ति में बाधक हो मानता हूँ।"

"हे तपोधन! आप ही बतलाइये कि जिस मनुष्य का क्रोध शत्रु का निर्मूलन किये बिना ही शान्त हो जाता है, उसे पुरुष कैसे कहा जा सकता है?"

तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर अर्जुन को शिव जी की आराधना करने की सलाह दी और अर्जुन फिर शिवजी की उग्र तपस्या में लीन हो गये।

अर्जुन की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसकी परीक्षा लेने के लिये किरात का वेष धारण किया। जिस समय शिवजी इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचे, उस समय मूक नामक दानव वाराह का रूप धारण करके अर्जुन का संहार करने के लिये प्रयत्नशील हो रहा था। जब अर्जुन ने उस वाराह के भयंकर रूप को देखा, जो उनकी ओर बढ़ा चला आ रहा था तो उन्होंने गांडीव धनुष पर बाण चढ़ा कर उस वाराह के ऊपर छोड़ा। ठीक उसी समय किरात वेशधारी शिवजी ने भी तपस्वी वेषधारी अर्जुन की प्राणरक्षा के लिये अपना बाण भी छोड़ दिया।

"दोनों बाण उस वाराह को एक ही साथ लगे। तब अर्जुन अपने बाण को लेने के लिये उस वाराह की तरफ दौड़े, मगर उसी समय किरातपति शिव का सेवक एक किरात अपने स्वामी का बाण लेने के लिये वहाँ पहुँच गया। उसने तेजस्वी अर्जुन को नमस्कार किया, लेकिन नम्रतापूर्वक कहा कि—

"अपने तेज से सूर्य देव को लज्जित करने वाले आप जैसे पराक्रमी व्यक्ति को इस वराह को मारने वाले हमारे स्वामी के बाण का इस प्रकार से अपहरण करना उचित नहीं।"

"मनु आदि आचार-वेत्ता महानुभावों ने न्याय-पथ का अवलम्बन करने के लिए समस्त मानव-जाति को उपदेश दिया है। यदि आप के समान व्यक्ति उस न्याय-पथ से विचलित हो जायंगे तो बताइये उस पथ पर कौन दूसरा चलेगा!"

"इसलिए सज्जन पुरुष को सदाचरण और शील का कदापि त्याग न करना चाहिए। मुझे आश्चर्य है कि हमारे स्वामी के द्वारा मारे गये वराह को मारकर आपको लज्जित होना तो दूर रहा, आप उनके बाण का भी अपहरण करना चाहते हैं—यह बड़ी लज्जा की बात है।"

"हमारे स्वामी किरातपति यदि अपने तीक्ष्ण बाण से इस वराह को शीघ्र हीं न मार डालते तो यह वन्यजीव अपने भयंकर बल से आपके प्रति जो कुछ करता, वह

अमांगलिक होने के कारण कहना उचित नहीं है। भगवान करे, वैसा अमंगल आपका न हो।"

"इन्द्र के वज्र के समान कठिन अंगो वाले इस तीक्ष्ण दाढ़ों वाले वराह को हमारे स्वामी किरातपति के अति-रिक्त, कौन ऐसा है, जो वाण द्वारा मार सकता है?"

"आपसे हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नहीं कर सकते। क्योंकि तपस्वियों का वाण लेने में हमारा क्या आग्रह होगा। हमारे किरातपति के पास सैकड़ों सहस्त्रों ऐसे वाण हैं, जो इन्द्र के वज्र से भी अधिक प्रभावशाली हैं। यदि आपको ऐसे वाण चाहिये तो आप हमारे स्वामी किरातपति से माँग लें।"

"आप जैसे महानुभाव मित्र के याचना करने पर वह वाण तो क्या सारी पृथ्वी को जीत कर आपको दे सकते हैं।"

किरात की युक्तियों से भरी बातों को सुनकर अर्जुन चकित रह गये। उन्होंने कहा—"हे वनेचर! तुझ में कार्य-निर्वाह करने का बड़ा भारी गुण है। इसीलिए तुम्हारे स्वामी ने तुझे यह कार्य-भार अर्पित किया है। वनवासी होकर भी तुमने योग्य वक्ताओं से अपने को आगे बढ़ा लिया है। तुमने प्रिय भाषण करके प्रलोभन पैदा किया है–बुद्धि को विचलित करने के लिए भय दिखलाया है वाण प्राप्त करने की इच्छा से तुमने ऐसी वाणी का प्रयोग किया है, जो अन्याय से भरी होने पर भी न्याय युक्त मालूम हो रही है।"

"अपने स्वार्थ के लिए पशुओं को मारने वाले शिकारी तपस्वियों का भला क्या उपकार कर सकते हैं। किसी अस्त्र-शस्त्र से विहीन तपस्वी को यदि कोई हिंस्र जन्तु मारना चाहता हो, उस पर अनुकम्पा करना तो महान पुरुषों का सहज धर्म है, किन्तु धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर वाण-सन्धान करने वाले मुझ जैसे तपस्वी पर उन्होंने अनुकम्पा की है—यह मैं कैसे मान सकता हूँ।"

'इसी कारण से मैंने तुम्हारे स्वामी किरात की कठोर एवं आक्षेप भरी बातें सहन की हैं। यदि इसके बाद भी वह वाण लेने का आग्रह करेंगे तो उनकी वही दुर्दशा होगी, जो दृष्टि विष सर्प से मणि लेने वाले की होती है।'

उसके बाद किरातपति और अर्जुन के बीच महा-भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। जब अर्जुन देखते हैं कि साधारण अस्त्रों से किरात सेनापति पर कोई असर नहीं हो रहा है। तब उन्होंने अनेक प्रकार के प्रस्वापन-अस्त्र, सर्पास्त्र, आग्नेयास्त्र इत्यादि बड़े से बड़े अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया, मगर किरातपति ने गारुड़ास्त्र, वारुणास्त्र आदि अस्त्रों का प्रयोग करके अर्जुन की सारी अस्त्र-कला को विफल कर दिया।

फिर भी अर्जुन का साहस नहीं टूटा और अपने रण-कौशल से उन्होंने किरातपति की सेना को इतना आतंकित कर दिया कि शिवजी परेशान हो गये। तब शिवजी ने सम्मुख युद्ध में विपक्षी को अपराजेय समझकर अपनी माया से अर्जुन के तरकसों को वाणों से रहित कर दिया और धनुष को भी काट डाला। तब अर्जुन ने तलवार का सहारा लिया। तलवार कट जाने पर वह शिवजी पर पत्थर बरसाने लगे और यह प्रयोग व्यर्थ होने पर वह मल्ल-युद्ध करने पर तैयार हो गये।

तब प्रसन्न होकर आशुतोष शिव ने अपना किरात वेष छोड़कर प्रकृत वेष धारण किया और अर्जुन को अभीष्ट 'पाशुपतास्त्र' तथा और भी अनेक अमोघ शस्त्रास्त्र भी प्रदान किये।

इस प्रकार किरातार्जुनीय की कथा समाप्त होती है। इस महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वनवासी किरातों से लेकर उच्चश्रेणी के विद्वानों तक जो भी वक्ता वक्तव्य देते हैं—उन वक्तव्यों में समुद्र के समान गंभीरता, ओज, तर्कशीलता, विनम्रता इत्यादि अनेक ऐसे गुण पाये जाते हैं—जो संसार के किसी दूसरे काव्य में उपलब्ध नहीं होते।

किरातकूट (किराड़ू)

राजस्थान के सुदूर पश्चिम में, मरुभूमि के बीच निर्मित किराड़ू के दर्शनीय मन्दिर, जिनका रचना-काल १३ वीं शताब्दी के पूर्व माना जाता है।

तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य राजस्थान में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ जो अपनी कला की

उत्कृष्टता के कारण आज भी दर्शनीय हैं। लेकिन राजस्थान के सुदूर पश्चिम में, मरुस्थल के बीच में स्थित किराडू के मन्दिर दर्शनीय होते हुए भी एकान्त में होने से उपेक्षित रहे हैं।

उत्तर रेलवे की बाड़मेर, मुनावा रेलवे लाइन पर खंडीन स्टेशन से तीन मील की दूरी पर किराडू के नाम से भग्न मन्दिरों की एक बस्ती बनी हुई है।

किराड़ू के मन्दिर एक वर्ग मील के क्षेत्र में फैले हुए हैं। ऐसा समझा जाता है कि किसी समय यहाँ पर चौबीस मन्दिर विद्यमान थे। अब इस स्थान पर केवल पाँच मन्दिर शेष रह गये हैं। इनमें से सोमेश्वर का मन्दिर आज भी कलाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है।

सोमेश्वर मन्दिर के बाहरी भाग पर कृष्णलीला के चित्र खुदे हुए हैं। मन्दिर के दक्षिणी भाग में अमृत-मन्थन की घटनाओं से सम्बन्धित दृश्य बहुत ही सुन्दरता से खोदे गये हैं। गर्भगृह के बाहरी भाग में रामायण सम्बन्धी अनेक दृश्य हैं। जिनमें सुग्रीव बालि-युद्ध, अशोक-वाटिका में हनुमान का प्रवेश, वानरों के द्वारा सेतुबन्ध का निर्माण आदि दृश्य सहज ही दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। मन्दिर के बाहरी भाग में उत्कीर्ण इन विभिन्न दृश्यों से तत्कालीन वेश-भूषा, रहन-सहन, यात्रा एवं युद्धों के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं।

किराडू गुजरात के प्रसिद्ध नरेश कुमारपाल के सामन्त अल्हण देव के अधीन रहा। किराड़ू के सोमेश्वर-मन्दिर के प्रवेशद्वार पर तेरहवीं शताब्दी का एक शिलालेख लगा हुआ है। उसीसे यह सब सूचनाएँ मिलती है।

क्रियेफ रूस राजवंश

रूस का प्राचीन राजवंश, जो सन् ६०० ईसवी से १२वीं सदी के प्रारम्भ तक शासन करता रहा।

ग्रीस के रास्ते पर 'क्रियेफ' एक बहुत महत्वपूर्ण नगर था। यहाँ के 'रूरिक' नामक वरंगी जाति के एक साहसी व्यक्ति ने नवोगोरद में अपना अड्डा जमाया।

नवोगोरद कालासागर दूनिएपर नदी से उत्तर जानेवाले रास्ते पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नगर था।

रूरिक के दो भाई भी आस पास के क्षेत्रों में जम गये और स्लाव लोगों की भूमि में लूट-मार करने लगे। इनमें से कितने ही रूसी राजुलों के अनुचर अथवा स्वतंत्र सरदार बन कर बस गये। ये लोग स्लाव लोगों को बहुत परेशान करते थे, मगर जब ये रूस में स्थायी रूप में बस गये, तब ये रूसी सभ्यता और रूसी भाषा को अंगीकार करके स्वयं 'रूसी' बन गये और पेरून तथा स्वारोग नामक देवताओं की पूजा करने लगे।

रूरिक तथा उसके भाइयों और साथियों की भी यही हालत थी।

१०वीं शताब्दी के आरम्भ में रूरिक के पुत्र ओलेग ने अपने पराक्रम से अपने राज्य का विस्तार किया और धीरे-धीरे कितने ही राजुलों को अपने अधिकार में कर वह रूस का 'महाराजुल' बन गया।

कियेफ के महाराजुल ओलेग के अधीन होकर दूनिये पर उपत्यका और इलमन सरोवर के स्लाव एकताबद्ध हो गये और इस एकताबद्ध राज्य को 'रूस' कहा जाने लगा। यह कहना मुश्किल है कि रूस किस भाषा का शब्द है। जो भी हो, १०वीं शताब्दी के आरम्भ में बहुत से स्लाव कबीलों को, जो कियेफ के शासन के अधीन एकताबद्ध हुए थे, उनको यही नाम दिया गया और उन्हें इतिहास में 'कियेफ-रूस' कहा जाने लगा।

आगे जाकर कि क्रियेफ राज्य ने पूर्वी युरोप में विशेष महत्व का स्थान प्राप्त किया। उस समय विजतीन अथवा पूर्वी रोम-साम्राज्य कर प्रभुत्व समस्त काले सागर और उसकी तटवर्ती भूमि पर था। उसको भी ये कियेफ-राजुल नीचा देखाने का प्रयास किया करते थे।

सन् ६१३-१४ ई० में इन लोगों ने कास्पियन सागर के किनारों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार क्रियेफ राजवंश ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति का काफी विस्तार कर लिया। ओलेग ने अपने ४० साल के शासन में रूस को एक विस्तृत राज्य बनाने का एक ऐतिहासिक कार्य पूरा किया। उसके काम का कितना महत्व है। इसका

वर्णन करते हुए कार्लमार्क्स अपने ग्रन्थ। "अठारहवीं" सदी में गुप्त कूटनीति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

"रूस के प्राचीन नक्शे हमारे सामने उससे कहीं अधिक विशाल यूरोपीय क्षेत्र को प्रदर्शित करते हैं, जिनका कि वह आज गर्व करता है। नौवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक उसका बढ़ाव इसी की ओर संकेत करता है। हम ओलेग को ८९ हजार आदमियों के साथ बिजंतीन पर आक्रमण करते हुए और 'कांस्टेंटिनोपल' राजधानी के फाटक पर विजयचिन्ह के तौर पर अपनी ढाल स्थापित करते और पूर्वी रोम-साम्राज्य को सम्मानहीन सन्धि करने को मजबूर करते हुए देखते हैं।"

उसका भाई ईगर आगे जाकर बिजंतीन को अपना करद राष्ट्र बनाता है।

ओलेग के बाद ठसका भाई ईगर कियेफ़ का महाराजुल बना। इसने अपने भाई की सफ़लताओं को आगे बढ़ाकर अपने साम्राज्य का बहुत बड़ा विस्तार किया। सन ९४१ ई० में उसने बिजंतीन के विरुद्ध एक बहुत बड़ा सामुद्रिक अभियान किया। और कांस्टेंटिनोपल की बहुत सी बस्तियों को विध्वंस किया, मगर अन्त में ग्रीस के जहाजी वेड़े ने ईगर के वेड़े को खदेड़ दिया।

ईगर के बाद (९४५ से ९५७) इस राजवंश में ईगर की पत्नी 'ओल्गा', ईगर का पुत्र स्वायातोस्लाव (९५७ से ९७३) व्लाडीमिर (९७३ से १०१५) स्वायोतोपोल्क प्रथम (१०१५ से १०१९) यारोस्लाव प्रथम (१०१९ से १०५४) और इज्योस्लाव (१०५४ से १०७३) और उसके बाद स्वायत्तोस्लाव द्वितीय (१०७३ से १११३) व्लाडीमिर मनोमाख (१११३ से ११२५ तक) इतने राजा इस वंश में और हुए।

व्लाडीमिर के समय में इस राजवंश ने ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया। अभी तक कियेफ़ अपने पूर्वजों के धर्म पर आरूढ़ थे, मगर ईसाई पादरी ग्रीस के व्यापारियों के साथ उनके यहाँ आया करते थे। ईगर के समय में भी ईसाइयों के कुछ गिरजे बने हुए थे। मगर अन्त में व्लाडीमिर ने ग्रीक सम्राट की बहिन 'अन्ना' से इस शर्त पर विवाह किया कि वह ईसाई धर्म ग्रहण कर लेगा। इसी शर्त के अनुसार व्लाडीमिर ने ग्रीक-चर्च की पद्धति के अनुसार 'बैप्टिस्मा' लेकर राजकुमारी अन्ना से विवाह किया।

सन् ९८८ ई० में रानी अन्ना के साथ वापस लौटने पर उसने कियेफ़ के सारे लोगों को जबर्दस्ती नदी में नदी में डुबकी लगवा कर ग्रीक पादरियों के द्वारा उन्हें बैप्टिस्मा दिलवा दिया। धर्मान्धता के पागलपन में उसने पुराने स्लाव देवताओं की लकड़ी की बनी हुई मूर्तियों को जला दिया और महादेवता 'पेरून' की एक मूर्ति को नदी में फेंकवा दिया।

इस प्रकार रूस में ईसाई धर्म का प्रारम्भ हुआ।

(मध्य एशिया का इतिहास)

किर्लोस्कर

(बलवन्त पाण्डुरङ्ग अण्णा साहब)

मराठी रंगमंच के आदि संगीत--नाटककार जिनका जन्म सन १८४३ ई० में हुआ।

अण्णासाहब किर्लोस्कर के पहले साँगली निवासी श्री विष्णुदास भावे मराठी नाट्यकला के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। भावे ने सन् १८४३ में प्रथम मराठी रंगमंच की स्थापना की थी, मगर यह रंगमंच अपनी प्रारम्भिक अवस्था के कारण कलापूर्ण और सुरुचि सम्पन्न नहीं बन पाया था। इसकी कथा-वस्तु, चरित्रचित्रण, भाषा, भाव शैली इत्यादि सब कुछ अनगढ़ों की सी थी। इस रंगमंच पर पहला नाटक 'सीता स्वयंवर' के नाम से अभिनीत किया गया था।

भावे के पश्चात् मराठी रंगमंच में अनुवाद युग या शास्त्री युग के नाम से एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस युग में श्रीकृष्ण शास्त्री लेले तथा कुछ अन्य अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा 'अभिज्ञान-शाकुन्तल', 'मृच्छकटिक', 'वेणी संहार', 'मुद्राराक्षस' 'ओथेलो' इत्यादि संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के नाटकों का मराठी में अनुवाद किया गया। इन अनूदित नाटकों का प्रदर्शन मराठी-रंगमंच पर करने का प्रयास भी किया गया।

इस युग में पाश्चात्य रंगमंच के साथ मराठी-रंगमंच का कुछ सम्पर्क हो जाने से मराठी रंगमच में एक विशिष्ट

शैली और सुरुचि सम्पन्नता का निर्माण होने लग गया था।

इसी युग के अन्तिम काल में मराठी-रंगमंच के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रतिभा का अण्णासाहब किर्लोस्कर के रूप में आविर्भाव हुआ।

अण्णा साहब किर्लोस्कर का जन्म सन् १८४३ की ३१ मार्च को बेलगाँव जिले के एक छोटे गाँव में हुआ। सन् १८६३ में इनको विद्याध्ययन के लिए पूना भेजा गया। मगर इनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही संगीत, नाटक, कला इत्यादि विषयों की ओर थी। इसलिए स्कूली पढ़ाई में यह प्रगति नहीं कर सके। इसके बाद इनको कुछ समय तक अध्यापक, पुलिसमैन इत्यादि क्षेत्रों में छोटी-छोटी नौकरियाँ करनी पड़ीं, मगर इनके जीवन का विकास तो नाटकीय क्षेत्र में होनेवाला था और इसीका उन्हें प्रारम्भ से ही चस्का लगा हुआ था।

सन् १८६६ में उन्होंने 'भारत शास्त्रोत्तेजक मंडली' की स्थापना करके 'श्रीशंकर-दिग्विजय' और 'अलाउद्दीन' नाटक लिखकर उनका रंगमंचीय प्रयोग किया। इसमें उनको बहुत बड़ी सफलता मिली। इससे उत्साहित होकर के उन्होंने कुछ सहकारियों के साथ 'किर्लोस्कर-संगीत-नाटक मण्डली' की व्यावसायिक ढंग से स्थापना की और ३१ अक्टूबर सन् १८८० ई० को उन्होंने पूना के 'आनन्दोद्भव-नाट्य-गृह' में महान् कवि कालिदास की अमर रचना अभिज्ञान शाकुन्तल का मराठी संगीत रूपान्तर अभिनीत किया। यह नाटक आशा से अधिक सफल हुआ। नाट्य-गृह की तीनों मंजिलें दर्शकों से खचाखच भरी हुई थीं और दर्शक मंत्र-मुग्ध की तरह वह अभिनय देख रहे थे।

इस नाटक की सफलता ने मराठी रंगमंच के अन्तर्गत एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। नाट्यकार स्वयं अण्णासाहब के अभिनय ने इस नाटक की सफलता में चार चाँद लगा दिये।

'संगीत-शाकुन्तल' के अतिरिक्त अण्णा साहब ने 'सौभद्र', 'रामराज्य-वियोग' इत्यादि नाटकों की और भी रचना की थी। सौभद्र का अभिनय सन् १८८३ के मार्च मास में हुआ। इसी प्रकार 'रामराज्य-वियोग' नामक नाटक के तीन अंकों का अभिनय सन् १८८४ में जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। इन दोनों नाटकों को भी बहुत अधिक सफलता मिली और इनके अभिनय ने अण्णा साहब को मराठी नाट्य-कला के इतिहास में अमर कर दिया।

२ नवम्बर सन् १८८५ को केवल ४२ वर्ष की उम्र में मराठी के सुप्रसिद्ध संगीत-नाट्यकार अण्णा साहब किर्लोस्कर का देहान्त हो गया।

किला और किलाबन्दी

बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा के हेतु ऊँचे पहाड़ी स्थानों पर चारों तरफ मजबूत दीवालों, सुदृढ़ द्वारों और गहरी खाइयों से घिरे हुए सुरक्षित स्थानों को किला या दुर्ग कहते हैं।

किला या दुर्ग निर्माण कला का इतिहास संसार में बहुत प्राचीनकाल से देखने को मिलता है। कबीलाई जीवन से निकलकर जबसे मनुष्य ने स्थायी रूप से नगर या जनपद बना कर रहना शुरू किया तभी से बाहर के आक्रमणों से सुरक्षा के हेतु उसके अन्दर ऐसे सुरक्षित स्थान बनाने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ जो उसे बाहरी आक्रमणकारी से सुरक्षा की गारण्टी दे सके। मनुष्य की इस सुरक्षात्मक प्रवृत्ति के आधार पर विश्व के भिन्न २ देशों में दुर्ग-निर्माण कला का भिन्न २ रूपों मे विकास हुआ।

चीन की दीवार

वैसे संसार के भिन्न-भिन्न देशों में किलेबन्दी के विविध रूप देखने को मिलते हैं, मगर समस्त विश्व में इस कला का सबसे विशाल और विराट रूप हमें चीन की दीवार में देखने को मिलता है। उस समय चीन के विशाल देश पर दिन प्रतिदिन बाहरी आततायियों के आक्रमण होते रहते थे और वहाँ की जनता और राज्य की सारी शक्तियाँ इन्हीं आतताइयों से मुकाबिला करने में परेशान हो जाती थी।

तब चीन के चिन राजवंश के सम्राट् शीह-हांग-टी. ने ईसासे करीब अढ़ाई सो वर्ष पूर्व सारे चीन देश के चारों

तरफ एक अत्यन्त विशाल, लम्बी, चौड़ी और मजबूत दीवाल का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। इस विशाल दीवार की विराट् किलेबन्दी ने बहुत समय तक चीन को छोटे-छोटे आक्रमणों के भय से सुरक्षित रक्खा। यह दीवार आज भी दुनिया के सात महान् आश्चर्यों में एक मानी जाती है। और किले बन्दी के इतिहास में आज तक इतनी बड़ी किलेबन्दी समस्त संसार में कहीं भी नहीं हुई।

प्राचीन यूनान और प्राचीन रोम के अन्तर्गत भी दुर्ग-निर्माण कला का बहुत विकास हुआ। वहाँ की प्राचीन किले बन्दी के अवशेषों को देखकर आधुनिक युग के अच्छे २ इंजीनियर भी चकित रह जाते हैं।

मध्ययुग में यूरोप को बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए विशेष सतर्कता से काम लेना पड़ा। क्योंकि सम्राट् शार्लमेंन की मृत्यु के पश्चात् उसका स्थापित किया हुआ विशाल साम्राज्य थोड़े ही समय में छिन्नभिन्न हो गया। सारे यूरोप में कई छोटे-छोटे राज्य बन गये। इन राज्यों के आपसी झगड़े से सारे यूरोप में एक प्रकार की अव्यवस्था छा गई, और उत्तर दिशा से नार्समेन लोगों के आक्रमण पश्चिमी यूरोप पर, और पूर्व दिशा से 'मगयार' लोगों के आक्रमण पूर्वी यूरोप पर होने लगे। यूरोपीय जनता का जीवन एक प्रकार से अरक्षित हो गया। इस अव्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए यूरोप के अन्दर 'फ्यूडेलिज्म' या सामन्तवादी व्यवस्था का जन्म हुआ।

इन सामन्त या जमींदार लोगों ने अपनी-अपनी जमींदारियों में सैकड़ो छोटे-बड़े किलों का निर्माण करवाया और ये लोग उनमें अपनी छोटी-छोटी सेनाएं रखने लगे। इस प्रकार मध्ययुग में युरोप के अन्तर्गत चारों ओर किले ही किले नजर आने लगे।

बारूद का आविष्कार हो जाने के पश्चात् यूरोप में दुर्गनिर्माण विद्या में कई प्रकार के संशोधन और परिवर्धन किए गये। इन किलों के निर्माण में वास्तुकला की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा। शार्प-शायर के स्टोकसे कैसिल और वारविक शायर के केनिलवर्थ कैसिल उस समय की वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

भारतीय दुर्ग-निर्माण-कला

भारतवर्ष में भी दुर्ग-निर्माण-कला बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। वैसे तो यह सारा देश तीन तरफ से समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तरदिशा में विशाल हिमालय से रक्षित होने के कारण स्वयं ही एक प्राकृतिक दुर्ग की तरह बना हुआ है। सिर्फ खैबर का दर्रा ही प्राचीन युग में एक मात्र ऐसा मार्ग था, जहाँ से विदेशी आक्रमणकारी प्रवेश कर पाते थे। फिर भी घरेलू आक्रमणों के कारण यहाँ के राजाओं को सुरक्षा के लिये अपने अपने दुर्ग बना कर रहना पड़ता था।

मौर्य-साम्राज्य के समय में यहाँ दुर्ग-निर्माण कला काफी उन्नत अवस्था पर पहुँच चुकी थी।

मेगास्थनीज अपने यात्रा-वर्णन में 'पालीब्रोथ' या पाटलीपुत्र नगर की किलेबन्दी का वर्णन करते हुए लिखता है—

'यह नगर ८० स्टेडिया (उस समय का यूनानी नाप) की लंबाई और १५ स्टेडिया की चौड़ाई में बसा हुआ है। एक खाई उसको चारों ओर से घेरे हुए है जो ६ सौ क्युबिट चौड़ी और ३० क्युबिट गहरी है। इसके चारों ओर काठ की मजबूत दीवार बनाई गयी है जो ५७० बुर्जों से मण्डित है और जिसमें ६४ मजबूत-सुदृढ़ फाटक लगे हुए हैं। इसका राजा अपने अधिकार में ६ लाख पैदल ३० हजार सवार और ६० हजार हाथी रखता है। इससे उसकी सैनिक शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।'

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता लगता है कि उस समय छोटे दुर्ग को 'संग्रहण' उससे बड़े को 'द्रोणमुख' और उससे बड़े दुर्ग को 'स्थानीय' दुर्ग कहते थे।

मध्ययुग में भारत के अन्तर्गत दुर्गों का निर्माण वास्तु-विद्या के अनुभव के आधार पर बड़ी कुशलता के साथ किया जाता था। यहाँ की दुर्ग-निर्माण-कला यूरोप की दुर्ग-निर्माण-कला से सर्वथा भिन्न और मौलिक थी। यहाँ के किले अक्सर छोटी-छोटी टेकरियों और पहाड़ों पर बनाये जाते थे। कहीं-कहीं पर ये दोहरी और कहीं-कहीं पर तिहरी दीवारों से सुरक्षित होते थे। ये दीवारें

बहुत ऊँची चौड़ी और फौलाद की तरह मजबूत बनाई जाती थी। जिनके बीच-बीच में ऊँची-ऊँची बुर्जें और बड़े विशाल फाटक होते थे। इन फाटकों पर एक-एक फुट के अन्तर पर बड़े-बड़े लोहे के चौरस और तीखे कीले लगे होते थे। इन किलों के चारों ओर बाहर की तरफ बड़ी बड़ी खाइयाँ खुदी हुई होती थीं जिनमें पानी भरा हुआ रहता था।

जिस तरफ से शत्रु के घुसने की संभावना रहती थी, उस ओर की चट्टानों को काटकर ऐसा ढालुवाँ मार्ग बना दिया जाता था, जिस पर शत्रु आसानी से चढ़ न सके। कहीं कहीं पर इन ढलुवाँ मार्गों में चार-पाँच मजबूत द्वार बने हुए होते थे।

मध्यकालीन इन किलों में चित्तौड़गढ़, असीरगढ़, अहमद नगर, बीजापुर, दौलताबाद, पूना, दभोई, गोलकुण्डा, बीदर, आगरा, चिराग-देहली, तुगलकाबाद इत्यादि के किले बड़े प्रसिद्ध और दुर्जेय समझे जाते थे।

इन किलों की रक्षा मोर्चाबन्दी वाली दीवारों से होती थी। इनमें करीब ३॥ इञ्च चौड़े और ३ फुट ऊँचे छेद बने हुए रहते थे। चित्तौड़ के किले में ये छिद्र ३॥ इंच चौड़े और ३ फुट ऊँचे तथा तुगलकाबाद के किले में ६ इंच चौड़े और ६ फुट ऊँचे है। इन छिद्रों में से बन्दूकें रखकर गोलियाँ बरसाई जाती थीं या तीर कमानों से तीर चलाये जाते थे। बीजापुर, फतेहपुर सीकरी तथा आगरा जैसे कुछ किलों में इन छिद्रों के बाहरी भाग में गोली चलाने वाले सैनिकों की रक्षा के हेतु पत्थर की छतरियाँ बनाई हुई हैं।

पहले के युग में जब कि युद्ध-शस्त्रास्त्रों का अधिक विकास नहीं हुआ था और सैनिक लोग तीर-कमान, तलवार भाले आदि से युद्ध-कला का संचालन करते थे। उस समय इन किलों का बड़ा महत्व था। इन किलों के द्वारा थोड़े से सैनिक बड़ी बड़ी सेनाओं से अपनी रक्षा कर लेते थे और बड़ी-बड़ी सेनाओं को महीनों तक और कभी कभी वर्षों तक घेरा डालकर पड़ा रहना पड़ता था। अन्त में खाद्य-सामग्री के चुक जाने पर ही ऊपर वाले लोगों को मजबूर होना पड़ता था।

बन्दूक और तोपों का आविष्कार हो जाने के पश्चात भी इन किलों का महत्व बना रहा। किले वालों के पास यदि तोपें और बन्दूकें हुई तो वे थोड़ी संख्या में होने पर भी इन शस्त्रों के द्वारा बड़ी-बड़ी सेनाओं को पराजित कर देते थे। मगर नीचे वाले शत्रुओं को भी अब तोपों के द्वारा दुर्ग की दीवारों को ध्वस्त करके उनके अन्दर घुस जाने का अवसर मिलने लगा। इसलिए अपेक्षाकृत इन दुर्गों की सुरक्षा-शक्ति में कुछ कमी आ गयी।

मगर वायुयान, टैंक और बम आदि आधुनिक ढंग के शस्त्रों के निर्माण के पश्चात् तो इन किलों (दुर्गों) का कोई महत्व शेष नहीं रहा। अब तो वायुयान इन किलों के ऊपर उड़कर मिनटों में बम-वर्षा से इन्हें धूल-धूसरित कर सकते हैं।

अब तो हिमालय के समान प्रकृति के द्वारा की गयी महान् और विशाल दुर्ग-व्यवस्था, जिसको सृष्टि के प्रारंभ से आज तक कोई भी चुनौती नहीं दे सका था, उसको भी आज मानवी बुद्धि ने चुनौती दे दी है और इस अखण्ड दुर्ग-व्यवस्था के द्वारा प्रदान की गयी सुरक्षा भी अब खतरे में पड़ गयी है।

आधुनिक किलाबन्दी

आधुनिक युग में वायुयान, टैंक, बम इत्यादि कई प्रकार के नवीन वाहन और शस्त्रों का आविष्कार हो जाने से प्राचीन ढंग के इन किलों का महत्व बहुत कम हो गया और उसकी जगह नवीन प्रकार की मैदानी किलेबन्दियाँ अस्तित्व में आने लगी हैं।

मैजिनोलाइन

मैजिनो लाईन—प्रथम महायुद्ध के अनुभव ने फ्रांस को 'मैजिनो लाइन' बनाने के लिये बाध्य किया जो जर्मनी के आक्रमण से स्थायी रूप से फ्रांस की रक्षा कर सके।

इस नवीन किलेबन्दी में रेखावत् मोर्चाबन्दी की व्यवस्था की गयी। वैज्ञानिक दृष्टि से मेजिनो लाइन इससे पहले की गयी किलेबन्दियों से श्रेष्ठ थी। इसमें कंकड़ सीमेंट आदि भी काफी मोटा लगाया गया था और तोपें भी विशालकाय लगायी गयी थीं। इसमें मनोरंजन के

लिये खेल-कूद के स्थान, खाद्य भंडार, भूमिगत रेल की व्यवस्था भी थी। इसके अतिरिक्त वायुयान के आक्रमणों से रक्षा के साधन, टेलीफोन की व्यवस्था, लोहे तथा कंकड़ के अवरोध—सभी चीजें बनाई गई थां। इस मैजिनों लाइन के निर्माण पर उस समय फ्रांस को बड़ा गर्व था और समझा जाता था कि संसार में आक्रमण से रक्षा करने के लिये यह सबसे मजबूत किलेबन्दी है।

सिगफ्रिड लाइन

मेजिनो लाइन के जवाब में सन् १६३६ में जर्मनी ने भी राइनलैंड की किलाबन्दी सिगफ्रिड लाइन के नाम से की। इस लाइन में लोहे तथा कंकड़ से राइनलैंड के आसपास रक्षात्मक स्थान बनाये गये और इन स्थानों के आगे जर्मनी की पूरी सीमा तक कंकड़ तथा लोहे के अवरोधक स्थान भी बना दिये गये।

स्टालिन लाइन

इसी समय यूरोप में इन बढ़ती हुई किला बन्दियों को देख कर रूस ने भी पोलेंड के विरुद्ध 'स्टालिन लाइन' के नाम से किलाबन्दी की, जो मेजिनो लाइन के नमूने पर ही बनायी गयी थी।

श्लीफेन योजना

मगर इतने बड़े आयोजनों का परिणाम कुछ भी नहीं निकला। इन किलेबन्दियों के विरुद्ध जर्मनी की सेनाएँ अपनी नवीन 'श्लीफेन योजना' के अनुसार मई सन् १६४० में बेलजियम से होकर आगे बढ़ने लगी। चौबीस घंटे के अन्तर्गत इन सेनाओं ने ईबेन-इमाइल के सुप्रसिद्ध और सुदृढ़ किले को धराशायी कर दिया। सारा संसार इस दुर्ग के पतन से आश्चर्य-चकित हो गया। क्योंकि दुर्ग की किलाबन्दी आधुनिक ढंग से की गयी थी।

इसी प्रकार देखते-देखते जर्मन-सेनाओं ने मेजिनो लाइन और स्टालिन लाइन को भी तोड़-फोड़ डाला। फ्रांसीसियों की सारी रक्षा लाइनों और खाइयों को भी जर्मन-टैंक इसी प्रकार नष्ट करते हुए आगे बढ़ते गये। आधुनिक मानवी बुद्धि से निर्मित सारी किलेबन्दियाँ आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध-कला के सम्मुख बेकार साबित हुईं।

स्थल की तरह जल के अन्दर भी इस प्रकार की किलेबन्दियाँ की जाती थीं। विशाल समुद्र में बड़ी बड़ी सुरंगें बिछा कर जहाजों के आने-जाने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया जाता था और जब जहाज इन सुरंगों के फेर में पड़ जाता था, तब उसका डूबना अनिवार्य हो जाता था। ५ जून सन् १६१६ को हेम्प-शायर नामक ब्रिटेन का जहाज, जिसमें ब्रिटेन के युद्ध-मंत्री लार्ड किचनर यात्रा कर रहे थे – इसी प्रकार की एक जर्मन सुरंग से टकरा कर डूब गया। इसी प्रकार द्वितीय युद्ध के समय में भी कई बड़े-बड़े जहाज इस समुद्री किलेबन्दी के कारण नष्ट हो गये।

किश

मेसोपेटोमियाँ की सुमेरियन सभ्यता के काल का एक प्राचीन नगर जो ईसा से चार हजार वर्ष पहले अत्यन्त उन्नत अवस्था में था।

उस समय सुमेरियन सभ्यता में भी यूनानी नगर राज्यों की तरह कई छोटे २ नगरराज्य बने हुए थे। इनमें 'किश' का नगर राज्य बड़ा प्रसिद्ध और वैभवपूर्ण था।

इस नगर राज्य का तीसरा राजवंश "मेसोलिन राज्द वंश' के नाम से प्रसिद्ध था। इस राजवंश की स्थापना शराब वेचने वाली 'अजगबाऊ' नामक एक महिला ने की थी। राज्य स्थापना के पश्चात् उत्तम शासन करने के कारण राजमाता की तरह उसकी काफी प्रसिद्धि हुई। उसके शासन काल में 'किश' नगर में कानून, कला और साहित्य की अच्छी उन्नति हुई।

मेसेलिन राजवंश के चौथे राजा ने अपने लेख में अपने को संसार का स्वामी लिखा है। आस पास के आक्रमणों के कारण 'किश' कई बार परतंत्र हुआ। पर अन्त में स्वतंत्र होकर करीब छः सौ वर्षों तक एक बलवान नगर राज्य के रूप में जीवित रहा।

आगे चल कर वेबिलोन सम्राट् हम्मुराबी (ई० पू० २१२३-२०८१) ने ईरान की खाड़ी और किश नगर के बीच अपने नामसे एक विशाल नहर खुदवाई, जिससे सिंचाई की बहुत बड़ी व्यवस्था हुई और आसपास के नगर दजला नदी की बाढ़ में होने वाले नुकसान से भी बच गये।

किशनगढ़

किशनगढ़ का राज्य, भारतीय स्वाधीनता के पूर्व राजपूताने के मध्यभाग में स्थित था। इस राज्य का क्षेत्रफल ८५८ वर्ग मील था। इसके उत्तर में साँभर झील, पश्चिम में मारवाड़ रियासत तथा अजमेर-मेरवाड़ा का कुछ प्रान्त, पूर्व में जयपुर रियासत और दक्षिण में शाहपुरा का राज्य था। स्वाधीनता के पश्चात् किशनगढ़ अजमेर जिले की एक तहसील बना दी गयी।

सोलहवीं सदी के अन्त में जोधपुर पर राजा उदय सिंह राज्य करते थे। यह 'मोटा राजा' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके १७ पुत्र थे। इनमें से आठवें पुत्र किशन सिंह का जन्म १५७५ में हुआ। यही किशन सिंह किशनगढ़-राज्य के संस्थापक थे। अपने बड़े भाई जोधपुर के महाराज सूर सिंह से कुछ अनबन हो जाने के कारण यह अजमेर में आकर बस गये। यहाँ पर इन्होंने अपनी सेवाओं से सम्राट अकबर और सम्राट् जहाँगीर को काफी प्रसन्न कर लिया। सम्राट् जहाँगीर ने इन्हें 'महाराजा' का खिताब और अजमेर में कुछ जागीरी प्रदान की। वहीं पर इन्होंने सन् १६११ ई० में किशनगढ़ की स्थपाना की।

किशोरीलाल गोस्वामी

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी, जिनका जन्म सन् १८६५ में हुआ। इनके पिता का नाम गोस्वामी श्री वासुदेव लाल था।

गोस्वामीजी हिन्दी के प्रथम युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार थे। इन्होंने विभिन्न विषयों के मौलिक एवं छाया गृहीत ६५ उपन्यासों को लिखकर हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक युगान्तर कर दिया। इनकी लिखने की भाषा मंजी हुई होती थी।

उपन्यास-ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने कविता, संगीत, नाटक, रूपक, -जीवनचरित, योग आदि विषयों पर भी अपनी रचनाएँ कीं। इनकी शताधिक पुस्तकें इनके जीवन-काल में ही छपकर प्रकाशित हो गयी थीं।

गोस्वामीजी संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, फारसी आदि कई भाषाओं के जानकार थे। यह व्रजभाषा के अच्छे रचनाकार थे। खड़ीबोली में भी सरस कविता रचते थे। संगीत-शास्त्र के भी गुणी और गीतकार थे।

किशोरीलाल गोस्वामी ने संस्कृत में भी एक सुन्दर उपन्यास, एक चम्पू (गद्य-पद्य मय काव्य) और तीन काव्य ग्रंथों की रचना की। इससे इनके पाण्डित्य का खासा परिचय प्राप्त होता है।

सन् १९०० ई० में जब हिन्दी की सुप्रसिद्ध 'सरस्वती' नामक सचित्र मासिक पत्रिका काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा के तत्वावधान में सम्पादित और प्रकाशित होने लगी, तब किशोरीलाल गोस्वामी भी उसके पाँच सम्पादकों में से थे। इनकी फुटकर रचनाएँ भी तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती थीं।

किशोरीदास वाजपेयी

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार, भाषा और व्याकरण के विशेषज्ञ पं० किशोरीदास वाजपेयी जिनका जन्म सन् १८६५ में हुआ।

पं० किशोरीदास वाजपेयी का जन्म उत्तर प्रदेश में बिठूर के पास रामनगर नामक एक छोटे से गाँव में हुआ। इनके पितामह का नाम पं० कन्हैयालाल वाजपेयी और पिता का नाम पं० सतीदीन वाजपेयी था।

सन् १९१६ से उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया और अनेक ग्रंथों की रचना की। वे एक निर्भीक और स्पष्टवादी लेखक तथा वक्ता हैं। व्याकरण और भाषा विज्ञान के माने हुए विद्वान हैं। 'व्रजभाषा का व्याकरण' और 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' नामक उनकी रचनाओं ने व्याकरण के क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त की। 'राष्ट्रभाषा व्याकरण' और 'हिन्दी निरुक्त' नामक रचनाओं पर उत्तर प्रदेश सरकार से उन्हें साहित्यिक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। इनकी अन्य रचनाओं में 'अच्छी हिन्दी' 'मानव-धर्म मीमांसा' 'राष्ट्रभाषा का इतिहास' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

क्रिलोव

(Ivan Andreyevich Krylov)

रूस का एक प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म सन् १७६८ में और मृत्यु सन् १८४४ में हुई ।

क्रिलोव कवि के साथ-साथ एक प्रसिद्ध कहानीकार भी था । इन कहानियों को लिखने में उसे 'ला-फोन्तेन' और 'ईसाप' की कहानियों से ही विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई थी । पर इन सब कहानियों को उसने रूसी राष्ट्रीयता के साँचे में इस खूबी से ढाला कि वे रूसी साहित्य की अपनी निधि हो गईं ।

अपनी इन कहानियों में उसने भिन्न-भिन्न उदाहरणों और व्यंगों के द्वारा रूस की तत्कालीन परिस्थिति और समस्याओं का उल्लेख बड़ी खूबी के साथ किया है । इस लेखक की रचनाओं में सबसे बड़ा गुण उसकी भाषा की सरलता और विषय की स्पष्टता का है । साधारण दर्जे का विद्यार्थी भी इन कहानियों की भाषा और भावों को आसानी से हृदयङ्गम कर सकता है और अपनी इसी खूबी से यह साहित्यकार रूसी साहित्य में अमर है ।

क्रिश्चियन प्रथम

डेनमार्क और नारवे का राजा, जिसका समय सन् १४२६ से १४८१ ई० तक रहा ।

क्रिश्चियन प्रथम नारवे के ओल्डेन वर्ग राजघराने का संस्थापक था । सन् १४५० में उसने डेनमार्क और नारवे के संयुक्त राज्य की स्थापना की और उसका राजा बना । सन् १४७९ में उसने कोपेनहेगेन युनिवर्सिटी को स्थापित किया । सन् १४८१ में उसकी मृत्यु हो गई ।

क्रिश्चियन द्वितीय

डेनमार्क-नारवे और स्वीडेन के संयुक्त राज्य का शासक जिसका जन्म सन् १४८१ में और मृत्यु १५५९ई० में हुई ।

'सन् १५१३ ई० में वह डेनमार्क की राजगद्दी पर आया उसके बाद उसने स्पेन के शासक चार्ल्स फिफ्थ की पुत्री—'ईजाबेला' से शादी की ।

उसके बाद स्वीडेन का राज्य हस्तगत करने के लिए तीन बार उसने लड़ाइयाँ कीं । दो लड़ाइयों में वह हार गया, मगर तीसरी कोगरंड की लड़ाई में, सन् १५२० में वह विजयी हो कर स्वीडेन का शासक बन गया ।

मगर सन् १५२३ में स्वीडेन की जनता ने गुस्टेवस फर्स्ट के नेतृत्व में डेनमार्क की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और गुस्टेवस को वहाँ का राजा चुन लिया ।

डेनमार्क की जनता ने भी उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया और डेनमार्क से भी उसे भागना पड़ा ।

सन् १५३१ में उसे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया । वहाँ उसके अन्तिम दिन बहुत बुरी तरह से कटे ।

सन् १५५९ में उसकी जेल में ही मृत्यु हो गयी ।

क्रिश्चियन तृतीय

डेनमार्क और नारवे का राजा जिसका जन्म सन् १५०३ में और मृत्यु सन् १५५९ में हुई ।

क्रिश्चियन तृतीय प्रोटेस्टेंट धर्म का अनुयायी था और रोमन कैथेलिकों के प्रति बड़ा द्वेष भाव रखता था । सन् १५३३ में अपने पिता फ्रेडरिक की मृत्यु हो जाने के पश्चात् फैली हुई अराजकता को दबाकर सन् १५३५ में वह राजा बन गया ।

उसने डेनमार्क में राज्य-सत्ता को चुनाव पद्धति से हटाकर वंश-परम्परा गत पद्धति पर आधारित कर दिया । डेनमार्क की जनता को एक सूत्र में बाँधने में उसे सफलता प्राप्त हुई ।

क्रिश्चियन चतुर्थ

डेनमार्क और नारवे का राजा, जिसका जन्म सन् १५७७ में और मृत्यु सन् १६४८ ई में हुई ।

क्रिश्चियन चतुर्थ का शासन-काल संघर्ष पूर्ण होने पर भी बड़ा महत्वपूर्ण था । उसने डेनमार्क की स्थल-सेना और नौ-सेना में बहुत सुधार किये और कोपेन हेगेन नगर को बहुत सुन्दर बना दिया । इसी के समय में सुप्रसि-

३० वर्षीय युद्ध भी हुआ। इसके जीवन के अन्तिम वर्ष गृह-कलह में ही व्यतीत हुए। सन् १६४८ में उसकी मृत्यु हो गयी।

क्रिश्चियन ह्युजेन्स

हालैंड का एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, जिसका जन्म सन् १६२६ में और मृत्यु सन् १६६५ में हुई।

क्रिश्चियन ह्युजेन्स एक ऐसा प्रतिभाशाली वैज्ञानिक हुआ, जिसने उस युग के विज्ञान को गहरी उपलब्धियाँ प्रदान कीं।

उसे विज्ञान में गहरी रुचि थी। गणित, खगोल और भौतिक विज्ञान का वह प्रकाण्ड पंडित था।

विज्ञान के क्षेत्र में ह्युजेन्स की सबसे बड़ी सफलता दूरबीन के शीशों को सही ढंग से बनाने और उनपर पालिश करने का तरीका खोज-निकालने में मिली।

ह्युजेन्स के पहले तक अनेक ज्योतिर्विद् और वैज्ञानिक शनि को तिहरे ग्रह के रूप में जानते थे। जैसे कि डबल रोटी के तीन टुकड़े एक के ऊपर रख दिये गये हों। इस प्रकार शनि तीन परतों वाले ग्रह के रूप में पहचाना जाता था।

ह्युजेन्स ने बतलाया कि पुरानी किस्म की दूरबीनों में प्राकृतिक वस्तुएँ परतों के रूप में दिखाई देती हैं। उसने अपनी नयी दूरबीन से देखकर बतलाया कि शनि भी चन्द्रमा के समान वृत्ताकार और ठोस ग्रह है। ह्युजेन्स ने ही सबसे पहले अन्तरिक्ष में आकाश-गंगा के बारे में जानकारी प्राप्त की। इसके पश्चात् उन्होंने अनेक सितारों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारियाँ इकट्ठी की तथा कई जुड़वें तारों की भी खोज की।

घड़ियों को ठीक से चलाने के लिए उसने पेंण्डुलम का आविष्कार किया और कलाई घड़ियों के लिए छोटी स्प्रिंगों का निर्माण किया। घड़ियों को ठीक समय पर चलाने के लिए उसने कई पुर्जों का आविष्कार किया। इनके इन आविष्कारों से यूरोप में इनकी काफी प्रसिद्ध हो गयी, जिसके फल-स्वरूप सन् १६६३ में इन्हें लन्दन के रायल कालेज में ले लिया गया।

ह्युजेन्स को जिस आविष्कार ने अमर बनाया, वह प्रकाश की किरणों के सम्बन्ध में था। इन्होंने ही सबसे पहले बतलाया कि प्रकाश की किरणें काँपती हुई चलती हैं। इस सिद्धान्त पर आगे चलकर बहुत से वैज्ञानिकों ने बहुत गहरी गवेषणा की। ह्युजेन्स ने बतलाया कि पृथ्वी पूरी तरह वृत्ताकार नहीं है। वह ध्रुवों पर चपटी है और एक कील पर निरन्तर घूमती रहती है। इन्होंने अनेक ग्रहों के बारे में भी अपने अनुमान बतलाये। इनकी एक पुस्तक गणित की संभावनाओं पर भी प्रकाशित हुई जिसे बीसवीं सदी में बहुत प्रसिद्धि मिली।

क्रिश्चियन रॉस्क

(Kristian Rask)

डेनमार्क का प्रसिद्ध भाषाशास्त्री जिसका जन्म सन् १७८७ में और मृत्यु सन् १८३२ में हुई।

क्रिश्चियन रास्क संसार की ५५ भाषाओं का जानकार था। लैटिन, ग्रीक, इब्रानी और संस्कृत का तो वह पंडित था। उसकी रचनाओं ने भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन कर दिया। उसीने सबसे पहले संस्कृत और लिथुएनियन भाषाओं का अन्यतम साम्य प्रमाणित किया। कई भाषाओं के व्याकरणों की उसने रचना की। उसने आइसलैण्ड के 'हेम्स क्रिंगला' का अनुवाद किया और उसके लिए एक व्याकरण और कोष की भी रचना की।

क्रिस्टाइन

(Leonora Christine)

डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ की पुत्री लियोनारा क्रिस्टाइन जिसका जन्म सन् १६२१ में और मृत्यु सन् १६९८ में हुई।

लियोनारा क्रिस्टाइन और उसके पति पर डेनमार्क में देश द्रोह का अभियोग लगा कर जेल में बन्द कर दिया गया था। बाईस वर्ष तक यह राजकुमारी जेल के सींकचों में बन्द रही।

वहीं पर क्रिस्टाइन की काव्य-शक्ति का विकास हुआ और उसने जेल की यातना और मनुष्य के धैर्य पर बड़ी ही करुण भाषा में अपने संस्मरण लिखे।

क्रिस्टी अगाथा

जासूसी उपन्यासों की विश्व-विख्यात अंग्रेज लेखिका जो मैलोवन नामक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ की पत्नी है।

विश्व के जिन कहानीकारों की कहानियों का अनुवाद दुनिया की अन्य भाषाओं में सबसे अधिक हुआ है उनमें अगाथा क्रिस्टी का चौथा स्थान है। उन्होंने दो असाधारण जासूसों पात्रों, वृद्धा कुमारी मार्प्ले और हंगरी वासी जासूस पायरे के नायकत्व में अपनी आठ से अधिक कथा कृतियों का सृजन किया है। उनकी रचनाएँ दुनिया भर में फैले पाठकों के दिल में अपना स्थान बना चुकी हैं।

अगाथा क्रिस्ट्री की कई जासूसी कहानियों के आधार पर फिल्मों का निर्माण भी हो चुका है। ऐसी फिल्मों में 'विटनेस फार दी प्रासीक्यूशन' सबसे अधिक प्रसिद्ध फिल्म है।

क्रिस्टी की कहानी लिखने की शैली अन्य सभी जासूसी उपन्यासकारों से भिन्न प्रकार की है। दूसरे जासूसी उपन्यासकारों की तरह अपराध के सूत्रों को वह छिपा कर नहीं रखती। कहानी की प्रगति के साथ साथ वह अपराध के सभी सूत्रों को पाठकों के सम्मुख बिखेरती हुई बढ़ती है। मगर अन्त में जब जासूस उन्हीं सूत्रों में से किसी सूत्र को पकड़ कर अपराधी को खोज निकालता है तो पाठक आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

अन्य सभी जासूसी उपन्यास लेखकों का विश्वास है कि अनेक कौशल करते हुए भी अन्त में अपराधी जासूसों की पकड़ में आ ही जाता है। मगर अगाथा क्रिस्टी इस विश्वास की कायल नहीं है। उनके मतानुसार अपराधी पुलिस और जासूसों से अपनी कला में कहीं अधिक चतुर होते हैं। प्रवीण अपराधी ऐसे सुनियोजित अपराध करते हैं कि पुलिस और जासूस कई बार उनका पता लगाने में असमर्थ रहते हैं। वैज्ञानिक उपादानों का भी पुलिस और जासूसों की अपेक्षा अधिक लाभ अपराधियों ने ही उठाया है। यही कारण है कि अनेक हत्यारे और अपराधी मुक्त रूप से समाज में विचरण करते हैं।

सिर्फ अठारह वर्ष की अवस्था में 'अगाथा क्रिष्टी' की पहली जासूसी कहानी 'दी मिस्टीरियस अफेयर्स एण्ड स्टाइल्स' प्रकाशित हुई, जो बहुत पसन्द की गयी।

अगाथा क्रिस्टी के पति 'मैलोवन' भी पुरातत्व के क्षेत्र में उतने ही प्रसिद्ध हैं जितनी अगाथा क्रिस्टी जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों पति-पत्नि ने भारत की भी कई बार यात्राएँ की हैं। क्रिस्टी का कहना है कि 'भारत मुझे बड़ा अच्छा और प्यारा देश लगता है। खास तौर पर भारतीय महिलाओं का सौन्दर्य और उनकी साड़ियों पर मैं बहुत फिदा हूँ।'

जब क्रिस्टी से पूछा गया कि 'तुमने अपना पति एक पुरातत्व वेत्ता को क्यों चुना है ? तो उसने उत्तर दिया कि 'पुरातत्व वेत्ता पति का होना पत्नी के लिए बड़ा अच्छा है। क्योंकि पुरातत्ववेत्ता पुरानी चीजों में अधिक रुचि रखते हैं इसलिए उनकी पत्नी ज्यों-ज्यों पुरानी पड़ती जाती है त्यों-त्यों उसके प्रति उनका प्रेम बढ़ता जाता है और उसे पुराने पनका अनुभव नहीं होता। इस अर्थ में मैं दूसरी पत्नियों से ज्यादा भाग्य शाली हूँ।"

क्रिस्टियाना रोसेट्टी
(Christiana Rosetti)

अंग्रेजी में धार्मिक कविताओं की एक कवियत्री जिसका जन्म सन् १८३० में और मृत्यु सन् १८९४ में हुई।

क्रिस्टियाना अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि रोसेट्टी की बहन थी। इसकी 'गब्लिन मार्केट' नामक काव्य रचना प्रसिद्ध है।

क्रिस्टीना

स्वीडेन की रानी, गुस्टेवस एडोल्फ की पुत्री, जिसका जन्म सन् १६२६ में और मृत्यु सन् १६८९ में हुई।

क्रिस्टीना ने अपने शासन-काल में स्वीडन को उन्नत बनाने का काफी प्रयास किया। डेल्स के खदान-उद्योग

का उसने विकास किया। स्कूल की शिक्षा को उसने सारे राज्य में अनिवार्य कर दिया और जनता को अनेक प्रकार के नागरिक अधिकार प्रदान किये। उसके शासनकाल में साहित्य, कला और विज्ञान की अपूर्व उन्नति हुई। उसका दरबार बड़ा वैभवशाली था जिसमें बहुत से साहित्यकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक आश्रय पाते थे।

किसी पुरुष के सम्मुख आत्मसमर्पण करने को वह अपना अपमान समझती थी, इसलिए उसने जीवन भर किसी से अपनी शादी नहीं की।

कई गुणों के होते हुए भी उसकी बढ़ी हुई फजूलखर्ची और बदनाम व्यक्तियों के सम्पर्क के कारण उसकी लोकप्रियता नष्ट हो गयी और सन् १६५४ ई० में उसे राजगद्दी छोड़नी पड़ी।

उसके पश्चात् उसने अपना जीवन कविता और साहित्य की साधना में लगाया, मगर उपेक्षित जीवन के कारण वह अन्त समय तक बहुत दुखी रही और अत्यन्त करुणाजनक स्थिति में उसकी मृत्यु हुई।

क्रिसोस्टम

ईसाई-धर्म की जानिस्ट शाखा के संस्थापक और सुप्रसिद्ध ईसाई सेंट, जिनका जन्म सन् ३४५ में मिस्र के ऐंटीओक नगर में हुआ और मृत्यु सन् ४०७ में हुई।

क्रिसोस्टम की शिक्षा-दीक्षा सुप्रसिद्ध तर्कशास्त्री लिबेनियस के विद्यालय में हुई। क्रिसोस्टम की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही वैराग्य की ओर झुकी हुई थी, जिसके फलस्वरूप १५ वर्ष की उम्र में ही रेगिस्तान की ओर जाकर इन्होंने १० वर्ष तक चिन्तन, मनन और अध्ययन किया। वहाँ से वापस आने पर सन् ३८६ में यह ऐंटीओक चर्च के बिशप (पादरी) बना दिये गये। इनकी सुललित भाषण-शैली और उत्कृष्ट नैतिक जीवन के कारण जनता पर इनका व्यापक प्रभाव था।

सन् ३९८ में यह कुस्तुन्तुनिया-चर्च के बिशप बना दिये गये। वहाँ पर इन्होंने जनता की सुविधा के लिए कई अस्पताल और विद्यालय खुलवाये।

क्रिसोस्टम, धर्म के अन्तर्गत तपस्या-पूर्ण जीवन को अत्यन्त आवश्यक समझते थे। इसलिये उन्होंने पादरियों के लिए धर्म बहिनो को नौकर रखने से मना कर दिया। व्यर्थ में इधर-उधर घूमनेवाले साधुओं को मठो में रहने का आदेश दिया। उनके द्वारा उठाये गये इन कठोर कदमो से उनके विरोधी भी बहुत पैदा हो गये। अन्त में जब सिकन्दरिया चर्च के पादरी थियोफिलस के द्वारा बहिष्कृत किये हुए चार साधुओं को इन्होने अपने यहाँ आश्रय दे दिया, तब इस विरोध ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया और पादरी थियोफिलस ने सन् ४०३ में कुस्तुन्तुनियाँ आकर इन पर खुलेआम धर्म-द्रोह का आरोप लगाया और इन्हे बन्दी बना कर देश निकाला दे दिया। मगर इनके देश निकाले से जनता में बड़ा असन्तोष फैल गया। जिसके फलस्वरूप वहाँ की रानी को इन्हे वापस बुलाना पड़ा।

सन् ४०४ में एक वक्तव्य देने के कारण इन्हें फिर पदच्युत किया गया और इनके गिर्जाघर (चर्च) मे आग लगा दी गयी। वहाँ से इन्हे काकेशस भेज दिया गया। सन् ४०७ में इनकी मृत्यु हो गयी। इनका भंडारा यूनानी गिर्ज़ाघरों में १३ नवम्बर को और रोमन गिर्जाघरों में २७ जनवरी को होता है।

क्रिसोस्टम बहुत अच्छे लेखक और विचारक भी थे। मठों के सम्बन्ध में तथा पुरोहित-पद के लिए इनके लिखे हुए बहुत से लेख आज भी इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति माने जाते है।

क्रिसमस

ईसा की जन्म स्मृति में मनाए जानेवाला सुप्रसिद्ध त्यौहार जो २५ दिसम्बर से १ जनवरी तक सारे संसार के ईसाई-क्षेत्रों में मनाया जाता है।

क्रिसमस के पहले ईसाइयों का कोई खास पर्व नहीं था। यहूदियों के त्यौहार ही उस समय प्रायः मनाये जाते थे।

ऐसा समझा जाता है कि चोथी शताब्दी के आसपास रोम के अन्दर ईसा के जन्मदिन के उपलक्ष में एक

नया पर्व मनाया जाने लगा। इसके पहले तीसरी शताब्दी तक सूर्य की उपासना रोम-साम्राज्य का प्रधान धर्म माना जाता था तथा वहाँ २५ दिसम्बर को अजेय सूर्य का त्यौहार मनाया जाता था। इस परम्परागत त्यौहार को ईसाइयों ने ईसा के जन्मोत्सव के रूप में बदल दिया और वहाँ से सारे संसार में ईसाई-धर्म के साथ साथ यह पर्व भी समस्त संसार में प्रचारित हो गया।

इस समय यह क्रिसमस-पर्व ईसाइयों का सबसे बड़ा त्यौहार समझा जाता है। जिस प्रकार भारत वर्ष में दीपावली और दुर्गापूजा के त्यौहार बड़े ठाटबाट से मनाये जाते हैं, उसी प्रकार ईसाइयों में क्रिसमिस का त्यौहार भी मनाया जाता है।

क्रिस्पी फ्राँसिस्को

इटली का सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, जिसका जन्म सन १८१६ ई० में और मृत्यु सन् १६०१ ई० में हुई।

क्रिस्पी प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग लेता रहा। इसलिए उसे सिसली, मिलान इत्यादि स्थानों से भागना पड़ा। कई स्थानों में भागता हुआ, अन्त में वह पेरिस पहुँचा, मगर वहाँ से भी उसे देश निकाला मिला। उसके पश्चात् वह मेजिनी के साथ कुछ दिनों तक लन्दन में रहकर इटली की स्वतन्त्रता के लिये षड्यंत्र करता रहा। सन् १८५६ में वह वापस इटली लौटा और मेजिनी तथा गेरीबाल्डी के साथ उसने एक क्रान्ति-संस्था की स्थापना की, जिसके अनुसार गेरीबाल्डी सिसली का सेनानायक और क्रिस्पी इस सरकार का गृह मंत्री बना। लेकिन कावूर और गेरीबाल्डी के पारस्परिक मतभेदों के कारण उसे अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ा।

इसके पश्चात् वह इटली की संसद का सदस्य बनकर गण-तंत्रवादी दल के सक्रिय सदस्य के रूप में जनता के सम्मुख आया। सन १८७६ में वह संसद का अध्यक्ष चुना गया और उसके बाद उसने लन्दन, पेरिस और बर्लिन की यात्रा करके ग्लैडस्टन तथा बिस्मार्क के समान महान् राजनीतिज्ञों से अपने सम्बन्ध स्थापित किये।

सन् १८७७ में वह फिर इटली का गृहमंत्री बना और उस समय में उसने देश के अन्दर केन्द्रीय राजतंत्र की स्थापना करने में राजा हर्बर्ट का सहयोग किया।

प्रजातंत्रवादी से राजतंत्रवादी बन जाने के कारण बहुत से लोग उसके विरोधी हो गये और उन्होंने उसके व्यक्तिगत जीवन पर आक्षेप करना प्रारंभ किया। इसके फलस्वरूप उसे अपना पद-त्याग करना पड़ा।

इसके ६ वर्ष बाद, सन् १८८७ में वह इटली का प्रधान मन्त्री बनाया गया। इसी समय में त्रिराष्ट्रीय संगठन के लिए वह बिस्मार्क से मिला तथा इंग्लैंड और फ्रांस के साथ उसने व्यापारिक सन्धियाँ करने का प्रयत्न किया। सन् १८६१ में उसने अपना पद-त्याग किया, मगर उसके कुछ समय पश्चात् सिसली में अव्यवस्था फैल जाने के कारण जनता ने उसकी माँग की, और सन् १८६५ में वह फिर से बहुत बड़े बहुमत से चुना गया।

मगर इसके बाद अपनी वृद्धावस्था के कारण वह कमजोर होता गया और सन् १६०१ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

क्रिस्पी का जीवन भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक रंगों का सम्मिश्रण रहा। शुरू शुरू में वह एक क्रान्तिकारी के रूप में प्रकट हुआ और कई षड्यंत्रों में भाग लेने से, उसे एक जगह से दूसरी जगह भागना पड़ा। उसके बाद वह विशुद्ध गणतंत्रवादी सदस्य के रूप में इटली की संसद में पहुँचा और वहाँ पर अच्छी ख्याति उपार्जित की। मगर उसके बाद दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाओं ने गणतंत्रवाद पर भी उसकी आस्था कम कर दी और क्रमशः वह राजतन्त्रवाद की ओर झुकने लगा। उसको दृढ़ता के साथ यह विश्वास हो गया कि राजतंत्र जनता की शक्तियों को एक सूत्र में बाँधता है और गणतन्त्र उन्हें विभाजित करता है, मगर क्रिस्पी की बदलती हुई मान्यताओं के साथ उसका देश-प्रेम कभी खण्डित नहीं हुआ। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ, उस समय इटली में एक जबर्दस्त राजनैतिक भूकम्प आया हुआ था। इस विकट समय में जिस मानसिक संतुलन के साथ उसने इटली की जनता का पथ-प्रदर्शन किया, उसको उसने इटली के इतिहास में अमर बना दिया।

क्रिस्टाइन-कीलर

लन्दन की एक अत्यन्त सुन्दरी 'कॉल गर्ल' क्रिस्टाइन कीलर जिसकी प्रेमलीला में पड़कर ब्रिटिश युद्ध-मंत्री — जॉन डेनिश 'प्रोफ्यूमो' को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा और साथ ही मैकमिलन-सरकार की भी देश-विदेश में बड़ी बदनामी हुई। लोगों का अनुमान है कि इंगलैंड के राजनीतिक इतिहास में पिछले सौ वर्षों में ऐसी लोमहर्षण घटना कभी नहीं घटी थी।

क्रिस्टाइन-कीलर का जन्म इंग्लैंड के एक छोटे से कस्बे 'रेसब्री' में सन् १९४६ के करीब हुआ था। ८-१० वर्ष की अवस्था से ही इसने अपनी सजधज और सजावट से लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचना प्रारम्भ किया, और यह 'रेसब्री' की गुड़िया' के नाम से मशहूर हो गयी। लड़कों के साथ आवारागिर्दी करने के कारण इसका नाम विद्यालय से काट दिया गया। इस छोटी सी उम्र में ही इसके ऐसे आचरण को देखकर इसके माता-पिता को भी इससे बड़ी घृणा हो गयी और उन्होंने इसको लंदन भेज दिया।

लन्दन आने के बाद इसकी मौज-मजे की प्रवृत्ति में बाढ़ आ गयी। सुन्दरता इसके पास अटूट थी। सुनहले बालों ने उसके सहज सौन्दर्य को विशेष रूप से विकसित कर दिया था। उसकी मादक आँखों और तीखी चितवन के आगे हर-एक युवक को आत्म-समर्पण करना पड़ता था।

लन्दन आने के पश्चात् उसने वहाँ के सस्ते क्लबों में शरीर बेचने का घृणित पेशा अंगीकार किया। और लन्दन के नवयुवकों को अपनी सुन्दरता की आग में जलाना शुरु किया। किसी एक नवयुवक पर वह कभी भी स्थायी रूप से आकृष्ट न रही। वह कहती थी कि मैं परिवर्तन वादी हूँ। सदा एक सा रूप और एक सा जायका मुझे पसन्द नहीं।

जब अंग्रेज जाति के नवयुवकों से उसका सन्तोष नहीं हुआ, तब 'एजकोम्बे', नामक एक निग्रो पर उसने अपना माया-जाल फेंका। कुछ दिनों तक उसके साथ रहकर वह उससे भी ऊब गयी और उसे भी उसने छोड़ दिया। मगर एजकोम्बे का यह सहवास उसके आगामी जीवन के लिए बड़ा खतरनाक साबित हुआ।

डॉक्टर स्टीफेन-वार्ड

लन्दन में इसी समय 'स्टीफेन वार्ड' नामक एक हड्डियों का डाक्टर और चित्रकार रहता था। शुरू-शुरू में इसकी आर्थिक स्थिति बड़ी खराब थी, मगर कुछ समय पश्चात् इसने ऊँचे दर्जे के लोगों के लिए सुन्दर युवतियों की व्यवस्था करने का धन्धा प्रारम्भ करके 'आर्टिका' नामक एक सुन्दर विलास गृह की स्थापना की। मॉडल के रूप में उसके पास राज-घराने तक की लड़कियाँ आती रहती थीं और देश-विदेश के अनेक वरिष्ट राजनीतिज्ञों के साथ उसकी मित्रता हो गयी थी। लार्ड एस्टर ने डाक्टर वार्ड से प्रसन्न होकर आर्टिका का प्रसिद्ध भवन डाक्टर वार्ड को इनाम में दे दिया था। इस भवन में सुन्दर और विलास युक्त बँगला बना हुआ था तथा तैराकी और जल-क्रीड़ा के लिए एक स्वच्छ जल की सुन्दर झील तथा बगीचा लगा हुआ था। लन्दन के बड़े-बड़े शौकीन लोग इस बँगले तथा झील में अर्धनग्न युवतियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए आते रहते थे।

डाक्टर वार्ड की निगाह एक बार क्रिस्टाइन कीलर पर पड़ गयी और उसने इस मादक नवयुवती को अपनी आर्टिका (विलास-गृह) की प्रधान नायिका बनाने का विचार किया। यद्यपि उसके कुछ मित्रों ने इस बाजारू लड़की के संसर्ग से आर्टिका की बदनामी होने का सन्देह प्रकट किया, पर डाक्टर वार्ड उस पर इतना मोहित हो गया था कि उसने किसी की सलाह की परवाह न करके कीलर को अपनी आर्टिका की प्रधान नायिका बना दिया।

कीलर के आर्टिका में प्रवेश करते ही स्टीफेन वार्ड का व्यवसाय खूब चमक उठा और लन्दन के बड़े-बड़े राजपुरुष कीलर के मोहक सौन्दर्य का उपभोग करने के लिए और उसके साथ रँगरेलियाँ मचाने के लिये वहाँ पर आने लगे। जो भी व्यक्ति इस खूबसूरत बला के सम्पर्क में एक बार आ जाता—वह फिर उसे नहीं भूल सकता था।

कीलर के इसी मनोमोहक आकर्षण में डा० वार्ड ने इंग्लैण्ड के युद्ध-मन्त्री लार्ड प्रोफ्यूमो को फँसा दिया।

इसी आर्टिका का एक मेंबर रूसी दूतावास का अटैची जोजेफ यूजिन 'इवानोव' भी था। उस समय अमेरिका के साथ क्यूबा का संघर्ष चल रहा था और इवानोव लन्दन के युद्ध-मंत्रालय के कुछ आवश्यक भेद जानना चाहता था।

उसने कीलर को इस बात के लिए राजी किया कि वह युद्ध-मन्त्री प्रोफ्यूमो पर अपना जादू डाल कर कुछ भेद की बातें उनसे जान ले। कीलर ने प्रोफ्यूमो पर ऐसा जादू चलाया कि उसे यह अनुभव होने लगा कि इस दुनियाँ में केवल एक ही औरत है और वह है—क्रिस्टाइन कीलर।

मगर इसी समय कीलर जब एकदिन आर्टिका से बाहर निकली तो उसके पुराने प्रेमी एजकोम्बे से उसकी भेंट हो गयी। एजकोम्बे उसे देखते ही शिकारी कुत्ते की तरह उस पर झपट पड़ा। एक ही झटके में उसने कीलर को धराशायी कर दिया। उसने उसके गाल नोच डाले, कपड़े फाड़ डाले और उसे लोहू-लोहान कर दिया।

इस घटना से आर्टिका की बड़ी बदनामी होने लगी। तब डा० वार्ड ने उसको कुछ समय के लिये स्पेन भेज दिया।

इधर पुलिस ने एजकोम्बे को गिरफ्तार करके उस पर विधिवत् मुकद्दमा चला दिया।

कैसलबरी की अदालत में जब मुकद्दमा चला तो एज-कोम्बे ने कीलर के पापों का चिल्ला-चिल्ला कर बयान किया। उसने स्पष्ट आरोप लगाया कि ब्रिटिश कानून की अवहेलना करके वह वेश्या-वृत्ति का धन्धा करती है। डा० स्टीफेन वार्ड इस अनैतिक व्यापार का संचालक है। उसने भरी अदालत में जब चिल्ला कर लार्ड प्रोफ्यूमो का नाम भी कीलर के प्रेमियों में बताया तो चारों ओर बड़ी हल-चल मच गयी। ब्रिटेन के विरोधी मजदूर दली सदस्यों ने खोजबीन करके कुछ तथ्य एकत्रित किये और ये तथ्य उन्होंने टोरी-दल के मुख्य सचेतक रेडमैन को दे दिये। विरोधी सदस्यों ने इस मामले में रूसी जासूसी की सम्भा-वना प्रकट की। तब लाचार होकर २२ मार्च सन् १९६३ को लार्ड प्रोफ्यूमो ने ब्रिटिश लोक-सभा में एक वक्तव्य देकर इन बातों का खण्डन किया। ठसाठस भरे हुए सदन में लार्ड प्रोफ्यूमो ने कहा—"मैं और मेरी पत्नी जुलाई सन् १९६१ में एक दावत के अन्दर क्रिस्टाइन कीलर से मिले थे। इस अवसर पर आमन्त्रित अनेक अतिथियों के अलावा हमारे परिचित डा० स्टीफेन वार्ड और रूसी दूतावास के एक अटैची युजिन इवानोव भी वहाँ उपस्थित थे।"

"इसके पश्चात् दिसम्बर सन् १९६१ तक कुमारी कीलर से कई बार मेरी मुलाकातें हुईं लेकिन उसके साथ मेरा कोई अनुचित सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने अपने वक्तव्य में धमकी दी कि ऐसे गलत आरोप लगानेवालों पर वे कानूनी कार्रवाई करेंगे।"

प्रोफ्यूमो के इस वक्तव्य से कुछ समय के लिये यह मामला ठण्डा पड़ गया। एजकोम्बे को सात साल की सजा हो गयी और कीलर भी स्पेन से लन्दन आ गयी।

मगर मार्च के अन्त में उस समय फिर इस मामले ने जोर पकड़ा, जब कीलर ने एलिग्रस गार्डन पर बलात्कार का मुकद्दमा चलाया। गार्डन ने अपने बचाव में मिस कीलर और डा० स्टीफेन वार्ड पर वेश्यालय चलाने का आरोप लगाया। उसने यह भी कहा कि—"डाक्टर वार्ड बड़े-बड़े नेताओं, मंत्रियों तथा कूटनीतिज्ञों को अपने बंगले पर बुलाकर उन्हें सुंदर लड़कियाँ भेंट करते हैं।"

इस रहस्योद्घाटन से डा० वार्ड का धंधा चौपट होने लगा। तब उसने गृह-मंत्री को एक पत्र लिख कर बतलाया कि प्रोफ्यूमो ने अपने लोकसभा के वक्तव्य में उसका नाम गलत तरीके से लगाया है। डा० वार्ड चाहता था कि उसका नाम उस वक्तव्य से निकाल दिया जाय। किन्तु जब इस पत्र पर कोई कार्यवाही न की गयी तब डा० वार्ड ने विरोधी दल के नेता हेरल्ड विलसन को कुछ ऐसे कागज-पत्र दिये, जिनसे प्रोफ्यूमो और कीलर के बीच सम्बन्ध होने की पुष्टि होती थी। इतना ही नहीं उनसे यह भी पता चलता था कि प्रोफ्यूमो कीलर के माध्यम से रूसी दूतावास के सैनिक अटैची कैप्टेन इवानोव से मिलते थे।

श्री विलसन ने जब यह कागज पत्र टोरी सरकार को दिये, उस समय प्रोफ्यूमो इटली में अपनी छुट्टियाँ बिता रहे थे। उन्हें तुरन्त लन्दन बुलाया गया। ३ जून सन् १९६३ को वे लंदन आये। तब सरकारी दल के मुख्य सचेतक ने उनके सामने वे पत्र रखे। अब प्रोफ्यूमो के सामने त्याग-पत्र देने के अलावा कोई दूसरा विकल्प न था। ५ जून सन् १९६३ को उन्होंने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। और यह कहा कि "उन्होंने इसके पहले पार्लियामेंट में झूठा वक्तव्य दिया, पार्लियामेंट का अपमान किया महारानी के प्रति विश्वासघात किया अपनी इस करनी पर उन्हें घोर पश्चाताप है।"

डा० वार्ड को वेश्यालय चलाने के अपराध में गिरफ्तार किया गया। उन्हें जमानत पर भी नहीं छोड़ा गया। डा० वार्ड ने पुलिस के सामने स्वीकार किया कि जब क्यूबा के मामले पर रूस और अमेरिका के बीच लड़ाई का खतरा पैदा हो गया था। तब इवानोव ने मुझसे कहा था कि—"मैं ब्रिटिश सरकार पर मध्यस्थता के लिये दबाव डालूँ और लंदन में तीन बड़ों का सम्मेलन बुलाने के लिए कहूँ। मैंने श्री मैकमिलन से ऐसा कहा भी था, मगर इसके लिए वह तैयार नहीं हुए।

इन सब रहस्यों के खुलने से सारे संसार में और खास कर सारे इंग्लैंड में बड़ा तहलका मच गया। कोई व्यक्ति अपने दल के नेता को, अपने परिवार को और अपनी महारानी को इतना बड़ा धोखा दे सकता है। यह कल्पना ही इंगलैण्ड के इतिहास में बड़ी भयङ्कर थी।

इस सारी घटना से प्रधानमन्त्री की स्थिति पर भी बहुत बड़ा खतरा आया। सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष में होड़ पैदा हो गयी। इस स्थिति पर २४ घंटे तक लगातार बैठकें चलीं। विरोधी पक्ष के नेता विलसन ने भरी पार्लमेंट में प्रधान मन्त्री मैकमिलन की ओर ऊँगली उठा कर कहा कि—"इस सारे काण्ड के लिए यह व्यक्ति जिम्मेदार है। मैं प्रधान मन्त्री से इस्तीफे की माँग करता हूँ। यह घटना केवल प्रेम-प्रसंग नहीं है, इससे देश की सुरक्षा का प्रश्न संलग्न हो गया है।"

प्रधान मंत्री ने बहुत थोड़े बहुमत से उस समय किसी प्रकार अपनी सरकार की रक्षा करली, फिर भी वातावरण शान्त नहीं पड़ा और अन्त में कुछ समय के पश्चात् मैकमिलन सरकार को इस्तीफा देना पड़ा।

इस प्रकार साधारण होटलों में शरीर बेचने का धंधा करनेवाली एक छोटी सी खूबसूरत बला ने सारे संसार में एक तूफान पैदा कर दिया।

क्लिओपेट्रा सप्तम

सिकन्दर के सेनापति टॉलेमी के वंश में उत्पन्न मिस्र की एक सुप्रसिद्ध और सुन्दरी रानी, जिसका जन्म ईस्वी पूर्व सन् ६९ में और मृत्यु २९ अगस्त सन् ३० ई० पूर्व में हुई।

क्लिओपेट्रा का नाम प्रेम और वासनाओं के संसार तथा सुन्दरता, मादकता और अक्लमन्दी के क्षेत्र में उपाख्यान के रूप में प्रसिद्ध है।

क्लिओपेट्रा के नाम की ग्रीक सेनापति टोलेमी के राजवंश में ६ रानियाँ और हुई थीं' और यह अन्तिम क्लिओपेट्रा सप्तम के नाम से प्रसिद्ध हुई।

क्लिओपेट्रा ग्यारहवें टॉलेमी की पुत्री थी और इसका असली नाम 'ओलीतिज' था।

जिस समय क्लिओपेट्रा का जन्म हुआ, उस समय टोलेमीवंश का पतन आरंभ हो गया था और रोम के आक्रमण मिस्र पर होना प्रारम्भ हो गये थे! जिसके फलस्वरूप टोलेमी को रोम की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। जिस समय टोलेमी ग्यारहवें की मृत्यु हुई, उस समय क्लिओपेट्रा की उम्र १७ साल की थी!

टोलेमी के पश्चात् उसका छोटा भाई टोलेमी डिओनिसस गद्दी पर आया, मगर क्लिओपेट्रा की महत्वाकांक्षाओं के कारण राजा से उसकी नहीं बनी और उसको सीरिया भाग जाना पड़ा!

इसी समय रोम में जूलियस सीजर और पाम्पे के बीच में संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष में जूलियस सीजर ने पाम्पे को पूर्ण रूप से पराजित कर मिस्र की ओर भगा दिया और वह स्वयं उसका पीछा करता हुआ मिस्र में आ पहुँचा।

इसी समय क्लिओपेट्रा ने जूलियस सीजर को देखा और वह उस पर मुग्ध हो गयी।

दो-तीन दिन के पश्चात् जब कि सीजर सिकन्दरिया के महल में बैठा हुआ था, उसी समय उसे मालूम हुआ कि उसके दरवाजे पर एक लम्बा गुलाम अपने कन्धे पर एक बड़ा गट्ठर लादे खड़ा था। जब सीजर ने उसको पूछा कि वह क्या चाहता है तो उसने हाथ जोड़कर कहा कि पटोलमी राजा की तरफ से वह एक कालीन भेंट करने के लिए लाया है! जब सीजर ने उसको कालीन खोलने की आज्ञा दी तो उसमें से क्लिओपेट्रा उठकर खड़ी हो गयी। क्लिओपेट्रा को देखते ही सीजर भाव विह्वल और सम्मोहित हो गया।

प्रसिद्ध जर्मन लेखक "लुडविग" लिखता है कि सम्मोहन और चातुर्य्य, दिलेरी और कल्पना, बुद्धि और सौन्दर्य का ऐसा सम्मिश्रण सीजर को कभी देखने को नहीं मिला था। क्लिओपेट्रा जब अपने अकड़े हुए अंगों को ठीक कर रही थी और अपने घुँघराले बालों को इधर-उधर कर रही थी, तो सीजर को ऐसा भान हुआ मानो स्वर्ग से साक्षात् कामदेवी अवतरित हुई है जो प्रेम, ज्ञान और विद्या से परिपूर्ण है।

क्लिओपेट्रा भी सीजर को देखकर अपने आप को भूल गयी। यद्यपि सीजर की अवस्था पचास वर्ष तक पहुँच गयी थी, और उसके सिर पर थोड़े से बाल रह गये थे, लेकिन उसका पौरुषयुक्त दमकता हुआ चेहरा, सूर्य तापित कपाल और कालों आँखें उसको सम्मोहित कर रही थीं। उसकी निगाहों की चुनौती और भली भाँति सँवारे गये शरीर की सुगन्धि उसको बाग बाग कर रही थी। फिर जब वह सीजर की बगल में बैठ गयी तो उसे एक नवीन अनुभूति का भान होने लगा।

दूसरे दिन क्लिओपेट्रा के इस नवीन प्रणयसम्बन्ध से मिस्र में विद्रोह की भावनाएँ भड़क उठीं और विद्रोही सेनापति एक्विआस ने २० हजार पैदल सेना के साथ सीजरको चारों ओर से घेर लिया। बड़ी कठिनाई से सीजर नाइल नदी को पार कर एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा, मगर इसी बीच विद्रोही सेनाओं में कलह प्रारम्भ हो गया और विद्रोहियों ने अपने नेता ऐक्विआस को मार डाला।

इधर सीजर की मदद पर रोमन सेना का भी आना प्रारम्भ हो गया और मिस्र की शक्ति ने रोमन शक्ति के सामने फिर से आत्मसमर्पण किया। विद्रोही छोटा राजा नाइल नदीमें डूबकर मर गया। सीजरने फिरसे क्लिओपेट्रा को सिंहासनारूढ़ किया। अपने सबसे छोटे भाई के साथ जो कि फैराओं की परम्पराओं के अनुसार, उसका पति भी था—वह मिस्र की गद्दी पर बैठी। उसकी बहिन आर्सिनो सीजरकी कैद में थी।

इसी समय क्लिओपेट्रा को सीजर से गर्भ भी रहा और सीजर के सम्मुख ही उसने एक सुन्दर पुत्र को जन्म भी दिया। पुत्र का नाम सीजरोन रक्खा गया। उसके बाद सीजर रोम चला गया।

कुछ समय के पश्चात् क्लिओपेट्रा भी रोम पहुँच गयी। यहाँ पर उसका सुप्रसिद्ध वक्ता 'सिसरो' 'आक्टेवियन' 'एग्रिपा' और 'ब्रूटस' इत्यादि प्रभावशाली व्यक्तियों से परिचय हुआ। और वह बड़े आदर के साथ सीजर की प्रेमिका के रूप में रहने लगी, मगर थोड़े ही समय के पश्चात् ब्रूटस इत्यादि विद्रोहियों ने जूलियस सीजर की हत्या (ईस्वी सन् से ४४ वर्ष पूर्व) कर डाली जिससे क्लिओपेट्रा अनाथ हो गयी और वहाँ से उसको वापस मिस्र जाना पड़ा।

जूलिअस सीजर की हत्या के पश्चात् साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए ऑक्टेवियस, अंटोनियस और लेपीडस—इन तीनों व्यक्तियों के बीच झगड़े होने लगे। फलस्वरूप लेपीडस को स्पेन का, आक्टेवियस को सिसली, सर्डीनिया और अफ्रिका के प्रान्तों का और अंटोनियसको आधुनिक फ्रांस का राज्यसूत्र प्राप्त हुआ। राजसूत्र हाथमें आनेके बाद उसे पता लगा कि मिस्र की रानी क्लिओपेट्रा ने उसके शत्रु ब्रूटस और काशियस को मदद पहुँचाई थी। इस प्रकार के अपराध की कैफियत तलब करने के लिए अंटोनियस ने क्लिओपेट्रा को अपने यहाँ बुलाया। उस समय क्लिओपेट्रा की उम्र २८ साल की थी। अंटोनियस का आदेश पाकर वह अपने निज के जहाज में बैठ कर सिडनस नदी से आयी थी। प्लूटार्क लिखता है कि—"उसके जहाजों के डांड़ सोने और चाँदी से मढ़े हुए थे और नाव खेनेवाले ताल और स्वर के साथ उन डाँड़ों को चला रहे थे। मल्लाह सुन्दर और मूल्यवान वस्त्रों से सुसज्जित थे। क्लिओपेट्रा भी अपनी सुन्दरता से अप्सराओं को मात कर रही थी। उसकी आँखों में ऐसी चितवन थी, जो बड़े-बड़े धनुर्धारियों को भी अपने पैरों पर लोटा देती थी।"

अंटोनियस भी क्लिओपेट्रा को देखते ही अपनी सुध-बुध भूल गया। क्लिओपेट्रा के सारे आरोप उसने उसी समय माफ कर दिये और ईसवी सन् पूर्व ४१ में वह क्लिओपेट्रा के कटाक्ष का शिकार हो गया।

अब क्लिओपेट्रा ने अंटोनियस को अपने यहाँ भोज पर निमन्त्रित किया। अंटोनियस अपने लिबास, वैभव और अपने सुखोपभोग के लिये प्रसिद्ध था, मगर क्लिओपेट्रा का

भोज इतना भव्य था कि अंटोनियस उसके सम्मुख अपने वैभव को हीन मानने लगा। क्लिओपेट्रा के सम्मुख धन का कोई मूल्य न था, उसका अपव्यय आश्चर्यजनक था। एक बार उसने डेढ़लाख मुद्राओं की कीमत के एक मोती को सिरके में डाल दिया। मोती सिरके में घुल गया और क्लिओपेट्रा उसे पी गयी। प्रथम दृष्टि में मूर्खतापूर्ण दीखनेवाले इस अपव्यय में उसका गहरा उद्देश्य था। क्लिओपेट्रा अंटोनियस को अपने वैभव से प्रभावित करना चाहती थी।

क्लिओपेट्रा और अंटोनियस का प्रणय निर्बाध चलता रहा। इसी समय क्लिओपेट्रा ने अंटोनियस की सहायता से अपनी बहिन आर्सिनो की हत्या करवा दी। आर्सिनो मिस्र में उसके शासन का अन्त करने का षड़यंत्र कर रही थी। यही दशा उसके छोटे भाई की भी हुई।

अंटोनियस क्लिओपेट्रा के साथ सिकन्दरिया आ गया। महीनों तक उनमें विलास और अपव्यय की प्रतिस्पर्धा चलती रही।

भोग विलास में तल्लीन हो जाने के कारण उसकी समरिक शक्ति कमजोर हो गई। इसका लाभ उसके प्रतिद्वंद्वी आक्टेवियस ने उठाथा, और ईसवी सन् पूर्व ३१ में ऐक्टियम के रणक्षेत्र में आक्टेवियस ने अंटोनियस को पराजित कर दिया। क्लिओपेट्रा अपने ६० जहाजों के साथ रणक्षेत्र से भाग गयी। अण्टोनी भी उसके पीछे-पीछे सिकन्दरिया पहुँचा। भोजों और शराबों का दौर अन्तिम बार फिर से चला।

थोड़े ही समय के बाद आक्टेवियस सिकन्दरिया के द्वार पर आ पहुँचा। इधर अंटोनियस को समाचार मिला कि क्लिओपेट्रा ने आत्महत्या कर ली है। इस समाचार को पाते ही अण्टोनियस भी आत्महत्या के लिए तैयार हो गया और उसने कृपाण अपने पेट में भोंकली। मगर इसी समय उसे मालूम हुआ कि क्लिओपेट्रा जीवित है। अंटोनियस ने अपने सैनिको को उसे क्लिओपेट्रा के पास ले चलने की आज्ञा दी, मगर जिस महल में क्लिओपेट्रा बन्द थी उसके द्वार अण्टोनी के सैनिकों से खुल न सके। क्लिओपेट्रा और उसकी दासियों ने डर के कारण उन्हें इतनी मजबूती से बन्द कर किया था कि उनका खुलना असम्भव था। इसलिए अंटोनियस के मरणासन्न शरीर को रस्सियों की सहायता से चैत्य की दीवारों के ऊपर से चैत्य में उतारा गया। वहीं पर क्लिओपेट्रा और अंटोनी दोनो प्रेमियों का अन्तिम मिलन हुआ और उसके बाद अंटोनियस चिर निद्रा में सो गया।

अण्टोनियस के बाद क्लिओपेट्रा ने अपने सौन्दर्य का अमोघ अस्त्र आक्टेवियस पर भी चलाने का प्रयत्न किया, मगर अक्टेवियस उसके चक्कर में न आया। उसने उसको मिस्र की साम्राज्ञी बनाये रखने का झूठा वचन दिया मगर क्लिओपेट्रा को उसके असली इरादे का पता लग गया। तब क्लिओपेट्रा ने अपने शरीर का अन्तिम बार बढ़िया रूप से शृंगार किया, सुगन्धि लगाई, भोजन किया और उसके बाद अपने डिब्बे में पाले हुए विषधर सर्प को छाती से लगा लिया। सर्पदंश के साथ ही उसकी इह लीला समाप्त हो गयी।

क्लिओपेट्रा के चरित्र का विश्लेषण करते हुए 'लुडविक' नामक जर्मन लेखक लिखता है कि—"सीजर को अपने पौरुष के सन्ध्याकाल में एक ऐसी नारी का सामना करना पड़ा, जिसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। क्लिओपेट्रा सब भाँति के प्रतिवादों को अपने नारित्व में समन्वित कर चुकी थी। वीरता, कल्पना और चतुराई की वह प्रतिमूर्ति थी। वह युद्ध में कभी विचलित नहीं होती थी और हमेशा अपने विवेक को जाग्रत रखती थी। उसकी एक योजना असफल हो जाती तो तीन अगली योजनाएँ उसके पास प्रस्तुत रहती थीं। सूर्यास्त के पश्चात् उसमें इतना परिवर्तन आ जाता था कि दुर्गा की जगह वह एकाएक रम्भा के रूप में बदल जाती थी।"

"जमीन के कम्पन से वह पहचान जाती थी कि शत्रु का घोड़ा किस प्रकार का है। सीजर अनुभव करता था कितनी जल्दी वह अपना निर्णय देती है और कितना ठीक उसका न्याय होता है। उसे यह भी अनुभव होता था कि वह कभी थकती न थी और सब स्थितियों का सामना करने के लिए हमेशा तैयार रहती थी। लेकिन रात्रि में उसका काया-पलट हो जाता था। वह अपने हाथों महल के प्रत्येक कोने को सजाकर उसमें नई जिंदगी डाल देती थी। अपनी जन्मजात नारी-कल्पना से वह समझ चुकी थी कि उसका

प्रेमी अपने भोग-विलास और आराम का कैसा वातावरण चाहता है। युद्ध के कोलाहल और भयंकरता ने इतिहास के इस महान् सेनापति और इस अद्भुत नारी को एक दूसरे के इतने प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध दिया था जिसकी कि उस वृद्धावस्था की ओर कदम रखनेवाले सीजर ने कभी कल्पना भी न की थी। उस अनुभवी नारी की प्रेम, वैभव और विलास-सम्पन्न स्निग्धता से सीजर को ऐसा लगा मानो वह अपने लड़कपन के रोमांस का फिर से अनुभव कर रहा हो। जमीन के ऊपर मँडराते हुए बादलों में मानो तैर रहा हो। उसकी सुप्त तीव्र वासनाएँ फिर भड़क उठीं।'

क्लिओपेट्रा का नाम आज तक प्रेम के संसार में उपाख्यान के रूप में प्रसिद्ध है। वह अत्यन्त मेधाविनी थी और कई प्रकार की भाषाएँ बोलना जानती थी। दूसरे देशों के राजदूतों के साथ एक ही समय में भिन्न-भिन्न भाषाओं में बातचीत करती थी। अंटोनी के साथ विवाह करके उसने संयुक्त रूप से अपने सिक्के भी ढलवाये थे। कई मूर्तिकारों ने क्लिओपेट्रा के मॉडल बना कर अपनी देवमूर्तियाँ निर्मित की। साहित्य में वह शेक्सपिअर, ड्राइडन और बरनार्ड शा के समान मशहूर कलाकारों की कृतियों का मॉडल बनकर सम्मुख आई।

क्लिस्थेनीज

यूनानी जन-तंत्र का पिता, जिसका शासन ईसवीं पूर्व ५१० से ईसवीं पूर्व ४६३ तक रहा।

ईसवीं पूर्व ५१० में यूनान के अन्दर सैनिक अधिकारियों ने अपनी शक्ति के बल पर राज्य सभाएँ भंग करके कुलीनों की शासन व्यवस्था को भंग कर दिया। तब वहाँ के कुलीन वर्ग ने जन-साधारण को साथ लेकर 'स्पार्टा' की सहायता से क्रान्ति करके सत्ता को पुनः छीन लिया और वहाँ पर अल्पतंत्र (Oligarchy) की स्थापना कर दी।

क्लिस्थेनीज इस अल्पतंत्र का प्रधान बनाया गया। इसने अपने पद पर आते ही अल्पतंत्र को लोक-तंत्र में बदल दिया। राज्य के लिए जो कौंसिल बनाई गयी उसके सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ५०० कर दी गयी। जिसमें कुलीन वर्ग से अधिक प्रतिनिधित्व गरीब नागरिकों को दिया।

जिस समय क्लिस्थेनीज को अधिकार मिले, उस समय वहाँ के 'कबायली' कुनबों की धार्मिक साम्प्रदायिकता वहाँ के राजनैतिक विकास में बड़ी बाधक हो रही थी। इसलिए क्लिस्थेनीज ने धार्मिक और जातीय साम्प्रदायिकता से राजनीति को मुक्त करने के लिए वहाँ के चार प्रधान सोलोनियायी कबीलों को भंग करके दस जनपदों में विभाजित कर दिया। और यूनान के प्रसिद्ध पौराणिक वीरों के नाम पर उन जनपदों के नामकरण कर दिये। इससे वहाँ के जन-पदों में राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ उत्पन्न हुई।

चुनाव-मतदान के सम्बन्ध में भी क्लिस्थेनीज ने बड़े महत्वपूर्ण सुधार किये। उसने प्रवासी विदेशियों तथा गुलामी से छूटे हुए गुलामों को भी नागरिकता के अधिकार दे दिये।

अरस्तू ने अपने संविधान में क्लिस्थेनीज के इस सुधार की बड़ी प्रशंसा की है और इसको 'समस्त जनता' को 'नागरिक अधिकार दान' कहकर सराहा है।

क्लिंजर

एक सुप्रसिद्ध जर्मन चित्रकार जिसका जन्म सन् १८५७ में और मृत्यु सन् १९२० में हुई।

क्लिंजर का जन्म जर्मनी के लाइपसिंग में एक व्यापारी के यहाँ हुआ था। इस कलाकार ने जर्मन-चित्रकला के अन्तर्गत एक नवीन पद्धति का प्रारंभ किया था। शुरू-शुरू में इस कलाकार की इस नवीन पद्धति का बड़ा तीव्र विरोध हुआ और सरकार ने इसकी कला पर रोक लगा दी, मगर अन्त में जाकर इस कलाकार को अपनी कलाकृतियों पर काफी यश मिला और बर्लिन की नेशनल गेलरी तथा लाइपसिंग की यूनिवर्सिटी और म्युजियम में इसके चित्रों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

क्विबेक

पूर्वी कैनाडा का सब से प्राचीन, बड़ा और उपजाऊ प्रान्त। इसकी जन-संख्या सन् १९५१ की मर्दुम-शुमारी

के अनुसार ४०५५६८१ है। जिसमें ८२ प्रतिशत फ्रेंच १२ प्रतिशत अंग्रेज और शेष में अन्य देशों के निवासी रहते हैं। इस क्षेत्र की लम्बाई १२२५ मील और चौड़ाई ६७५ मील है। कृषि और पशु-पालन उद्योग इसमें काफी मात्रा में होता है। अखबारी कागज का उद्योग इस क्षेत्र का प्रधान उद्योग है। दुनिया भर का ⅙ अखबारी कागज और ⅓ लुग्दी का उत्पादन इस प्रान्त में होता है।

केनेडा में जल से उत्पन्न होने वाली सारी बिजली का आधा भाग इस प्रान्त में पैदा होता है। यहाँ का सुप्रसिद्ध नेशनल पार्क दो हजार वर्गमील में फैला हुआ है।

इस प्रान्त की राजधानी का नाम भी क्विवेक है और इस प्रान्त का सबसे मशहूर नगर मांट्रियल है। समुद्र से ८ सौ मील दूरी पर होने पर भी यह केनेड़ा का सुप्रसिद्ध नदी बन्दरगाह है।

क्विण्टिलियन

(Qwintilian)

लैटिन साहित्य का एक प्रसिद्ध समालोचक, वक्ता और महान् शिक्षाशास्त्री। जिसका समय ई० सन् २५ से लेकर ई० सन् १०० तक था।

क्विण्टिलियन का जन्म स्पेन में हुआ था, मगर उसका सारा जीवन प्रायः रोम में ही व्यतीत हुआ। वह भाषण-कला का अध्यापक था। उसका लिखा हुआ सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ ओरेटरी' भाषण-कला, शिक्षा और समालोचना का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। ग्रीक और लैटिन-साहित्य पर इस ग्रन्थ में बड़ी सुन्दर समालोचना की गई है जो आज भी प्रामाणिक मानी जाती है।

प्राचीन रोम के शिक्षा शास्त्रियों में क्विंटिलियन का स्थान सब में ऊँचा है। रोम के शिक्षाक्षेत्र में उसने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने मनुष्य की व्यक्तिगत भिन्नता पर बल देते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा उसकी रुचि और परिस्थिति के अनुकूल होने से उस व्यक्ति का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य उसने व्यक्तित्व का विकास और चरित्र-निर्माण बतलाया। स्कूलों में बच्चों को दण्ड देने की प्रणाली का उसने तीव्र विरोध किया। साहित्य, दर्शन, गणित और इतिहास की शिक्षा पर उसने विशेष रूप से बल दिया।

इस शिक्षाशास्त्री का विशेष बल नैतिक और चरित्र निर्माण की शिक्षा पर था। इसका मत था कि इन गुणों के बिना कोई भी राष्ट्र दीर्घजीवी नहीं हो सकता। तत्कालीन रोम में इस शिक्षा शास्त्री के सिद्धान्तों का काफी आदर हुआ।

क्विंटस-इनियुस

रोम का महाकवि जो रोमन कविता का पिता कहा जाता है। इसका जन्म ई० पू० २३६ में और मृत्यु ई० पू० १६६ में हुई।

इनियुस लैटिन भाषा का आदिकवि माना जाता है इसका जन्म इटली के दक्षिण पूर्वी भाग में अवस्थित 'रूदिआए' नामक ग्राम में हुआ था। पहले इसने सेना में नौकरी की। उसके पश्चात् एक सरदार के साथ यह रोम चला गया। वहीं पर इसकी काव्य प्रतिभा का विकास हुआ।

इनियुस प्रसिद्ध रोमन नाटककार निवियस का समकालीन था। लैटिन, ग्रीक और अस्कन तीनों भाषा का वह विद्वान था। इसने बहुत सी रचनाएँ की थीं मगर ये सब रचनाएँ पूर्णरूप से इस समय उपलब्ध नहीं हैं। उनके कुछ टूटे फूटे उद्धरण इस समय उपलब्ध हैं। उसने 'एनाल्स' नामक एक महा काव्य की भी रचना करीब १८ लघु खण्डों और ६०० पद्यों में की। ये पद्य होमर के पट् पदीय वीर छन्दों की परम्परा में लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त इसने करीब २५ सुखान्त और दुखान्त नाटक तथा रोम के इतिहास की रचना की थी। इसकी रचनाओं से 'सिसरो' 'क्विण्टिलियन' आदि भविष्य के कई महान् लेखकों ने काफी प्रकाश ग्रहण किया था।

क्विंटीटस सिंसिनेटस

प्राचीन रोम का एक डिक्टेटर, जिसका समय ईसा से ५७२ वर्ष पूर्व समझा जाता है।

उस समय एकियन लोगों ने रोम पर चढ़ाई की हुई थी। रोमन सेना उसका सामना करने के लिए भेजी गयी थी, मगर एकियन लोगों ने उसे हरा कर चारों ओर से घेर लिया था। यह समाचार रोम में पहुँचने पर वहाँ हाहाकार मच गया। उस घिरी हुई सेना को बचाने के लिए किसी योग्य डिक्टेटर की आवश्यकता थी। लोगों की निगाह में क्विंटीटस सिंसिनेटस ही उस समय में एक ऐसा व्यक्ति था, जो ऐसे संकट के समय में डिक्टेटर बनाया जा सकता था। जब उसके पास प्रार्थना करने के लिए प्रतिनिधि लोग उसके झोंपड़े पर पहुँचे तब वह खेत में काम कर रहा था। उसके सारे शरीर में मिट्टी लगी हुई थी। प्रतिनिधियों ने देश पर आये हुए संकट का वर्णन करके उससे डिक्टेटर बनने का अनुरोध किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन उसने रोम में जाकर सब रोमन लोगों को पाँच दिन के लिए भोजन-सामग्री और सब प्रकार के शस्त्रास्त्र लेकर तैयार रहने की आज्ञा दी। सेना तैयार होते ही क्विंटीटस ने ठीक आधी रात को अचानक एकियन लोगों पर धावा बोल दिया। एकियन लोग उस समय में असावधान थे। सिंसिनेटस की सेना के पहुँचते ही एकियन लोगों की सेना में खलबली मच गयी। वे बुरी तरह फँस गये। दो रोमन सेनाओं के बीच में घिर जाने के कारण उनकी बड़ी दुर्गति हुई। सिंसिनेटस की सेना विजयी हुई। इस प्रकार २४ घंटे के भीतर नई सेना को इकट्ठी कर शत्रु को हराना सिंसिनेटस के समान स्वार्थ त्यागी, अल्प सन्तोषी और कर्तव्य तत्पर व्यक्ति के लिए ही संभव था। लड़ाई समाप्त होते ही वह पुनः अपने झोंपड़े में जाकर रहने लगा।

क्रिकेट

एक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी खेल, जिसका प्रचार अब सारी दुनिया में हो गया है।

क्रिकेट बहुत प्राचीन काल से इंगलैंड में खेला जाता था, इस बात के काफी प्रमाण प्राप्त होते हैं। १३ वीं शताब्दी में भी यह खेल इंगलैंड में प्रचलित था। १६ वीं शताब्दी से तो वहाँ के ग्रन्थों में इस खेल की बराबर चर्चा आती है।

संसार का क्रिकेट का सबसे प्रसिद्ध मैदान लन्दन के निकट लार्ड्स क्रिकेट-फील्ड है, जिसको टॉमस नामक एक प्रसिद्ध खेलाड़ी ने १८ वीं सदी के अन्त में किराये पर लिया था।

सन् १७८८ में लन्दन में एम० सी० सी० क्लब की स्थापना हुई। एम० सी० सी० के नियम क्रिकेट के खेल के अन्तर्गत प्रमाणभूत माने जाते हैं। इंग्लैंड में क्रिकेट के खेल का प्रचार एम० सी० सी० ने ही किया। सन् १८४६ में इस क्लब ने इंग्लैंड के प्रसिद्ध खेलाड़ियों की एक टीम बनाई। इस टीम ने सारे देश के बड़े-बड़े नगरों में मैच खेले। इससे क्रिकेट के प्रति लोगों का उत्साह बहुत बढ़ गया और इंग्लैंड के काउन्टीज या प्रान्तों ने अपनी-अपनी टीमें बनाईं और आपस में मैच खेलना प्रारंभ कर दिये। काउन्टीमैचों के अतिरिक्त इंग्लैंड में तीन और बड़े क्रिकेट मैच होते हैं।

(१) जेंटिलमैन अपोजिट प्लेयर्स
(२) ऑक्सफोर्ड अपोजिट कैम्ब्रिज
(३) इटन अपोजिट हैरो

जेंटिलमैन अपोजिट प्लेयर्स का पहला मैच सन् १८०६ में और आक्सफोर्ड अपोजिट का पहला मैच सन् १८२७ में हुआ।

इंग्लैंड के क्रिकेट खेलाड़ियों में डब्ल्यू-जी-ग्रेस ने संसार व्यापी ख्याति प्राप्त की। ग्रेस के अतिरिक्त जे० पी० हाप्स, डब्ल्यू हेमंड, एल० हटन और डी० काम्टन इत्यादि खेलाड़ियों के नाम भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

इंग्लैंड के पश्चात् क्रिकेट के खेल की विशेष उन्नति ऑस्ट्रेलिया में हुई। इंग्लैंड और ऑस्ट्रेलिया का सबसे पहला टेस्ट मैच सन् १८७७ में ऑस्ट्रेलिया में हुआ। इस मैच में ऑस्ट्रेलिया की जीत हुई। सन् १८८० और सन् १८८२ के मैचों में भी ऑस्ट्रेलिया ने इंग्लैंड को बुरी तरह

से पछाड़ दिया। उस समय एक अंग्रेजी पत्र ने लिखा था कि—'इंग्लिश क्रिकेट की मृत्यु हो गयी और उसके शव को जला दिया गया। उसकी राख ऑस्ट्रेलिया ले जायगा।" तब से ऑस्ट्रेलिया और इंग्लैंड के मैच ऐशेज मैच कहलाते हैं।

आस्ट्रेलिया के क्रिकेट खेलाड़ियों में ब्रेडमैन का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध था। और उसको संसार का सबसे बड़ा खिलाड़ी माना जाता था। ब्रेडमैन के अतिरिक्त ग्रीमेट, मैक्केब, लिडवाल तथा मिलर के नाम भी क्रिकेट खेलाड़ियों मे बहुत प्रसिद्ध हैं।

भारत में क्रिकेट का प्रारंभ १८ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। जब कलकत्ते में क्रिकेट का एक क्लब बनाया गया। सन् १८६६ में एक पारसी टीम बंबई से इंग्लैंड गयी। सन् १६३२ ई० में भारत और इंग्लैंड के बीच पहला टेस्ट मैच हुआ। सन् १६३४ में एक अंग्रेजी टीम भारत आई और सन् १६४६ तथा १६५६ में भारतीय टीमें इंग्लैंड गयीं।

भारत के प्रसिद्ध खेलाड़ियों में रणजीत सिंह, दलीप सिंह, सी० के० नायडू, अमरनाथ, नवाब पटोदी, मुहम्मद निसार, विजय मर्चेंट, मुश्ताक अली, बीनू मंकड इत्यादि खेलाड़ियों के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। रणजीत सिंह की गणना संसार के प्रसिद्ध खेलाड़ियों में होती थी। उनकी स्मृति में भारत में 'रणजीत ट्राफी' के नाम से क्रिकेट प्रतियोगिता होती है।

(ना० प्र० विश्वकोश)

कीड (Thomaars Kyd)

अंग्रेजी भाषा का एक सुप्रसिद्ध नाटककार जिसका जन्म सन् १५५८ में और मृत्यु सन् १५६४ में हुई।

थामस कीड अंग्रेजी साहित्य के उन नाटककारों में था, जिसने पहली बार अंग्रेज जनता के लिए उचित रंग-मंच और नाटकों की रचना की। उसकी 'स्पेनिश ट्रेजिडी' नामक नाट्य रचना ने अंग्रेजी जनता को काफी प्रभावित किया। स्वयं शेक्सपियर भी उसकी उस रचना से प्रभावित हुए।

कीट्स (John Keats)

अंग्रेजी साहित्य का एक महान् कवि जिसका जन्म सन् १७६५ में और मृत्यु सन् १८२१ में हुई।

केवल २५ वर्ष की अल्पायु में ही क्षय रोग से कीट्स की मृत्यु हो गयी, मगर इस थोड़े से समय में ही अपनी कविताओं से वह अंग्रेजी साहित्य में अमर हो गये।

कीट्स 'रोमांटिक' परंपरा के महान् कवि थे। वह सौन्दर्य के उपासक और भावनाओं के चित्रकार थे। उनका प्रथम काव्य संग्रह 'पोएम्स बाई जान कीट्स' (Poems by John keats) के नाम से सन् १८१७ में प्रकाशित हुआ और उसके दूसरे वर्ष इनकी "एडी-मीयन' नामक कविता सन् १८१८ में प्रकाशित हुई। समालोचकों ने इस कविता की बड़ी तीव्र और कटु आलोचना की, मगर अन्त में इस महान् कवि की प्रतिभा को सबने स्वीकार किया'।

महाकवि कीट्स का कविता काल सन् १८१७ से सन् १८२० के अन्त तक केवल चार वर्ष रहा, मगर इस छोटी सी अवधि में ही इन्होंने ऐसी रचनाएँ की, जो अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगी।

'लामियाँ' 'इजाबेल' 'ईव ऑफ सेंट अग्नीस' 'हाई पीरियन' इनकी अत्यन्त उच्च कोटि की कलात्मक रचनाएँ हैं। अंग्रेजी साहित्य में महाकवि मिल्टन' के महाकाव्य के पश्चात् कीटस के अपूर्ण महाकाव्य 'हाई पीरियन' को ही स्थान दिया जाता है।

कीट्स ने 'आथोदि ग्रेट' तथा 'किंग स्टीफेन' नामक दो काव्य नाटक भी लिखे। इन नाटकों की भाषा और चरित्र-चित्रण इतना स्पष्ट और शैली इतनी सजीव है कि इन्हें पढ़कर पाठकों के हृदय में शेक्सपियर की स्मृति जाग उठती है।

कीट्स के लेटर्स उनके आलोचनात्मक विचारों को प्रमाणित करते हैं।

२३ फरवरी सन् १८२१ को 'रोम' में अत्यधिक रक्त-स्राव होने के कारण इस महाकवि की मृत्यु हो गयी।

कीट्स अंग्रेजी साहित्य के सर्वोत्तम सौन्दर्य कवि थे।

कीवो अलेक्सिस (Kivi Alexis)

फिनलैण्ड की आधुनिक भाषा का प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म सन् १८३४ में और मृत्यु १८७२ में हुई।

कीवी अलेक्सिस समस्त विश्व-साहित्य का जानकार था। सन् १८६६ में उसने अपने प्रसिद्ध नाटक "लिया" की रचना की जिसने फिनलैंड के रंगमंच का सूत्रपात किया। अपने यथार्थवादी साहित्य में उसने फिनलैंड की जनता का वास्तविक चित्रण किया। फिनलैंड में इस कवि का युग "कीवीयुग" के नाम से प्रसिद्ध है। उसने कुछ कामेडी (सुखान्त नाटक) और एकाङ्की नाटकों को भी रचना की।

कीथ

संस्कृत–साहित्य के विशिष्ट जानकार एक अँग्रेज विद्वान सर आर्थर वेरीडेल कीथ। जिनका जन्म सन् १८८६ और मृत्यु सन् १९४४ में हुई।

कीथ वैदिक साहित्य और संस्कृत-साहित्य के प्रामाणिक विद्वान माने जाते थे। इन विषयों पर अंग्रेजी में इनके लिखे हुए ग्रन्थ प्रमाणभूत माने जाते हैं। अपने "वैदिक इण्डेक्स" नामक ग्रन्थ में इन्होंने वेदों के अन्दर आनेवाले सभी खास-खास शब्दों की व्याख्या की गयी है। वैदिक शोध (Research) करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह बड़ा बहुमूल्य ग्रन्थ है।

इसी प्रकार 'तैत्तिरीय संहिता' 'ऐतरेय ब्राह्मण' 'आरण्यक' आदि ग्रन्थों का उन्होंने विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्य, नाटक, तत्वज्ञान तथा इतिहास पर भी उन्होंने कई महत्व पूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

राज्य-शासन और संविधान पर भी उनके लिखे हुए ग्रन्थ प्रामाणिक और गवेषणा पूर्ण समझे जाते हैं।

कीन-राजवंश

चीन का एक प्रसिद्ध राजवंश, जो ६ वीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी मंचूरिया, कोरिया और चीन के उत्तर भाग पर राज्य करता था।

कीन राजवंश का मूल राजपुरुष सुनहरी तातार वंश का था। उसका नाम पुखाँ या कुखाँ था। उसने कोरिया में जन्म लिया था। उसको 'सियान-कू' की उपाधि थी।

कीन राजवंश के लोग पुखाँ को अपना आदि पुरुष (चिकित्सू) बताते हैं। पुखाँ के पश्चात् उसका पुत्र वूलू-टे वाँग-टी के नाम से राजा हुआ। उस समय यह लोग घर बनाना नहीं जानते थे। पर्वतों की उपत्यका में खड्डे बना कर उन्हें घास-फूस से ढंक कर उनमें सर्दियों में रहते थे।

राजा सूई-खो के समय में सब से पहले इन्होंने दई-कू नदी के तीर पर घर बना कर उन में रहना और कृषि कर्म के द्वारा जीविका निर्वाह करना सीखा। इसके पश्चात् ये लोग आन् चूहो नदी के तीर तक फैल गये।

सूई-खो के पुत्र सीलू ने इस जाति में सबसे पहले राज्य-विधि और समाज-विधिका प्रचार किया।

सीलू के पुत्र ऊकू–नाई का जन्म सन् १०२१ ई० में हुआ। उसने सबसे पहले इन लोगो को लोहे के अस्त्र बनाना और चलाना सिखाया।

ऊकू-नाई के पुत्र हिली-यू ने पिता के मरने पर सन् १०७४ में राज्य ग्रहण किया। उसके प्रधान मंत्री फूरा-सिवान थे। इन्होंने अपने समय की सारी घटनाओं को मिट्टी के खपड़े और लकड़ी के तख्तों पर खुदवा कर लिखवाया।

हिली-यू के पश्चात् उनके पुत्र अगुट बड़े वीर हुए। उन्होंने अपने अनेक शत्रुओं का दमन किया। उनके परामर्श से राज्य में अनेक व्यवस्थाएँ और शृंखलाएँ कायम हुई। उन्होंने नष्ट खितान-साम्राज्य का पुनर्गठन करके मंचूरिया-राज्य की स्थापना की। उन्होंने सन् १११६ ई० में सोने के पत्रों पर राजसभा के आदेशों को लिखवाया। इसमें उन्होंने अपने-राज्य-काल को 'टी-एन कू' स्वर्ग का राज्यकाल बताया। सन् १११७ ई० में उन्होंने यह नियम बनाया कि कोई अपने वंश की कन्या से विवाह न कर सकेगा।

उस समय चीन की मुख्य भूमि पर शुङ्ग राजवंश शासन कर रहा था। मगर उसके साम्राज्य पर उत्तर दिशा

से 'खितन' नामक जाति बराबर आक्रमण करके उसे परेशान करती रहती थी ! इस जाति को पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर शुङ्ग राजवंश ने उपरोक्त कीन या तातारी लोगों से सहायता माँगी। कीन लोगों ने आकर खितन लोगों को वहाँ से मार भगाया, मगर वे खुद वहाँ जम गये और उन्होंने वहाँ से हटने से इन्कार कर दिया और उत्तरी चीन के मालिक बन बैठे और उन्होने वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और पेकिंग को अपनी राजधानी बनाया। शुङ्ग राजवंश दक्षिण की ओर चला गया और ज्यों-ज्यों कीन आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों वे पीछे हटते गये। इस प्रकार उत्तर में कीन साम्राज्य स्थापित हो गया और शुंग राजवंश के अधिकार में सिर्फ दक्षिणी चीन रह गया।

सन् ११२३ ई० ५५ वर्ष की आयु में अगुट का देहान्त हुआ।

अगुट के पीछे उसके छोटे भाई उकिमाइ राजा हुए। उनके साथ शुंग-वंश के राजा से युद्ध छिड़ गया। इसमें ऊकी माई की विजय हुई और चीन का उत्तरी भाग उसके अधिकार में चला गया और शेष के लिए शुंग-सम्राट् को प्रति वर्ष २ लाख ५० हजार चीनी रौप्य मुद्रा कर के रूप में देनी पड़ती थी।

उसी समय होयाई नदी दोनों राज्य की सीमा ठहराई गयी। कीन राजवंश की राजधानी मेन-किंग नगर-वर्तमान 'पेकिंग' में स्थापित हुई और चीन की राजधानी चिकियांग प्रदेश के 'हंगचाऊ' नगर में बदल दी गयी।

किन्तु उसी समय कीन-साम्राज्य के उत्तरांश में मंगोल-जाति के लोगों ने आक्रमण करके अपना अधिकार जमा लिया और सन् १२३४ ई० में इन्हीं मंगोलों ने इस पराक्रमी राजवंश को नष्ट कर दिया।

(वसु-विश्वकोष)

कीमियागिरी या रसायन विधा

हल्की धातुओं से रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा स्वर्ण के समान मूल्यवान धातुओं के निर्माण करने की विद्या को 'किमियागिरी' कहते हैं।

भारतवर्ष में इस विद्या को रसायन-विद्या या रसतंत्र-विद्या कहते हैं। रस-तंत्र-विद्या का क्षेत्र कीमियागिरी के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है।

इस विद्या के अन्तर्गत स्वर्ण-सिद्धि के साथ-साथ देह-सिद्धि का भी समावेश होता है। अर्थात् जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा हल्की धातुओं को ऊँची धातुओं में बदला जाता है, उसी प्रकार जर्जरित शरीर को इस विद्या के द्वारा पुनर्यौवन से अभिभूत भी किया जा सकता है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि जिस प्रकार वेदों के आदि प्रवर्तक ब्रह्मा और आयुर्वेद के आदि प्रवर्तक अश्विनी-कुमार हैं, उसी प्रकार रस-तंत्र और रसायन विद्या के आदि प्रवर्तक भगवान शिव हैं।

ऐसा कहा जाता है कि पारद के द्वारा देह की सिद्धि और धातु-सिद्धि का ज्ञान सबसे पहले महादेव ने पार्वती को बताया था।

इससे पता चलता है कि जिस प्रकार आयुर्वेद इस देश की प्राचीन वस्तु है, उसी प्रकार रस-तंत्र भी हमारे यहाँ की बहुत प्राचीन वस्तु है। इस रस तंत्र की सारी बुनियाद पारद के ऊपर रखी हुई है। पारद के ऊपर जितने अन्वेषण हमारे देश के अन्दर हुए हैं उतने संसार के किसी अन्य देश में नहीं हुए। पारद को अष्टादश संस्कारों से युक्त करना, उसको बुभुक्षित करके स्वर्ण को पचाने के योग्य बनाना, उसकी गोली बना कर उक्त गोली के द्वारा स्वर्ण की सिद्धि करना आदि अनेकों प्रयोग पारद के सम्बन्ध में हमारे यहाँ हुए हैं।

पारद के सम्बन्ध में जो भी अन्वेषण हमारे यहाँ हुए हैं, उनसे पता चलता है कि इस वस्तु का महत्व प्राचीन-काल में देहसिद्धि की अपेक्षा धातुसिद्धि के सम्बन्ध में अधिक रूप से रहा है। हल्की धातुओं से पारद के द्वारा सोना बनाने की कला हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से रही है। इस विद्या में दक्ष अनेक सिद्ध हमारे यहाँ हुए हैं। इन सिद्धों में नागार्जुन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह नागार्जुन सन् १७२ के करीब राजा शालिवाहन के समय में हुए थे। इन्होंने 'रस रत्नाकर' और 'रसेन्द्र-मंगल' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। रसेन्द्र-मंगल के साथ

कक्ष-पुट नामक एक छोटा सा ग्रन्थ और जुड़ा हुआ है। इस ग्रन्थ में 'रसायन-विद्या' या कीमियागिरी का वर्णन प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है।

इस ग्रन्थ में इन्होंने गुरु वशिष्ठ और माण्डव्य का नाम दिया है। इससे मालूम होता है कि उनके पहले भी इस परम्परा में वशिष्ठ और माण्डव्य हुए थे।

इन नागार्जुन के पश्चात् सन् ८०० में दूसरे नागार्जुन तथा शवरपाद इत्यादि अनेक और सिद्ध हुए जिनके लिखे हुए कई ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलता है।

वानस्पतिक प्रयोग

पारद की गोली बनाने तथा ताँबे को सोने के रूप में परिवर्तित कर देने के लिए भारतवर्ष में कई वनस्पतियों पर भी प्रयोग हुए हैं और ऐसी ६४ दिव्य औषधियों का आयुर्वेद में उल्लेख किया गया है जो इस कार्य में सफल हुई हैं। इन वनस्पतियों में रुद्रवन्ती, कांगचेत्री, तेलिया-कन्द, पलाश तिलका, उतरण, काली चित्रक, नागार्जुनीय इत्यादि वनस्पतियों के नाम सम्मिलित हैं।

इन सब बातों से पता चलता है कि भारतवर्ष में पारद के द्वारा स्वर्ण सिद्धि, और देह सिद्धि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अन्वेषण हुए। मगर स्वर्णसिद्धि या कीमियागिरी के सम्बन्ध में जो ज्ञान यहाँ उपार्जित हुआ, वह गुरु-परंम्परागत होने के कारण प्रायः लुप्त हो गया। अगर कहीं कुछ है भी तो वह बहुत दबा छिपा हुआ है। उसके सम्बन्ध में विश्वस्तसूत्र से कुछ कह सकना असम्भव है, मगर देह-सिद्धि के सम्बन्ध में पारद का ज्ञान शास्त्र-परंपरागत होने की वजह से आंशिक रूप में अभी भी हमारे यहाँ विद्यमान है। यद्यपि उसके अष्टादश संस्कार और उसको बुभुक्षित करने की पद्धति का ज्ञान हमारे यहाँ से करीब-करीब लुप्त हो गया है फिर भी उसका जितना ज्ञान अभी तक हमारे यहाँ सुरक्षित है, उसके लिए हम कह सकते हैं कि वह आज भी सर्वोत्कृष्ट है।

मध्यकाल में सम्राट् जहांगीर के समय में अबूबकर नामक एक मुसलमान कीमियागर का नाम भी पाया जाता है। अबूबकर ने भी अरबी और फारसी में इस विषय पर कुछ रचनाएँ की थीं।

आधुनिक युग में कीमियागिरी की जानकारी के सम्बन्ध में बनारस के वैद्य स्व० कृष्णपाल शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जाता है। जिसके सम्बन्ध में बनारस यूनिवर्सिटी के विश्वनाथ-मन्दिर में एक शिलालेख भी लगा हुआ है।

यह शिलालेख इस प्रकार है :—

सिद्धे रसे करिष्यामि, निर्दारिद्रयमयं जगत्।

'जिन्होंने प्राचीन रसायन-शास्त्र के अनेक गुप्त रहस्यों को प्रत्यक्ष करते हुए कहा था कि—"पारद के द्वारा सुवर्ण बनाने की रसायन-विद्या जानने पर कोई भी मनुष्य दरिद्र नहीं रह सकेगा।"

रसायन-शास्त्र (ग्रन्थ)

महायोगी रसायनाचार्य तथा रस-वैद्य सिद्ध नागार्जुन

वर्तमान में भी चैत्र मास सं० १६६६ में पंजाब के काशी-निवासी पं० कृष्णपाल रस-वैद्य ने ऋषिकेश में महात्मा गान्धी के सचिव श्रीमहादेव देसाई, श्रीगोस्वामी गणेशदत्त तथा श्रीयुगलकिशोर विरला के समक्ष श्री देसाई द्वारा पारद से सुवर्ण बनाया था। जो लगभग १८ सेर था और वह सोना सनातन धर्म-प्रतिनिधि सभा, पंजाब को दान में दिया गया। बेचने पर ७२०००) रुपये सभा को प्राप्त हुए। श्री कृष्णपाल ने काशी-विश्व-विद्यालय के कविराज प्रताप सिंह तथा श्री वियोगी हरि के समक्ष भी यह प्रक्रिया प्रदर्शित की थी।

इस आर्य विद्या के गौरव को प्रकट करने के लिए ही इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है।"

मिस्र में कीमियागिरी

प्राचीन मिस्र के अन्तर्गत भी कीमियागिरी के सम्बन्ध में काफी अनुसन्धान हुए। कीमिया की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वहाँ पर जो दन्तकथाएँ प्रचलित हैं—उनसे मालूम होता है कि मिस्र के देवता 'हरमस' (Hermes) ने मिस्र में इस कला का प्रचार किया और स्वर्ग के दूतों (Angles) ने उन स्त्रियों को इस कला का ज्ञान दिया, जिनसे उन्होंने विवाह कर लिये।

यूनान के अन्तर्गत भी कीमियागिरी के सम्बन्ध में कई अन्वेषण हुए और वहीं से इसका प्रचार अरब देशों तथा यूरोप में हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू तथा अन्य लोगों ने कीमियागिरी के ऊपर कई सिद्धान्तों का निर्माण किया था। ये सिद्धान्त द्रव्य, आकार, और स्प्रिट पर निर्भर थे। अरस्तू के मतानुसार जब लोहे से कीट (मोरचा) बनता है तब इस क्रिया में जो अंश बदलता है, वह आकार है और जो अंश अपरिवर्तित रह जाता है-- वह पदार्थ है। अन्तिम विश्लेषण पर केवल एक ही पदार्थ मिलता है, जो अनेक आकार धारण करता है। अतः मौलिक वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता केवल आकार और रूप बदल सकता है। किसी भी वस्तु को अति सरल पदार्थ में परिवर्तित कर फिर उसे दूसरा आकार दिया जा सकता है। इस विषय में ताँबा और स्वर्ण में अन्तर केवल आकार का है। यदि ताँबे को गन्धक के साथ गरम करें या सल्फाइट के विलियन से क्रिया करें तो ताँबे का धात्विक आकार नष्ट हो जाता है और उसके बाद अन्य रासायनिक क्रियाओं के द्वारा उसे स्वर्ण का आकार दिया जा सकता है।

विदेशों के अन्तर्गत कीमियागिरी के सम्बन्ध में अरस्तू (Aristotle) जोसीमस (Zosimus) डिमाक्रेटस (Democritus) जाबिर (Jabir) तथा चीनी वी-पो-यांग (Wei-po-yang) इत्यादि कीमियागिरों के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक विज्ञान पिछली शताब्दी तक धातुओं के रासायनिक तत्वों को परिवर्तन के द्वारा दूसरे तत्वों के रूप में बदल देने की, या ताँबे को स्वर्ण के रूप में बदल देने की कल्पना को बिल्कुल असंभव और हास्यास्पद समझता था। पर इस शताब्दी में इस परिवर्तन को सिद्धान्त रूप में वह सम्भव मानने लग गया है। यद्यपि इस क्रिया को व्यावहारिक रूप देने के लिए अपार शक्ति और उष्णता की आवश्यकता को वह अनिवार्य समझता है।

कीर्तिवर्मन् प्रथम

चालुक्य-वंश का प्रतापी नरेश। जिसका शासन-काल सन् ५६५ से सन ५६७ तक था।

कीर्ति वर्मन् चालुक्य-वंश के प्रसिद्ध सम्राट पुलकेशी प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र था। इस राजा ने अनेक युद्ध किये और अपने चालुक्य-साम्राज्य का काफी विस्तार किया। विशेषकर बनवासी के कदम्बों, कोंकण के मौर्यों, नलवाड़ी के नलों तथा गंगों और अलुम्पों को पराजित करके इनके प्रदेशों को इसने अपने साम्राज्य में मिला लिया।

राजा कीर्ति वर्मन के समय में उसके राज्य में जैन-धर्म का अच्छा प्रभाव और सम्मान था। इसी के राज्य-काल में सन ५८५ ई० में जैनाचार्य रविकीर्ति ने ऐहोल के निकट मेगुती में एक जिन-मन्दिर बनवाया था और एक विशाल जैन-विद्यापीठ की स्थापना की थी।

कीर्तिवर्मन् द्वितीय

वातापी के चलुक्य-वंश का अन्तिम सम्राट जिसका समय सन् ७४४ से ७५७ तक था।

कीर्ति वर्मन द्वितीय के समय में चालुक्यवंश की स्थिति बहुत कमजोर हो गयी थी। यद्यपि गंगनरेश— श्री पुरुष इसकी मदद पर था, फिर भी पांड्य शासकों की शक्ति का मुकाबिला इन दोनों की सम्मिलित शक्ति भी न कर सकी।

पाण्ड्यराज राजसिंह ने इसको पराजित कर दिया और सन् ७५३ ई० में राष्ट्रकूट दन्ति दुर्ग ने कीर्तिवर्मन को पराजित करके चालुक्य-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

कीर्ति वर्मा

बुन्देलखंड के सुप्रसिद्ध चन्देल वंश का एक प्रसिद्ध राजा, जिसका समय सन् १०६० ई० से ११०० ईसवी के लगभग था।

कीर्तिवर्मा अपने पूर्ववर्ती राजा तथा भाई देववर्मा से भी अधिक वीर और साहसी था।

इसके दो शिला लेख प्राप्त हुए हैं। एक शिलालेख सन् १०९८ ई० का है। पर दूसरे पर कोई सन्-संवत् नहीं है।

इन शिला लेखों में चन्देलों के पूर्ववर्ती राजा गंड, विद्याधर, विजय पाल तथा देव वर्मा का उल्लेख है।

चेदि के राजवंश में त्रिपुर का कर्ण अतिशय पराक्रमी राजा हुआ। उसने कीर्तिवर्मा को पराजित कर उसके राज्य से भगा दिया, किन्तु अन्त में कीर्ति वर्मा ने गोपाल नामक ब्राह्मण सेनापति की सहायता से चेदिराज कर्ण को हरा कर अपना राज्य उससे वापस ले लिया।

इस विजय का उल्लेख कृष्ण मिश्र ने भी अपने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक प्रसिद्ध नाटक में किया है। सन् १०६५ ई० में इस नाटक का अभिनय करके राजा को दिखाया भी गया था।

कीर्ति वर्मा ने सबसे पहल चन्देलों का सिक्का चलाकर अपनी कीर्ति को स्थित कर दिया। यह सिक्का गांगेयों के सिक्के के समान ही है। सिर्फ लक्ष्मी के स्थान पर हनुमान की मूर्ति है। हनुमान चन्देलों के कुल देवता तो नहीं थे, किन्तु कीर्ति वर्मा के उपास्य देवता थे।

खजुराहा की एक हनुमान की मूर्ति के नीचे अभी तक चन्देलों का एक लेख विद्यमान है।

कीर्तिस्तम्भ

प्राचीन और मध्यकाल के राजाओं के द्वारा अपनी बड़ी-बड़ी विजयों के उपलक्ष में स्मृति स्वरूप 'विजय स्तंभों' का निर्माण किया जाता था। ये ही विजयस्तंभ कीर्तिस्तंभ के रूप में प्रकट हुए।

भारत वर्ष के अतिरिक्त प्राचीन मिस्र, बेबीलोनिया, असीरिया तथा ईरान के सम्राटों ने भी अपने विजय की प्रशस्तियाँ कीर्तिस्तंभों को बनवा कर उन पर खुदवाई थीं।

भारत वर्ष में कीर्ति स्तंभ खड़े करने की रीति बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। 'रघुवंश' के १२ वें सर्ग में कीर्ति स्तंभ का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"कीर्तिस्तंभ द्वयमिव, तट दक्षिण चोत्तरे च।"

(१) सम्राट् समुद्र गुप्त के द्वारा हरिषेण कवि का लिखा हुआ शिला लेख कीर्तिस्तंभ के रूप में समुद्रगुप्त के जीवित-काल में खुदवाया गया था। प्रयाग से पश्चिम दिशा में १४ कोस पर 'कौशाम्ब' नगर में यह स्तंभ मिला है, जहाँ से लाकर यह इलाहाबाद के किले में खड़ा किया गया है। समुद्र गुप्त से सम्बन्ध रखने वाले इसमें ३३ श्लोक हैं, जिनमें समुद्र गुप्त की चढ़ाइयों और उसके दिग्विजयों का वर्णन किया गया है।

(२) मोतूपाली के गणपति देव ने भी अपने यश के विस्तार के लिए एक कीर्तिस्तम्भ की स्थापना की थी।

(३) विजयानगरम्-नरेश कृष्णदेवराय ने भी एक कीर्तिस्तंभ की स्थापना करवाई थीं। इस कीर्तिस्तंभ का उल्लेख काञ्जीवरम् से मिले हुए, उनके एक ताम्रपत्र में किया गया है।

(४) सम्राट स्कन्दगुप्त द्वारा निर्मित कहोम-स्तंभ भी एक कीर्तिस्तंभ ही है। जिसमें उसकी विजयों की कीर्ति-पताका का वर्णन किया गया है।

(५) दक्षिण के चोल-राजवंश के राजराज प्रथम और राजेन्द्र देव चोलने भी अपने-अपने कीर्तिस्तंभ स्थापित करवाये थे। राजराज प्रथम का कीर्तिस्तंभ सैह्याद्रि पर त्रिभुवन-विजय के नाम से प्रसिद्ध था। राजेन्द्र देव-चोल का कीर्तिस्तंभ कोलापुरम् में बनाया गया था।'

(७) चित्तोड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा कुम्भा ने अपनी विजयों के उपलक्ष में चित्तौड़ के किले में एक विशाल कीर्तिस्तंभ का निर्माण करवाया था। इस कीर्तिस्तंभ पर लिखा हुआ है कि उन्होंने सुल्तान फीरोज द्वारा बनाई हुई विशाल मस्जिद को जमींदोज कर दिया। उन्होंने नागौर से मुसलमानों को जड़ से उखाड़ दिया और तमाम मस्जिदों को जमींदस्त कर दिया।

(८) मन्दसोर में भी दो कीर्तिस्तंभ पाये गये हैं, जिनमें एक कीर्ति स्तम्भ सुप्रसिद्ध नरेश यशोधर्मन् के समय का समझा जाता है।

(९) सेन राजवंश के शिला लेख से पता लगता है कि अलनौती के लक्ष्मणसेन ने अपनी विजयों के उपलक्ष में प्रयाग, बनारस और जगन्नाथ इन तीन स्थानों पर कीर्ति स्तंभ खड़े किये थे।

(१०) कुतुबमीनार भी एक सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ है, जो यद्यपि इस समय कुतुबुद्दीन ऐबक की विजयों की स्मृति । निर्मित की हुई माना जाती है, पर कुतुबुद्दीन के पहले भी इस विशाल स्तंभ का अस्तित्व था और समझा जाता

है कि कुतुबुद्दीन के पहले बीसल देव चौहान ने इस स्तंभ का निर्माण प्रारंभ कर दिया था।

आजकल के ऐतिहासिक अनुसन्धानो से दिन-प्रति दिन यह बात अधिक पुष्ट होती जा रही हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस स्तंभ की पहली मंजिल तैयार होने तक बीसलदेव की मृत्यु हो गई। राजा पृथ्वीराज द्वितीय और सोमेश्वर भी बहुत जल्दी-जल्दी मर गये। तीसरे पृथ्वीराज के समय में कीर्तिस्तंभ का काम आगे बढ़ा होगा। बाद में जब कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को जीता और किले के भीतर के बहुत से उत्तमोत्तम मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाई तब उसने बीसल देव के कीर्ति स्तंभ का भी रूपान्तर करके 'कुतुबमीनार' का रूप दे दिया। जिसको अल्तमश ने तीसरी और चौथी मंजिल चढ़ा कर पूरा किया।

इसी प्रकार और भी कई राजाओं ने अपनी-अपनी विजयो के उपलक्ष में कीर्तिस्तंभों का निर्माण करवाया था। उनमें से बहुत से काल के प्रबल प्रहार से नष्ट हो गये और बहुत से आज भी उन नरेशों के कीर्ति कलाप को इतिहास में अमर बना रहे हैं।

कीर्तिपुर

नैपाल-राज्य का एक बहुत प्राचीन पहाड़ी नगर, जो नैपाल के अन्तर्गत पाटन से डेढ़ कोस पश्चिम क्षुद्र गोलाकार पर्वत पर अवस्थित है। यह चारो तरफ से दुर्भेद्य प्राचीर की तरह घिरा हुआ है।

आजकल यह बहुत छोटा कस्बा होते हुए भी प्राचीन काल में एक स्वाधीन राज्य की राजधानी था और 'नेवार' जाति का राजवंश इस पर राज्य करता था।

सन् १७६५ ई० में नैपाल के प्रबल प्रतापी महाराज पृथ्वी नारायण देव ने नेवार-राजवंश को हराकर इस नगर पर अधिकार कर लिया। पृथ्वी नारायण के गुरखा सिपाहियों ने पराजित नेवार जाति के आबाल-वृद्ध सभी लोगों की नाकें काट डाली। उसी दिन से इस कीर्तिपुर का नाम 'नकटापुर' पड़ गया है।

कीर्तिपुर का प्राचीन वैभव यद्यपि नष्ट हो गया है, फिर भी इस प्राचीन भूमि में कई प्राचीन स्मृतियाँ ऐसी बनी हुई है, जो आज भी उसके गत वैभव का दर्शन कराती हैं।

नगर के उत्तरांश में बाघ भैरव का चौमंजिला मंदिर बना हुआ है। सन् १५१३ ई० में किसी राजकुमार ने उसे बनाया था। मन्दिर के मध्यभाग में बाघ की एक रंगी हुई मूर्ति है। प्रदक्षिणा के निकट एक भैरव का मन्दिर भी बना हुआ है। 'बाघ-भैरव' एक तीर्थ स्थान है, जहाँ नैपाल के बहुत से लोग दर्शन करने के लिए आते हैं।

इसी नगर में एक बहुत बड़ा गणेश मन्दिर भी बना हुआ है, जिसे जोशी वंशीय शेरिस्तॉ नेवार ने सन् १६६५ में बनाकर प्रतिष्ठित किया था।

नगर के दक्षिण-पूर्व विभाग में 'चिलनदेव' नामक एक बौद्ध मन्दिर बना हुआ है, जहाँ सब प्रकार की बौद्ध मूर्तियां, बौद्ध धर्म के सब प्रकार के चिन्ह और यंत्रादि के निशान देखने में आते हैं। (वसु-विश्वकोष)

कीर्तिराज

ग्वालियर के कछवाह-वंशी मंगलराज का पुत्र—कीर्तिराज, जिसका समय ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जाता है और जो मुहम्मद गजनवी का समकालीन था।

शिला लेखों से पता लगता है कि इसने मालवेश्वर राजा भोज पर चढ़ाई करके उनको परास्त किया था। ऐसा समझा जाता है कि इसी के समय में मुहम्मद गजनवी ने ग्वालियर पर चढ़ाई की थी, मगर कीर्तिराज ने उससे सुलह कर ली। ३० हाथी देकर और नाममात्र के लिए उसका माण्डलिकत्व स्वीकार कर बुद्धिमता पूर्वक उसने अपने राज्य को बचा लिया।

कीर्त्तन

भारतवर्ष के वैष्णव-सम्प्रदाय में भक्ति पूरक संगीत और नृत्य के साथ ईश्वर की उपासना करने की एक विशिष्ट प्रणाली।

भारतवर्ष के भक्ति-सम्प्रदाय में भगवद्कीर्तन की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। कीर्तन प्रणाली के मुख्य जन्मदाता देवर्षि नारद माने जाते हैं, जिन्होंने तन्मयता पूर्ण अपने कीर्तनों द्वारा भगवत्प्राप्ति की थी।

उसके पश्चात् भारत के विभिन्न प्रान्तों में कीर्तन की प्रणालियाँ विभिन्न रूपों में चलती रहीं।

मध्ययुग में भगवद्संकीर्तन के क्षेत्र में राजस्थान में मीराबाई, गुजरात में नरसी मेहता, महाराष्ट्र में भक्त तुकाराम और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय माना जाता है।

बंगाल में कीर्तन

महाप्रभु चैतन्य देव की साधना में संकीर्तन का बहुत बड़ा महत्व था। प्रेमदास कृत चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी में उल्लेख है कि उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के प्रश्न के उत्तर में गोपीनाथ आचार्य ने बताया था कि बंगाल में कीर्तनों का आरंभ महाप्रभु चैतन्य देव से हुआ, मगर यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। चैतन्य देव के पहले भी बंगाल में कीर्तन मंडलियों का अस्तित्व था। पाल-राजाओं के समय में महिपाल आदि राजाओं के संकीर्तन का संकेत मिलता है, मगर इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल में कीर्तन-प्रणाली का चरम विकास चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ।

बंगाल में इस कीर्तन-प्रणाली के चार रूप हैं। (१) गरनहाटी, (२) रेनेती, (३) मन्दरणी और (४) मनोहर शाही। इनमें से गरनहाटी-पद्धति के पुरस्कर्ता नरोत्तमदास थे। नरोत्तमदास कवि तो थे ही, महान् गायक भी थे। इनमें बंगला की तत्वनिष्ठता विद्यमान थी और उस पर वृन्दावन का रंग भी चढ़ा हुआ था। इस रसायन से उन्होंने रस कीर्तन की नई शैली को जन्म दिया जो गरनहाटी पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। इस शैली ने सारे बंगाल को प्रभावित किया।

नरोत्तमदास ने सन् १५८४ ई० में अपने मूल निवास स्थान 'खेतुड़ी' में एक बड़ा वैष्णव-मेला बुलाया। यह ७ दिन तक चला। इसमें चैतन्य महाप्रभु के निजी भक्त श्री निवासाचार्य तथा श्यामानन्द के अतिरिक्त, नरोत्तम, श्री निवास आदि के शिष्य भी सम्मिलित हुए थे। सन् १५८४ ई० का यह वैष्णव-मेला कीर्तन के इस नये चरण के प्रवर्त्तन में एक ऐतिहासिक महत्व रखता है।

कीर्तन में मनोहर शाही प्रणाली भी बंगाल में सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। यह मनोहरशाही प्रणाली कई प्रणालियों को मिलाकर प्रवर्तित की गयी थी। ऐसा समझा जाता है कि १५ वीं शताब्दी में कीर्तन की कई प्रणालियों को जोड़कर गंगा नारायण चक्रवर्ती ने इस अद्भुत शैली का निर्माण किया था। बंगाल के कीर्तन-साहित्य में बडू चण्डीदास तथा मिथिला के विद्यापति के पदों को भी काफी लोक प्रियता प्राप्त हुई। इनके पदों और गीतों में एक अद्भुत तन्मयता मिलती है।

चैतन्य महाप्रभु के शिष्य, रूप और सनतन भी संकीर्तन प्रणाली को अपना कर करताल तथा राम सिंगा लेकर कीर्तन-मण्डली में लोगों के साथ विचरण करने लगे। इस कीर्तन का आधार था 'कृष्ण' नाम।

इस कृष्ण नाम के साथ गुँथा हुआ था—भक्तितत्व, जिससे स्वयं चैतन्य महाप्रभु परिप्लावित थे। कृष्ण-नाम कीर्तन करते समय उनके नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित होती थी। श्रोता भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहते थे।

इस भक्तितत्व की आधार थी—प्रेमाभक्ति, इस प्रेमा-भक्ति का चरम लक्ष्य था महाभाव की उपलब्धि। कृष्ण के रूप में राधा के महाभाव की अनुभूति। इसी मूलभित्ति पर बंगाली वैष्णव-सम्प्रदाय की रहस्यात्मकता प्रस्तुत हुई।

चैतन्य भागवत में इसका उल्लेख है कि तन्मयावस्था में जब चैतन्य महाप्रभु की बाह्य जगत् की समस्त चेतना जाती रहती और समाधिस्थ की भाँति अपने एक साथी पर झुक कर दिव्य मूर्ति के रूप में स्थिर हो जाते, तब उनके नेत्र खुले हुए होते थे। उन नेत्रों से निर्बाध अश्रु-प्रवाह होता रहता था और उनकी मुख मुद्रा से उस असीम आनन्द की झलक निकलती थी जो अन्तरंग में ब्रह्मानन्द-प्राप्ति की द्योतक होती है।

मीराँ बाई

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु की तरह राजस्थान और गुजरात में मीराँ बाई ने ईश्वर-भक्ति में तल्लीन होकर कीर्तन-साहित्य और भक्ति-साहित्य को अमर कर दिया।

मीराँ बाई का समय ईसवी सन् १४०३ से १४७० तक माना जाता है, मगर इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। मीराँबाई मेवाड़ के राणा की पत्नी थीं। बचपन में उनका लालन-पालन वैष्णव-धर्म में हुआ था। और मेवाड़ के राणा शैव-धर्म के पक्के अनुयायी थे। मीराँ बाई ने राणा को अपने वैष्णव-धर्म का अनुयायी बनाने का बहुत प्रयत्न किया, मगर जब सफलता नहीं हुई तो वह राज-महल को छोड़ कर वृन्दावन चली गयीं और वहाँ से द्वारकापुरी में जाकर भक्ति में तल्लीन रहने लगीं और वहां वह श्रीकृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर कीर्तन करने लगीं। मीराँबाई के कीर्तन-पद, अपने इष्टदेव में लीन हो जाने, उसके व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को लीन कर देने की उत्कट इच्छा को मानवीय भाषा में दरसाने का प्रयत्न करते हैं। इन पदों को गुजरात में माताएँ अपनी पुत्रियों के साथ मिलकर गरबानृत्य के साथ बड़े भावपूर्ण ढंग से गाती हैं और हजारों दर्शक तन्मय होकर उनका आनन्द लेते हैं।

मीराँ बाई कृष्ण को अपने पति के रूप में देखती थीं और इस लिए उन्होंने अपना सर्वस्व तन और मन कृष्ण को अर्पण करते हुए कहा था—

'प्रेमनी, प्रेमनी, प्रेमनी रे, म्हाने
लागी 'कटारी' 'प्रेमनी रे'
'जल जमना माँ भरवाँ गया तां हतो
गागर माथे हेमनी रे।'
'काचे ते ताँतणे हरिजिये बाँधी,
जेम खेंचे तेम तेमनी रे।'
'मीराँ कहे प्रभु गिरिवर नागर
शामली सूरत शुभ एमनी रे! म्हनि० ॥

नरसीं मेहता

मीराँबाई की तरह ही गुजरात में नरसीं मेहता का नाम भी भक्ति और कीर्तन के क्षेत्र में अमर है। यह भी भगवद् कीर्तन और भक्ति के पद गाते-गाते भक्ति और चिदानन्द में मग्न हो जाते है। इनके पद आज भी गुजरात के घर-घर में प्रातः काल होते ही बड़ी भक्ति के साथ गाये जाते हैं।

इसी प्रकार गुजरात में प्रेमानन्द का नाम भी भक्ति-साहित्य के अन्दर बहुत प्रसिद्ध है।

भक्त तुकाराम

महाराष्ट्र में भक्ति और कीर्तन-साहित्य का विकास करने में भक्त तुकाराम का नाम अमर है। वह भक्तिमार्गी कवि और कीर्तनकार थे। आध्यात्मिक जीवन पर उन्होंने अपने लौकिक जीवन को निछावर कर दिया था। उन्होंने प्रायः पाँच हजार अभंग पदों की रचना की। उनकी शैली की विशेषता सादगी और सरलता में है। प्रसाद गुण से युक्त होने के कारण जन समाज उनके अभंगों की ओर अद्भुत रूप से आकृष्ट होता है।

तुकाराम जिस समय भगवद्भक्ति में तल्लीन होकर अपने अभंगों को उच्चारण कीर्तन करते थे। उस समय उनके चारों ओर भक्ति का एक विचित्र वातावरण छा जाता था और श्रोताओं की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगते थे।

गत ३ सौ वर्षों से "वारकरी" पन्थ के अनुयायी भजन और कीर्तन के लिए उनके अभंगों का मनोनुकूल प्रयोग करते आये हैं। उनके अभंगों की प्रभावोत्पादकता अपूर्व है।

इसी प्रकार मलयालम, तामिल, तेलगू तथा अन्य भाषाओं में भी भक्ति साहित्य और कीर्तन-साहित्य का भिन्न-भिन्न रूपों में विकास हुआ।

कीलहॉर्न

संस्कृत-भाषा के सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जिनका जन्म सन् १८४० ई० में हुआ।

कील-हॉर्न भारतवर्ष में आकर पूना के 'डेकन कालेज' में प्राच्य भाषाओं के प्रोफेसर नियुक्त किये गये। यहीं रह कर इन्होंने पाणिनीय व्याकरण का गंभीर अध्ययन किया और प्राचीन शिलालेखों को पढ़कर उनके तथ्यों को निकाला।

पातञ्जलि-महाभाष्य का कीलहार्न के द्वारा सम्पादित संस्करण आज भी वैज्ञानिक दृष्टि से बेजोड़ माना जाता है।

इसके अतिरिक्त कील-हॉर्न इतिहास के भी बड़े विद्वान् थे। प्राचीन भारत के इतिहास की कई गुत्थियों को सुलझाने की उन्होंने कोशिश की। मगर ऐसा लगता है कि कहीं-कहीं पर वे कुछ गलती भी कर बैठे।

विक्रमादित्य के समय-निर्णय पर डा० कील-हॉर्न ने 'इंडियन एँटीक्वायरी' के कई अंकों में एक लेखमाला लिखी। इस लेख माला में अभी तक जो यह विश्वास चला आ रहा था कि—ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम के एक बड़े पराक्रमी और परोपकारी राजा हुए। उन्होंने शक-जाति के आक्रमणकारियों को भारी पराजय देकर 'शकारि' की उपाधि ग्रहण की और इस विजयके उपलक्ष में ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व सितम्बर की १८ तारीख गुरुवार को विक्रमी संवत् प्रारंभ किया। इस विश्वास का डॉ० कीलहार्न ने पूर्ण रूप से खण्डन किया।

डा० कील-हॉर्न ने इन परंपराओं का खंडन करते हुए लिखा कि—'पहले यह संवत् इस नाम से नहीं था, जिस नाम से अभी चल रहा है। पहले यह मालय-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। कई शिला-लेखों, ताम्र पत्रों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ७ वीं सदी से पहले के लेखों पर कहीं भी विक्रम-संवत् का नाम नहीं देखा जाता। सब लेखों में 'मालवानां गणस्तित्या' का प्रयोग किया हुआ मिलता है।

फिर इस संवत् का नाम कैसे बदला गया। इस विषय का विवेचन करते हुए डा० कील-हॉर्न लिखते हैं कि 'छठीं शताब्दी में मालवे में यशोधर्मा नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। इसका दूसरा नाम हर्षवर्धन भी था। सन् ५४४ ई० में उसने मुल्तानके पास करूर नामक स्थान पर हूणों के प्रसिद्ध राजा "मिहिर गुल" को पराजित कर हूण जाति को तहस-नहस कर डाला। इस जीत की खुशी में उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की। और पुराने प्रचलित 'मालव संवत्' का नाम बदल कर अपनी उपाधि के अनुसार उसे 'विक्रम संवत्' घोषित कर दिया। साथ ही उसने यह समझ कर कि नये संवत् का ज्यादा आदर न होगा इसलिए मालव-संवत् ५४४ में ५६ वर्ष अपनी तरफ से जोड़कर उस संवत् को ६ सौ वर्ष पुराना घोषित कर दिया।"

डा० कीलहॉर्न की इन काल्पनिक युक्तियों से भारतीय इतिहास के विद्वानों को जरा भी सन्तोष नहीं हुआ। इन युक्तियों का खण्डन करते हुए भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासकार राय बहादुर चिन्तामणि वैद्य ने लिखा है—'क्या यशोधर्मा के किसी शिला-लेख में या किसी शासन-पत्र में नया संवत् चलने की या पुराने संवत् को नये में बदलने की किसी बात का उल्लेख किया हुआ मिलता है? दूसरा प्रश्न यह होता है कि कोई समझदार राजा दूसरे के सम्वत् का उल्लेख अपने नाम से क्यों करेगा? क्यों उस संवत् की संख्या में ५६ की संख्या मिला कर सारी गणना को ही गड़बड़ कर देगा। किसी विजेता राजा को दूसरे के चलाए हुए संवत् को अपना कहने में क्या लज्जा का अनुभव न होगा। जब कि वह आसानी से अपने नाम का नया संवत् चला सकता है। किसी के संवत् का नाम बदल कर अपने नाम से चलाना और उस घटना की याद को बिना कारण ६ सौ वर्ष पहले फेंक देना अत्यन्त अस्वाभाविक बात है।'

'भारतवर्ष का इतिहास देखने से यह मालूम होता है कि जितने विजेता राजाओं ने संवत् चलाये हैं—सबने अपने नाम से नये संवत् ही चलाये हैं। युधिष्ठिर, कनिष्क, शालिवाहन, श्री हर्ष इत्यादि अनेक राजाओं ने अपने नाम से ठीक समय के अनुसार ही संवत् चलाये थे। यदि यशोधर्मा ने ऐसा किया भी होता तो उसका उल्लेख उस युग के लेखों में कहीं-न-कहीं जरूर होना चाहिये था।'

"इससे डा० कील-हॉर्न की दलीलों को युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता और इन दलीलों से इस विश्वास में कभी अन्तर नहीं आ सकता कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व मालवा में विक्रमादित्य नामक कोई राजा जरूर था।"

इसके बाद रायबहादुर वैद्य ने विक्रमादित्य के समय और अस्तित्व के सम्बन्ध में कई दलीलें दी हैं।

इससे पता चलता है कि कील-हॉर्न के समान यूरोपीय विद्वानों ने भारत के प्राचीन इतिहास पर जो अन्वेषण और अनुमान निकाले हैं, वे अत्यन्त उपयोगी होने पर भी गलतियों से खाली हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सर विलियम जॉन्स, विंसेन्ट स्मिथ तथा कई और भी विदेशी इतिहासकारों के द्वारा प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में की गई गवेषणा की भूलों पर आज के भारतीय इतिहासकार काफी प्रकाश डाल रहे हैं और प्राचीन भारत के इतिहास का बिल्कुल नवीन ढंग से अन्वेषण करने में प्रयत्नशील हैं।

इन सब बातों के बावजूद उस प्रारम्भिक काल में इन परिश्रमशील विदेशी इतिहासकारों ने पूरे परिश्रम, लगन और अध्यवसाय के साथ प्राचीन भारत के इतिहास की परतों को खोलने का जो महत्वपूर्ण काम किया, उसका मूल्यांकन किसी भी प्रकार कम नहीं आँका जा सकता।

भारत से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् डा० कील-हॉर्न जर्मन के विख्यात गटिंजन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उनकी सेवाओं के उपलक्ष में कई यूनिवर्सीटियों ने उन्हें सम्मान सूचक उपाधियों से अलंकृत किया।

क्लीपाल

स्विट्जर लैंड का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन १८७९ में और मृत्यु सन् १९४० में हुई।

क्लीपाल जर्मन चित्रकला की 'ब्ल्यू राइडर' शाखा का चित्रकार था। सन् १९१२ में उसने ब्ल्यू राइडर-प्रदर्शिनी में अपने चित्र प्रदर्शित किये थे।

उसके पश्चात् जब वह पेरिस गया तो वहाँ के सुप्रसिद्ध चित्रकार 'पिकासो' तथा 'दि-लाने' का उस पर बहुत प्रभाव पड़ा और उनके सम्पर्क से उसकी क्युबिस्टिक प्रवृति को बहुत बड़ा बल मिला और उसकी शैली ने उसी दिशा में नया मोड़ लिया। उसने २० वीं सदी के अनाकृतिक अभिव्यञ्जना वादियों को अधिक प्रभावित किया।

क्लीवलेंड (स्टीफेन ग्रोवर)

अमेरिका के सुप्रसिद्ध राष्ट्रपति जो सन् १८८५ ई० में और सन् १८९३ ई० में दो बार अमेरिका के राष्ट्रपति चुने गये।

क्लीवलैंड का जन्म १८ मार्च सन् १८३७ में हुआ। सन् १८५९ में उन्होंने बैरिस्टरी पास की और सन् १८६९ में डिमाक्रेटिक पार्टी के 'शेरिफ' चूने गये। सन् १८८२ में डिमाक्रेटिक पार्टी ने उन्हें 'मेयर' नियुक्त किया। और उसी वर्ष वे गवर्नर बनाये गये। सन् १८८४ ई० में वह अमेरिका के राष्ट्रपति चुने गये और उन्होंने सिविल सर्विस के सम्बन्ध में कानून बनाकर इस क्षेत्र को पार्टी बन्दियों से मुक्त किया।

सन् १८९२ ई० में डिमाक्रेटिक पार्टी ने उन्हें फिर से राष्ट्रपति चुना। इस समय अमेरिका कुछ आर्थिक कठिनाइयों में फँस गया था, जिससे नौकरों की तनख्वाहें और मजदूरों की मजदूरी कुछ कम हो गयी। इससे चारों ओर मजदूर-आन्दोलन और हड़तालें होने लगीं। शिकागो में खासी गड़बड़ हो गयी, जिसे क्लीवलैंड ने सेना के द्वारा दबाया।

क्लीवलैंड के समय में हवाई-द्वीप-समूह का भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आया था। इस द्वीप समूह को अमेरिकी संयुक्त राष्ट्र में मिलाने का जो बिल 'सीनेट' में पेश किया गया था, क्लीवलैंड ने उसे वापस ले लिया और यह कोशिश की कि वहाँ की रानी को फिर से वहाँ की गद्दी पर बैठा दिया जाय। मगर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

सन् १९०८ ई० क्लीवलैंड की मृत्यु हो गई।

क्रीट (द्वीप)

भू-मध्य सागर में ग्रीस के दक्षिण में स्थित एक विशाल द्वीप, जिसका क्षेत्रफल ३३३० वर्गमील है।

यूरोप महाद्वीप के प्रायः सभी देशों में, भूमध्य-सागर में स्थित क्रीट द्वीप की सभ्यता, जो ईजियन सभ्यता कहलाती है—सबसे प्राचीन सभ्यता मानी जाती है।

कालान्तर में इसी सभ्यता ने यूरोपियन सभ्यता की, जननी-यूनानी सभ्यता को जन्म दिया था।

महाकवि होमर के महाकाव्य ईलियड महाकाव्य में वर्णित 'ट्राय' नामक द्वीप का अस्तित्व भी इसी क्षेत्र में मिला है।

जर्मन-पुरातत्ववेत्ता श्री श्लीमान और अंग्रेज पुरातत्त्व-वेत्ता आर्थर इवान्स के द्वारा खुदाई की जाने पर यहाँ की सभ्यता के अवशेष काफी मात्रा में प्राप्त हुए। उससे मालूम होता है कि क्रीट का प्राचीनतम नगर और राजधानी 'क्नोसस' था, जो द्वीप के उत्तरी सागर-तट पर पहाड़ों के ऊपर बसा हुआ था।

क्नोसस में प्राचीनयुग की, राजा 'मिनोस' के समय की, जिस भूल-भुलैया के अवशेष प्राप्त हुए हैं—उसने ग्रीक-पुराणों की परम्परा के राजा मिनोस को एक ऐतिहासिक पुरुष की तरह, इतिहास के सम्मुख खड़ा कर दिया है और ग्रीक पुराणों में वर्णित भूल-भुलैयाँ को आँखों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। यह कार्य श्लीमान् के पश्चात् अंग्रेज-पुरातत्व-वेत्ता आर्थर इवांस ने सम्पन्न किया।

क्रीट की सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, जो इसवीं सन् से ३ हजार वर्ष पूर्व से लेकर १२ सौ ईसवीं पूर्व तक के काल-प्रसार के ऊपर फैली हुई है।

जितनी प्राचीन सभ्यताओं के विकास का अभी तक पता चला है—उन सब से क्रीट की यह सभ्यता बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। भारत, चीन, मिस्र, ईरान आदि देशों की महान् सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न नदियों के काँठे में जन्मी और इन महादेशों में फैली। लंका, जावा, सुमात्रा इत्यादि द्वीपों ने इन महाद्वीपों की सभ्यता से प्रकाश ग्रहण किया, मगर क्रीट की सभ्यता एक छोटे से द्वीप में पैदा हुई—वहीं पर विकसित हुई और वहीं से इसने यूरोप तथा एशिया माइनर के महाद्वीपों को अपने प्रकाश से प्रकाशित किया।

क्रीट द्वीप की खुदाई के पहले इतिहासकारों का यह मत था कि यूरोपीय सभ्यता के मूलस्रोत यूनानी सभ्यता से ही प्रकट हुए हैं, मगर क्रीट द्वीप की खुदाई के पश्चात् इतिहासकारों का यह मत बदल गया है, और वे यह मानने को विवश हो गये हैं कि यूनान का प्रसिद्ध "माइनोअन" युग (ईसा से लगभग १६ सौ वर्ष ईसवीं पूर्व) जिसके अवशेष 'माइकीनी टीरिंस' में मिले हैं—क्रीट द्वीप में पाये गये ईजियन सभ्यता के अवशेषों के सामने बहुत ही नवीन हैं। यह सभ्यता प्रायः ५०० ईजियन टापुओं में फैली हुई थी। इस सागर का नाम भी इसी सभ्यता के नाम पर "इजियन सागर" पड़ा था।

ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व यह सभ्यता विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। और ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व 'माई-नो-अन' युग में आकर क्रीट इस सभ्यता का प्रमुखकेन्द्र और क्रीसोस-साम्राज्य का आधार विन्दु बन गया।

ईसा से पन्द्रह-सौ-वर्ष पूर्व से लेकर दस सौ नब्बे ईसवीं पूर्व तक यह सभ्यता क्रीट द्वीप से निकल कर यूनान में फैल गयी। इस सभ्यता के प्रचारकों ने यूनान में आकर माई-क्रीन नामक एक व्यापारिक बस्ती बसाई। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते उनकी यह व्यापारिक नगरी एक विशाल नगर के रूप में परिवर्तित हो गयी।

और फिर एक समय ऐसा आया, जब इसी नगर के निवासियों ने संगठित होकर अपनी मातृभूमि—क्रीट द्वीप पर आक्रमण कर दिया और क्रीट के लोगों को अपने अधीन करके क्रीट द्वीप के 'क्रीसोस' नामक साम्राज्य को अपना उपनिवेश बना डाला। उसके पश्चात् ही यूनानी सभ्यता का विकास प्रारंभ हुआ।

क्रीट के 'क्नोसस' नामक नगर के खंडहरों में लगभग २५०० वर्ष ईसवीं पूर्व का बना हुआ जो राज्य-प्रासाद खुदाई से निकला है—उसके स्तम्भ, दालान, खिड़कियाँ तथा मंजिलों ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि इस द्वीप में जो सभ्यता निर्माण हुई थी—वह 'हेजास' या 'ग्रीस' की सभ्यता से बहुत समृद्ध और गौरवपूर्ण थी। परन्तु इस सभ्यता के संस्थापक लोग कौन थे और कहाँ से आये थे—इसके सम्बन्ध में इतिहास अभी तक कोई निश्चित निर्णय नहीं कर पाया है और अभी तो ये लोग 'इजियन' नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

क्रीट के प्राचीन खंडहरों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि क्रीट की सभ्यता में धर्म-व्यवस्था के समान कोई विशेष पद्धति नहीं थी। क्योंकि इन खंडहरों से न तो कोई मूर्ति उपलब्ध हुई है और न कोई मन्दिर। इसके विपरीत इनके भूल-भुलैयाँ वाले भवनों की दीवारों पर जो भित्तिचित्र मिले हैं उनसे मालूम पड़ता है कि इन लोगों की संस्कृति पर 'मोहन-जोंदड़ो' की संस्कृति का प्रभाव पड़ा था।

क्रीट के मकानों का निर्माण, जहाँ मोहनजोदड़ों के समकक्ष है, वहाँ क्रीट से प्राप्त भित्तिचित्रों की तस्वीरें भी मोहनजोदड़ों की मातृका—देवी की मूर्तियों के ही सदृश हैं।

इनके भूल-भुलैयाँ वाले शानदार महलों में फ्राक और पेटियाँ पहननेवाली इनकी स्त्रियाँ, हाथी दाँत पर बनी हुई इन स्त्रियों की मूर्तियाँ और बर्तनों की फूल-पत्तियों वाली चित्रकारी को देखकर ऐसा लगता है, मानो यह सभ्यता आधुनिक युग की ही विकसित सभ्यता हो। जिसके अन्दर मानव जीवन उन्मुक्त होकर बहता था। नारी पूर्ण रूप से स्वतंत्र थी और सुखी जीवन की सभी सुविधाएँ उसमें प्राप्त थीं।

क्रीट द्वीप की प्राचीन भाषा का नाम 'क्रीटी' है। क्रीटी भाषा और लिपी अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, जिससे उसके प्राचीन रूप का पता चलना भी कठिन हो गया है। पर अधिकतर विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि प्राचीन क्रीट की यह भाषा आर्यभाषा न होकर आर्येतर भाषा थी। दक्षिण सागर के पार मिस्र की 'हामी' सभ्यता और पूर्व में 'सुमेरियन' और बेबी 'लोनियन' सभ्यता उसे घेरे हुए थी। जिससे आर्य सभ्यता के सम्पर्क से क्रीट की सभ्यता वञ्चित थी। आर्य सभ्यता का सम्पर्क क्रीट की सभ्यता को ईसा के १५ सौ वर्ष पूर्व मिला, मगर उसी समय "ग्रीक माईकोन" लोगों के आक्रमण ने क्रीट की सभ्यता को नष्ट कर दिया।

माईकीन-ग्रीक लोगों के पश्चात् ईसवी पूर्व पहली सदी में रोमन लोगों ने क्रीट की राज्य-सत्ता छीन कर उसे अपने साम्राज्य का अङ्ग बना लिया। उसके पश्चात् यह द्वीप कुछ समय तक पूर्वी रोमन-साम्राज्य का अङ्ग रहा। इसके पश्चात् वह अरब लोगों के अधिकार में आया। उसके बाद वेनिस के सौदागरों के और फिर यह तुर्कों के अधिकार में रहा। अन्त में इस पर अंग्रेजी प्रभाव से प्रभावित ग्रीस का अधिकार हुआ।

पिछले महायुद्ध के समय हवाई छतरियों के द्वारा एकाएक अपनी सेना उतार कर जर्मनी ने यहाँ की अंग्रेजी और ग्रीक सेना को पराजित कर अपने अधिकार में ले लिया और महायुद्ध की समाप्ति के बाद फिर यह ग्रीस के शासन में मिला दिया गया।

कुआलालमपुर

मलाया-संघ के सलेंगा राज की राजधानी, जिसकी जन-संख्या सन् १९५७ ई० की जनगणना के अनुसार ३ लाख १५ हजार है।

कुआलालमपुर मलाया-संघ का एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र है। अपने रबर के बगीचों और टिन की खदानों के कारण यह नगर बहुत शीघ्रगामी गति से अपनी उन्नति करता जा रहा है।

सन् १९५८ में मलाया युनिवर्सिटी को सिंगापुर से हटाकर कुआलालमपुर में स्थापित कर दिया गया है।

कुआन-चुंग

प्राचीन चीन में सी राज्य के सामन्त हु—आन का प्रधान मंत्री जो ई० सन् पूर्व छठी शताब्दी में हुआ।

कुआन-चुंग प्राचीन चीन में सामाजिक स्थायित्व प्रदान करने वाला पहला व्यक्ति माना जाता है। चीन में इसी ने सबसे पहले मछली और नमक पर टैक्स लगाया। कुआन-चुंग विद्वानों, कवियों और कलाकारों का बड़ा सम्मान करता था। उसने राज्य के लिए एक ऐसी शासन प्रणाली का निर्माण किया जिससे सारे समाज में शान्ति और व्यवस्था क़ायम हो गई। महान दार्शनिक और धर्मनेता कनफ्यूशस कुआन-चुंग की नीति और व्यवस्था का बड़ा प्रशंसक था। वह कहा करता था चीनी सभ्यता के सृजन के लिए चीन कुआन-चुंग का हमेशा आभारी रहेगा। आज उसी की बनाई हुई व्यवस्था में चीन के लोग शांत और सुखी जीवन बिता रहे हैं।

ई० पू० ५३५ में चेंग काल में कुआन-चुंग की बनाई हुई शासन व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों से किसानों की बड़ी हानि और अमीरों का बड़ा लाभ हुआ।

कु-ऐन-वू (Ku-Yen-Wu)

चीन का एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार, कवि और इतिहासकार, जिसका जन्म सन् १६६३ में और मृत्यु सन् १६६५ में हुई।

यह मंचू-राज्य वंश के सम्राट् वांग-शी का जमाना था। इसी युग में कु-ऐन-वू का जन्म हुआ। यह सर्वतोमुखी प्रतिभा का साहित्यकार था। उसने अपने जीवन में साहित्य, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, कविता आदि कई विषयों में प्रथम श्रेणी की रचनाएँ कीं। इसकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं ने चीनी-साहित्य को काफी समृद्धि प्रदान की।

कुश्रो-मो-जो

चीनी-साहित्य का एक महान् ग्रन्थकार, जिसका जन्म सन् १८६२ में हुआ।

कुश्रो-मो-जो वर्तमान चीनी साहित्य के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। इन्होंने करीब १० उच्चकोटि के उपन्यास, १२ के करीब नाटक ग्रन्थ, ५ खण्ड काव्य और कई निबन्ध ग्रन्थों की रचना की है।

इनकी रचनाओं का विस्तार बहुत व्यापक है। इन्होंने जर्मनी और रूसी भाषा की अनेक सुन्दर कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया है। चीनी, रूसी, जर्मन, अंग्रेजी इत्यादि अनेक भाषाओं पर कुओ-मो-जो का समान रूप से अधिकार है।

कुक जेम्स

आस्ट्रेलिया महाद्वीप और न्युजीलैंड की खोज करने वाला, अंग्रेजी नौ सेना का सुप्रसिद्ध कप्तान, जिसका जन्म सन् १७२८ ई० में मार्टन नाम एक ग्राम में हुआ था और मृत्यु सन् १७७६ ई० में हवाईद्वीप में हुई।

सन् १७५५ ई० में जब इंग्लैंड के साथ फ्रांस का युद्ध चल रहा था, कुक जेम्स रॉयल नेवी के अन्तर्गत नियुक्त किया गया था। सबसे पहले उसको कनाडा के अन्तर्गत संट लारेंस की सर्वे करने का भार सौंपा गया। निरन्तर फ्रेंच-आक्रमण के खतरे के बीच उसने क्युबेक्स से समुद्र तक के नदी-मार्ग तक का नक्शा बनाया जो आगे जाकर बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

कुक के जीवन का सबसे प्रभावशाली अवसर तब आया, जब उसको सन् १७६६ में न्यु फाउंडलैंड के तटवर्ती प्रदेश का सर्वे करने के लिए भेजा गया और जहाँ उसने ५ अगस्त सन् १७६६ के दिन सूर्यग्रहण की वैज्ञानिक गणना से संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया और उसी दिन से उसकी गणना नेवी कप्तान के साथ-साथ वैज्ञानिकों के अन्दर भी होने लगी और लन्दन की रायल सोसायटी का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हुआ।

उस समय लन्दन की रॉयल सोसायटी के सदस्य आस्ट्रेलिया महाद्वीप की खोज के सम्बन्ध में प्रयत्नशील थे। जेम्स कुक के साहस और उसकी योग्यता को देखकर रायल सोसायटी ने आस्ट्रेलिया की खोज का भार कुक जेम्स को सौंप दिया।

२५ अगस्त सन् १७६८ के दिन इंडेवर नामक जहाज पर अपने ८३ साथियों के साथ चढ़कर जेम्स कुक 'आस्ट्रेलिया' महाद्वीप की खोज में अनजाने, अनदेखे और संकटपूर्ण मार्ग पर तीन वर्ष की यात्रा पर निकल पड़ा।

सन् १७६६ में वह ऑस्ट्रेलिया को ढूँढ़ता हुआ न्युजीलैंड जा पहुँचा। न्युजीलैंड से आगे बढ़कर उसका जहाज २० वें दिन ऑस्ट्रेलिया के किनारे पर पहुँच गया, जिसे देखकर वह खुशी से उछल पड़ा। ऑस्ट्रेलिया के अन्दर उसने बहुत सी बहुमूल्य खोजें कीं। ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी किनारे पर एक क्षेत्र में उसे सैकड़ों प्रकार की अनजानी जड़ी बूटियाँ दिखलाई पड़ीं। इस क्षेत्र का नाम उसने बाटनी-बे रख दिया और यहीं पर एक सैनिक समारोह करके बिना किसी रक्तपात के पूर्वी ऑस्ट्रेलिया पर इंग्लैंड के सम्राट् का झंडा गाड़ दिया, और उस क्षेत्र पर इंग्लैंड के अधिकार की घोषणा कर दी।

इतने बड़े महाद्वीप पर बिना किसी दुर्घटना के इंग्लैंड का अधिकार हो जाना इतिहास की एक अद्भुत घटना थी।

जेम्स कुक ने इन तीन वर्षों में लगभग ६० हजार मील की समुद्री यात्रा की। इतनी बड़ी यात्रा के अन्दर उसके केवल एक नाविक की मृत्यु हुई, जब कि उस

समय समुद्री यात्राओं में सैकड़ों मनुष्य मर जाते थे। समुद्र में मरने वाले लोगों की मृत्यु संख्या की जांच करके उस मृत्यु संख्या को कम करने के सम्बन्ध में उसने एक वैज्ञानिक और खोजपूर्ण लेख भी लिखा।

सन् १७७६ ई० में नई दुनिया को पुरानी दुनियाँ से जोड़ने के लिए अर्थात् प्रशान्त सागर से अटलांटिक सागर तक जाने के मार्ग को ढूँढ़ने के उद्देश्य से उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की।

इस यात्रा में वह हवाई द्वीप-समूह के ऊपर जा पहुँचा। इन द्वीपों का नाम उसने अपनी सेना के अध्यक्ष सेंडविच के नाम पर सैंडविच-द्वीप-समूह रखा। वहाँ से संकटपूर्ण, अनजाने और बरफीले समुद्रों में अमेरिका के पश्चिमी तटों से होता हुआ और उन तटवर्ती स्थानों का वैज्ञानिक सर्वेक्षण करता हुआ वह आगे बढ़ा, मगर हवाई द्वीप के निवासियों से उसका झगड़ा हो गया, जिसमें उसके सब साथी उसे अकेला छोड़ कर भाग गये और वहाँ के निवासियों ने उसे मार कर जलाडाला।

इस प्रकार इस साहसी, बुद्धिमान और वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति ने अपने जीवन को जोखिम में डाल कर संसार के नक्शे को बदल दिया। उसका बनाया हुआ प्रशान्त सागर का नक्शा आज भी ध्रुवों की खोज करने वाले साहसी नाविकों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम करता है।

—

कुञ्चन नंप्यार

मलयालम भाषा के कथकली साहित्य का प्रसिद्ध लेखक और कलाकार जिसका जन्म सन् १७०५ में और मृत्यु सन् १७४८ में मानी जाती है।

कुंचन नम्प्यार का जन्म "किलिकुलरिशि" नामक केरल प्रान्त के एक ग्राम में हुआ था। प्रारम्भ से ही इनको संस्कृत भाषा की शिक्षा दी गई। थोड़े ही समय में इनकी कवित्व शक्ति का विकास लोगों की निगाह में दृष्टिगोचर होने लगा और इनकी प्रतिभा को देखकर "अम्बल प्युषा" नामक स्थान के राजा ने सम्मान के साथ इन्हें अपने दरबार में रख लिया। यहाँ पर इस कलाकार की कला को विकास करने का अपूर्व अवसर मिला।

इसी समय "पालक्काट" नामक मालाबार प्रदेश के एक नगर से एक पण्डित वहाँ आये और उन्होंने अम्बल प्युषा दरबार के कवियों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। इस चुनौती को कुंचनंप्यार के गुरु भट्टितिरि ने स्वीकार किया। दोनों में कई दिनों तक वाद-विवाद हुआ, मगर कोई नतीजा निकलते न देखकर वहाँ के राजा ने कहाकि "इस तरह वाद-विवाद से कोई निर्णय लगने वाला नहीं। अतः मैं तो जीत हार की कसौटी के लिए यह समझता हूं कि दोनों में से जो भी पण्डित एक दिन में बारह सर्गों का उत्कृष्ट काव्य लिख देगा उसी को विजयी माना जावेगा।"

इस आज्ञा को सुनते ही दोनों पण्डित आश्चर्य चकित हो गये। एक दिन में बारह सर्गों का उत्कृष्ट काव्य लिखना असम्भव था।

कुञ्चन नम्प्यार उस समय बाहर गये हुए थे किन्तु आधीरात के समय वे वापस आ गये और उसी समय सब बात सुनकर वे काव्य रचना करने बैठ गये। उन्होंने अपने ग्यारह शिष्यों को भी बुला लिया। नंप्यार स्वयं एक सर्ग लिखते जाते थे और उन ग्यारह शिष्यों में प्रत्येक को एक एक सर्ग लिखने के लिए एक के बाद एक श्लोक कहते जा रहे थे। इस प्रकार सूर्योदय के पहले ही "श्रीकृष्ण चरितम् मणिप्रवालम्" नामक काव्य तैयार कर गुरु को समर्पित कर दिया और कह दिया कि इसके लिये मेरा नाम बताने की आवश्यकता नहीं है। इस सुन्दर काव्य से उनके गुरुदेव को विजय प्राप्त हुई।

कुंचन नंप्यार केवल कवि ही नहीं वे वे नृत्य और अभिनय कला में भी अद्वितीय थे। कथन, नृत्य, अभिनय, वाद्य आदि का एक साथ उपयोग करने की नयी पद्धति नंप्यार ने चलाई। इसे "तुल्लल" पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में अभिनेता एक विशेष वेषभूषा में रंगमंच पर उपस्थित होकर किसी पौराणिक या वीररस पूर्ण कथा को काव्यके रूप में कहता जाता है। साथ ही वह ताल तथा लय के साथ हावभाव दिखाकर अभिनय करता रहता है। उसके साथी वाद्य घोष के साथ कविता पाठ करते हैं।

अभिनय युक्त संगीत और नृत्य के द्वारा लोग कथा को अच्छी तरह समझ कर आनन्द उठाते हैं।

कुंचन नंप्यार ने इस पद्धति के अनुसार अनेक कथाएँ लिखीं। उनकी यह टुल्लल पद्धति केरल में बहुत लोकप्रिय हुई।

काव्य ग्रन्थ

कुंचन नंप्यार के काव्य ग्रन्थों में, श्रीकृष्ण चरितम् मणिप्रवालम्, भगवद्दूत, भागवतम्, इरुपत्तिनालू, शिवपुराण, नलचरितम्, विष्णुगीता आदि काव्यग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। टुल्लल पद्धति के अनुसार करीब ६० कविता ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। उनका कृष्णचरितम् मणिप्रवालम् काव्य सारे मलयालम साहित्य के काव्यों में अपना प्रमुख स्थान रखता है।

कुञ्जि कुट्टन तंपुरान

मलयालम भाषा के आधुनिक युग के प्रसिद्ध लेखक और कवि।

कुञ्जिकुट्टन तंपुरान मलयालम भाषा में सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। इन्होंने 'कविभारतम्' 'अम्बापरोग' 'पालुल्लि चरितम्' 'कन्सन' आदि दस महाकाव्यों को तथा केरलम्' 'कूटल माणिक्यम्' आदि खण्ड काव्यों की रचना कर मलयालम साहित्य को समृद्ध बनाने में बड़ा योग दिया है। वे मलयालम साहित्य के कवि, गद्यलेखक, आलोचक, गवेषक और सम्पादक के रूप में काफी प्रसिद्ध हैं।

कुट्टि कृष्णन पी० सी०

मलयालम साहित्य में हास्य रस के एक प्रसिद्ध लेखक

मलयालम साहित्य में हास्यरस के लेखकों में कुट्टि कृष्णन का स्थान वेजोड़ है। उनकी रचनाएँ पाठकों के हृदय को जगाती हैं, समझाती हैं, और हँसाकर लोटपोट कर देती हैं। इस लेखक ने जीवन के अनुभवों के आधार पर सुन्दर, सरस तथा मर्मस्पर्शी कहानियाँ लिखकर लोगों को प्रभावित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। ये आदर्शों को लोगों पर लादते नहीं बल्कि रसमयी घटनाओं का चित्रण कलापूर्ण ढंग से करते हैं। लोग उसमें डूब जाते हैं और आनन्द के कूल पर पहुँच जाते हैं। "ऊरूब" के नाम से वे कहानियाँ लिखते हैं, उनके कहानी संग्रहों में "नवोन्मेष, जलकम्, तुरमिट्टू इत्यादि संग्रह उल्लेखनीय हैं।

कुट्टनी-मतम्

काश्मीर-नरेश जयापीड़ के प्रधान मंत्री दामोदर गुप्त द्वारा लिखा हुआ काम शास्त्र सम्बन्धी एक संस्कृत ग्रन्थ। जिसका रचना काल सन ७७९ से ८०० के बीच किसी समय माना जाता है।

इस मधुर काव्यग्रन्थ में "कुट्टनी" (वेश्याओं को कामशास्त्र की शिक्षा देने वाली नायिका) के व्यापक प्रभाव, वेश्याओं के लिए उसकी अनिवार्य उपयोगिता तथा कामशास्त्र की प्रक्रियाओं के द्वारा कामुक जनों को वशीकरण करने की विधि पर बड़ी सुन्दर और प्रवाही संस्कृत में विवेचन किया गया है। इस काव्य की रचना का उद्देश्य कामशास्त्र की उपलब्धियों के साथ-साथ सज्जन पुरुषों को इन कुट्टनियों के फन्दे से रक्षा करना भी था।

कुण्ड ग्राम

जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर को जन्म भूमि।

कल्पसूत्र तथा अन्य जैन ग्रन्थों के अनुसार कुण्ड ग्राम उस समय विहार में एक अच्छा शहर और राजधानी थी। कुछ इतिहासकारों के अनुसार आजकल गया जिले में जिस स्थान पर 'लखवाड़' नामक ग्राम बसा हुआ है, उसी जगह यह शहर स्थित था।

पर कुछ पाश्चात्य पुरातत्व वेत्ताओं के अनुसार 'कुण्डग्राम' उस समय लिच्छवि वंश की राजधानी 'वैशाली' का ही एक विभाग था। डा० हर्मन जेकोबीने अपने जैन सूत्रों की प्रस्तावना में तथा डॉ० हार्नल ने अपने जैन धर्म सम्बन्धी लेखों में इस विषय की चर्चा की है। डॉ० हार्नल ने लिखा है कि:—

'वाणिय ग्राम' लिच्छवि वंश की प्रसिद्ध राजधानी 'वैशाली' नामक सुप्रसिद्ध शहर का दूसरा नाम था। कल्पसूत्र में उसे वैशाली के समीपवर्त्ती एक दूसरा शहर माना है लेकिन अनुसन्धान करने से यह बात मालूम होती है जिसे वैशाली नगरी कहते थे वह बहुत लम्बी और विस्तृत थी।

"चीनी यात्री हुएनसंग के समय में वह करीब १२ मील विस्तार वाली थी और उसके तीन विभाग थे। (१) वैशाली, जिसे आजकल 'बेसूर' कहते हैं। (२) 'वाणिय-ग्राम' जिसे आजकल 'वाणिय।' कहते हैं और (३) 'कुण्ड-ग्राम' जिसे आजकल 'बसुकुण्ड कहते हैं। कुण्डग्राम भी वैशाली का ही एक भाग था और वहीं पर महावीर की जन्म-भूमि थी, और सिद्धार्थ इसी विभाग के सरदार थे। इसी कारण सम्भवतः जैन शास्त्रों में महावीर को कई स्थानों पर 'वैशालीय' नाम से भी सम्बोधित किया गया है।"

"ईशानकोण में कुण्डग्राम से आगे 'कोल्लंगी' नामक मुहल्ला था जहां सम्भवतः ज्ञातृ अथवा नाय जाति के क्षत्रिय लोग बसते थे। इसी ज्ञातृकुल में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। सूत्र ६६ में इस मुहल्ले का नायकुल के नाम से उल्लेख किया गया है। यह कोल्लांग सन्नि-वेश के साथ सम्बद्ध था। इसके बाहर 'दुई पलास' नामक एक चैत्य था इसमें एक मन्दिर और उद्यान था। इसी से विपाक सूत्र में इसे 'दुई पलास उज्जाण' लिखा है। और यह उद्यान नायकुल के अधिकार में था।"

......इन प्रमाणों से डाक्टर हार्नल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् महावीर की जन्म-भूमि कुण्डग्राम वैशाली का ही एक विभाग था और यह 'कौल्लांग सन्निवेश' से सम्बद्ध था और यही कारण था कि दीक्षा लेते ही महावीर सबसे प्रथम अपनी जन्मभूमि के पास वाले दुई पलास चैत्य में आकर ठहरे।

कुण्डलपुर

जैनियों का एक सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान, जो मध्य प्रदेश के दमोह नामक नगर से २२ मील की दूरी पर स्थित है। यह तीर्थ स्थान कुण्डल के आकार के एक पर्वत पर बना हुआ है। इस पर्वत पर तथा इसकी तलहटी में ५१ जैन-मन्दिर बने हुए हैं। पर्वत शिखर पर निर्मित एक मन्दिर में भगवान महावीर की एक विशाल मूर्ति स्थापित है, जो पहाड़ को काटकर बनाई गयी है। पद्मासन में स्थित और बैठी हुई स्थिति में होने पर भी इस मूर्ति की ऊँचाई ६—१० फुट है। इस मूर्ति की उस प्रान्त में बड़ी मान्यता है। और इसके सम्बन्ध में कई प्रकार की किम्वदन्तियाँ यहाँ प्रचलित है।

एक शिलालेख से पता चलता है कि महाराज छत्र-साल ने इसका जीर्णोद्धार करवाया था।

कुण्डलपुर (कुण्डिनपुर)

मध्य रेलवे में पुलगाँव से एक रेलवे लाइन आरवी को जाती है। इस आरवी नगर से ६ मील की दूरी पर कुण्डल पुर नाम का एक तीर्थ क्षेत्र स्थित है।

कुण्डल पुर का प्राचीन नाम कुण्डिनपुर था। यह राजा भीष्मक की राजधानी था। राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी थी। इस स्थान से ही श्री कृष्णचन्द्र ने रुक्मिणी का हरण किया था।

इस क्षेत्र में एक टीले के ऊपर अम्बिका का एक प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। इस मन्दिर में अम्बिका की एक मूर्ति ४ फीट ऊँची बनी हुई है। जिस समय रुक्मिणी अम्बिका की पूजा करने के लिए इस मन्दिर में आई हुई थीं, उसी समय कृष्ण ने एक खिड़की के रास्ते से उनका अपहरण किया था, ऐसी किम्वदन्ती वहाँ प्रचलित है।

कुण्डलपुर में मुख्य मन्दिर श्री विट्ठल-रुक्माई का है। इस मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त यहाँ पर सन्त सदाराम की समाधि भी बनी हुई है। सदाराम इस क्षेत्र में प्रसिद्ध सन्त हुए हैं।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त यहाँ पर पञ्चमुखी महादेव का भी एक प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। गुफा के अन्दर भी कई शिवलिंगों की स्थापना की हुई है। वैसे कुल मिलाकर यहाँ पर लगभग २५ मन्दिर बने हुए हैं।

आषाढ़ी पूर्णिमा और कार्तिकी पूर्णिमा को इस क्षेत्र में मेले लगते हैं। और लोगों का ऐसा विश्वास है कि

इन तिथियों पर पंढर पुर से श्री पंढरीनाथ यहाँ पर आ जाते हैं।

कुराडेश्वर

बुन्देल खण्ड में टीकमगढ़ से ४ मील दक्षिण यमद्वार नदी के उत्तर तट पर बना हुआ एक शिव-मन्दिर।

कहा जाता है कि इस शिव-मन्दिर की मूर्ति नदी के अन्दर बने हुए एक कुण्ड में से आविर्भूत हुई। जिसका पता १५वीं शताब्दी में धन्धी नामक एक खटकिन को लगा। श्री वल्लभाचार्य उस समय वहीं पर तुंगारण्य में श्रीमद् भागवत की कथा कह रहे थे।

यह समाचार पाकर उन्होंने तैलंग ब्राह्मणों के द्वारा इस मूर्ति का वैदीक संस्कार करवाया और कुण्ड से आविर्भूत होने के कारण इसका नाम कुण्डेश्वर रखा। इस क्षेत्र में शिवरात्रि, मकर संक्रान्ति और वसन्त पञ्चमी पर मेला लगता है।

कुण-पाण्ड्य

दक्षिण भारत के पाण्ड्य-वंश का एक प्रसिद्ध शासक, जिसका शासन सन् ६५० ई० से ६८० ई० तक रहा।

कुण-पाण्ड्य का दूसरा नाम नेन्दुमारण और सुन्दर पाण्ड्य भी था। यह पाण्ड्य-वंश के राजा कडुंग का चौथा पुत्र था।

कुण पांड्य ने चोल-राज्य को पराजित कर उनकी कन्या वनितेश्वरी से विवाह किया था। यह राजवंश पहले जैन धर्म का अनुयायी था, मगर कुछ समय पश्चात् गुण समन्दर नामक व्यक्ति ने राजा कुण पाण्ड्य को शैव-धर्म का अनुयायी बना लिया। समन्दर के प्रभाव से इस राजा ने पांड्य देश में जैनधर्म के अनुयायियों पर भयंकर अत्याचार किये और राज्य में जैनधर्म का अनुयायी होना कानूनन मना कर दिया गया। जैनियों पर किये गये अत्याचारों के दृश्य मदुरा के प्रसिद्ध मीनाक्षी मन्दिर की दीवारों के प्रस्तर स्तम्भों में आज भी विद्यमान हैं।

कुणाल

सम्राट् अशोक के पुत्र, जिनको रानी तिष्य-रक्षिता के षड्यंत्र से अन्धा बना दिया गया था।

कुणाल का जन्म सम्राट् अशोक की पद्मावती नाम की रानी के गर्भ से हुआ था। इस राजकुमार की आँखें बहुत सुन्दर होने के कारण इसका नाम कुणाल रखा गया।

कुणाल जब युवावस्था में पहुँचा, तो अपनी सुन्दर आँखों, बलिष्ट शरीर और तेजोमय रंग के कारण कामदेव के समान दिखलाई देने लगा।

सम्राट् अशोक की एक छोटी रानी और थी, जिसका नाम तिष्य-रक्षिता था। वह भी इस समय भरपूर जवानी में थी और उसकी उद्दण्ड काम-वासना उसे आपे से बाहर कर रही थी।

राजकुमार कुणाल के दीर्घ नयनों से युक्त सुनहले यौवन को देखकर सौतेली माता होते हुए भी तिष्य-रक्षिता उस पर मोहित हो गयी और उसने कुणाल के सामने अपने प्रेम-प्रस्ताव को रख दिया।

विमाता के द्वारा रखे हुए इस घृणित प्रस्ताव को देख कर राजकुमार कुणाल आश्चर्य चकित हो गया। उसने अत्यन्त नम्रता के साथ तिष्य-रक्षिता को उसके मातृत्व की स्मृति दिलाते हुए क्षमायाचना की। और आगे से इस प्रकार का अनुचित प्रस्ताव फिर न करने की प्रार्थना की।

काम भावना से पीड़ित तिष्य-रक्षिता कुणाल के इस इनकार पर क्रोध से आग बबूला हो गयी और उसने कुणाल से भयंकर बदला लेने का संकल्प कर लिया।

उस समय के पश्चात् राजकुमार कुणाल तक्षशिला का शासक बना कर वहाँ के विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा गया। इधर सम्राट् अशोक संयोग से बीमार पड़ गये। रानी तिष्यरक्षिता ने बीमारी की उस अवस्था में उनकी प्राणपण से सेवा की और उसके फलस्वरूप सम्राट् अशोक ने उसे इच्छानुसार वर माँगने को कहा। तिष्य-रक्षिता ने उस वरदान में सम्राट् की राजमुद्रा प्राप्त की और उस राजमुद्रा से अंकित एक पत्र तक्षशिला के मंत्रियों

को भेजा, जिसमें कुणाल की आँखें निकाल लेने का आदेश था।

मंत्री लोग इस भयंकर आदेश को देखते ही आश्चर्य-चकित हो गये, क्योंकि राजकुमार कुणाल सम्राट् अशोक का अत्यन्त प्रियमात्र और तक्षशिला की जनता में अत्यन्त लोक-प्रिय था। फिर भी राजाज्ञा के फलस्वरूप राजकुमार की दोनों आँखें निकाल दी गयीं।

जब यह बात सम्राट् अशोक को मालूम हुई, तो वह अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने रानी तिष्य-रक्षिता को जीवित जला देने की आज्ञा दी।

आँखें निकाले जाने के बाद भी कुणाल जीवित रहा और सम्राट् अशोक के पश्चात् राजगद्दी का अधिकारी हुआ मगर नेत्र विहीन होने से उसकी पत्नी कञ्चन माला से उत्पन्न उसका पुत्र सम्प्रति राजकाज देखने लगा। बाद में कुणाल बौद्ध दीक्षा ग्रहण कर ली।

कुणाल तक्ष शिला के शासक के रूप में बहुत ही लोक प्रिय रहा। उसका सम्बन्ध कश्मीर से भी बहुत अधिक था जिसका वर्णन 'राज तरंगिणी' में भी पाया जाता है।

कुतुबुद्दीन ऐबक

भारतवर्ष में गुलाम राजवंश का संस्थापक, देहली का सम्राट कुतुबुद्दीन ऐबक। जिसका शासन काल शहाबुद्दीन गौरी के प्रतिनिधि के रूप में सन् ११९२ से १२०६ तक और स्वतंत्र बादशाह के रूप में सन् १२०६ से १२१० तक रहा।

कुतुबुद्दीन का जन्म टर्की के एक गुलाम के घर हुआ था। कई स्थानों पर गुलामों के बाजार में बिकते-बिकते अन्त में यह किसी प्रकार शाहबुद्दीन मुहम्मद गोरी के यहाँ पहुँचा।

मुहम्मद गोरी ने इस बालक को होनहार समझ कर अच्छे मूल्य पर खरीद लिया। अपनी सेवावृति और बुद्धि-मानी के कारण यह बहुत जल्दी मुहम्मद गौरी का प्रियपात्र बन गया और मुहम्मद गौरी के द्वारा किये गये भारतीय आक्रमणों में इसने बड़ी बहादुरी दिखलाई। इससे खुश होकर मुहम्मद गोरी ने इसे अमीर-ए-आखुर की सम्मान-सूचक पदवी देकर सेना के विश्वास पात्र अफसरों में नियुक्त कर दिया।

सन् ११९२ में मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज चौहान के साथ अन्तिम और निर्णायक युद्ध किया। इस युद्ध में मुहम्मद गौरी की विजय हुई और पृथ्वीराज को मारकर उसने पहले पहल भारतवर्ष में मुसलमानी साम्राज्य का सूत्रपात किया। इसके पहले जितने भी मुसलमान आक्र-मणकारी यहाँ पर आये थे। सब तोड़, फोड़, विध्वंस और लूटमार करके वापस अपने देश चले गये थे। किसी ने यहाँ स्थायी रूप से शासन जमाने का प्रयत्न नहीं किया।

मुहम्मद गोरी ने साम्राज्य की स्थापना कर उसपर कुतुबुद्दीन को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर दिया।

तबकात-इ-नासिरी के अनुसार कुतुबुद्दीन ने अधिकार हाथ में आते ही आक्रमण पर आक्रमण करके उत्तरी भारत के कई हिस्सों को अपने राज्य में मिला लिया तथा रणथम्भोर, मेरठ, इत्यादि कई स्थानों पर विजय प्राप्त कर ली। कुतुबुद्दीन की इन सफलताओं को देखकर मुहम्मद गौरी ने सम्पूर्ण जीते हुए प्रदेश की सम्पूर्ण बागडोर, कुतुबुद्दीन को सौंप दी और तबकात-ई-नासिरी के अनुसार वह कोहराम के किले में रहने लगा। कोहराम का किला कौन सा है इस बात का ठीक-ठीक पता इस समय नहीं चलता। इसके बाद सन् ११९३ में उसने दिल्ली पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। सारे शहर के मन्दिरों को तोड़कर मसजिदें बनवायी और वहीं पर अपनी राजधानी स्थापित करली।

इसके बाद कुतुबुद्दीन ने सन् ११९४ में गुजरात पर और सन् १२०२ में बुन्देल खंड पर आक्रमण करके चन्देलों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और कालिंजर के किले को लूटकर वहाँ की अटूट सम्पति को देहली ले आया।

सन् १२०६ में मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गई और उसके कोई सन्तान न होने से कुतुबुद्दीन सुलतान की उपाधि धारण करके भारत का सार्वभौम शासक बन गया।

अपने शासन काल में कुतुबुद्दीन ने कई हिन्दू मन्दिरों को गिराकर उनपर मसजिदों का निर्माण करवाया। इन

मसजिदों में "कुव्वन-उल-इसलाम' नामक जुमा मसजिद कुतुब मीनार के निकट बनाई गई है। जो एक विशाल हिन्दू मन्दिर को तोड़कर बनाई गई थी। स्वयं कुतुबमीनार भी किस हिन्दू कीर्ति स्तम्भ के ऊपर बनाई गई है। ऐसा ऐसा कई इतिहासकारों का मत है।

इस प्रकार सबसे पहले भारत वर्ष में मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना का गौरव कुतुबुद्दीन को प्राप्त है। कुतुबुद्दीन की मृत्यु सन् १२१० में घोड़े पर से गिर जाने के कारण लाहोर में हुई।

कुतुबुद्दीन मुबारक

अलाउद्दीन खिलजी का तीसरा पुत्र, दिल्ली का बादशाह, जिसका शासन काल सन् १३१६ से १३२० तक रहा।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में मलिककाफूर काफी शक्तिशाली हो गया था और ऐसा समझा जाता है कि उसी के षड्यन्त्र से अलाउद्दीन को अन्तिम समय में जहर देकर समाप्त किया गया था।

मलिक काफूर बड़ा महत्वाकांक्षी था। अपनी महत्वाकांक्षाओं को चरितार्थ करने के लिए उसने बड़े लड़कों का हक मार कर षड्यंत्र के द्वारा अलाउद्दीन के सबसे छोटे लड़के को गद्दी पर बैठा दिया और स्वयं शासन का सर्वेसर्वा बन बैठा। उसके बाद अलाउद्दीन के दूसरे लड़कों को कैद करके उनमें से एक दो की आँखें फुड़वा दीं।

मगर किसी कौशल से अलाउद्दीन का तीसरा पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारक जेल से निकल भागा, और जब मलिक काफूर की उसके दुश्मनों ने हत्या कर दी। तब यह आया और अपने छोटे भाई बादशाह का संरक्षक बना दिया गया।

कुछ समय बाद कुतुबुद्दीन मुबारक ने अपने छोटे भाई को अन्धा कर दिया और स्वयं सन् १३१६ में कुतुबुद्दीन मुबारक की उपाधि धारण कर सिंहासन पर बैठ गया। इस्लाम धर्म के संरक्षक के रूप में इसने "अल वासिक-बिल्लाह" की उपाधि ग्रहण की।

मगर इसके बाद ही सत्ता के मद में आकर यह ऐशोआराम में लिप्त हो गया और शासन का सारा भार खुसरो खाँ नामक अपने एक विश्वास पात्र सरदार को सौंप दिया। खुसरो खाँ ने स्वयं सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित हो अपने एक साथी के द्वारा सन् १६२० में उसकी हत्या करवायी।

कुतुबशाह मुहम्मद कुली

गोलकुण्डा का प्रसिद्ध राजा, उर्दू भाषा का पहला कवि, जिसका शासन काल सन् १५८० से सन् १६११ तक रहा।

उस समय दक्षिण में बहमनी सुलतानों का वैभव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। उनके वैभव और ऐश्वर्य के समाचारों से आकर्षित होकर सुलतान कुली नामक आक कवीनलु जाति का एक मुसलिम सरदार सुलतान मुहम्मद शाह के दरबार में पहुँचा। मुहम्मद शाह ने इसे होनहार समझ कर अपना कृपा पात्र बना लिया। और इसकी कार्य दक्षता और वीरता से प्रभावित होकर इसे "कुतुबुलमुल्क" की पदवी इनायत करके तैलंगाने का सूबेदार बना दिया।

सन् १५१६ में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो जाने पर इसने कुतुबशाही की पदवी धारण कर अपने आपको सुलतान घोषित कर दिया और गोलकुण्डा को राजधानी बनाकर स्वतन्त्रता पूर्वक राज्य किया। सन् १५४३ में इसके पुत्र जमशेद ने जहर देकर इसको मार डाला और स्वयं सात वर्ष राज्य किया। जमशेद के बाद उसका भाई इब्राहीम सुलतान हुआ जिसने सन् १५८० तक राज्य किया।

मुहम्मद कुली कुतुब शाह इसी सुलतान इब्राहीम का पुत्र था जो अपने पिता की मृत्यु होने पर सन् १५८० में गोलकुण्डा की गद्दी पर बैठा।

बीजापुर से अपनी दुश्मनी का अन्त करने के उद्देश्य से इसने अपनी बहन "मलकैजमा" का विवाह बीजापुर के सुलतान इब्राहीम अदिल शाह से करके दोनों राज्यों की परम्परागत दुश्मनी का अन्त कर दिया।

शान्ति स्थापना हो जाने पर इसने राज्य की उन्नति करने की ओर ध्यान दिया और बहुत से स्कूल, मसजिदें तथा इमारतों का निर्माण करवाया।

हैदराबाद नगर की स्थापना

मुहम्मद कुली का प्रेम "भागमती" नामक एक सुन्दर नर्तकी से था। इसी भागमती की स्मृति में इसने

"भाग नगर" नामक एक नया नगर बसाया जो आगे चल कर हैदराबाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध इतिहास लेखक फरिश्ता ने अपने ग्रन्थ में इस नगर की बड़ी प्रशंसा लिखी है। इस नगर के बड़े-बड़े महलों को जिसे सुलतान मुहम्मदकुली ने बनाया था—देख कर फ्रेञ्च यात्री टैवनिग्रर ने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। उन्होने लिखा था कि "बागो के बड़े बड़े वृक्ष जो भिन्न-भिन्न मरातिबों में लगे हुए हैं उनके बोझ को ये छतें किस प्रकार सम्भाले हुए हैं।"

मुहम्मद कुली का कविता प्रेम

मुहम्मद कुली कुतुबशाह सुलतान होने के साथ साथ बड़े साहित्य प्रेमी और स्वयं कवि थे। उनका दरबार दूर दूर के साहित्यकारों और कवियों से भरा रहता था। उर्दू के प्रथम कवि होने का सम्मान इनको प्राप्त है। इनके दीवान की हस्तलिखित प्रति इस समय हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह पुराने समय के बढ़िया कागज पर नसख चाल के अक्षरों में लिखी हुई है। इस संग्रह में लगभग अठारह सौ पृष्ठ हैं। हिजरी सन् १०२५ में यह संग्रह हैदराबाद में सुरक्षित किया गया।

इस दीवान की भूमिका से मालूम होता है कि मुहम्मद कुली ने ५०००० से अधिक शेरो की रचना की थी। इस दीवान में मसनवी, कसीदे, तरजीह बन्द, फारसी मर्सिए, दक्खिनी मर्सिए, गजल और रुबाइयाँ सम्मिलित है।

उर्दू के प्राथमिक युग के कवि होने के कारण यद्यपि इनकी कविताएँ बहुत ऊँचे दर्जे की नहीं हैं फिर भी वे हीन श्रेणी में किसी भाति नहीं रक्खी जा सकती। अपने युग के प्रथम कवि के रूप मे उनकी कविताएँ बहुत अच्छी कही जावेंगी। फारसी कवियों की तरह इनकी कविताओ मे शराब और साकी का जिक्र स्थान-स्थान पर आता है। इनकी कविता का नमूना—

कुफर रीत क्या और इसलामरीत—
हर एक रीत में इश्क का राज है,
उनींदी सुजनैन तुम याद सेती—
कहो तुम नयन में है कां की खुमारी।
म्पूरन है तुम जोत सी सब जगत—
नहीं खाली है नूर ये कोई शे,
तुम्हारा मयां होना भुंज चूक ऊपर—
कि मैं बाली हूँ और नादां बिचारी।

(ब्रजरत्न दास—उर्दू साहित्य का इतिहास)

कुतुबशाह मोहम्मद

गोलकुण्डा का राजा, मोहम्मद कुली कुतुब शाह का भतीजा और दामाद जिसका शासन काल सन् १६११ से १६२५ तक रहा।

मुहम्मद कुली कुतुब शाह की मृत्यु के पश्चात् कुतुब शाह मोहम्मद बीस वर्ष की अवस्था में सन् १६११ में गोलकुण्डा की गद्दी पर बैठा। यह धर्म-निष्ठ और साहित्य प्रेमी व्यक्ति था। इमारतों को निर्माण करवाने का इसे बड़ा शौक था। इसने फारसी तथा दखिनी उर्दू में एक २ दीवान की रचना की थी। कविताओं पर अपना उप नाम "जिले अल्लाह" रखता था। सन् १६२५ में इसकी मृत्यु हो गई।

कुतुबुद्दीन

अरबी भाषा का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी जिसका जन्म सन् १३१० में शीराज में (ईरान) में हुआ था।

कुतुबद्दीन अरबी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक और ज्योतिषी नसीरुद्दीन का शिष्य था जो प्रसिद्ध आक्रमण कारी 'हलाकू' का समकालीन था। इसने दर्शन, चिकित्सा और ज्योतिष पर कई ग्रन्थो की रचना की मगर इसकी विशेष ख्याति विज्ञान सम्बन्धी एक विश्वकोष की रचना के कारण हुई।

कुतुबमीनार

दिल्ली मे महम्मूद गोरी के सेनापति कुतुबद्दीन ऐबक के द्वारा निर्मित विशाल विजय-स्तम्भ।

बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में शाहबुद्दीन गोरी अन्तिम लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर अपने नव स्थापित सम्राज्य की बागडोर अपने सेनापति कुतुबद्दीन ऐबक देकर अपने देश लौट गया। इस्लाम की इस विजय

के स्मारक में देहली के समीप मेहरौली में कुव्वत-उल-इस्लाम नामक विशाल मसजिद की स्थापना भी हो चुकी थी।

मगर कुतुबद्दीन की इच्छा इससे भी बढ़िया-जो दुनिया में अपने ढङ्ग का अद्भुत हो-एक स्मारक बनाने की थी। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने एक महान् विजय स्तम्भ के रूप में एक भव्य मीनार तैयार करने की योजना बनाई। जो पूरी होने के पश्चात् उसी के नाम पर "कुतुब मीनार" के नाम से प्रसिद्ध हुई।

जिस समय इस मीनार का पहला मंजिल तैयार हुआ उसी समय कुतुबद्दीन की मृत्यु हो गई। तब उसके दामाद "अल्तमश" ने जो उसका उत्तराधिकारी भी था, इस मीनार पर तीन मंजिल और बनाकर, उसको एक गुम्बजनुमा छतरी से ढक कर पूरा किया। आज यह स्मारक दुनिया की सुन्दरतम वस्तुओं में से एक है।

सन् १३६८ में कुतुब मीनार पर बिजली गिरने से उसका गुम्बज टूट फूट गया और उसे भारी नुकसान पहुँचा। तब तत्कालीन बादशाह फिरोज शाह तुगलक ने-जो बड़ा कला प्रेमी भी था—इस मीनार की बड़े मनोयोग से मरम्मत करवाई। उसने उसकी चौथे मंजिल को कुछ छोटी कर एक मंजिल और बनवाई और उसके ऊपर गुम्बज का निर्माण करवाया। और इसमें लाल पत्थर की जगह सफेद पत्थर का उपयोग किया। जिसके फलस्वरूप कुतुब-मीनार चार मंजिल की जगह पाँच मंजिला हो गयी और उसकी कुल ऊंचाई २३८ फुट हो गई। जिस पर ऊपर जाने के लिए ३७६ चक्करदार सीढ़ियां चढ़नी पड़ती है। इसके बाद सन् १५०३ में सिकन्दर लोदी ने भी एक बार इसकी मरम्मत करवाई।

सन् १८०३ में देहली में भूचाल आया। जिससे इस मीनार को काफी नुकसान पहुँचा और इसकी छतरी नीचे आ गिरी। तब अंग्रेजी सरकार ने इसकी मरम्मत का भार सैनिक इंजीनियर मेजर स्मिथ को सौंपा। सन् १८२८ में इसका पुनर्निर्माण पूरा हुआ। मगर अंग्रेज इंजीनियर की कल्पना से निर्मित इसकी नवीन छत्री प्राचीन कला से मेल नहीं खा सकी। तब सन् १८४८ में वह छतरी बदल दी गई।

वैसे यह मीनार कुतुबद्दीन के स्मारक के रूप में ही आज संसार में पहचानी जाती है मगर ऐतिहासिक परम्परा में यह मत सर्वमान्य नहीं है। कुछ जिम्मेदार इतिहासकारों का मत है कि इस मीनार का श्रीगणेश राजपूतों के द्वारा पृथ्वीराज चौहान के दादा वीसलदेव-विग्रहराज के समय में हुआ जो कि एक महान् विजेता के साथ २ स्थापत्य कला का प्रेमी भी था। उसने अनंगपाल तोमर को हराकर दिल्ली का राज्य प्राप्त किया और अपनी इस विजय के स्मारक में इस विजय-स्तम्भ का निर्माण प्रारम्भ किया। बाद में इसी अधूरे स्तम्भ पर और मंजिलें चढ़ाकर अल्तमश ने उसे पूरा करवाया।

एक दंत कथा यह भी है कि पृथ्वीराज चौहान की एक कन्या थी। उसका नियम था कि जबतक वह यमुना दर्शन नहीं कर लेती तब तक अन्न जल ग्रहण नहीं करती थी। उसकी सुविधा के लिए पृथ्वीराज ने एक स्तम्भ निर्माण करवाया जिसपर चढ़कर वह वहीं से यमुना दर्शन कर लेती थी। आगे जाकर यही स्तम्भ कुतुब मीनार की पहली मंजिल बना। इस मीनार की निर्माण शैली में बहुत से ऐसे चिन्ह पाये जाते हैं जो हिन्दू स्थापत्य कला से बहुत मिलते जुलते हैं। इससे ऐतिहासिकों के उपरोक्त अनुमान को बल मिलता है।

जो भी हो आज तो यह मीनार गुलाम वंश के बादशाह कुतुबद्दीन ऐबक का नाम अमर करती हुई संसार के सर्वश्रेष्ठ स्थम्भों में एक मानी जाती है।

कुतुबशाह अब्दुल्ला

गोलकुण्डा का राजा, मुहम्मद कुतुबशाह का पुत्र जिसका शासनकाल सन् १६२६ से सन् १६७२ तक रहा।

अब्दुल्ला कुतुबशाह अपने पिता की मृत्यु पर केवल बारह वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। कहने को इसने ४६ वर्ष राज्य किया। मगर वह नाममात्र का राजा था। राज्य का वास्तविक शासन इसकी माता हयातबख्श बेगम करती थी। सन् १६६६ में हयातबख्श बेगम की मृत्यु हो जाने पर उसके सबसे बड़े दामाद सैय्यद अहमद ने छः वर्ष तक राज्य का संचालन किया। सन् १६५६ में

औरंगजेब की चढ़ाई पर अब्दुल्ला कुतुबशाह ने उससे सन्धि कर ली और अपनी दूसरी पुत्री का विवाह औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद सुल्तान से कर दिया। अब्दुल्ला कुतुबशाह कला तथा साहित्य का बड़ा प्रेमी था और स्वयं भी फारसी तथा दखिनी उर्दू में कविता करता था कविता में इसने अपना उपनाम "अब्दुल्ला" रक्खा था।

कुनबी (कुरमी)

उत्तम कृषि कार्य्य के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाली एक परिश्रमशील जाति, जिसका विस्तार भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में पाया जाता है। कूर्मवंशीय क्षत्रियो में इस जाति की गणना होती है।

प्रान्त भेद से इस जाति के लोगों की सभ्यता, रहन-सहन और सामाजिक प्रथाओं में भी बहुत अन्तर हो गया है। मगर एक बात के अन्दर सारे देश में इस जाति में एक रूपता पाई जाती है और वह है कृषि कार्य्य में इस जाति की विलक्षण पटुता। यह गुण सारे देश के अन्दर इस जाति में एक सा दिखलाई देगा।

उत्तर प्रदेश और बिहार के कुनबी अन्य प्रान्तों के कुनबियों की अपेक्षा अधिक सुसभ्य और प्रगतिशील समझे जाते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति भी अन्य प्रान्तों के कुनबियों से अच्छी समझी जाती है। इनमें प्रायः खरीबन्द, पतरिया, घोड़चढ़ा, जैसवार, कैवत और झुनैय्या कुनबी विशेष पाये जाते हैं।

बिहार के कुनबियों में गराइन और काश्यप गोत्र प्रचलित हैं। इनकी उपजातियो में चौधरी, मण्डल, मरार, महती, महन्त महाराय, मुखिया प्रामाणिक, रावत, सरकार, सिंह इत्यादि उल्लेखनीय है। जेसवार कुनबी कृषि कार्य में विलक्षण पटु होते हैं।

कुनबियों में शैव, शाक्त और वैष्णव तीन सम्प्रदाय देख पड़ते हैं। ब्राह्मण उनका पुरोहित्य करते हैं। हिन्दुओं के प्रधान देवी देवताओं को छोड़ कर बिहार के कुनबियों में मोकिनी मोहनी नामक एक ग्राम्य देवी की पूजा भी होती है।

छोटा नागपुर के कुनबी गोसांइ, राय, घाट, ग्रामेश्वरी, छिन्नकेशरी, बीरम देवी, सात वाहनी और महामाया की पूजा करते हैं। दशहरे के दिन ये हल की पूजा करते हैं। पौष संक्रान्ति के उत्सव को ये लोग "अखन-यात्रा" कहते हैं और इस त्यौहार को बड़े उत्साह से मनाते हैं।

राज स्थान और मध्य प्रदेश में यह जाति कुलमी या कुरमी के नाम से प्रसिद्ध है। इन प्रान्तों में भी इस जाति की विलक्षण कृषि-पटुता प्रख्यात है। बंजर से बंजर जमीन को दिन रात मेहनत करके हरी, भरी उपजाऊ बना देना इस जाति के लिये बायें हाथ का खेल है। इन प्रान्तों में यह जाति उजले और मैले इन दो भागों में बँटी हुई है। उजले कुलमियों की सभ्यता ऊँची और रहन सहन साफ होता है। ये लोग मांस और मदिरा का सेवन नहीं करते।

कुछ समय पहले तक राज स्थान और मध्य प्रदेश के कुलमियों की विवाह प्रथा बड़ी विचित्र थी। इनके विवाह लग्न बारह वर्ष में केवल एक बार जब कि सिंह राशि पर सूर्य्य आता था (सिंहस्थ वर्ष) और जब कि हिन्दुओं की दूसरी सब जातियों में विवाह की मनाई रहती थी इनके लग्न होते थे। उस वर्ष एक वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक के जितने भी लड़के लड़की होते थे सबके विवाह एक साथ कर दिये जाते थे क्योंकि फिर बारह वर्ष तक लग्न का कोई अवसर नहीं मिलता था। अब यह प्रथा बन्द हो गई है ऐसा मालूम पड़ता है इस जाति में तलाक प्रथा और विधवा विवाह प्रचलित है।

कुनैन

मलेरिया ज्वर को नष्ट करने वाली प्रसिद्ध वस्तु जो सिनकोना नामक वृक्ष को छाल से प्राप्त की जाती है।

आज से करीब चार सौ वर्ष पहले मानवी दुनिया कुनैन और सिनकोना के गुणों से अपरिचित थी। सिनकोना के ज्वर नाशक गुण का पता सबसे पहले लेडी सिंकन नामक एक स्पेनिश महिला को लगा और उन्हीं के नाम से यह वृक्ष 'सिनकोना' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ऐसा कहा जाता है कि जब लेडी सिन्कन अपने पति के साथ पेरू में रहती थी तब उनके ऊपर मलेरिया ज्वर का आक्रमण हुआ। उस समय उन्होंने लोकसा के कोरीजिडर के द्वारा भेजी हुई सिनकोना की छाल का

व्यवहार किया, जिससे उनका मलेरिया ज्वर दूर हो गया। और उनको इसकी ज्वरनाशक शक्ति पर विश्वास हो गया। उन्होंने वहां से बहुत सी छाल अपने कई रिश्तेदारों के पास स्पेन में भी भेजी जिसके कारण इसकी धाक स्पेन में भी जम गयी। स्पेन से इसके गुणों की धाक इटली में पहुँची और वहां से जे० सूइट्स के द्वारा फ्रांस और इंगलैंड में इसका प्रचार हुआ। इंगलैंड में प्रचारित होने के बाद अंग्रेज इसको भारतवर्ष में लाये।

सन् १८२० ई० में रसायन शास्त्री पेलेटिअर ने इसकी छाल के उपक्षार को अलग किया जो 'कुनैन' कहलाया। कुनैन के निकल जाने से इसका खर्चा इतना अधिक बढ़ा कि यह भय होने लगा कि कहीं अमेरिका के सिनकोना वृक्ष का भंडार खतम न हो जाय। इसलिये दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों में भी इसकी खेती का प्रयत्न किया गया। सन् १८६० ई० में भारत सरकार ने अपने यहाँ इसकी खेती प्रारम्भ की। यहाँ इस वृक्ष की खेती में बहुत बड़ी सफलता मिली। जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी राज्य के समय में इस देश में कुनैन की दो बड़ी बड़ी फैक्टरियाँ कायम हुई। जिनमें से पहली दार्जिलिंग जिले के मुंगपू नामक स्थान पर और दूसरी ऊटकमंड के पास नेडवेट्टम नामक स्थान पर स्थापित हुई। ये दोनों फैक्टरियाँ करीब ७० हजार पौंड कुनैन प्रति वर्ष तैयार करने लगीं।

सिनकोना की अनेक जातियों में भारत वर्ष के अन्तर्गत सिनकोना आफिसिनेलिस, सिनकोना केलिसिया, सिनकोना सक्सीरुब्रा, सिनकोना रोबुस्टा और सिनकोना वेजरेना नामक जातियाँ सफलता पूर्वक लग गयी हैं।

इन तमाम जातियों में से सिनकोना सक्सीरुब्रा एक ऐसी जाति है, जो सबसे कम परिश्रम में लग जाती है और जिसमें सबसे अधिक कुनैन पाया जाता है। यहाँ तक कि इसमें १० प्रतिशत तक उपक्षार देखने में आता है। यह वृक्ष दक्षिण हिन्दुस्तान में ४५ सौ से लेकर ६ हजार फीट की ऊँचाई तक सतपुड़ा की पहाड़ियों पर तथा दार्जिलिंग जिले में कई स्थानों पर बहुतायत से पैदा होता है।

सिनकोना की छाल में कुनैन, सिनकोनानाइन, सिनकोनिडाइन, क्विनीडाइन और एमारफस नामक पाँच प्रकार के उपक्षार पाये जाते हैं। कुनैन के अतिरिक्त शेष चार उपक्षार भी मलेरिया ज्वर को नष्ट करने में अत्यन्त उपयोगी पाये गये हैं और ये कुनैन से सस्ते भी पड़ते हैं।

संसार के अन्दर मलेरिया ज्वर को नष्ट करने के लिये अब तक जितनी वानस्पतिक और खनिज औषधियों का आविष्कार हुआ है, उनमें कुनैन सर्व श्रेष्ठ है। इस औषधि के देने के पूर्व रोगी को जुलाब देने से शीघ्र फायदा होता है। इसके साथ यकृत की क्रिया बढ़ाने वाली औषधियाँ मिलाकर देने से अच्छा लाभ होता है। क्योंकि पित्त की क्रिया व्यवस्थित हुए बिना कुनैन शरीर में अच्छी तरह जज्ब नहीं होती और यकृत को उत्तेजना देने वाली औषधियाँ पित्त की क्रिया को व्यवस्थित कर देती हैं।

मलेरिया के सिवाय टाइफाइड इत्यादि दूसरे प्रकार के ज्वरों में कुनैन से कोई लाभ नहीं होता।

कुनैन की छोटी मात्रा आमाशय की पाचन क्रिया को सुधारती है, मगर बड़ी मात्रा में या लगातार कई दिनों तक देने से यह पाचन-क्रिया को बिगाड़ती है। कान में बहरापन और खून में गरमी पैदा करती है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के उपद्रव पैदा करती है।

नवीन आमवात रोग में कुनैन शरीर के ताप को कम करने के लिये और सन्धियों की पीड़ा दूर करने के लिये व्यवहार में लाई जाती है। मलेरिया ज्वर से पैदा हुए स्नायु जाल के दर्द, आधा शीशी, पेट की आंतों की सूजन इत्यादि में भी कुनैन से लाभ होता है।

प्रसूति के समय में भी कुनैन अच्छा काम करती है। १० ग्रेन की मात्रा में इसको एक या दो बार देने से बच्चा आसानी से पैदा हो जाता है, मगर गर्भावस्था में इसका प्रयोग करने से गर्भपात होने का भय रहता है।

कुन्थल गिरि

मध्य रेलवे की मिरज-पंढरपुर–लाटूर लाइन पर कुर्दवाड़ी से २१ मील दूर बारसी टाउन स्टेशन है। बारसी टाउन से कुन्थल गिरि २१ मील है।

यह स्थान जैनियों का एक प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र है। यहाँ से देश-भूषण और कुल-भूषण नामक जैन-मुनि मोक्ष गये—ऐसा जैन-परम्परा का विश्वास है।

यह एक छोटा-सा पर्वत है। इसकी चोटी पर १० जैन मन्दिर बने हुए हैं। यहाँ माघ महीने में मेला लगता है। शोलापुर से भी यहां मोटर बस जाती है।

कुन्द कुन्दाचार्य्य

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के महान् आचार्य्य। समय सार, प्रवचनसार इत्यादि अमर जैन ग्रन्थों के रचयिता जिनका समय ईस्वी सन् पूर्व ८ से ईस्वी सन् ४४ तक माना जाता है। मगर इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में कुछ मतभेद भी है।

भगवान् महावीर और इन्द्रभूमि गौतम के पश्चात् जैन परम्परा में जिन पूजनीय नामों का प्रथम उच्चारण किया जाता है उनमें दिगम्बर परम्परा के अन्तर्गत कुन्द कुन्दाचार्य्य का और श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य्य स्थूल-भद्र का नाम सर्वप्रथम है। दिगम्बर परम्परा का मंगला-चरण इस प्रकार है—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतम प्रभुः
मंगलं कुन्द कुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं।

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि जैन धर्म के इतिहास में आचार्य्य कुन्द कुन्द एक महान् और दैवी तेज पूर्ण प्रतिभा को लेकर जैन परम्परा में अवतरित हुए थे।

आचार्य्य कुन्द कुन्द मथुरा के जैनाचार्य्य कुमार नन्दि या स्वामी कुमार और आचार्य्य भद्र बाहु द्वितीय को वे अपना गुरू मानते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना कुमार स्वामी ने ही की थी।

आचार्य्य कुन्दकुन्द कन्नड़ देश के कोंडकुण्ड नामक स्थान के मूल निवासी थे। यह स्थान गुण्टकल रेलवे स्टेशन से चार पांच मील की दूरी पर अभी तक विद्यमान है। इसी ग्राम के समीप पहाड़ियों पर बनी गुफाओं में इन्होंने तपस्या की थी ऐसा अनुमान किया जाता है।

तामिल देश में आचार्य कुन्दकुन्द एलाचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध थे। तामिल भाषा के संगम साहित्य के मुख्य प्रवर्तकों में ये आचार्य्य भी एक थे। तिरु वल्लुवर द्वारा संकलित तामिल भाषा के विश्व विख्यात ग्रन्थ "कुरल-काव्य" के ये मुख्य प्रणेता थे।

आचार्य्य कुन्द कुन्द ने जैन-दर्शन के मूलभूत सिद्धांत सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चरित्र की विस्तृत विवेचना, तथा जैन-तत्वज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों के पर्यालोचन में विशाल पाहुड़-साहित्य की स्वतंत्र रचना की थी। इस पाहुड़ साहित्य के अन्तर्गत ८४ पाहुड़ों का उल्लेख पाया जाता है। संभवतः जैन साहित्य की ये सर्वप्रथम लिखित कृतियाँ हैं।

आचार्य्य कुन्द कुन्द की मुख्य रचनाओं में समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, दंसण पाहुड़, बारस अणुवेक्खा, दंसण पाहुड़, चरित पाहुड़, बोध पाहुड़, मोक्ख पाहुड़, शील पाहुड़, मूलाचार, रयणसार और सिद्ध भक्ति इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

जिस समय कुन्द कुन्दाचार्य्य तपस्या के क्षेत्र में आये उस समय जैन समाज में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के भेद उग्र होते जा रहे थे। उस समय मथुरा क्षेत्र के जैनाचार्य्य इन दोनों सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में समन्वय करवा कर जैनधर्म को इस भयंकर फूट से बचाना चाहते थे। इन दोनों ही परम्पराओं से अलग रह कर मथुरा के जैन गुरू इन दोनों के बीच की कड़ी बन गये। इसी नगर के जैनाचार्यों ने सबसे पहले उस महान् "सरस्वती आन्दोलन" को जन्म दिया जिसका उद्देश्य परम्परागत जैन-आगमों का संकलन करवाना और जैनियों में साहित्य रचना का प्रचार करना था।

आचार्य्य कुन्द कुन्द भी इस सरस्वती आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे। अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के द्वारा उन्होंने इस आन्दोलन के प्रचार में अपना सक्रिय योग प्रदर्शन किया।

आचार्य्य कुन्द कुन्द केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के समन्वय के ही पक्ष में नहीं थे प्रत्युत भारत में प्रचलित अन्य मत मतान्तरों में भी समन्वय करने का उन्होंने प्रयास किया। वे केवल जैन सिद्धान्तों के ही उद्भट विद्वान नहीं थे प्रत्युत हिन्दू दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा अन्य दर्शनों का भी उन्होंने गहरा अध्ययन किया था।

आचार्य्य कुन्दकुन्द और आचार्य्य हेमचन्द्र का नाम दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज के उन प्रसिद्ध आचार्यों में लिया जाता है, जिन्होंने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य से तत्कालीन जैन परम्पराओं को एक नया मोड़

दिया। आचार्य्य कुन्दकुन्द को "परम संग्रहावलम्बी अभेद वाद" का प्रतिपादक माना जाता है। इन्होंने जैन धर्म के प्रसिद्ध सिद्धान्त "स्याद्वाद्" और "अनेकान्तवाद" की विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या करके द्रव्य और पर्याय के सम्बन्ध में निश्चयनय और व्यवहारनय के भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की परम्परा को काफी महत्व दिया।

कुन्द कीर्त्ति आचार्य

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के एक आचार्य्य, जिनका समय ई० सन् १०० के लगभग था। और ये दक्षिण खण्ड में हुए थे।

आचार्य्य कुन्द कीर्त्ति कुन्दकुन्दा चार्य्य के शिष्य थे मगर इनके दीक्षा गुरु माघनन्दि के पट्टधर जिन चन्द्र थे।

आचार्य्य कुन्द कीर्त्ति के समय में दक्षिण में आन्ध्र सातवाहन राजवंश का सितारा उरूज पर था। इन्हीं कुन्द कीर्त्ति ने उस समय संकलित जैन आगमों पर सर्व-प्रथम टीका लिखी। इन कुन्द कीर्त्ति का ही दूसरा नाम सम्भवतः पद्मनन्दि था और नन्दि संघ की पट्टावलि में इन्हीं का उल्लेख जिन चन्द्र के पश्चात् हुआ है।

कुप्रिन

(Aleksander Kuprin)

रूस का प्रसिद्ध उपन्यासकार जिसका जन्म सन् १८७० में और मृत्यु सन् १९३९ में हुई।

रूस जापान युद्ध के समय में कुप्रिन का "यात्रा" नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ जिससे उसकी बड़ी कीर्ति हुई। उसका दूसरा उपन्यास डुएला भी बहुत मशहूर हुआ। रूसी क्रान्ति के पश्चात् भी इस लेखक ने अपनी रचनाएँ बदस्तूर जारी रक्खीं मगर समय के अनुसार उसको अपने विचारों में परिवर्तन करना पड़ा।

कुब्ज विष्णुवर्द्धन

भारतवर्ष के दक्षिणा पथ में आन्ध्र देश का चालुक्य वंशी नरेश जिसका शासन सन् ६१५ में प्रारम्भ हुआ।

कुब्ज विष्णुवर्द्धन चालुक्यवंश के प्रसिद्ध सम्राट् पुलकेशी द्वितीय का छोटा भाई था। सन् ६१५ में सम्राट् पुलकेशी ने आन्ध्र प्रदेश को विजय कर कुब्ज विष्णुवर्द्धन को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। "वेंगि" इस प्रदेश की राजधानी थी।

पुलकेशी के अन्तिम वर्षों में ही वेंगि के चालुक्य अपनी मूल शाखा से स्वतंत्र हो गये थे। नाममात्र के लिये वे उसके उत्तराधिकारियों के अधीन रहे।

कुब्ज विष्णुवर्द्धन से प्रारम्भ होनेवाले इस चालुक्य वंश में लगभग २७ राजा हुए और उन्होंने ५०० वर्ष तक राज्य किया। कुब्ज विष्णुवर्द्धन स्वयं बड़ा योग्य और कुशल शासक था। उसने हीं इस राजवंश की नींव को काफी सुदृढ़ कर दी थी।

कुबिलाई खान

मंगोल राजवंश का एक सुप्रसिद्ध शासक चीनका सम्राट्। जिसने आगे चल कर चीन में युआन-राजवंश की स्थापना कर दुनिया के एक महान् और विस्तृत साम्राज्य का संचालन किया। इसका शासन काल सन् १२६० से १२९४ तक रहा।

कुबिलाई खान, सुप्रसिद्ध मंगोल आक्रमणकारी चंगेज खां के सबसे छोटे पुत्र तू-ली का दूसरा पुत्र था। अपने भाई मुङ्-खो की मृत्यु होने पर इसने कुरीलताई के निर्णय की प्रतीक्षा न कर तुरन्त अपने को खाकान घोषित कर दिया। उधर मंगोल राजवंश के कुछ सरदारों ने कुबिलाई खां को चीनियों का पक्षपाती समझ कर जल्दी में अरिगबू नामक व्यक्ति को खाकान घोषित कर दिया। कुबिलाई खान ने भी इसके प्रतिकार में कुरीलाताई की परिषद् टोलन नार के निकट शाङ्-तू में बुलाकर भारी, महोत्सवके बीच अपने को खाकान घोषित करवा लिया।

इस घटना से मंगोल राजवंश में, एक युद्ध की आग भड़क उठी जिसके परिणाम स्वरूप सन् १२६१ में अपने प्रतिद्वन्द्वी को दबाने के लिये कुबिलाई को स्वयं मंगोलिया पर आक्रमण करना पड़ा। इस लड़ाई में उसने अपने प्रतिद्वन्दी अरिग्बू को पराजित कर दिया। और अपने आपको ईश्वर का पुत्र घोषित कर दिया। इसी वर्ष उसने

शांग-तू में अपने रहने के लिए एक विशाल राजप्रसाद और कई बौद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाया। मंगोल सम्राटों में यही पहला सम्राट् था जिसने सांस्कृतिक वार्तो के महत्व को समझा था।

शासन पर आते ही महत्वाकांक्षी कुबिलाई खान ने अपनी राजधानी मंगोलिया के कारा कोरम स्थान से हटा कर पेकिंग में स्थापित की। जिससे राज्य का प्रबन्ध सुविधापूर्वक हो सके। सन् १२६२ में उसने एक विशाल ताइ-न्याऊ (धर्मशाला) का निर्माण भी करवाया।

कुबिलाई का छोटा भाई खलाकू या हलाकू उस समय ईरान राज्य का गवर्नर था। वह आखिर तक अपने भाई का अनुगामी रहा और अपने राज्य को बृहद् मंगोल साम्राज्य का अंग मानता रहा। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ कि ईरान और मेसोपेटोमिया जैसे मुस्लिम दुनिया के गढ़ में भी हलाकु वंश पीढ़ियों तक अपने को बौद्ध रखने की कोशिश करता रहा। सन् १२६० में हलाकू ने अपने भाई के नाम पर नोट भी चलाये, जो दुनिया का सबसे पुराना कागजी नोट था।

चीन के शुङ्ग वंश पर अनेक प्रहार होने पर भी अभी उसका खात्मा नहीं हुआ था। सन् १२६७ ई० में कुबीलेई ने शुङ्ग वंश का उच्छेद करने के लिये दक्षिणी चीन के बचे हुए हिस्से पर आक्रमण किया। इस आक्रमण मे सबसे बड़ी लड़ाई सियांग-फू क्षेत्र में हुई। सन् १२६८ में मंगोल सेना ने उसे चारो ओर से घेर लिया। लेकिन उसे तीन साल तक नगर पर अधिकार करने में सफलता नहीं मिली। अन्त में सन् १२७४ में इस नगर पर मगोल सेना का अधिकार हुआ। सन् १२७५ मे मंगोल सेनापति बायन ने शुङ्ग वंश की राजधानी लिङ्ग-अन (हङ्ग-चाऊ) नगर पर आक्रमण किया जो उस समय चीनकी सबसे बड़ी नगरी थी। उसका घेरा सौ मील (२४ फरसक) था, नदी को आरपार करने या दूसरे कामों के लिये वहाँ बारह हजार पुल बने हुए थे। नगर बारह भागो में विभक्त था। जिसमें हर एक भाग में बारह हजार घर तथा हर घर में बीस से चालीस तक व्यक्ति रहते थे। नगर के घर अधिकतर लकड़ी के थे। राजप्रसाद में बीस बड़े बड़े हाल थे। सबसे बड़ी राजशाला खूब सजी हुई थी। उसकी दीवारों पर ऐतिहासिक दृश्य सोने से चित्रित किये हुए थे। सारे शहर में १६ लाख की आबादी थी। जिसमें ३२००० घर तो सिर्फ रंगरेजो के थे।

शुङ्ग वंश के तरुण सम्राट की अभिभाविका सम्राज्ञी ने मंगोल सेनापति के पास अधीनता सूचक प्रस्ताव के रूप में राजसिंहासन भेजा। मगर सेनापति को यह अधिकार नहीं था कि वह शुङ्ग वंश का अवशेष भी शेष रहने दे। फल स्वरूप उसने राजमाता, रानी, सम्राट् ली-युङ्ग और उनके अनुचरों को कुबिलाई खान के पास भेज दिया। कुबिलाई की खातून (रानी) ने इन सब लोगों का बड़ा सम्मान किया। इस प्रकार समूचे चीन का विस्तृत देश कुबिलाई के शासन में आ गया।

सन् १२६६ में कुबिलाई ने जापान को अधीनता स्वीकार करने के लिये पत्र लिखा था, मगर उसके उत्तर में जापान ने बड़ा अभिमान भरा उत्तर देकर कुबिलाई की माँग को ठुकरा दिया। तब कुबिलाई ने एक विशाल जहाजी बेड़ा तैय्यार करवा कर सन् १२७४ में जापान पर आक्रमण कर दिया। मगर जापानियों ने चु-सीमा की खाड़ी में कुबिलाई के जहाजी बेड़े को ऐसी शिकस्त दी कि सारा जहाजी बेड़ा नष्ट हो गया। जापान की इस भारी विजय के बाद अगले छः सौ वर्षो तक दुनियाके किसी देश ने उसकी तरफ आंख उठा कर भी नही देखा।

सन् १२८४ में बर्मा ने और सन् १२८७ में कोचीन-चीन मे मंगोल अधीनता स्वीकार कर ली।

इस प्रकार कुबिलाई ने अपने हाथो से ऐसा विशाल साम्राज्य किया। जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इतने बड़े साम्राज्य पर कुबिलाई से पहले किसी एक व्यक्ति ने शासन नहीं किया था। उसके राज्य में सारा चीन, कोरिया, कोचीन चीन, पञ्जाब की बहुत सी भारतीय भूमि, साइबेरिया से तुर्की तक का सारा देश और पोलेण्ड तथा हंगरी तक की कुछ भूमि शामिल थी।

बौद्ध धर्म की दीक्षा

कुबिलाई खां में वैसे सब धर्मों का आदर करने की भावना थी। ईसाई और मुसलमान धर्म प्रचारक भी उसके साम्राज्य में अपने धर्मों का प्रचार कर रहे थे। मगर

व्यक्तिगत रूप से उसको तिब्बत के एक दूरदर्शी तथा महान् विद्वान् सक्या महा पण्डित आनन्दध्वज के शिष्य ने बहुत प्रभावित किया और कुबिलाई ने उन्हीं को अपना गुरु बना कर उनसे बौद्ध धर्म ग्रहण किया। सन् १२६१ में कुबिलाई ने अपने गुरू को फग्-पा-लामा (आर्य्य गुरु) की उपाधि से विभूषित किया।

नवीन लिपि का निर्माण

चीनी भाषा में लिखने के लिए वर्ण माला की जगह शब्द संकेत का उपयोग होता है जिसमें अंकों की तरह कुछ सुभीते भी है लेकिन उसमें उच्चारण-संकेत के लिये कोई स्थान नहीं है। मंगोल भाषा सीरियन लिपि में लिखी जाती है मगर उसमें केवल सत्रह अठारह अक्षर होने से ठीक ठीक उच्चारण होना सम्भव नहीं।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुबिलाई खान ने अपने गुरु फग्-पा-लामा को कहकर भारतीय और उससे निकली हुई तिब्बती लिपि के आधार पर सन् १२६६ में मंगोल भाषा के लिए एक विशेष लिपि का निर्माण करवाया। सन् १२७१ में कुबिलाई ने अपने वंश का नया नाम यु-आन रक्खा जो आज भी चीन में उसी नाम से प्रसिद्ध है।

कला और विज्ञान का विकास

कुबिलाई का राज्य काल केवल राजसी तड़क भड़क और दिग्विजयों के लिए ही प्रसिद्ध नहीं था। बल्कि कला और विज्ञान के भारी विकास का भी यही समय था। उसके गणितज्ञ तू-चीने सन् १२८० में पीत नदी के उद्गम का पता लगाने का काम-चार मास में समाप्त किया। उसने शाही नहर खुदवाने का काम पूरा कराया जो पीली नदी से निकलने वाले नहरी भाग से सम्बद्ध था। उसने एक वेधशाला का भी निर्माण करवाया तथा उस समय चलने वाले पंचांग में भी संशोधन करवाया।

कुबिलाई ने सन् १२६० में सुप्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ तिब्बती त्रिपिटक अथवा कन्जूर को १०३ जिल्दों में सुवर्णाक्षरों में लिखवाया।

मंगोलों के समय से पहले ही चीनी कला का सुवर्ण युग थाङ्-काल (६१८-८१६) बीत चुका था। फिर भी मंगोल साम्राज्य में इस कला के संवर्धन का पूरा प्रयत्न किया गया। नाटक कला के विकास में मंगोल-राजवंश का बहुत अधिक हाथ रहा। संगीत, अभिनय और नृत्य इन तीनों कलाओं का जैसा समन्वय मंगोल युग में हुआ ऐसा उसके पहले कभी नहीं हुआ था। इस युग में नाटक-अभिनय के लिए बड़े सुन्दर २ रंगमंचों का निर्माण हुआ। नाटकों के लिए जो व्यवस्था और नियम इस युग में बने उससे चीनी रंगमंच को बड़ी प्रेरणा मिली। चित्र-कला में वास्तु-निर्वाचन, उसके चित्रण तथा प्रभाव में विशेष कार्य्य हुआ। मंगोलों का गतिमय शक्तिशाली जीवन चित्रों में अंकित होने लगा, और शान्त रस के दृश्य अंकित करने वाली चीनी चित्रकला ने इस युग के अनुरूप वीर और रौद्र रसके दृश्यों को अङ्कित करके एक नया मोड़ ग्रहण किया।

मार्को पोलो का वर्णन

कुबिलाई के शासनकाल पर वेनिस (इटली) निवासी पर्यटक मार्कोपोलो के यात्रा वर्णन से बहुत काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

तेरहवीं सदी में वेनिस नगर युरोप का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। वेनिस के व्यापारियों की कोठियां उस समय की सारी ज्ञात दुनिया में फैली हुई थी।

वेनिस के इन्हीं व्यापारियों में से मार्को पोलो नामक एक सत्रह वर्ष का नव युवक अपने पिता और चाचा के साथ कुबिलाई के दरबार में तेरहवीं सदी के तृतीय चरण में पहुँचा। कुबिलाई खान ने इनका बड़ा सम्मान किया।

मार्कोपोलो की प्रतिभा और योग्यता से प्रभावित होकर खान ने उस पर अनुकम्पा दिखाकर उसे साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में भौगोलिक तथा दूसरी प्रकार की खोजें करने के लिए भेजा और अन्त में उसको याङ्-चाऊ नामक एक स्मृद्ध नगर का गवर्नर बना दिया। ये लोग सत्रह साल तक चीन में रहे और वहां के रीति रिवाजों और इतिहास का मार्कोपोलो ने खूब अध्ययन किया।

उसके बाद खान से बिदा लेकर ये लोग सन् १२९५ में वापस वेनिस आये। यहां पर मार्कोपोलो ने अपना जो

यात्रा विवरण लिखा। वह यात्रा विवरण अभी तक लिखे गये सभी यात्रा विवरणों में श्रेष्ठ माना जाता है।

एक स्थान पर मार्कोपोलो लिखता है:—"सम्राट् के डाकिये और दूत पेकिङ्ग से यात्रा करते समय हर पच्चीस मील पर एक विश्राम-स्थल पाते हैं। जिसे वे लोग "घोड़ा चौकी" कहते हैं। इन विश्राम स्थलों के सभी कमरे बढ़िया कालीनों और रेशमी वस्त्रों से सजे हुए रहते हैं। अगर कोई राजा भी इस मकान में आ जाय तो वह बड़े आराम से ठहर सकता है। इन घोड़ा चौकियो में प्रत्येक चौकी पर दो सौ से लेकर चार सौ तक घोड़े तैनात रहते हैं।"

"इस प्रबन्ध से खाकान दस दिन की दूरी के समाचार एक दिन रात में पा लेता है। आदमी घोड़े पर एक दिन में दो ढाई सौ मील चले जाते हैं और इतनी ही यात्रा वे रात में भी कर लेते हैं। इन दूतों के शरीर पर एक चौड़ी पट्टी बन्धी रहती है जिसके चारों ओर घण्टियाँ लगी रहती हैं। घण्टियां दूर से ही सुनाई देती हैं। जिनके कारण उसके चौकी पर पहुँचने के पहिले ही दूसरादूत घोड़े समेत तैय्यार मिलता है। जो पहले दूत के द्वारा लाई हुई डाक और दूसरी चीजों को लेकर तुरन्त अपना घोड़ा दौड़ा देता है। और चौकी का लेखक पहले दूत को डाक की प्राप्ति की रसीद दे देता है। ये घोड़े इतने तेज भागने वाले होते हैं कि जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है।

मार्कोपोलो के अनुसार मंगोल साम्राज्य के सामाजिक जीवन में भारतीय वर्ण व्यवस्था की तरह चार विभाग रहते थे। (१) राजवंशीय मंगोल (२) तुर्क, मुसलमान और मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया के निवासी जिनके साथ मंगोलों के सामाजिक सम्बन्ध थे (३) उत्तरी चीन वाले जो किन शासन की समाप्ति पर मंगोल शासन में आये थे और (४) चौथे वर्ग में साम्राज्य में रहने वाले दक्षिणी चीनी थे जिन्होंने मङ्गोलो का प्रतिरोध किया था। इनको सबसे नीचे वर्ग में रक्खा गया था और इन्हें सरकारी नौकरियो में भरती होने का भी अधिकार नहीं था। इन चारों वर्गों के बीच कानून और न्याय में भी भेदभाव बरता जाता था। एक ही अपराध के लिए निचले वर्ग को जहां कड़ी सजा या मृत्यु दण्ड तक दिया जाता था। उसी अपराध के लिए ऊँचा वर्ग कुछ जुर्माना देकर ही छूट जाता था। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि मंगोल शासन में कन्फ्यूशस मत के अनुयायियों का स्थान सबसे नीचे या भिखमंगों की श्रेणी में रक्खा गया था।

कुबिलाई खान ने अपने और अपने सारे वंश का धर्म बौद्ध धर्म को घोषित कर दिया था और उसने अपने गुरु फग-पा लामा को तिब्बत का राज्य प्रदान किया। किन्तु उसने बौद्ध ग्रंथों के मंगोल अनुवाद का काम आगे नहीं बढ़ाया।

मंगोल सम्राट् अपने प्रति पक्षियों के लिए संसार की अत्यन्त क्रूर जाति से किसी कदर कम नहीं थे। और अपने प्रतिरोधियों और विजित जाति के लोगों का कत्ले आम कर देने में भी ये नहीं चूकते थे। फिर भी जो राजा इनके शरण में आजाते थे उनके प्रति ये दयालु रहते थे और अपने अधीन शासक बनाकर उनका राज्य उनको वापस कर देते थे।

मार्कोपोलो के अनुसार "सारे साम्राज्य में शान्ति का वातावरण था। साम्राज्य भर में लोग दिन और रात में निर्भीक होकर यात्राएं करते थे। डकैती और लूटमार का कहीं निशान भी न था।

कुबलाई खां के साम्राज्य में धार्मिक स्वाधीनता सब लोगो को थी। अपने-अपने विश्वासो के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का पालन कर सकता था। बौद्ध होते हुए भी अन्य धर्मों के लिए वह समदर्शी था।

उसके सब अधिकारियो को कड़े आदेश थे कि वे अधिकारी अपने क्षेत्र के एक एक गाँव में जाकर वहाँ की फसल और जनता की आर्थिक स्थिति की जांच करें और जो सहायता के योग्य हों उनके लिये अनाज और आवास की व्यवस्था करे। उसके सारे साम्राज्य में अस्पताल और अनाथालय खुले हुए थे।

समुद्री मार्ग से चीन का व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसके जहाज चीन का बना सामान ले जाकर दूर दूर के देशों में पहुँचाते थे और उन देशों का माल लाकर चीन में पहुँचाते थे।

मार्कोपोलो लिखता है कि "जो समृद्धि और सम्पत्ति खाकान के यहाँ देखी गई, वैसी सम्राट, राजा या राजुल के यहां नहीं देखी गयी। उसके विश्रामगारों में २ लाख से अधिक घोड़े रहते थे और उसकी राजधानी में दस हजार से ज्यादा इमारतें थीं।

इस प्रकार विश्व के इतिहास में कुबलाई खां, एक महान् सम्राट्, एक दुर्दान्त विजेता, एक सुयोग्य व्यवस्थापक और एक सुप्रसिद्ध कला प्रेमी के रूप में अंकित हुआ। सारे विश्व इतिहास में उसकी जोड़ के व्यक्तित्व बहुत कम देखने को मिलते हैं।

—(राहुल सांकृत्यायन—म० ए० का इतिहास)

कुमारप्पा

गान्धीवादी-दर्शन के सुप्रसिद्ध मर्मज्ञ और गान्धीवादी अर्थव्यवस्था के विशेषज्ञ डा० कुमारप्पा।

भारतवर्ष में गान्धीवादी तत्वज्ञान के जो दो-चार प्रवक्ता माने जाते हैं—उनमें कुमारप्पा भी अपना प्रधान स्थान रखते हैं।

महात्मा गान्धी के स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय डा० कुमारप्पा बराबर उनके साथ रहे और जब भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई तब पंडित नेहरू की सरकार ने उनको अर्थ-मन्त्री का पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया, पर डा० कुमारप्पा ने दिल्ली की रंगोनियों और चमक-दमक को ठुकराकर वर्धा से १६ मील दूर सेलदोह नामक ग्राम में एकान्त साधना करने को ही उपयुक्त समझा। मन्त्री पद का मोह उन्हें आकर्षित न कर सका।

सेलदोह ग्राम से उन्होंने ग्रामोद्योग-पत्रिका का सम्पादन करके निकालना प्रारम्भ किया। इस पत्रिका के हरेक अंक में कुछ न कुछ मौलिक और नई बात रहती थी, जिसे भारतवर्ष की कई पत्र-पत्रिकाएँ उद्धृत करती थीं।

सन् १९५८ ई० में जब वह विदेशों का दौरा कर वापस लौटे तब चीन के दौरे से वह काफी प्रभावित हुए। चीन और भारत की प्रगति में अत्यधिक अन्तर देखकर उनका दिल एक बार तड़प उठा। उन्होंने केन्द्रीय सरकार की बड़ी निर्भीकता से कड़ी आलोचना की। यही कारण है कि कुछ लोगों ने यहाँ तक कह डाला कि डाक्टर साहब तो कम्युनिस्ट हो गये हैं। आचार्य कुमारप्पा ने अपने को कम्युनिस्ट कहलाना अधिक उपयुक्त समझा, पर अपने विचारों को दबाकर रखना उचित नहीं समझा। यद्यपि उनकी लेखनी में काफी तीखापन रहता है, फिर भी दिल में किसी प्रकार की कलुषित भावना नहीं रहती। उनकी स्पष्टवादिता से नेहरू जी भी काफी प्रभावित थे।

एक बार तो डा० कुमारप्पा ने भारत सरकार की फिजूलखर्ची की अत्यन्त कठोर टीका की जो आँखें खोल देने वाली थी। उन्होंने लिखा था—

"जिस प्रकार की फिजूलखर्ची हमारी सरकार कर रही है, अगर यही रफ्तार रही तो १० वर्षों में इस देश का भगवान् ही मालिक रहेगा। दीवालिया देशों में हमारी भी गिनती होगी। अगर हमने इस दिशा में सतर्कता पूर्ण कदम नहीं उठाया तो हमें निश्चय ही भयंकर खतरों को मोल लेना पड़ेगा। जिसके परिणामों को भुगतने के लिए हमें अपनी तैयारी में अभी से जुट जाना चाहिए।

डा० कुमारप्पा ने जिन-जिन संस्थाओं में काम किया, उन संस्थाओं में ईमानदारी का वातावरण ही प्रमुख रहा। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ के कई वर्षों तक वह सिर्फ ५०) मासिक लेकर मंत्री का कार्य करते रहे। इन रुपयों में से भी कुछ बच जाता तो वह उसे भी सधन्य वाद उस संस्था को वापस कर देते थे। सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी में भी उनकी सेवाएँ बहुत महत्व पूर्ण थीं।

कुमार विष्णु

पल्लव राजवंश की दूसरी शाखा का संस्थापक तामिल प्रान्त (मद्रास) का पल्लव नरेश। जिसका समय सन् ३२५ से ३५० तक रहा। पल्लव वंश की इस दूसरी शाखा का शासन सन् ५५० तक चला।

कुमार स्वामी

बंगलोर-पूना लाइन पर हुगली स्टेशन के निकट सुंडूर नामक स्थान से ६ मील की दूरी पर स्थित एक सुप्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ स्थान।

इस क्षेत्र में क्रौञ्चगिरि नामक एक पहाड़ी पर स्वामी कार्तिक का एक भव्य मन्दिर बना हुआ है। दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्य तीर्थों में यह तीर्थ प्रधान माना जाता है।

कुमार स्वामी के निज मन्दिर में स्वामी कार्तिक की एक भव्य मूर्ति बनी हुई है। मुख्य मन्दिर के आस पास हेरम्ब अथवा गणपति का मन्दिर और ३-४ और भी मन्दिर बने हुए है।

पौराणिक परपरा के अनुसार गणेश और स्वामी कार्तिक में कुछ वाद-विवाद हो जाने के फलस्वरूप नाराज होकर स्वामी कार्तिक कैलास को छोड़ कर दक्षिण में चले आये। क्रौञ्चगिरि पर उन्होने अपना निवास कर लिया तभी से यह क्षेत्र कुमार स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कार्तिक की पूर्णिमा को यहाँ पर मेला लगता है।

कुमारपाल

गुजरात के सुप्रसिद्ध राजा, सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी—राजा कुमारपाल जिसका शासन-काल सन् ११४३ से लेकर सन् ११७४ ई० तक रहा।

सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र न था। इसलिए उसकी मृत्यु के पश्चात् राज्य के उत्तराधिकार की समस्या खड़ी हुई। भीमदेव के पुत्र क्षेमराज का वंश उत्तराधिकार का अधिकारी होता था और उस वंश में महीपाल, कीर्तिपाल और कुमारपाल नामक तीन राजपुत्र विद्यमान थे, परन्तु चूँकि यह वंश भीमदेव की चाउला नाम की वेश्या से उत्पन्न था, इसलिये सिद्धराज जयसिंह इस वंश को उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहता था।

मेरुतुंग ने लिखा है कि—"सामुद्रिक लोगों ने सिद्धराज को पहले ही कह दिया था कि तुम्हारे बाद कुमारपाल राजा होगा। तभी से सिद्धरान कुमारपाल को मरवाने का प्रयत्न करने लगा। कुमारपाल भी उसके डर से भाग गया और साधु का वेष बनाकर कितने ही वर्ष घूमता रहा। उसके बाद फिर अनहिलबाड़ा लौट कर वह आदिनाथ के उपासरे में निवास करने लगा। किसी प्रकार राजा सिद्धराज ने इसे पहचान लिया और उसको मारने के लिये उसके पीछे सिपाही लगा दिये। कुमारपाल भी वहाँ से भाग कर अपने गांव देवली चला गया, मगर राजा के सिपाही भी उसके पीछे पीछे पहुँच गये, तब वह भाग कर आलिंग नामक एक कुम्हार के घर पहुँचा। कुम्हार ने उसे अपने बर्तन पकाने वाली भट्ठी में छिपा लिया, जिससे वह बच गया और फिर वहाँ से भागा।

इस प्रकार अनेकों भयंकर कष्ट उठाता हुआ, भूख-प्यास को सहन करता हुआ और दूर-दूर देशों की यात्रा करता हुआ वह खम्भात पहुँचा और वहाँ भोजन माँगने के लिए उदयन मेहता के घर गया। जब उसे मालूम हुआ कि उदयन मेहता मन्दिर में हेमचन्द्राचार्य के पास गये है तो वह भी वहाँ पहुँच गया। हेमचन्द्राचार्य ने उसे देखते ही उसको 'समस्त भूमण्डल का राजा' कह कर सम्बोधित किया। कुमारपाल ने अपनी गरीबी को देखकर उस भविष्यवाणी को सत्य मानने से इनकार किया तो हेमचन्द्राचार्य ने उसे विश्वास दिलाते हुए कहा—

"११९९ वर्षे कार्तिक वदी दूज रवौ, हस्त नक्षत्रे यदि भवतः पट्टाभिषेको, न भवति तदातः पर निमित्तावलोक सन्यासः।"

"यदि कार्तिक कृष्ण २ रविवार को हस्त नक्षत्र में तुम्हारा पट्टाभिषेक न हुआ तो मैं आगे से भविष्यवाणी करना छोड़ दूँगा।'

इसके बाद उदयन मन्त्री से कुछ धन और आवश्यक वस्तुएँ लेकर कुमारपाल मालवे चला गया।

मालवे में ही कुमारपाल को सिद्धराज के देहान्त का समाचार मिला, और वह तत्काल गुजरात के लिए चल पड़ा। वहाँ पर अपने बहनोई कानदेव की मदद से उसको गुजरात का सिंहासन प्राप्त हो गया।

सन् ११४३ ई० में कुमारपाल ५० वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा और उसने ३१ वर्ष राज्य किया।

गद्दी पर बैठते ही कुमारपाल ने अपनी रानी भूपाली देवी को पटरानी बनायी। खंभात में सहायता करने वाले उदयन को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। उदयन के पुत्र

वाहड़ या वाग्भट्ट को मुख्य सभासद अथवा महामात्य नियुक्त किया। आलिंग कुम्हार को जिसने कष्ट के समय में उसे अपनी भट्टी में छिपाया था, उसको महाप्रधान नियुक्त करके चित्तौड़ के पास ७ सौ ग्राम जागीरी में दिये। वड़ोदरा के जिस कुलूक वनिये ने उसे खाने को चने दिये थे, उसे वड़ोदरा जागीर में दे दिया।

कुमारपाल को अपने जीवन में कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इन लड़ाइयों में शाकम्भरी या साँभर के राजा आन्न के साथ हुई लड़ाई विशेष प्रसिद्ध है।

मेरुतुंग के अनुसार मन्त्री उदयन का दूसरा पुत्र चाहड़ कुमारपाल को गद्दी देने के पक्ष में नहीं था। इससे असन्तुष्ट होकर वह आन्न राजा के आश्रय में चला गया और उसने उसको कुमारपाल के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए उत्तेजित किया। आन्न राजा की रानी देवल देवी कुमारपाल की बहिन थी। आन्न राजा का देवल देवी से भी झगड़ा हो गया। और वह अपने पीहर पाटन चली आई।

इन्हीं बातों से कुमारपाल और आन्न राजा के बीच बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध प्रारम्भ होते ही चाहड़ के षड्यन्त्र से कुमारपाल के बहुत से सामन्त आन्न राजा की तरफ जाकर मिल गये, पर अन्त में कुमारपाल की आश्चर्यजनक बहादुरी से आन्न राजा पराजित हुआ और उसने अपनी कन्या जल्हण का विवाह कुमारपाल के साथ कर उससे सन्धि कर ली।

कुमारपाल को दूसरा युद्ध उज्जैन के राजा बल्लाल से करना पड़ा। इस युद्ध में भी कुमारपाल की विजय हुई।

कुमारपाल की तीसरी लड़ाई कोंकण के शिलाहार वंशीय राजा मल्लिकार्जुन के साथ हुई। इस युद्ध में कुमारपाल ने उदयन मन्त्री के पुत्र अम्बड को प्रधान सेनापति बनाकर भेजा था। पहली बार की लड़ाई में मल्लिकार्जुन ने अम्बड को बुरी तरह से हराकर भगा दिया। तब कुमारपाल ने दूसरी बार एक बलवान योद्धाओं की सेना देकर अम्बड़ को फिर मल्लिकार्जुन के विरुद्ध भेजा।

सन् ११६१ में अम्बड़ ने मल्लिकार्जुन को हराकर मार डाला। और उसका मस्तक तथा लूट का बहुत-सा सामान लाकर कुमारपाल को भेंट किया। जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९१३ के अनुसार मल्लिकार्जुन का वध कुमारपाल के सभासद सोमेश्वर चौहान ने किया था।

इस प्रकार कुमारपाल ने अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

चित्तौड़ के लाखण-मन्दिर से मिले हुए एक शिलालेख में कुमारपाल सोलंकी के सम्बन्ध में लिखा है—

"कैसा था वह कि जिसने अपनी विलक्षण प्रतिभा के प्रताप से सारे शत्रुओं को जीत लिया था। 'पृथ्वी के दूसरे राजाओं ने जिसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य की थी। जिसने शाकम्भरी (साँभर) के राजा को अपने चरणों में झुका लिया और स्वयं शस्त्र धारण करके शिवालक तक चढ़ाई करता चला गया। और बड़े-बड़े गढ़पतियों—यहाँ तक कि शालपुरा में भी लोगों को उसके आगे झुकना पड़ा।"

यह शिलालेख विक्रम संवत् १२०७ का है।

हेमचन्द्राचार्य

कुमारपाल के आगे आने वाले इतिहास में प्रसिद्ध जैन मुनि हेमचन्द्राचार्य का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। ऊपर लिखा जा चुका है कि जिस समय कुमारपाल अनेक मुसीबतें उठाता हुआ खम्भात में हेमचन्द्राचार्य के पास गये, उसी समय हेमचन्द्राचार्य ने इनके राजा होने की भविष्यवाणी की थी तभी से कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य से अत्यन्त प्रभावित थे।

प्रभावक-चरित में लिखा है—

श्री हेमचन्द्र सूरीणामपूर्वं वचनामृतम्।
जीवातुर्विश्वजीवानां, राजचित्तावनि स्थितम्॥

जिस प्रकार चन्द्रमा की कान्ति से समुद्र की लहरें आकम्पित होती हैं, उसी प्रकार हेमचन्द्र की वाणी सुनकर राजा आनन्द में निमग्न हो जाता था।

हेमचन्द्राचार्य प्रकाण्ड विद्वान्, तथा व्याकरण, ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र के धुरन्धर पण्डित थे। राजा पर हेमचन्द्र के बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर उसके पास रहने वाले ब्राह्मण पण्डितों को बड़ा भय हुआ और उन्होंने उन पर कई अपवाद भी लगाये। उनमें सबसे बड़ा अपवाद यह था कि वे सूर्य का पूजन नहीं करते हैं।

हेमचन्द्र राजनीति के भी विद्वान् थे, और अपने विपक्षियो के धर्म पर आक्षेप करने की अपेक्षा अपने धर्म की विशेषता प्रमाणित करने की विशेष इच्छा रखते थे। इसलिए उन्होने ऐसा उत्तर दिया जिससे क्षत्रियो के महान देवता सूर्य में उनकी आस्था होने की बात राजा की समझ में आ गयी। उन्होने कहा—

अधाम धाम धामार्कं, वयमेवहृदिस्थितम्।
यस्यास्त व्यसने ज्ञाते, त्यजामो भोजनं यतः॥

"इस तेज के महिमावान भंडार सूर्य को मै निरन्तर अपने हृदय मे रखता हूँ और इसके अस्त होने पर मुझे इतना दु:ख होता है कि मै भोजन करना छोड़ देता हूँ।" (जैन लोग रात में भोजन नहीं करते)

सोमेश्वर-मन्दिर का जीर्णोद्धार

एक बार राजा कुमार पाल ने हेमचन्द्राचार्य से पूछा कि तुम मुझे कोई ऐसा धर्मकार्य बताओ कि जिसमे मै धन खर्च करूँ?

तब हेमचन्द्राचार्य ने अपनी स्वाभाविक उदारता के वश किसी जैन-मन्दिर का निर्माण करने के बदले समुद्र की लहरों की चपेट से भग्न हुए देवपट्टण स्थित सोमेश्वर के काष्ठमय देवलाय के जीर्णोद्धार करने की सलाह दो।

द्व्याश्रय मे इस जीर्णोद्धार का वर्णन मिलता है और राजपूताना के इतिहास लेखक को भी देव पट्टण में देवकाली के मन्दिर में इस विषय का एक शिलालेख मिला था। यह लेख पहले सोमेश्वर के मन्दिर में था। इस पर वल्लभी संवत् ८५० (ई० सन् ११६९) खोदा हुआ है। इस लेख में लिखा हुआ है—

"कन्नौज का ब्राह्मण भाव बृहस्पति यात्रा करने के लिए काशी से निकला और अवन्ती तथा धारानगरी में पहुँचा। उस समय वहाँ जयसिंह देव नामक राजा राज्य करता था। परमार राजा तथा उसके कुटुम्ब के सभी लोगों ने उसको गुरु करके माना।"

'उसके बाद भाव बृहस्पति कुमारपाल के यहाँ गया''' कुमारपाल ने अपनी राज-मुद्रा और भण्डार उस बृहस्पति के अधिकार में दे दिये और आज्ञा दी कि देव-पट्टण का देवालय गिर गया है—जाओ और उसका जीर्णोद्धार करो। भाव बृहस्पति ने उसका जीर्णोद्धार कराकर उसको कैलास के समान सुन्दर बनवा दिया और पृथ्वीपति को अपना काम दिखाने के लिए बुलाया। राजा उसके कार्यों को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। और जब मन्दिर बनकर तैयार हुआ, तब उसपर शिखर चढ़ाने के लिए कुमारपाल दलबल के साथ देव पट्टण पहुँचा। उस समय भी ब्राह्मण-पंडितों ने राजा को समझाया कि हेम चन्द्राचार्य सोमनाथ को नहीं मानते। इसीलिए यात्रा में इनको भी साथ चलने की आज्ञा होनी चाहिए। वहाँ सब भेद खुल जायगा।

जब राजा ने हेमचन्द्र को यह बात कही तो हेमचन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया कि भूखे मनुष्य को भोजन करने के लिए आग्रह करने की आवश्यकता नही है। साधु का तो जीवन ही यात्रा है। उसमे आग्रह की क्या आवश्यकता है।

इसके बाद हेमचन्द्र पैदल यात्रा करते हुए देव पट्टण आकर राजसंघ में मिल गये। और सोमेश्वर-मन्दिर की सीढ़ियों कर चढ़कर वे बोले—

भव बीजांकुर जनना रागाध्याक्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

भव अर्थात् पुनर्जन्म के अंकुर उत्पन्न करने वाले रागादि कारण जिनके नष्ट हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव अथवा जिन नाम से सम्बोधित होने वाले भगवान को मेरा नमस्कार है।

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकाल विषयं, सालोक मालोकितम्।
साक्षाद्येन यथास्वयं करतले, रेखात्रयं साङ्गुलि॥
रागद्वेष भयाभयान्तक जरा, लोलत्व लोभादयो।
नालंयत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते॥

अलोक अर्थात जहाँ जीव की गति नहीं है, ऐसे आकाश-सहित तीनों लोक और तीनों काल जिसके द्वारा अँगुलियों सहित करतल की रेखाओं के समान स्पष्ट पर्यवेक्षित हैं और राग, द्वेष, भय, रोग, काल, बुढ़ापा, चञ्चलता और लोभ आदि भी जिसके पद का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हैं—उस महादेव की मै वन्दना करता हूँ। (कुमार पाल-प्रबन्ध)

इसके पश्चात् ऐसा उल्लेख है कि उसी मन्दिर में समाधि लगाकर हेमचन्द्राचार्य ने कुमार पाल को साक्षात् शिवजी के दर्शन करवाए और उसी स्थान पर हेमचन्द्र ने राजा से आमरण मद्य-मांस त्याग करने की प्रतिज्ञा कराई।

वहाँ से अणहिलपुर लौट कर राजा ने आचार्य की आज्ञा से गुजरात के १८ परगनों में १४ वर्ष के लिए जीव-हिंसा बन्द करवा दी।

इसके पश्चात् राजा कुमार पाल ने केदारेश्वर के देवालय का जीर्णोद्धार करवाया।

इसके बाद राजा ने अणहिलपुर पट्टण में कुमार पालेश्वर महादेव का विशाल देवालय बनवाया और उसके साथ ही पारसनाथ का भी एक मन्दिर बनवाया जिसका नाम कुमार- विहार रक्खा।

देव पट्टण में उसने जैन-धर्म का एक ऐसा सुन्दर मन्दिर बनवाया कि उसके दर्शन करने के लिए झुण्ड के झुण्ड यात्री आने लगे।

इसके पश्चात् कुमार पाल ने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा के लिए एक बड़ा संघ निकाला। रास्ते में धुन्धुका ग्राम में हेमचन्द्राचार्य्य के जन्म स्थान पर उसने "झोलिका विहार" नामक एक सत्तर हाथ ऊँचा चैत्य बनवाया। वहां से वल्लभी पुर की सीमा पर पहुँच कर उसने "स्थाप" और "इष्यातु" नामक दो टेकरियों दो जैन मन्दिर बनवाये और उनमें क्रमशः ऋषभदेव, और महावीर की मूर्तियां स्थापित कीं।

अपने राज्य के तीस वर्ष पूरे कर लेने के पश्चात् कुमारपाल कुष्ठ रोग से ग्रसित हो गया और छः महीने के पश्चात् सन् ११७४ में उसकी मृत्यु हो गई। हेमचन्द्राचार्य्य ने भी कुमार पाल की मृत्यु के कुछ पहले अन्नजल का त्याग कर ८४ वर्ष की अवस्था में स्वर्गलाभ किया।

कुमारजीव

बौद्ध धर्म के एक महान् और सुप्रसिद्ध आचार्य्य, जिन्होंने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कुमारजीव का समय सन् ३४४ ई० से ४१३ ई० तक था।

कुमारजीव के पिता कुमारायण एक उच्च कुलीन भारतीय थे। जो आजीविका की खोज में पामीर होते हुए कूचा पहुँच गये और वहां पर "जीवा" नामक स्त्री से प्रेम हो जाने के कारण उन्होंने उससे विवाह कर लिया। इन्हीं दोनों पति पत्नियोंसे कड़ा नामक शहर में कुमारजीव का जन्म हुआ।

कुछ समय पश्चात् जीवा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर सन्यास ले लिया और वह अपने पुत्र कुमार जीव को उच्च शिक्षा दिलाने के निमित्त कश्मीर ले गई।

कश्मीर में बौद्ध धर्म के आचार्य्य बन्धुदत्त से कुमारजीव ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया और उसके पश्चात् इन्होंने अपनी प्रतिभा से अपने गुरु को महायान सम्प्रदाय का अनुयायी बना लिया।

थोड़े ही समय में कुमारजीव ने बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओं के साहित्य का अध्ययन कर उनमें दक्षता प्राप्त कर ली और अपनी माता के साथ "कूचा" वापस लौट आये।

कूचा में आने के पश्चात् कुमारजीव की विद्वता की ख्याति चारों ओर फैल गई और खोनान, काशगर, यारकन्द और तुर्किस्तान से अनेकों बौद्ध ज्ञान प्राप्त के हेतु उनके पास आने लगे।

सन् ३६५ ई० में कुमारजीव ने काशगर की यात्रा की जहाँ उनका परिचय महायान के प्रसिद्ध आचार्य्य सूर्य्य सोम से हुआ। इनसे कुमारजीव ने माध्यमिक शास्त्रों का अध्ययन किया। काश्मीर के विमलाक्ष नामक भिक्षु ने मध्य एशिया के मार्ग से चीन की यात्रा की थी। इस भिक्षु से कुमारजीव ने सर्वास्तवादी विनय की, शिक्षा प्राप्त की। विमलाक्ष ने बाद में चल कर कुमारजीव को अनुवाद कार्य्य में भी सहायता दी थी।

सन् ४०१ में कूचा पर चीन का आक्रमण हुआ और चीनी लोग कुमारजीव को बंदी बनाकर चीन ले गये। चीन में कुमारजीव की ख्याति पहले ही से फैली हुई थी। चीनी इतिहासकारों के अनुसार सन् ४०५ ई० में तत्कालीन चीनी सम्राट् ने कुमारजीव का बड़ा सम्मान किया, और उसने ८०० बौद्ध विद्वानों और भिक्षुकों का एक अनुवादक दल संगठित किया जिसके अध्यक्ष कुमारजीव बनाये गये।

कुमारजीव की अध्यक्षता में इस दल ने तीन सौ से अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कहा जाता है कि जब अनुवाद का काम चल रहा था तब स्वयं सम्राट् मूल ग्रन्थ की प्रति को अपने हाथ में रख कर पढ़ता था।

अपने जीवन के अन्त तक कुमारजीव ने बौद्ध धर्म के प्रचार में इतना अधिक कार्य किया कि उसके परिणाम स्वरूप उत्तरी चीन की नव्वे प्रतिशत जनता बौद्ध धर्म की अनुयायिनी हो गई और वहां अनेक बौद्ध विहारो की स्थापना की गई।

कुमारजीव चीन में माध्यमिक सिद्धान्तो के प्रथम आचार्य्य और सत्य सिद्धि (चेन-शिह स्तुंग) और निर्वाण (नीह-पन स्तुंग) सम्प्रदायों के प्रथम व्याख्याकार माने जाते हैं।

कुमारजीव के ग्रन्थों ने चीन में एक नवीन युग का सृजन कर दिया।

बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में अपने गम्भीर ज्ञान तथा संस्कृत और चीनी भाषाओं के प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण कुमारजीव के अनुवाद जितने सरल और स्पष्ट हुए हैं उतने उनके पूर्ववर्ती धर्म प्रचारकों से सम्भव नहीं हो सके।

कुमार जीव के द्वारा अनुदित अनेकों बौद्ध ग्रन्थो में निम्न लिखित नाम विशेष उल्लेखनीय है।

संस्कृत नाम   चीनी नाम

महाप्रज्ञा पारमिताशास्त्र—त-च-तु लुन

शतशास्त्र.........पे-लुन

सुखावत्य मृत व्यूह ...... फो-श्वो-ओ-मि-तो-चिन

सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र " म्यो-फ-ल्यन-हव-चिन

महाप्रज्ञा पारमित्ता सूत्र—मो-हो-पन जो-पो-मि-चिन

वज्रेच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र—

चिन-कन-पन-जो-पो-तो-मि-चिन

भारत और मध्य एशिया के बीच सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाने और चीन में बौद्ध धर्म का गतिशील प्रचार करने में कुमारजीव की महान् सेवाओ का इतिहास ने बहुत आदर किया है।

कुमार देवी

कन्नौज और बनारस के प्रसिद्ध राजा गोविन्द चन्द्र की रानी। पीथी के राजा देव रक्षित की पुत्री, अंग देश के मांडलिक राजा महण की दौहित्री। जिसका समय बारहवीं शताब्दी के मध्य में माना जाता है।

उस समय बंगाल में पाल राजवंश का शासन था। पाल राजवंश के शासक महीपाल द्वितीय के समय में पालवंश की शक्ति क्षीण होने लग गई थी। और वरेन्द के कैवर्त्त लोगों ने उसके राज्य में भयंकर विद्रोह मचा रक्खा था। महीपाल द्वितीय इसी विद्रोह में मारा गया और उसका लड़का शूरपाल भी उस विद्रोह का दमन न कर सका। कैवर्त्तों के सरदार दिव्योक के पश्चात् उसका लड़का भीम और भी शक्तिशाली हो गया।

शूरपाल के पश्चात् तीसरे विग्रहपाल का छोटा पुत्र रामपाल गद्दी पर आया। वह बड़ा वीर और साहसी था। उसने अपने मामा महण और पीथी के देवरक्षित की सहायता से भीम को हराकर मार डाला और वरेन्दु में अपना शासन कायम कर लिया। यह वर्णन "संध्याकर नंदि" नामक एक काव्य में मिलता है जो रामपाल के मंत्री पुत्र का बनाया हुआ है।

रानी कुमारी देवी का एक शिला लेख सारनाथ से प्राप्त हुआ है। यह लेख एपि० इंडि० जिल्द ९ पृष्ठ ३१९ पर छपा है। इस लेख से पाल, राष्ट्रकूट और गाहड़वाल इन तीनों राजवंशों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस लेख को स्टेनकोनो नामक अन्वेषक ने प्रकाशित करवाया था।

इस लेख में लिखा है कि—रामपाल के मामा अंग देश के मांडलिक राजा महण ने पीथी के देवरक्षित को जीत कर रामपाल का उत्कर्ष करवाया ...... महण के शंकर देवी नामक एक कन्या थी देवरक्षित को पराजित करने के बाद राजपूत रिवाज के अनुसार उससे सुलह करके उसी को अपनी कन्या दे दी। उसी कन्या शंकर देवी की पुत्री कुमार देवी हुई जिसने इस लेख के कारण चिरस्मरणीय हुए बौद्ध विहार को बनवाया।

इससे पता चलता है कि देवरक्षित बौद्ध था और उसकी

कन्या कुमार देवी भी बौद्ध थी। गोविन्द चन्द्र कट्टर हिन्दू था। फिर भी बौद्ध कन्या से उसने विवाह किया इससे पता चलता है कि उस समय लोगों में धार्मिक संकीर्णता के भाव नहीं थे। इस लेख में गाहड़ वालों को प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश कहा है। इससे मालूम होता है कि उस समय गाहड़ वालों की गणना उत्तम क्षत्रियों में होती थी। इसी प्रकार महण को भी क्षत्र चूड़ामणि लिखा है इससे उसका कुल भी उत्तम क्षत्रिय था। महण की बहन रामपाल की माता थी इससे रामपाल भी क्षत्रिय वंश का साबित होता है और इसी प्रकार महण की कन्या देवरक्षित को दी गई थी वह भी उत्तम क्षत्रिय होना चाहिये।

इस विवाह से बनारस के गाहड़वाल वंश और बंगाल के पाल राजवंश के बीच स्पर्द्धा की भावना मिट कर मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हो गये और हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म के बीच की खाई को पाटने में भी इस विवाह ने एक कड़ी का काम किया।

गोविन्द चन्द्र ने कट्टर हिन्दू होते हुए भी कुमार देवी को बौद्ध धर्म के प्रचार की तथा विहार इत्यादि बनवाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रक्खी थी।

कुमार सम्भव

महाकवि कालिदास के द्वारा रचित संस्कृत का एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य।

कुमार-सम्भव में महाकवि कालिदास ने कुमार कार्तिकेय के जन्म का वर्णन किया है, परन्तु ऐसा समझा जाता है कि यह महाकाव्य अधूरा है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से शुरू के ७ सर्ग तो निश्चित रूप से उनके लिखे हुए हैं, मगर आगे के १० सर्ग उनके लिखे हुए नहीं माने जाते हैं।

प्रारम्भ के ७ सर्गों में भाषा की सुन्दरता, शब्द लालित्य और उच्च काव्य-कला के जो दर्शन होते हैं, वे आगे के सर्गों में दिखलाई नहीं पड़ते। ८ वें, ९ वें और १० वें सर्गों की भाषा में अश्लीलता का काफी पुट आ गया है इसलिए कालिदास की कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने आठ ही सर्गों पर अपनी संजीवनी टीका लिखी है।

प्रारम्भ के इन सर्गों में विषय और भाषा की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य पाया जाता है। इन सर्गों का काव्य-लालित्य रसिक जनों के हृदय को आनन्द से प्लावित कर देता है। जगत्पितरौ—पार्वती और शिव के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितान्त औचित्य पूर्ण तथा अत्यन्त ओजस्वी है। तीसरे सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है, पाँचवें सर्ग में पार्वती की कठोर तपस्या का का वर्णन भी उतना ही गंभीर और कलापूर्ण है। आठवें सर्ग में जो हर-गौरी के विलास का वर्णन है, वह कई कई लोगों की दृष्टि में बड़ा अश्लील है जो कि जगत्पिता और जगन्माता के लिए रुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। नवें से लेकर सत्रहवें सर्ग तक की रचना किसी साधारण कवि ने बनाकर कुमार-सम्भव में जोड़ दिया है—ऐसा लगता है।

कुमारनाशान्

मलयालम साहित्य के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार और कवि, जिनका जन्म सन् १८७२ ई० लगभग केरल के काईक्करा गाँव में हुआ।

कुमारनाशान् का असली नाम कुमारन् था। मगर जब उन्होंने संस्कृत में विद्वत्ता प्राप्त करके विद्यार्थियों को पढ़ाने का काम प्रारम्भ किया, तब उनके आगे आशान् (गुरु) शब्द और लगाया जाने लगा। इस प्रकार उनका नाम कुमार-नाशान् हुआ।

कुमारनाशान् ने कलकत्ता जाकर संस्कृत का गहरा ज्ञान प्राप्त किया। बचपन से ही इनकी रुचि श्रृंगार रस प्रधान कविता करने में थी। मगर दैवयोग से वे श्रीनारायण गुरु नामक संन्यासी के परिचय में आये। उनके सम्पर्क से उनका ध्यान श्रृंगार-रस की ओर से हट कर भक्ति-रस की ओर झुक गया।

अध्ययन समाप्त करके लौटते ही वह अपने गुरु के चलाये हुए—"श्रीनारायण धर्म-परिपालन-योगम्" (एस० एन० डी० पी०) में सम्मिलित हो गये। इस सम्मेलन में इन्होंने बड़ी दिलचस्पी से भाग लिया। इससे लोग इनको 'चिन्नस्वामी' या छोटा स्वामी नाम से पुकारने लगे।

कुमार-नाशान् का जन्म एक अछूत कुल में हुआ था। इस कारण बचपन में उनको उच्च वर्ग के द्वारा अनेक यंत्रणाएं सहन करनी पड़ी थीं। इससे उनका हृदय अस्पृश्यता के प्रति विद्रोह से भरा हुआ था। अस्पृश्यता के इस रोग से मुक्त होने के लिए उन्हें बुद्धदेव का जीवन आदर्श मालूम पड़ा। बुद्धदेव के एक शिष्य ने जाति-पांति का विचार तोड़ कर एक चाण्डाल कन्या को अपनी शिष्या बनाया था। इस घटना पर कुमारनाशान् ने चाण्डाल-भिक्षुकी नामक काव्य की रचना की।

इसी प्रकार 'लाइट आफ एशिया' नामक ग्रन्थ का 'बुद्ध-चरित' के नाम से बड़ी सुन्दर भाषा में उन्होंने अनुवाद किया।

कवि की अन्तिम कृति 'करुणा' का स्थान उनके ग्रन्थों में अद्वितीय समझा जाता है। इसमें मथुरा की प्रसिद्ध वेश्या 'वासवदत्ता' की जीवनी अंकित की गयी है।

इसी प्रकार 'वीणापूत' 'नलिनी' 'लीला' 'बाल-रामायण' 'दुरावस्था' इत्यादि काव्यग्रन्थों की रचना करके इस महान् कवि ने मलयालम साहित्य को बहुत समृद्ध किया।

आशान् ने विभिन्न प्रकार की अपनी कृतियों से मलयालम-साहित्य में एक नया युग स्थापित कर दिया। इन्होंने भाव गीत या लीरिक्स लिखकर मलयालम में एक नई धारा को जन्म दिया।

कुमार व्यास

कन्नड़-साहित्य के एक सुप्रसिद्ध लोककवि, जिनका जन्म १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कर्नाटक के कोलिवाड़ नामक ग्राम में हुआ।

कुमार व्यास की सर्वोत्तम कृति उनके द्वारा किया हुआ 'महाभारत' का कन्नड़-भाषा में अनुवाद है। इसमें महाभारत के प्रारंभिक १० पर्वों की कथा षट्पदी छन्दों में बनाई गयी है।

कुमार व्यास कन्नड़-भाषा के अत्यन्त लोक-प्रिय कवि हैं। इनका भारत वहाँ के गाँव-गाँव के घर-घर में पढ़ा जाता है। भारत-काव्य को पढ़ पढ़ कर तथा सुन-सुन कर जनता आनन्द के मारे झूमने लगती है। जब काव्य-वाचन होता है, तब ऐसा विदित होता है कि श्रोताओं की आँखों के सामने भीम, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण आदि पात्र सजीव रूप से उपस्थित हो गये हैं। कलियुग द्वापर में बदल जाता है। और महाभारत की लड़ाई दृष्टिपथ में होती हुई दिखाई देती है। उत्तर भारत में जैसे तुलसी कृत रामायण घर-घर में पढ़ी जाती है, वैसे ही कन्नड़-प्रदेश में कुमार व्यास के महाभारत का आदर है।

कुमार व्यास के भारत में कृष्ण का चरित्र सबसे श्रेष्ठ रूप में अंकित हुआ है। प्रोफेसर बी० सीतारमैय्या के शब्दों में—कृष्ण ही महाभारत के सूत्राधार हैं। कथा के एक मात्र नायक हैं। सब चेतनाओं के मूल स्रोत हैं। सब प्रवृत्तियों के कारण है। सब प्रयत्नों के लक्ष्य हैं। सब आकांक्षाओं के आधार-स्वरूप हैं। उनके बिना भारत—भारत नहीं। कुमार व्यास ने कृष्ण का चरित्र अंकित करने में भारी सफलता प्राप्त की है।

कुमार स्वामी आनन्द

चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि ललित कलाओं के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनका जन्म कोलम्बो (सीलोन) में सन् १८७७ में और मृत्यु सन् १६४७ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई।

कुमार स्वामी के पिता मूतू कुमार स्वामी सीलोन के तामिल हिन्दू और उनकी माता एलिजाबेथ क्ले अंग्रेज-महिला थीं। केवल दो वर्ष की उम्र में पिता की मृत्यु के हो जाने के कारण कुमार स्वामी की सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा का भार उनकी अंग्रेज माता पर आया।

सन् १६०० ई० में उन्होंने लन्दन युनिवर्सिटी से भू-विज्ञान तथा वनस्पति-शास्त्र में बी० एस० सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। उसके पश्चात् सीलोन में आकर उन्होंने 'सीलोन सोशल रिफार्मेशन सोसायटी का' संगठन किया और युनिवर्सिटी आन्दोलन का नेतृत्व किया।

सन् १६०६ में कुमार स्वामी की रुचि मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि ललित कलाओं की ओर आकृष्ट हुई और उन्होने भारत तथा दक्षिण पूर्वी एशिया का भ्रमण कर वहाँ की ललित कलाओं का अध्ययन किया।

सन् १६१० में सोसायटी आफ ओरियण्टल आर्ट कलकत्ता के तत्वावधान में राजपूत और मुगल आर्ट पर

कुमार स्वामी ने जो भाषण दिया वह बहुत पसन्द किया गया। सन् १९११ में उन्होंने लन्दन में "इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की जो इस समय "रायल इण्डिया पाकिस्तान एण्ड सीलोन सोसाइटी" के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९१७ में वे बोस्टन की आर्ट गैलरी में भारतीय विभाग के अध्यक्ष बनाये गये और सन् १९२४ में उन्होंने न्यूयार्क में "इण्डियन कल्चर सेण्टर" की स्थापना की। उसके पश्चात् अमरीका में उनके अनेकों व्याख्यान हुए।

सन् १९३० से कुमार स्वामी आनन्द की प्रवृत्ति दर्शन शास्त्र की ओर गतिमान हुई और इस क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। इस सम्बन्ध में उनकी 'ए न्यु अप्रोच टू वेदाज' नामक ग्रन्थ बड़ा उपयोगी प्रमाणित हुआ। 'मिथ्स आफ हिन्दूज ऐंड बुद्धिस्ट्स' नामक उनकी रचना हिन्दू दर्शन-शास्त्र और बौद्ध-दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी उनके तुलनात्मक ज्ञान को प्रकट करती है।

कुमार स्वामी आनन्द सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी प्रतिभा विशुद्ध मौलिक थी। दर्शन शास्त्र, अध्यात्म विद्या, धर्म शास्त्र, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, विज्ञान इत्यादि सभी विषयों में इस महान् विचारक ने अपनी महान् प्रतिभा का परिचय दिया।

कुमार स्वामी आनन्द की रचनाओं में 'दि एम्स आफ इंडियन आर्टस्' 'आर्टस् ऐंड क्रैफ्ट्स आफ इंडिया ऐंड सीलोन' 'बुद्ध ऐंड दि गास्पेल आफ बुद्धिज्म' 'दि डांस आफ शिव' 'एलीमेंट्स आफ बुद्धिस्ट् आईकोनोग्राफी' इत्यादि रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

इस महान् प्रतिभाशाली और विख्यात विद्वान् की मृत्यु सन् १९४७ में हुई।

कुमार गुरु परर

तामील भाषा के एक प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार कुमार गुरु परर। जिनका समय सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में था।

कुमार गुरु परर शैव सम्प्रदाय के एक विद्वान सन्त थे। जिन्होंने अपने मत का प्रचार करने के लिये समस्त भारत का भ्रमण किया था। और अन्त में शैव सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये वे स्थायी रूप से काशी में रहने लगे। इन्होंने भगवान् विश्वनाथ की स्तुति में कई पद बनाये जो "काशिकलंबकम्' के नाम प्रसिद्ध हैं। उनके द्वारा स्थापित किया हुआ मठ और धर्मशाला बनारस में हनुमान घाट पर ''कुमारु गुरु स्वामिगल मठ' के नाम से आज भी स्थित है।

कुमारिल भट्ट

भारतीय दर्शन-शास्त्र और धर्मशास्त्र के उद्भट विद्वान्, मीमांसा-दर्शन के भट्ट-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता, महान् तत्वचिन्तक, दर्शन शास्त्री, जिनका समय ईसा की ७ वीं शताब्दी में माना जाता है।

कुमारिल भट्ट के काल निर्णय के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। कई लोगों का मत है कि कुमारिल भट्ट शंकराचार्य के समकालीन मण्डन मिश्र के बहनोई थे। शंकर विजय काव्य में तो शंकाचार्य और कुमारिल भट्ट की भेंट का भी उल्लेख है। इस प्रकार इस विचार पद्धति के लोग कुमारिल भट्ट का समय ईसा की आठवीं सदी के अन्त में मानते हैं—

जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट ने जैनाचार्य्य समन्तभद्र रचित आप्त मीमांसा में प्रतिपादित स्याद्वाद सिद्धांत का खंडन किया है। इस खण्डन का प्रत्युत्तर जैनाचार्यों ने जैन श्लोक वार्तिक और अपरापर विस्तर ग्रन्थ लिख कर कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों पर काफी आक्षेप किये हैं। इन सब प्रतिवादों के बीच आप्त मीमांसा की अष्ट सहस्री टीका बनाने वाले विद्यानन्दी का नाम आता है। इन विद्यानन्दि का समय ई० सन् ७७६ के लगभग था और उस समय मैसूर तथा उसके आसपास के प्रान्तों पर गंग नरेश श्री पुरुष शासन कर रहा था। इसीके समय में शंकराचार्य भी अवतीर्ण हुए थे। विद्यानन्दि ने आप्त मीमांसा की अष्ट सहस्री टीका में कुमारिल भट्ट के खण्डन का जवाब दिया है। इससे मालूम होता है कि विद्यानन्दि से कुमारिल भट्ट कुछ पहले हुए थे।

कुमारिल भट्ट का दर्शन, ज्ञान-मीमांसा, तत्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा—इस प्रकार तीन विभागों में विभक्त

है। यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति के लिए वे प्रमाण को प्रधान मानते हैं। इस प्रमाण के उन्होने ६ भेद किये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। कुमारिल के मतानुसार ज्ञान के उत्पन्न होने के साथ ही उसकी प्रामाणिकता और सत्यता की उपलब्धि हो जाती है। उसकी सचाई सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु ज्ञान की अप्रमाणिकता का अनुभव तब होता है, जब उसका वस्तु के वास्तविक स्वरूप से विरोध दिखलाई पड़ता है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार ज्ञान का प्रमाण स्वतः और अप्रमाण परतः होता है।

कुमारिल भट्ट संसार को सत्य और पदार्थो के अस्तित्व को स्वीकार करते है। ये पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य तथा अभाव—५ प्रकार के होते हैं। इनमें से प्रथम चार भाव रूप और अन्तिम पाँचवाँ अभाव रूप होता है।

कुमारिल भट्ट ने द्रव्य को ११ प्रकार का और गुण को २४ प्रकार का माना है। ११ प्रकार के द्रव्यों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल, दिशा, अन्धकार और शब्द सम्मिलित है। इसी प्रकार २४ गुणों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, वियोग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, संस्कार, ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति सम्मिलित हैं।

जैन-दर्शन की तरह कुमारिल संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय नहीं मानते। जीवों के जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है, किन्तु समस्त संसार की कभी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। जैन-दर्शन की तरह ही वह ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानते। आत्मा को वे एक अविनाशी द्रव्य मानते हैं तथा उसे कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता दोनों ही मानते हैं।

आचार शास्त्र के ऊपर भी कुमारिल भट्ट ने विशद विवेचन किया है। और यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, श्राद्ध इत्यादि बातों का समर्थन किया है। इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप, अच्छे-बुरे कर्मों का फल और मोक्ष के ऊपर भी मीमांसा दर्शन में काफी विवेचन किया गया है।

कुमारिल की रचनाओं में 'शाबर-भाष्य' पर उनके द्वारा लिखे गये ३ वृत्ति ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—श्लोक वार्तिक, तंत्र वार्तिक और टुप्टिका। श्लोक वार्तिक में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या है। तंत्र वार्तिक में पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय के अन्त तक की व्याख्या है और टुप्टिका में अन्तिम ६ अध्यायों की व्याख्या की गयी है।

कुम्भा (महाराणा कुम्भा)

मेवाड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा कुम्भा, राणा मोकल के पुत्र जिनका शासन काल सन् १४३३ से १४६८ तक रहा।

महाराणा कुम्भा के पिता महाराणा मोकल की हत्या उनके काका ने विश्वासघात से करवा डाली। मोकल की हत्या के पश्चात् महाराणा कुम्भा मेवाड़ की राजगद्दी पर आये।

महाराणा कुम्भा मेवाड़ के उन भाग्यशाली नरेशों में सबसे पहले है जिन्होंने अपने जीवन में पराजय का कभी मुह नहीं देखा। उनका पैंतीस वर्ष का शासन काल बराबर लड़ाइयाँ करते हुए बीता, मगर हर जगह उनकी बहादुरी और साहस को देखकर विजय श्री ने उनके गले में जयमाला डाली।

जिस समय महाराणा कुम्भा राजगद्दी पर आये, उसके कुछ समय पहले सन् १३९८ में सुप्रसिद्ध मुसलमान आक्रमणकारी तैमूर लंग दिल्ली पर आक्रमण करके वहाँ के बादशाह की ताकत को तोड़ चुका था।

दिल्ली के बादशाह की इस कमजोर हालत को देख कर मालवा, गुजरात और नागौर के सुलतानों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। इन सुलतानों की शक्ति का तेज उस समय पूर्ण उरूज पर था। कहना न होगा कि पन्द्रहवीं सदी के मध्य इन्हीं बढ़ती हुई शक्तियों से महाराणा को मुकाबिला करना था।

सन् १४३७ में महाराणा ने देवड़ा चौहानों को हरा कर आबू पर अधिकार कर लिया।

उस समय मालवे का सुलतान मोहम्मद खिलजी था। इस सुलतान ने महाराणा मोकल के एक हत्यारे

माल्हपा पंवार को अपने यहाँ शरण दे रक्खी थी। महाराणा कुम्भा ने सुलतान से अपने पिता के हत्यारे की मांग की। सुलतान ने उस हत्यारे को देने से इन्कार कर दिया तब महाराणा ने सन् १४३८ में एक विशाल सेना के साथ मालवे पर आक्रमण करने के लिये कूच किया। सारंगपुर के पास मालवे की सेना के साथ महाराणा की सेना का भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में सुलतान की बहुत बुरी पराजय हुई। उसकी सेना बेतहाशा भाग निकली। इसके बाद महाराणा ने माण्डू के किले पर हमला करके उस पर अधिकार कर लिया और सुलतान मुहम्मद खिलजी को गिरफ्तार करके छः महीने तक चित्तौड़ में रक्खा। उसके बाद में अपनी स्वाभाविक उदारता वश उसे बिना किसी प्रकार का हरजाना लिए छोड़ दिया। माल्हपा पंवार माण्डू से भाग कर गुजरात के सुलतान की शरण में चला गया। मालवे की इस महान् विजय के उपलक्ष्य में महाराणा ने चित्तौड़ के किले पर अपना सुप्रसिद्ध कीर्ति स्तम्भ बनाया, जो आज भी संसार की अद्वितीय कृत्तियों में से एक माना जाता है।

महाराणा कुम्भा की जेल से छूटने पर मालवे के सुलतान के दिल में उस अपमान का प्रतिशोध लेने की भावना जोर से भड़क उठी और वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। सन् १४३९ में जब महाराणा कुम्भा हाड़ौती पर चढ़ाई करने के लिये चित्तौड़ से रवाना हुए, तब मेवाड़ को अरक्षित समझ कर मालवे के सुलतान ने तुरन्त मेवाड़ पर हमला करने का निश्चय किया। सन् १४४० में उसने मेवाड़ पर कूच कर दिया। जब वह कुम्भलमेर पहुँचा तो उसने वहाँ के बनमाता के मन्दिर को तोड़ने का निश्चय किया। उस समय दीपसिंह नामक एक एक राजपूत सरदार ने कुछ वीर योद्धाओं को इकट्ठा कर सात दिन तक सुलतान की विशाल सेना को रोके रक्खा। मगर अन्त में वह वीरगति को प्राप्त हुआ और उक्त मन्दिर पर सुलतान का अधिकार हो गया। सुल्तान ने उस मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर जमींदोज कर दिया और माता की मूर्ति को तोड़-दिया। इसके बाद वह चित्तौड़ की ओर बढ़ा और अपने पिता आजम हुमायूँ को महाराणा के मुल्कों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये एक सेना के साथ मन्दसौर की ओर भेजा।

जब महाराणा ने यह सुना कि मालवा के सुलतान ने मेवाड़ पर चढ़ाई की है तो वे तुरन्त हाड़ौती से रवाना हो गये। माण्डल गढ़ में दोनों सेनाओं का भीषण युद्ध हुआ। मगर हार-जीत का कोई परिणाम नहीं निकला। तब रण कुशल महाराणा ने एक दिन रात के समय अचानक सुलतान की फौज पर आक्रमण कर दिया। इस अचानक आक्रमण के वेग को सुलतान की फौज सहन न कर सकी और वह मैदान छोड़ कर भाग निकली। घोर पराजय का अपमान सहन कर सुलताम को माण्डू लौटना पड़ा।

इसके बाद सन् १४४६ और १४५५ में मालवा के सुलतान ने फिर महाराणा कुम्भा पर चढ़ाई की। मगर इन दोनों लड़ाइयों में भी महाराणा की शानदार विजय हुई। मालवा के सुलतान को बार-बार मुँह की खानी पड़ी।

सन् १४५५ में महाराणा कुम्भा ने नागौर पर आक्रमण करके वहाँ के सुलतान शम्स खाँ को वहाँ से भगा दिया और नागौर के किले पर अधिकार कर लिया।

चित्तौड़ में राणा कुम्भा के कीर्तिस्तम्भ पर जो लेख है उसमें लिखा है कि "उन्होंने सुलतान फिरोज के द्वारा बनाई हुई विशाल मसजिद को जमीदस्त कर दिया। उन्होंने नागौर से मुसलमानों को जड़ से उखाड़ दिया और तमाम मसजिदों का जमीदस्त कर दिया।" राणा कुम्भा नागौर के किले के दरवाजे और हनुमान की मूर्ति भी ले आये और उसे उन्होंने कुम्भलगढ़ के किले में प्रतिष्ठित किया। यह दरवाजा हनुमान पोल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

शम्स खाँ नागौर से भाग कर अहमदाबाद गया और उसने अपनी लड़की का विवाह सुलतान कुतुबुद्दीन के साथ कर उसे अपने पक्ष में कर लिया। तब गुजरात के सुलतान ने एक बड़ी सेना महाराणा के मुकाबिले पर भेजी। ज्योंही यह सेना नागौर के पास पहुँची महाराणा की सेना बिजली की तरह उस पर टूट पड़ी और उसे घास फूस की तरह काट डाला। थोड़े से बचे हुए आदमी इस भयंकर पराजय का समाचार लेकर अहमदाबाद पहुँचे।

तब गुजरात का सुलतान नागौर पर अधिकार करने के लिये स्वयं रण के मैदान में उतरा। महाराणा भी इसके मुकाबिले के लिये रवाना हो गये और वे आबू जा पहुँचे।

ई० सन् १४५६ में गुजरात का सुलतान आबू पहुँचा और उसने अपने सेनापति इम्माद-उल-मुल्क को एक बड़ी सेना के साथ आबू का किला फतह करने को भेजा और स्वयं कुम्भलगढ़ की ओर रवाना हुआ। महाराणा कुम्भ को सुलतान की इस व्यूह रचना का पता चल गया था। उन्होंने तुरन्त सेनापति की फौज पर आक्रमण कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया* और इसके बाद बड़ी तेज गति से कुम्भलगढ़ की ओर रवाना हुए, और सुलतान के पहले ही कुम्भलगढ़ पहुँच गये। इम्माद-उल-मुल्क भी आबू से निराश होकर सुलतान के पास आ पहुँचा और दोनों ने मिलकर कुम्भलगढ़ के किले पर हमला करने का निश्चय किया। लेकिन महाराणा ने उनके हमला करने के पूर्व ही किले से निकल कर एकदम सुलतान की फौज पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के वेग को सुलतान की फौज सम्हाल न सकी और वह भाग निकली। सुलतान भीषण हानि सहन कर गुजरात को वापस लौट गया।

सन् १४५७ में गुजरात के सुलतान ने मालवा के सुलतान से मिल कर विशाल शक्ति के साथ मेवाड़ पर आक्रमण किया। महाराणा ने भी बड़ी वीरता से मुकाबिला किया। कुछ दिनों तक कोई फैसला नहीं हुआ। मगर अन्त में महाराणा की विजय हुई और दोनों सुलतानों को भयंकर निराशा के बीच वापस लौटना पड़ा।

इसी प्रकार महाराणा कुम्भा ने विजय पर विजय प्राप्त करके हाड़ौती (कोटा बून्दी) मेवाड़, मांडलगढ़, खाटू, चाटसू, खण्डेला, अजमेर, साम्भर, आबू, रणथम्भोर तथा राजस्थान का अधिकांश और गुजरात, दिल्ली और मालवा के कुछ भागों को जीत कर मेवाड़ के राज्य को एक महाराज्य का रूप दे दिया। कोई भी हिन्दू और मुसलमान राजा रणभूमि में उनका मुकाबिला नहीं कर सका था।

कुम्भलगढ़, चित्तौड़ और रानपुर के शिलालेखों में तथा एकलिंग महात्म्य नामक पुस्तक में उनके कीर्तिकलापों का वर्णन दिया हुआ है। राणा कुम्भा वीर होने के साथ बड़े धर्मभीरु और हिन्दुत्व के कट्टर समर्थक थे।

*Bombay Garyetteer Vol. I

महाराणा कुम्भा का साहित्य प्रेम

महान् शूरवीर सेना नायक और अत्यन्त उदार नरेश होने के साथ ही महाराणा कुम्भा बड़े विद्वान, कला प्रेमी और साहित्यकार तथा कवि भी थे। कुम्भलगढ़ के शिला लेख में लिखा है कि उनके लिए काव्य-सृष्टि करना उतना ही सरल था जितना रण के मैदान में जाना। वे एक उत्कृष्ट कवि और संगीत विद्या में निष्णात थे। नाट्यशास्त्र में पारङ्गत होने के कारण उनको 'अभिनव भारताचार्य्य' की उपाधि से मण्डित किया गया था।

साहित्य के क्षेत्र में महाराणा कुम्भा ने संगीत मीमांसा और संगीतराज नामक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने गीत गोविन्द पर रसिक प्रिया नामक टीका तथा चण्डी शतक पर भी टीका की। चित्तौड़ के शिलालेख से मालूम होता है कि उन्होंने चार नाटकों की भी रचना की। इन नाटकों में उन्होंने कर्नाटकी, मैदापटी और महाराष्ट्रीय भाषाओं का भी उपयोग किया है। चौहान सम्राट् वीसलदेव की तरह ये प्राकृत भाषा के भी विद्वान् थे।

साहित्य की तरह इनको भवन-निर्माण कला का भी बड़ा शौक था। इन्होंने कई दुर्ग, मन्दिर और तालाबों का निर्माण करवाया। कुम्भलगढ़ का प्रसिद्ध किला इन्हीं का निर्माण किया हुआ है। चित्तौड़ के किले पर उनके द्वारा बनवाया हुआ कीर्तिस्तम्भ आज भी उनकी कीर्ति गाथा का जयनाद कर रहा है। महाराणा कुम्भा पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दू संस्कृति के प्रतीक थे।

शिल्प शास्त्र पर महाराणा कुम्भा ने भिन्न २ व्यक्तियों से आठ ग्रन्थों की रचना करवायी थी जिनके नाम (१) प्रासाद मण्डन (२) राज वल्लभ (३) रूप मण्डन (४) देवता मूर्ति प्रकरण (५) वास्तु मण्डन (६) वास्तु शास्त्र (७) वास्तु सार और (८) रूपावतार था।

इस प्रकार सैनिक क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र, साहित्यिक और कला के क्षेत्र में मेवाड़ के इतिहास में अपनी अपूर्व

कीर्ति स्थापित कर महाराणा कुम्भा सन् १४६८ में अपने ही पुत्र उदय सिंह के हाथों मारे गये।

कुमुदचन्द्र

दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के एक सुप्रसिद्ध आचार्य, जिनका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में समझा जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र के रचयिता यही आचार्य थे। ये गुजरात सिद्धराज जयसिंह के समकालीन थे।

आचार्य कुमुदचन्द्र कर्णाटक देश के दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। वे अपने सिद्धान्तों की विजय के लिये शास्त्रार्थ करने के हेतु भ्रमण के लिये निकले।

ऐसा कहा जाता है कि ८४ सभाओं में वे अपने प्रति पक्षियों को पराजित कर सिद्धराज जयसिंह के नगर में पहुँचे। सिद्धराज जयसिंह ने अपने नाना का धर्म गुरु समझ कर उनका बहुत आदर किया।

उस समय गुजरात में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य देवसूरि थे, जो हेमचन्द्राचार्य के गुरु थे। सिद्धराज जयसिंह ने शास्त्रार्थ के लिये सभा का आयोजन किया। शास्त्रार्थ की शर्त्त यह तय हुई कि जो हार जावेगा, उसे गुजरात छोड़कर चला जाना पड़ेगा। एक ओर दिगम्बर सिद्धान्तों का समर्थन करने के लिये कुमुदचन्द्र बैठे। और दूसरी ओर श्वेताम्बर पक्ष के समर्थक आचार्य्य देवसूरि और हेमचन्द्र बैठे।

कुमुदचन्द्र का पक्ष यह था कि केवली त्रिकालदर्शी हैं। वे आहार नहीं करते। जो मनुष्य वस्त्र धारण करते हैं, उनका मोक्ष नहीं होता और न स्त्रियों का मोक्ष होता है।

देवसूरि का कहना था कि—"केवली आहार कर सकता है और वस्त्र पहनने वाले साधुओं और स्त्रियों का मोक्ष हो सकता है।"

देवसूरि के भाषण की छटा बहती हुई जलधारा की तरह धारा प्रवाही और प्रभावशाली थी और कुमुदचन्द्र विद्वान होकर भी रुक-रुक कर बोलने वाले थे। वाद-प्रतियोगिता के अन्त में कुमुदचन्द्र ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वे गुजरात से बाहर चले गये।

कुम्हार

भारतवर्ष में मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करने वाली एक प्रसिद्ध जाति जो भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में पायी जाती है।

कुम्हार जाति के आदिपुरुष महर्षि अगस्त्य समझे जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मानव-जाति के अन्तर्गत यंत्रकला के रूप में सबसे पहले कुम्हार के चाक का निर्माण हुआ और इसी चाक पर सबसे पहले लोग मिट्टी के बर्तन बनाने लगे।

यंत्रकला के आदिप्रवर्तक होने के कारण राजस्थान और मध्यप्रदेश में कुम्हार को प्रजापति भी कहते हैं। यंत्रकला का मूलरूप 'चाक' में होने की वजह से राजस्थान मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में हिन्दू विवाहों के समय में विवाह के पूर्व-चाक की पूजा के लिये स्त्रियाँ गाजे-बाजे के साथ कुम्हार के घर पर जाती हैं और वहाँ से मंगल स्वरूप समझ कर मिट्टी के कलश सिर पर रख कर आती हैं। इस उत्सव को वहाँ पर धोली-कलश के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

इससे पता चलता है कि कुम्हार-जाति के लिये हिन्दू-जाति में बड़ा सम्मान है; क्योंकि यह जाति मशीन युग की आदिप्रवर्तक मानी जाती है।

युक्तप्रदेश और भारत के अन्यान्य स्थानों में कनौजिया, हथेलिया, सुवारिया, बर्धिया, गदहिया, कस्तूर और चौहानी कुम्हार पाये जाते हैं। इनमें बर्धिया बैल पर गदहिया गदहे पर मिट्टी लादते हैं।

बंगाल के भिन्न-भिन्न स्थानों में २० प्रकार के विभिन्न गोत्र के कुछ कुम्हार मिलते हैं। उनमें बड़भागिया काले और छोट-भागिया लाल रंग के बर्तन बनाते हैं। उड़ीसा के जगन्नाथी कुम्हार अपने गोत्रों के सम्बन्ध में पूछने पर बतलाते हैं कि हमारे गोत्रों के सभी आदिपुरुष ऋषि थे और उन्होंने दक्षयज्ञ में जाकर महादेव के भय से यह रूप धर कर पलायन किया।

पूर्वी बंगाल के कुम्हारों में स्वगोत्र में विवाह होते हैं, मगर बिहार के कुम्हारों में स्वगोत्र में और मामा के गोत्र में विवाह प्रचलित नहीं है।

धर्म के सम्बन्ध में कई स्थानों के कुम्हार वैष्णव-धर्म के अनुयायी हैं। बंगाल के कुम्हार विश्वकर्मा की पूजा करते हैं। जगन्नाथी कुम्हार राधाकृष्ण और जगन्नाथ की पूजा करते हैं। अपना आदिपुरुष रुद्रपाल को मानने के कारण ये रुद्रपाल की मूर्ति भी बना कर पूजा करते हैं।

दक्षिण प्रदेश के कुम्हारों में कई श्रेणियाँ होती हैं। कर्नाटक के कुम्हार सब श्रेणियों में अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। किसी दूसरी श्रेणी के साथ उनका आचार-व्यवहार प्रचलित नहीं। वे मद्य-मांस से दूर रहते हैं। उनमें विधवा-विवाह प्रचलित है।

बीजापुर, शोलापुर और धारवाड़ जिले में लिंगायत कुम्हार रहते हैं। ये लोग अत्यन्त धर्मभीरु और मद्य-मांस से परहेज करने वाले होते हैं। लिंगायत कुम्हारों में विधवा विवाह और पुरुष के पक्ष में बहु विवाह जायज माना जाता है।

कुम्हार-जाति भारतवर्ष की बहुत प्राचीन जाति में से एक है और सबसे पहले इस देश में यंत्र के रूप में चाक का निर्माण करने का श्रेय इसी जाति को है। मगर ज्ञान और शिक्षा की कमी के कारण इस जाति का कोई क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है।

कुम्भकोणम्

मद्रास के अन्तर्गत मायावरम् से २० मील की दूरी कुम्भकोणम् स्टेशन है। यह दक्षिण भारत का एक प्रमुख तीर्थ है। प्रति १२ वें वर्ष यहाँ कुम्भ का मेला लगता है। कई लाख यात्री उसमें शामिल होते हैं।

यह नगर कावेरी नदी के तट पर है। हिन्दुओं की पौराणिक परंपरा के अनुसार ब्रह्माजी ने एक कुम्भ (घड़ा) अमृत से भर कर रखा था। उस कुम्भ की नासिका में एक छिद्र हो जाने से बहुत सा अमृत चू कर बाहर निकल गया। जिससे वहाँ की पाँच कोस तक की भूमि भींग गयी। इसीसे इसका नाम कुम्भघोणम् पड़ गया।

कुंभस्य घोणतो यस्मिन्, सुधापूरं विनिःसृतम्।
तस्मात्तु तत्पदं लोके, कुम्भघोणं वदन्ति हि॥

जब भगवान् शंकर ने देखा कि अमृत गिरने से यह स्थान अत्यन्त पवित्र हो गया है, तो वे इस स्थान को तीर्थ समझ कर लिंगरूप से यहाँ आविर्भूत हुए।

कुम्भकोणम् किसी समय प्रसिद्ध चोल-राजवंश की राजधानी रहा था। इस दृष्टि से इस नगर का राजनीतिक महत्व भी है। कुम्भकोणम में प्रसिद्ध ६ मन्दिर भी हैं।

१—कुम्भेश्वर २—सोमेश्वर ३—नागेश्वर ४—शार्ङ्गपाणि और ६—राम स्वामी।

१८ वीं सदी के अन्तिम भाग में तंजौर के नायक-वंशी शिवप्पा नायक के पौत्र-रघुनाथ नायक ने राम-स्वामी का मन्दिर बनवाया था। शार्ङ्गपाणि और चक्रपाणि के मन्दिर भी इन्हीं के द्वारा बनवाये हुए मालूम होते हैं। शेष तीन मन्दिर चोल-राजाओं के समय में ७ वीं सदी के करीब बनवाये गये ज्ञात होते हैं। बीच में लक्ष्मीनारायण स्वामी नामक व्यक्ति ने इन शिव मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया और इन मन्दिरों के खर्च के लिये जमीन खरीद कर मन्दिरों के नाम लगा दी। लक्ष्मीनारायण स्वामी की एक प्रस्तर की मूर्ति बनी हुई अभी भी देवालय में मौजू है।

जगद्गुरु शंकराचार्य के शृंगेरी मठ का एक शाखा-मठ कुम्भघोणम् में विद्यमान है। इसके मठाध्यक्ष भी शंकराचार्य कहलाते हैं।

कुम्भघोणम् का वृहत् गोपुर सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। उसमें शिल्प और स्थापत्यकला की पराकाष्ठा प्रदर्शित हुई है।

कुरआन

इस्लाम का परम पवित्र ग्रन्थ, जो मुसलमानों के विश्वास के अनुसार अल्लाहताला ने आयतों के रूप में विभिन्न समयों में मुहम्मद पैगम्बर को भेजा था। मूलग्रन्थ अरबी भाषा में है। इसमें ३० भाग (या पारा) हैं।

अरबी भाषा में 'कुरान' शब्द का अर्थ—ग्रन्थ, पुस्तक या पाठ है। इसको 'फुरकान' या 'मसहफ' भी कहते हैं। इसी कुरान के द्वारा प्रवर्तित धर्म या मजहब का नाम 'इस्लाम' है। कुरान का मुख्य उद्देश्य खुदाताला की

एकता, अद्वितीयता और उसकी सर्वशक्ति सत्ता को प्रदर्शित करना है, मगर इसके साथ ही इसमें ईश्वर की उपासना, ध्यान, धारणा—मनुष्य के जीवन के आचार-व्यवहार, कुफ्र और काफिरों को नष्ट करने के लिये 'जिहाद' की प्रेरणा इत्यादि कई विषयों का समावेश होता है।

कुरान मूलतः ३० पारा या अध्यायों में विभक्त है। इसमें ११४ सूरे (परिच्छेद), ६६६६ आयतें, ७९४३६ कलमे (शब्द) और ३२३७४१ अक्षर हैं। इन अक्षरों में ४८८७२ अलिफ, ११४२८ वे, १०१९९ ते, २०२७६ से, ३२९३ जीम, ३९९३ हे, २४१६ खे, ५६७२ दाल, ४६९७ जाल, ११७९३ रे, १५९० जे, ५८९१ छोटे शीन, २२५३ बड़े शीन, १२०१३ स्वाद, २६१७ जाद, १२७४ तो, ८४२ जो, ९२२० ऐन, २२१८ गैन, ८४९९ फे, ६८१३ बड़े काफ, ९५८० छोटे काफ, १३०४३२ लाम, २६१३५ मीम, २६५६० नून, २५५३६ वाव, १००७० छोटे हे, ४७२० लाम-अलिफ और २५९१९ ए हैं।

इस्लामी-परंपरा के अनुसार हजरत मोहम्मद ४० वर्ष की आयु से कुछ पहले अपनी जन्मभूमि के निकट 'हिरार' नामक पर्वत की गुफा में सत्य की खोज में ध्यान करने लगे। एक दिन ध्यानावस्था में उन्होंने देखा कि खुदाई नूर से प्रकाशित एक पवित्र पुरुष ने प्रकट होकर उन्हें आदेश दिया कि—पाठ करो!, मोहम्मद ने कहा कि—मैं पढ़ना नहीं जानता, कैसे पाठ करूँ! तब उस स्वर्गीय पुरुष ने दूसरी बार भी वही बात कही और तीसरी बार वह—"एकरा व एसम रबेवका" से लेकर "मालमइयालम" तक पढ़ कर अन्तर्धान हो गया।

मोहम्मद इस आश्चर्य-घटना को देख कर चकित हो गये और घर आकर अपनी पत्नी 'खदीजा' से सारी बातें बतलाईं। खदीजा मोहम्मद को अपने भाई 'वराकर' के पास ले गयी और उनको सारी घटना बतलाई। वराकर ने यह वृत्तान्त सुन कर कहा—

"सावधान! जिस महापुरुष ने आविर्भूत होकर मोहम्मद को उपदेश दिया है, वह स्वर्गीय दूत है—उनका नाम 'जिब्रील' है। वह समय-समय पर पैगम्बरों को ऐसे ही धर्म का उपदेश देते हैं।"

उसके पश्चात् उस स्वर्गीय दूत ने समय-समय पर हजरत मोहम्मद को सारे धर्म के उपदेश दिये। इस तरह करीब १३ वर्षों में उन्होंने सारे कुरान का उपदेश पाया। यह उपदेश वह समय-समय पर अपने शिष्यों और जनता को सुनाते रहे। शिष्य लोग इस उपदेश को खजूर के पत्ते, पत्थर या भेड़ की हड्डी पर लिखते जाते थे। जब सारा उपदेश लिखा जा चुका, तब हजरत मोहम्मद की मृत्यु के दो साल पश्चात् उनके आत्मीय खलीफा 'अबूबकर' ने उसको किताब के रूप में तैयार कर डाला और हिजरी सन् ३० में खलीफा 'उमर' ने इस ग्रन्थ का संशोधन किया।

हजरत मोहम्मद ने पहले पहल अपनी पत्नी खदीजा को इस्लाम की दीक्षा दी। उसके बाद अबूबकर और 'अली' ने इस्लाम को ग्रहण किया। उसके बाद तो अरब में इस मत का व्यापक प्रचार होने लगा।

इस्लामी-परम्परा के अनुसार 'रमजान' महीने की २७ वीं तारीख को स्वर्ग से कुरान उतारा गया था। इसीसे कुरान का दूसरा नाम 'लेलतुलकद्र' भी रखा गया। मुसलमानी जगत में रमजान महीने की २७ वीं तारीख की रात बड़ी पवित्र मानी जाती है।

कुरान की टीकाएँ

आगे के मुसलमान विद्वानों ने कुरान के ऊपर बहुत सी टीकाएँ बनाईं। इन टीकाओं में 'अलवेदवी' 'मालिक' 'हनीफ' 'शफी' और 'हनवली' की टीकाएँ प्रधान मानी जाती हैं।

इन टीकाकारों में हनीफ ने हिजरी सन् ८० में कूफा नगर में जन्म लिया और हिजरी सन् १५० में बगदाद के कैदखाने में उनकी मृत्यु हुई। शफी ने हिजरी सन् १५० में पेलिस्टाइन के गजानगर में जन्म लिया और हिजरी सन् २०४ में उनकी मिस्र में मृत्यु हुई। मालिक का जन्म हिजरी सन् ९५ में मदीना में हुआ और वह जीवन भर वहीं रहे।

इन टीकाओं के सिवाय फारसी, तुर्की, हिन्दी, तामिल, बर्मी, मलय, बंगला, अंग्रेजी, लेटिन, इटालियन, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश वगैरह कई भाषाओं में कुरान का तर्जुमा हुआ, मगर धार्मिक मुसलमान तर्जुमों पर बिल्कुल विश्वास

नहीं करते। वे १३ सौ वर्षों से बराबर इसी मूल-ग्रन्थ को भक्ति और इज्जत के साथ देखते आये हैं।

सूरत फातिहा मक्की—कुरान का प्रारंभ 'सूरत फातिहा मक्की' से शुरू होता है। ये आयतें मक्का में नाजिल हुईं। इसमें कुल ७ आयतें हैं। इसका नाम 'फातिहा' और 'फातीहतू-किताब' अर्थात् अल्लाह की किताब की आरंभ वाली सूरत है।

सूरत 'बकर मदनी'—दूसरी सूरत है जो मदीने में उतरी। इसमें २८६ आयतें और ४० रुकूअ हैं। इस सूरत में सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी और शैतान की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। कुरान में सृष्टि की उत्पत्ति 'आदम और हौआ' से मानी गयी है। कहा गया है कि—

"जब हमने फरिश्तों से कहा कि तुम आदम के आगे झुको तो शैतान (इब्लीस) के सिवाय सबके सब झुक गये, मगर शैतान ने उस हुक्म को न माना और जब हमने आदम से कहा कि ऐ आदम! तुम और तुम्हारी बीबी 'हौआ' बहिश्त में बसो और उसमें जहाँ से तुम्हारा जी चाहे, वह चीज मजे से खाओ-पीओ, मगर इस दरख्त गन्दम (गेहूँ) के पास मत फटकना। अगर ऐसा करोगे तो तुम अपना नुकसान कर लोगे।"

मगर शैतान ने 'आदम' और उसकी स्त्री 'हौआ' का परिचय प्राप्त कर लिया और उनको बहका कर गेहूँ खिला दिया और खुदा की आज्ञा के पालन से उन्हें हटा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस सुख और आनन्द में वे थे, अल्लाह ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया। और उन्हें पृथ्वी पर भेज दिया और कहा कि तुम आपस में हमेशा एक दूसरे के शत्रु रहोगे। इसके बाद आदम ने अपने परवरदिगार से माफ़िरत के चन्द अल्फ़ाज सीख लिए और उन अलफाज की बरकत से खुदा ने उनकी 'तोबा' कबूल कर ली। तोबा कबूल करने के बाद उनको समझा दिया कि हमारी तरफ से तुम लोगों के पास जो हिदायत पहुँचे उसकी पैरवी करना। जो इस पैरवी करने से चूकेगा, वह 'काफिर' और 'मुनाफिक' समझा जायगा।

इस सूरत में काफिर और मुनाफिक की तरह यहूदियों की विशेष रूप से आलोचना की गयी है। इसी सूरत में समाज-व्यवस्था और उत्तराधिकार का भी विवेचन किया गया है।

इसी सूरत में विवाह, तलाक, रोजा तथा शराब और जुए की बुराइयों के सम्बन्ध में भी विवेचना की गयी है। जिहाद (धर्म युद्ध) खैरात और सूदखोरी पर भी इस सूरत में काफी विवेचन किया गया है।

सूरत अली इम्रान—तीसरी सूरत आली इम्रान मदीने में उतरी। इसमें २०० आयतें और २० रुकूअ हैं। इस सूरत को प्रारंभ करते हुए लिखा गया है कि—

'अल्लाह के नाम से जो निहायत रहम करने वाला मेहरबान है—वही पूजा के योग्य है। उसके सिवाय और कोई पूजने योग्य नहीं। वह हमेशा से जिन्दा है और इस संसार-चक्र को सँभालने वाला है। ऐ पैगम्बर! उसने तुम पर इस किताब (कुरान) को अवतीर्ण किया है जो उन समस्त आकाश से उतरी हुई किताबों का समर्थन करता है, जो उससे पहले उतरी है। निस्सन्देह उसीने तोरेत और इंजील को इस कुरान से पहले उनकी हिदायत के लिये उतारा था और उसीने सत्य और असत्य में भेद प्रकट कर देने के विचार से मोजिजे (सिद्धियाँ) भेजे। जो लोग खुदा की आयतों से मुमकिर हैं, बेशक उनका सख्त अंजाम होगा। अल्लाह जबर्दस्त है बदला लेने वाला।"

इस सूरत में मरियम से महात्मा ईसा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि यहूदियों ने जब ईसा के नवीन सिद्धान्तों के साथ विरोध किया और उस समय के बादशाह को बहकाया तथा ईसा के लिए सूली का हुक्म ले लिया, मगर अल्लाह ने ऐसा प्रबन्ध किया कि एक और खूनी की शकल हजरत ईसा की सी बन गयी। जो उनके साथ जेलखाने में था और उसको हजरत ईसा की जगह सूली दे दी गयी।

ईसा को सम्बोधित कर कहा गया है कि—ऐ ईसा! जिन्होंने कुफ्र किया है, तुम्हारी पैगम्बरी को नहीं माना है, उन्हें अत्यन्त दारुण दुःख दूँगा। इस लोक में भी और परलोक में भी।'

इसके अतिरिक्त इसमें ऊहद की लड़ाई और बद्रकी लड़ाई का वर्णन किया गया है।

सूरत निसाअ—यह सूरत मदीने में उतरी है और इसमें १७७ आयतें और २४ रुकूअ हैं।

इस सूरत में पुरुषों के विवाह सम्बन्धी आदेश, तलाक-सम्बन्धी नियम, उत्तराधिकार सम्बन्धी विधान इत्यादि सामाजिक जीवन सम्बन्धी विधान। (कानून कायदों) का वर्णन किया गया है।

किन स्त्रियों से विवाह न करना चाहिए इस पर आदेश देते हुए कुरान में कहा गया है कि माताएँ, बेटियाँ, बहिनें, फूफियाँ, मौसियाँ, भतीजियाँ, भाँजियाँ, दूध माताएँ अर्थात् धाइएँ और दूध शरीक बहिनें और सासुएँ इत्यादि इन सबसे ब्याह करने की मनाही है।

उपरोक्त स्त्रियों के अतिरिक्त और स्त्रियाँ तुम्हें हलाल हैं, किन्तु केवल वासना-तृप्ति के लिए नहीं। बल्कि स्थायी रूप से विवाह-बन्धन में लाने के लिए स्वीकार व साक्षी करके महर (स्त्रीधन) के बदले उन्हें प्राप्त करना चाहिए।

बहु-विवाह और तलाक का भी इस सूरत में वर्णन किया गया है, मगर उसमें कई पाबन्दियाँ लगी हुई हैं।

सूरत माइदह—यह सूरत मदीने में उतरी है और इसमें १२० आयतें और १६ रुकूअ हैं। इसमें खान-पान सम्बन्धी तथा नमाज सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। कुफ्र के सम्बन्ध में भी इसके अन्दर विवेचन किया गया है। शराब, जुआ, बुत-परस्ती, इत्यादि बातों को अशुद्ध और शैतानी काम माना गया है। शिकार के सम्बन्ध में भी इसमें हिदायतें दी गयी हैं।

सूरत अनआम—यह सूरत मक्का में उतरी। इसमें १६६ आयतें और २० रुकूअ हैं।

इस सूरत में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—'सर्व शक्तिमान अल्लाह ने आदम के जरिए सारी सृष्टि पैदा की। आसमान से पानी बरसाया, पानी के द्वारा हर तरह की वनस्पतियाँ उगाईं और हर प्रकार के फल-फूलों को पैदा किए और कयामत (प्रलय) का वर्णन भी इसी सूरत में किया गया है।

सूरत अ-अराफ—यह सूरत मक्के में उतरी। इसमें २०६ आयतें और २४ रुकूअ हैं।

इस सूरत में मुहम्मद साहब और उनसे पहले के पैगम्बरों और नबियों का उल्लेख किया गया है।

सूरत अनफाल—यह सूरत मदीने में उतरी। इसमें ७५ आयतें और १० रुकूअ हैं।

इस सूरत में माले गनीमत या धर्म-युद्ध में शत्रु से छीने हुए माल के बँटवारे का वर्णन है और धर्म-युद्ध या जिहाद के सम्बन्ध में भी उल्लेख आया है।

इस सूरत में फिदिआ अर्थात्, पैसा लेकर कैदियों के छोड़ने का विरोध किया गया है। लिखा है कि—'तुम को चाहिए था कि धन-दौलत का ख्याल छोड़कर इस्लाम के शत्रु इन कैदियों का वध कर के कयामत पर पुण्य के अधिकारी बनते।

इसी प्रकार सूरततौबा, सूरत युनुस, सूरतहूद, सूरत युसूफ, सूरतरअद, सूरतइब्राहीम, सूरतहिज्र, सूरतनहल, सूरत बनी इस्राइल, सूरत कहब, सूरत मरियम, सूरत ताहा, सूरत अम्बिया, सूरत हज्ज, सूरत मोमिन, सूरतनूर, सूरत फ़ुरकान, सूरत शुअराअ, सूरत नम्ल, सूरत कसस, सूरत अंकबूत, सूरत रूम, सूरत लुकमान, सूरत सजदह, इत्यादि सब मिलाकर ११४ सूरतें हैं जिनमें कई सूरतें मक्का में उतरी और कुछ सूरतें मदीने में उतरी हैं।

इस्लामी परम्परा के अनुसार कुरान के उतरने का असली मकसद मनुष्य-जाति को अल्लाह या ईश्वर की अनंतशक्ति, उसकी कुदरत और दुनिया के जर्रे-जर्रे में उसकी शक्ति का आभास करवाना है। कुरान बतलाती है कि सिर्फ एक ही अल्लाह अपनी व्यापक शक्ति से इस सृष्टि की रचना और उसका नियंत्रण करता है। दूसरे सब देवी-देवता झूठे हैं। अल्लाह की शक्ति अपरिमित है। वह असम्भव के सम्भव करके दिखला देता है। कुमारी मरियम के गर्भ से कुमारावस्था में हजरत ईसा की उत्पत्ति (सूरत-मरियम) और जकरिया की बाँझ स्त्री के गर्भ से यहा की उत्पत्ति सब उसकी कुदरत के खेल हैं। अल्लाह के आदेशों में बिना तर्क-वितर्क के जो ईमान लाते हैं—वे सच्चे मुसलमान हैं और जो उसके आदेशों पर सन्देह करते हैं, उनमें तर्क-वितर्क करते हैं, वे काफिर हैं। अल्लाह के आदेश ही सब दर्शन और विज्ञान की जड़ हैं।

कुरान में बतलाया है कि इबलीस या शैतान हमेशा से अल्लाह का विद्रोही रहा है और यह हमेशा दुनियादार इन्सानों को ईमान की राह से भटकाकर कुफ्र की राह

कुरुक्षेत्र

हिन्दू-जन-समाज का एक सुप्रसिद्ध और महान् तीर्थ स्थान, भारत के प्राचीन जनपदों में से एक अत्यन्त प्राचीन जनपद, जिसमें भारतवर्ष का महान् युद्ध महाभारत लड़ा गया।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में कुरुक्षेत्र का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक काल में भी यह क्षेत्र अत्यन्त वैभवशाली और शक्तिसम्पन्न था।

प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार चन्द्रवंश की प्रतिष्ठान-शाखा के अन्तर्गत पुरुरवा नामक एक राजा हुआ। इस राजा की रानी उर्वशी नाम की अप्सरा थी। इसी पुरुरवा के नाम पर एक राजवंश चला, जिसका नाम पौरव कहलाया। इस पौरव वंश की एक शाखाप्रतिष्ठान (प्रयाग के पास झूसी के निकट इस समय 'पीहन' गांव है। उसी स्थान पर प्राचीन काल में प्रतिष्ठान नामक सुन्दर नगर बसा हुआ था) के ऊपर और नीचे गंगा के साथ-साथ बढ़ने लगी।

इसी वंश में पुरुरवा की चौथी पीढ़ी में ययाति बड़ा प्रतापी राजा हुआ जो सुप्रसिद्ध राजा मान्धाता के (सत्ययुग) समकालीन था। ययाति ने प्रतिष्ठान के पश्चिम, दक्षिण और दक्षिण पूर्व के प्रदेश जीतकर उत्तर पश्चिम में सरस्वती नदी तक सब देश अपने समाज्य में मिला लिया।

इसी वंश में आगे चल कर शकुन्तला उपाख्यान का उपाख्यान नायक दुष्यन्त हुआ। जिसने पौरवों की शक्ति को फिर से बढ़ाया। दुष्यन्त को शकुन्तला के गर्भ से 'भरत' नामक पुत्र हुआ। यह अत्यन्त पराक्रमी और चक्रवर्त्ती सम्राट् हुआ। इसने अपने साम्राज्य का विस्तार सरस्वती से गंगा तक और गंगा के पूरब पार अयोध्या तक फैलाया था। ऐसा समझा जाता है कि इसी "भरत" के नाम पर इस देश का नाम "भारत वर्ष" पड़ा। कुरुक्षेत्र वाला क्षेत्र भी इसके साम्राज्य में था, मगर अभी तक इस क्षेत्र का नामकरण नहीं हुआ था।

भरत की छठीं पीढ़ी में हस्ती नामक राजा हुआ जिसने हस्तिनापुर नामक नगर की अपने नाम से स्थापना की। जो आगे जाकर कुरुक्षेत्र की राजधानी हुआ।

द्वापर युग में इसी पौरव-वंश में संवरण नामक राजा हुआ जो उत्तर पांचाल के राजा सुदास का समकालीन था। सुदास ने राजा संवरण को दो बार हरा कर उसको हस्तिनापुर से भगा दिया, मगर अन्त में संवरण ने फिर से अपना राज्य सुदास के पंजे से छुड़ा लिया और उत्तर पांचाल को भी जीत लिया।

इसी संवरण का पुत्र कुरु हुआ। यह बड़ा वीर और प्रतापी था। इसने दक्षिण पांचाल को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इसी महान् प्रतापी राजा के नाम पर सरस्वती नदी के पड़ोस का यह प्रदेश कुरुक्षेत्र के नाम से और उसके वंशज कौरवों के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुरुरवा के पौरव अब कुरु के कौरव कहलाने लगे।

कुरु के तीन पुत्र हुए। इनमें से तीसरे पुत्र की पांचवीं पीढ़ी में वसु नामक एक बहुत प्रतापी राजा हुआ। उसने मत्स्य से मगध तक के सारे प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिला कर चक्रवर्त्ती सम्राट् का गौरव प्राप्त किया। वसु का स्थापित किया हुआ विशाल साम्राज्य उसके पांच पुत्रों में बँटकर पांच भाग हो गया। इन पांच भागों के नाम, मगध, कौशाम्बी, कारुष, चेदि और मत्स्य थे।

कुरु की चौदहवीं पीढ़ी में हस्तिनापुर में राजा प्रतीप हुआ। उसके दो पुत्र हुए देवापि और शान्तनु। इनमें देवापि ने सन्यास ग्रहण कर लिया और शान्तनु हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा। प्रतीप और शान्तनु के समय में हस्तिनापुर का राज्य फिर चमक उठा। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र अन्धे थे। शान्तनु की मृत्यु के पश्चाद् वे गद्दी पर बैठे। धृतराष्ट्र को दुर्योधन, दुःशासन इत्यादि सौ पुत्र हुए और पाण्डु को अपनी कुन्ती और माद्री नामक दो रानियों से युधिष्ठिर, भी, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाँच पुत्र हुए।

कौरवों और पाण्डवों में बचपन से ही द्वेष की भावनाएँ थीं। बड़े होकर पाण्डवों ने राज्य में अपना हिस्सा मांगा। दुर्योधन उन्हें कुछ देना नहीं चाहता था। अन्त में यह तय हुआ कि कुरुक्षेत्र के दक्षिण में यमुना पार खाण्डववन का जंगल है वह पाण्डवों को दे दिया जाय और वे उसे बसा लें।

इसी महाभयङ्कर खाण्डव वन को जला कर पाण्डवों ने वहां इन्द्रप्रस्थ नगरी की स्थापना की जो इस समय दिल्ली के पास इन्दरपत गांव के रूप में स्थित है।

पाण्डवों के शासन से इन्द्रप्रस्थ की समृद्धि बहुत तेजी से बढ़ने लगी। उन्होंने मगध-नरेश जरासन्ध को मार कर उसके शूरसेन नामक देश में अपना प्रभाव कायम कर लिया और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के उपलक्ष्य में एक राजसूय यज्ञ किया।

पाण्डवों की इस कीर्ति औ समृद्धि को देखकर दुर्योधन और कौरव बहुत चिढ़ गये। उन्होंने छल, बल, कौशल से धर्मराज युधिष्ठिर को जुवा खेलने के लिए राजी कर लिया। दुर्योधन का मामा शकुनी जुआ की चाल बाज़ियों से खूब परिचित था। उसने जुए में युधिष्ठिर को हरा कर उनका सारा राजपाट पत्नी द्रौपदी और भाइयों को दाव पर रखवा कर जीत लिया और उन्हें बारह बरस का वनवास और एक बरस का अज्ञातवास दे दिया।

वनवास और अज्ञातवास पूरा कर लेने पर भी जब दुर्योधन ने पाण्डवों को उनका राज्य लौटाने से इनकार किया तो उसके परिणाम-स्वरूप महाभारत का भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में पाञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारुष, मगध, काशी, कौशल और गुजरात के यादव पाण्डवों के पक्ष में थे और कौरवों की तरफ समस्त पूरब, समस्त उत्तर पश्चिम, तथा पश्चिमी भारत में से महिष्मती अवन्ति और शाल्व के राजा तथा मध्यदेश में से भी शूरसेन, वत्स और कौशल के राजा थे।

पाण्डवों की सेनाएँ मत्स्य की राजधानी उपप्लव्य के पास आ जुटीं और कौरवों की सेना कुरुक्षेत्र के उत्तर होते हस्तिनापुर तक फैली थीं। दोनों सेनाओं की टक्कर कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में हुई। सेना तथा शक्ति में कौरवों का बल बहुत अधिक होने पर भी कृष्ण की बुद्धि और कौशल के सम्मुख उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। शक्ति पर बुद्धि की विजय हुई। अठारह दिन महाभयङ्कर युद्ध होने के पश्चात् विजयमाला पाण्डवों के गले में पड़ी और वे कुरुदेश के राजा और भारत के सम्राट् हुए।

मगर युधिष्ठिर भी अधिक समय तक राज्य न कर सके। उनके महा प्रस्थान करने पर अर्जुन के पौत्र परीक्षित कुरुक्षेत्र के राजा हुए। महाभारत में उनकी मृत्यु 'तक्षक' नामक सर्प के काटने से हुई—ऐसा उल्लेख है। इस उल्लेख से आधुनिक इतिहासकार यह अनुमान निकालते हैं कि हस्तिनापुर की शक्ति के कमजोर पड़जाने से तक्षशिला के तक्षकों और नागों ने उन्हें युद्ध में पराजित कर मारडाला।

परीक्षित के पश्चात् उनके पुत्र जनमेजय कुरुदेश की राजगद्दी पर आये। इन्होंने अपने पिता परीक्षित की मृत्यु का बदला नाग-यज्ञ करके लिया। दूसरे अर्थ में तक्षशिला के तक्षकों पर आक्रमण करके लिया।

जनमेजय की तीसरी पीढ़ी में अधिसीम कृष्ण नामक राजा हुआ। जिसके समय में सबसे पहले नैमिषारण्य में महाभारत और पुराणों का पाठ हुआ।

अधिसीमकृष्ण का पुत्र निचक्षु कुरुवंश का अन्तिम राजा था। इसके समय में गंगा में भयङ्कर बाढ़ आने से हस्तिनापुर उसमें बह गया और राजा तथा प्रजा को वहां से भाग जाना पड़ा और बाद में निचक्षु को अपनी राजधानी कौशाम्बी में बनानी पड़ी।

उसके बाद राजनैतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का स्वतंत्ररूप से महत्त्व नहीं रहा और नन्दवंश मौर्य्य-साम्राज्य के समय में यह मगध साम्राज्य का अङ्ग बनकर रहा तथा हर्षवर्धन, प्रतिहार और गाहड़वाल राज्यों के समय में यह कन्नौज-राज्य का अङ्ग बन कर रहा।

धार्मिक महत्त्व

प्राचीन युग में यह क्षेत्र राजनैतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। कालान्तर में इसका राजनैतिक महत्त्व तो समाप्त हो गया, मगर इसका धार्मिक महत्त्व आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

महाभारत के इस प्राचीन युद्धक्षेत्र का, हमारे देश के इतिहास की प्रमुख घटनाओं से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। थानेश्वर, पानीपत, तरावड़ी, कैथल, तथा करनाल इत्यादि इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध के मैदान इसी पवित्र भूमि में स्थित हैं। ई० पूर्व ३२६ से लेकर ई० सन् ४८० तक यह क्षेत्र मौर्य-साम्राज्य और गुप्त-साम्राज्य का अङ्ग बना रहा। गुप्त-साम्राज्य के समय में यह क्षेत्र उन्नति के शिखर पर था। सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में थानेश्वर नगर परम ऐश्वर्यशाली और संस्कृत शिक्षा का केन्द्र था। बाणभट्ट ने अपने हर्ष-चरित्र में लिखा है कि—"थानेश्वर सरस्वती नदी के तट पर बसा हुआ धार्मिक शिक्षा एवं व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र

है। यहां का समस्त वायु-मण्डल वेद-मंत्रों की ध्वनि से परिपूर्ण है। हुएन-संग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि निस्सदेह ही धार्मिक परम्परा ने थानेसर को उत्तरी भारत में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने में बहुत अधिक सहायता प्रदान की है।

इसके बाद का कुरुक्षेत्र का इतिहास बर्बर आक्रमणों एवं पैशाचिक विनाश का इतिहास है, जिसमें इसके पवित्र स्थान विदेशी आततायियों द्वारा बार-बार ध्वस्त किये गये।

कुरुक्षेत्र का महत्त्व बताते हुए महाभारत के वनपर्व में लिखा है :—

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि, कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्।
य एवं सततं ब्रूयात् सोऽपि पापैः प्रमुच्यते
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे, वायुना समुदीरितः
अपि दुष्कृत कर्माणं, नयन्ति परमां गतिम्
दक्षिणेन्य सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे, ते वसन्ति त्रिविष्टपे
मनसाप्याभिकामस्य, कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर !
पापानि विप्रणश्यन्ति, ब्रह्मलोकं च गच्छति
गत्वाहि श्रद्धया युक्तः, कुरुक्षेत्रं कुरुद्वह
फलं प्राप्नोति च सदा, राजसूयाश्वमेधयोः'

(महाभारत वन-पर्व तीर्थयात्रा ८३।२–७)

मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा, मैं कुरुक्षेत्र में बसता हूँ जो इस प्रकार हमेशा कहता रहता है– वह भी सारे पापों से मुक्त हो जाता है। वायु से उड़ी हुई इस क्षेत्र की धूलि भी अगर किसी पापी के शरीर पर पड़ जाय तो वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। दृषद्वती के उत्तर तथा सरस्वती के दक्षिण में कुरुक्षेत्र की सीमा है। इस बीच में जो लोग बास करते हैं वे मानों स्वर्ग में ही बसते हैं। हे युधिष्टिर। जो आदमी मन से भी कुरुक्षेत्र जाने की कामना करता है, उसके भी पाप नष्ट हो जाते हैं और हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जो श्रद्धापूर्वक कुरुक्षेत्र-तीर्थ की यात्रा करता है, उसे राजसूय तथा अश्वमेध—इन दोनों यज्ञों का एकत्र पुण्य प्राप्त होता है।

कुरुक्षेत्र का इतिहास वास्तव में आर्य सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास है। इस पवित्र भूभाग में सरस्वती नदी के पवित्र तटों पर ऋषियों ने सर्वप्रथम वेद-मंत्रों का उच्चारण किया। ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओं ने यहाँ यज्ञों का आयोजन किया। इसी भूमि से भगवान् कृष्ण ने समस्त मानव जाति को गीता का अमर सन्देश सुनाया। और राजर्षि कुरु ने इसीको अपना कृषि-क्षेत्र बनाया।

यजुर्वेद ने इसे विष्णु, शिव, इन्द्र तथा अन्यान्य देवताओं की यज्ञ-भूमि बनाकर वर्णित किया है। कुरु के पहले यह क्षेत्र ब्रह्मा की उत्तर वेदी के नाम से प्रसिद्ध था। वामन-पुराण में इस क्षेत्र का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इसके २२ वें अध्याय में लिखा है कि—"महाराज कुरुने पावन सरस्वती नदी के तट पर आध्यात्मिक शिक्षा तथा अष्टांग धर्म की खेती करने का निश्चय किया। राजा यहां स्वर्ण-रथ में बैठकर आये तथा उस रथ के स्वर्ण से कृषि के लिए हल तैयार किया। उन्होंने भगवान् शिव से बैल और यमराज से भैंसा लेकर इस भूमि में हल चलाना शुरू किया। इस हल से राजा कुरु प्रतिदिन सात कोस भूमि जोत कर तैयार कर लेते थे। इस प्रकार उन्होंने ४८ कोस भूमि तैयार कर ली। उसके पश्चात् वहांपर भगवान् विष्णु आये। उन्होंने कुरु से प्रश्न किया कि राजन् यह क्या कर रहे हो? राजा ने जवाब दिया कि—"मै अष्टांग धर्म की कृषि के लिए जमीन तैय्यार कर रहा हूँ।" विष्णु ने कहा "इसमें बोने के लिए बीज कहां है?" राजा ने कहा—"वह मेरे पास है।" तब विष्णु ने कहा—"वह बीज आप मुझे दे दें मैं उसे बो दूंगा" तब राजाकुरु ने बीज की जगह अपनी दाहिनी भुजा फैला दी। तब विष्णु ने अपने चक्र से उस भुजा के हजार टुकड़े करके बो दिये। इस प्रकार राजा ने बाईं भुजा, दोनों पैर और सिर भी काटकर विष्णु को अर्पित कर दिया। तब विष्णु ने प्रसन्न हो उन्हें पुनर्जीवित करके वर मांगने को कहा। तब राजा ने निवेदन किया कि "हे भगवान्! जितनी भूमि मैने जोती है, वह सब पुण्यक्षेत्र, धर्मक्षेत्र होकर मेरे नाम से विख्यात हो। भगवान् शिव समस्त देवताओं सहित यहां बास करें तथा जो भी यहां मृत्यु को प्राप्त हो वह अपने पाप-पुण्य के प्रभाव से मुक्त होकर स्वर्गलाभ करें।" विष्णु ने तथास्तु कहकर उन्हें वर प्रदान किया।

कुरुक्षेत्र अर्थात् कुरु का खेत एक विस्तृत क्षेत्र है

जो लगभग ५० मील लम्बा और इतना ही चौड़ा है इस क्षेत्र में सात पवित्र वन तथा सात पवित्र नदियां मानी जाती हैं। सात पवित्र वनों के नाम (१) काम्यक वन (२) अदिति वन (३) व्यास-वन (४) फलकी वन (५) सूर्य वन (६) मधुवन और (७) शीत वन हैं। सात पवित्र नदियों के नाम (१) सरस्वती नदी २) वैतरणी नदी (३) आपगा नदी (४) मधुस्रवा (५) कौशिकी (६) दृषद्वती और (७) हिरण्वती नदी हैं।

इसके अलावा चार पवित्र सरोवर ब्रह्मसर, ज्योतिसर, स्थानेसर और कालेसर तथा चार पवित्र कूप चन्द्र कूप, रुद्रकूप, देवीकूप, और विष्णुकूप है। इसमें ज्योतिसर वह स्थान है जिस स्थान पर अर्जुन को मोह होने पर भगवान् कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था।

कुरुक्षेत्र में कुल ३६५ तीर्थ बतलाये गये हैं। मगर सब तीर्थों के दर्शन करना बड़ा कठिन है। मुख्य-मुख्य तीर्थों में ब्रह्मसर (समन्तपंचक तीर्थ), थानेश्वर, चण्डकूप, भद्रकाली मन्दिर, बाणगङ्गा, जयन्ती कमलतीर्थ, आपगा तीर्थ, भीष्मशर शैय्या, रत्नभक्त तीर्थ, कुवेर तीर्थ, मारकण्डेय तीर्थ, प्राचीन सरस्वती, अदितिकुण्ड, सोमतीर्थ, वामनकुण्ड, द्वैपायनह्रद, विष्णुपद तीर्थ, विमल तीर्थ और काम्यक वन विशेष प्रसिद्ध हैं।

सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में बहुत बड़ा मेला लगता है। जिसमें सारे देश से लाखों यात्री इस क्षेत्र में स्नान करने को आते हैं। सोमवती अमावस्या पर भी यहां का स्नान बड़ा फलप्रद माना गया है।

कुरुक्षेत्र जाने के लिये कुरुक्षेत्र, थानेसर सिटी, अमीज, कैथल, जींद इत्यादि किसी भी रेलवे स्टेशन पर उतरा जा सकता है। सभी स्टेशनों से यातयात के साधन मिल जाते हैं।

कुर्ग

अंगरेजी राज्य के समय में दक्षिणी भारत का एक छोटा सा राज्य और वर्तमान में मैसूर राज्य का जिला। जिसकी जन-संख्या सन् १९५१ की गणना के अनुसार २,२९,४०५ और क्षेत्रफल १५८६ वर्ग मील है। इसका

वास्तविक नाम कोड्गु था जो अंग्रेजों के समय में कुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हिन्दुओं की पौराणिक परम्परा में कावेरी महात्म्य के अन्दर कुर्ग राज्य की स्थापना का वर्णन मिलता है। इस परम्परा के अनुसार मत्स्य देश के राजा सिद्धार्थ के पुत्र चन्द्रवर्मा थे। वे एक बार तीर्थयात्रा करते हुए ब्रह्मगिरि गये और वहाँ पर उन्होंने पार्वती की आराधना की। पार्वती ने प्रसन्न होकर जिस जगह इस समय कुर्ग बसा हुआ है उस भूभाग का स्वामित्व उनको दे दिया।

चन्द्रवर्मा को ग्यारह पुत्र हुए। जिनमें बड़े का नाम देवकान्त था। देवकान्त को राज्य का भार सौंप कर चन्द्र वर्मा तपस्या करने चले गये। देवकान्त के ग्यारह भाइयों के पोते, परपोते सारे कुर्ग में फैल गये और उन्होंने वहां के सारे जंगलों को काट कर भूमि को जोत कर कृषि के योग्य बना दिया।

इसी भूमि में तुला संक्रान्ति के दिन भगवती पार्वती नदी का रूप धारण कर कावेरी के रूप में बह निकली। इसी लिये कुर्ग में कावेरी के तीरपर हर तुलासंक्रान्ति को मेला लगता है।

ऐतिहासिक परम्परा में यहाँ के शिलालेखों से मालूम होता है कि नौवीं और दसवीं शताब्दी। तक कुर्ग का प्रांत मैसूर के गंग राजाओं के अधीन था। उनकी राजधानी मैसूर के दक्षिण पूर्व में कावेरी के तट पर स्थित तलकाड़ में थी। इस गंगवंश ने मैसूर में दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक कई उत्थान पतनों के बीच शासन किया था।

कुर्ग का चंगालव राजवंश इन्हीं गंग नरेशों एक करद राजवंश था। गंगवंश का पतन होने के पश्चात् सन् ११४५ में होयसल नरेश नरसिंह ने कुर्ग पर आक्रमण कर के चंगालव वंश को पराभूत कर उन्हें श्री रङ्गपट्टन की ओर खदेड़ दिया। वहाँ भी ये लोग होयसल नरेशों के अधीन रहे।

ईसा की चौदहवीं शताब्दी में होयसल नरेशों के पश्चात् विजय नगर साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ और कुर्ग के चंगालवों को उनके अधीन रहना पड़ा।

सन् १५६५ में मुसलमान आक्रमणकारियों के द्वारा विजय नगर साम्राज्य तहस नहस कर दिया गया। फिर भी

कुर्ग में चंगालवों का गिरता पड़ता शासन सोलहवीं सदी के अन्त तक चला। इसके बाद यह राजवंश समाप्त हो गया।

चंगालवों के बाद इस क्षेत्र पर नायर वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। फरिश्ता अपने इतिहास में लिखता है कि सोलहवीं सदी के अन्तिम भाग में कुर्ग-प्रदेश अपने ही राजाओं द्वारा शासित होता था और इन राजाओं उपाधि "नायर" थी।

इन नायर राजाओं में डोड्ड वीरप्पा, चिक वीरप्पा लिंगराजा इत्यादि कई राजा हुए। इन्हीं दिनों मैसूर में हैदरअली की शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। उसने पहले तो लिङ्गराजा को अपना करद शासक बनाया, मगर लिङ्गराजा के मरने पर सन् १७८० में कुर्ग को अपने राज्य में मिला लिया।

इस पर अपने राजा के पक्ष में कुर्ग की जनता ने बगावत कर दी और सन् १७८२ में कुर्ग से मुसलमानों को निकाल कर बाहर किया। हैदरअली के मर जाने पर टीपू सुलतान ने सन् १७८४ में कुर्ग पर फिर आक्रमण करके कुर्ग को जीत लिया। मगर टीपू के वहाँ से जाते ही सन् १७८५ में कुर्गों ने फिर बगावत कर दी। इस पर टीपू सुलतान सेना के साथ कुर्ग पर आया। इस बार उसने कुर्ग लोगों को बड़ी निर्दयता के साथ मारा। और कहा जाता है कि ७०००० कुर्गों को पकड़ कर उन्हें भेड़ों की तरह श्रीरंगपट्टम भेजा और वहाँ उन्हें मुसलमान बना दिया गया।

इसी समय कुर्गों का वीरराजा छः वर्ष के बाद किसी प्रकार जेल से छूट कर सन् १७८८ में अपने दो भाई और पत्नी के साथ भागा। इन लोगों के भागने का पता लगने पर कुर्ग लोग दल के दल इकट्ठे होकर उनसे आ मिले। तब वीरराजा ने टीपू के विरुद्ध अंगरेजों से संधि की। सन् १७८९ ई० में अंगरेजों की फौज बम्बई से श्रीरंगपट्टम को रवाना हुई। अंग्रेजी फौज ने टीपू को खदेड़ कर श्रीरंगपट्टम से भगा कर वहाँ अपना कब्जा कर लिया। अन्त में टीपू को अंगरेजो से अत्यन्त अपमानपूर्ण सन्धि करनी पड़ी। जिसमें कुर्ग का प्रान्त भी वीर राजा को लौटाना पड़ा। जिस स्थान पर वीर राजा अंग्रेज सेनापति अबरक्रोम्बी से पहले पहल मिले वहाँ पर उन्होंने वीर राजेन्द्र पेठ नामक नगर बसाया जो इस समय कुर्ग का प्रसिद्ध नगर है।

सन् १८०९ में वीर राजा पागल होकर मर गये और उनकी बड़ी लड़की देवम्मा कुर्ग की रानी हुई। सन् १८११ में वीरराजा का भाई लिंगराजा गद्दी पर बैठा। इसने सन् १८२० तक शासन किया। इसके बाद इसका लड़का वीर राजा गद्दी पर बैठा। यह बड़ा अत्याचारी था जिससे प्रजा बड़ी असन्तुष्ट थी। परिणाम स्वरूप सन् १८३४ के मई महीने में लार्ड बैंटिक ने उस राजा को गद्दी से हटाने लिए फौज भेजी और कुर्ग राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।

कुर्ग पश्चिमी घाट का भाग है इसलिए यह सारा प्रदेश पर्वतीय है। यहाँ का कोई भी स्थान सागर तल से तीन हजार फीट से कम ऊँचाई पर नहीं है। यहाँ की प्रधान उपज काली मिर्च, इलायची, कहवा और चावल है। यहाँ के पहाड़ों में हाथी, शेर तथा जंगली सुअर प्रचुरता से पाये जाते हैं। कुर्ग राजा के सन् १८२४ के एक शिला लेख में लिखा है सन् १८२२ के जुलाई मास से सन् १८२४ के अप्रैल मास तक उसने २३३ हाथी मारे और १३१ हाथी जीवित पकड़े। इससे मालूम होता है कि उस समय यहाँ की पहाड़ियों में हाथी बहुत होते थे। अब उतने नहीं होते।

कुर्गों की भाषा कनाड़ी और मलयालम के संयोग से बनी है। कुर्ग लोग विशेष कर सनातन धर्मी हैं। ये लोग महादेव और सुब्रह्मण्यदेव को इगुलप्पा के नाम से पूजते हैं तक्का नामक पंचायत कुर्गों के सामाजिक जीवन का प्रबन्ध करती है। कुर्ग लोगों में कावेरी, हत्तरी (फसल पूजा) भगवती और कैल मुहूर्त (हथियार पूजा) ये चार त्यौहार बड़े ठाठ से मनाये जाते हैं।

कुर्दिस्तान

ईरान के पूर्वी भाग तथा टाइग्रिस नदी के उत्तर पूर्व वर्त्ती असीरिया के एक भाग में कुर्द लोगों का वास होने से यह प्रदेश कुर्दिस्तान कहलाता है। कुर्दिस्तान के कुछ भाग पर ईरान का, कुछ पर ईराक का और कुछ पर टर्की का अधिकार है। इस क्षेत्र में मेहाबाद, निजार

इत्यादि कुछ अच्छे नगर भी हैं। कुर्द लोग कृषि जीवी और पशु पालक होते हैं। अरब लोगों ने सातवीं सदी में इन लोगों को मुसलमान बनाया। सन् १६४५ में साम्यवादी कुर्दों ने अपना एक स्वतंत्र गणराज्य स्थापित कर लिया है।

कुरुम्बर

भारत वर्ष के दक्षिणी प्रदेश की एक असभ्य जाति। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्राचीन युग में यह जाति बहुत प्रबल थी और समस्त द्रविड़ देश पर उसका आधिपत्य था। दक्षिण भारत में कई जनपद उसके स्थापित किये हुए हैं। चोल राजाओं के समय अर्काट में कुरुम्बर जाति के लोग रहते थे।

आज कल यह जाति जंगलों में छोटे-छोटे झोपड़े बनाकर रहती है और पशुपालन का धन्धा करती है। नील गिरि के तरफ के लोगों का यह विश्वास है कि इस जाति के लोग इन्द्रजाल और जादू जानते हैं और अपने दुश्मनों को जादू के जोर से मारने का प्रयत्न करते हैं।

कुँवर सिंह

सन् १८५७ के स्वतंत्रता युद्ध के सुप्रसिद्ध सेनानी। बिहार प्रान्त में शाहाबाद जिले के जमीदार। जिनका जन्म जगदीशपुर नामक स्थान में सन् १७८२ में और मृत्यु २६ अप्रैल सन् १८५८ को हुई।

कुंवर सिंह के खानदान का प्राचीन रक्त सम्बन्ध मालवा के प्रसिद्ध नृपति राजा भोज के साथ था। इस वंश के वंशधर संग्राम सिंह सन् १४०० के लगभग पिण्डदान के सिलसिले में गया आये थे और लौटते समय संयोग वश वे शाहबाद जिले में ही बस गये। यह कहानी कुंवर सिंह के पितामह उदवन्त सिंह के दरबारी कवि चन्द्रमौलि ने सन् १७४६ में लिखे गये "उदवन्त-प्रकाश" नामक ग्रंथ में लिखी है।

संग्राम सिंह की चौदहवीं पुश्त में बाबू कुंवर सिंह का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम साहबजादा सिंह और माता का नाम "पंचरत्न कुंवर" था। कुंवर सिंह का विवाह गया जिले के देवमूंगा गांव के राजा फतह नारायण सिंह की लड़की से हुआ था। जब कुंवर सिंह बालिग हुए तब वे १७८७ गांवों के जमीदार थे और सरकार को एक लाख अड़तालीस हजार रुपया वार्षिक मालगुजारी देते थे।

बचपन से ही कुंवर सिंह को अस्त्र-शस्त्र चलाने का बड़ा शौक था और इस विषय में वे पारंगत भी हो गये थे। यही कारण था कि विद्रोह के समय में इनकी गिनती सैनिक योग्यता में गदर के अन्य सब नेताओं से बढ़कर मानी जाती थी।

कई इतिहास लेखकों के मत से बाबू कुंवर सिंह बड़े ऐय्याश और विलासी थे। "धरमन बीबी" नामक एक मुसलमान महिला के साथ उनका प्रेम हो गया था। और इस चक्कर में उन्होंने इतना पैसा उड़ाया कि उनका खजाना खाली हो गया। धरमन बीबी के मरने पर उन्होंने उसके स्मारक में उसके मकान के पास ही एक मसजिद बनवादी जो इस समय जुमा मसजिद के नाम से प्रसिद्ध है।

बाबू कुंवर सिंह वैसे भीतर ही भीतर अंग्रेजी शासन से असन्तुष्ट थे और उन्होंने सन् १८४५-४६ के पटना के विद्रोह में और सन् १८५५ के संथाल विद्रोह में भी विद्रोहियों का छुपे छुपे साथ दिया था, मगर ऊपर से अंग्रेजों के साथ उनकी घनिष्ट मित्रता के सम्बन्ध थे। लेकिन जब वे लाखों रुपये के कर्जदार हो गये और अंग्रेजी शासन से उन्हें कोई सक्रिय सहायता नहीं मिली तब उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति अत्यन्त घृणा के भाव पैदा हो गये और वे खुले रूप से सन् ५७ के विद्रोह में सम्मिलित हो गये। उनके नेतृत्व में दानापुर छावनी के विद्रोही सैनिकों ने २७ जुलाई को आरा पर धावा बोल दिया। आरा के १६ अंग्रेज और ५० सिक्ख सिपाही आरा हाउस में पहले ही जाकर छिप गये थे। विद्रोही सैनिकों ने आरा के खजाने पर अधिकार कर लिया और जेलों के फाटक खोल कैदियों को छोड़ दिया। २६ जुलाई को दानापुर छावनी से कैप्टन डनबर के नेतृत्व में ४०० अंग्रेज और १०० सिख सैनिकों की फौज आरा को मुक्त कराने के लिए आई मगर कुंवर सिंह के सैनिकों ने उसे बुरी तरह हरा दिया। केवल ५० सैनिक किसी प्रकार बचकर भाग निकले।

इसके पश्चात् मेजर आर्चर के नेतृत्व में एक बड़ी

फौज कुंवर सिंह का मुक़ाबिला करने को आई। ७५ वर्षीय कुंवर सिंह ने बहादुरी के साथ मुक़ाबिला किया मगर तोप खाने की मार के सामने उनकी फौज न टिक सकी और उन्हें आरा से हटना पड़ा। उसके बाद उन्होंने गुरिल्ला छापामार पद्धति से युद्ध करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार कई महीने तक वे अंग्रेजों को छकाते रहे। इन छापामार लड़ाइयों में अंग्रेजों के बहुत से अस्त्र-शस्त्र उनके हाथ लगे।

इसी सिलसिले वे रीवां, कालपी होते हुए ग्वालियर गये। वहां के सिपाहियों का नेतृत्व करते हुए नाना साहब और तांत्याटोपे की मदद करने के लिए कानपुर की ओर बढ़े, मगर जब उन्हें मालूम हुआ कि नाना साहब की फौज हार चुकी है, तो वे लखनऊ और फैजाबाद की ओर चल पड़े और हिलमैन की सेना को पराजित कर आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। तब अंग्रेजों ने आजमगढ़ पर आक्रमण करने के लिए कर्नल डेम्स के नेतृत्व में एक बड़ी फौज भेजी, उसे भी कुंवर सिंह ने हरा दिया। अंग्रेजों की तीसरी फौज मार्ककेट के नेतृत्व में आई, उसकी भी हार हुई। मार्ककेट की हार बड़ी महत्वपूर्ण हार थी। अन्त में सेनापति लुगार्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी फौज ने कुंवर सिंह की फौज को हराया तब कुंवर सिंह छापामार पद्धति से लड़ते हुए जगदीश पुर की तरफ चले। इसी बीच जनरल डगलस की फौज ने उनपर आक्रमण कर दिया। उसका सामना करने के लिए अपनी दो टुकड़ियों को छोड़कर वे आगे बढ़े। मगर डगलस उनका पीछा करता रहा। अन्त में शिवपुर नामक स्थान पर गंगा नदी पार करते हुए नाव पर कुंवर सिंह के दाहिने हाथ में गोली लगी। उन्होंने उसी समय बायें हाथ से अपने दाहिने हाथ को काटकर गंगा में फेंक दिया और २३ अप्रैल १८५८ को वे जगदीशपुर जा पहुँचे। वहां पर जाकर अंग्रेजी फौज को उन्होने हराया। इसके तीन दिन पश्चात् उनकी मृत्यु हुई। उस समय जगदीशपुर पर स्वतंत्रता का झण्डा फहरा रहा था।

इस वृद्ध पर बहादुर सेनानी के रण कौशल की तथा उसके स्वाधीनता प्रेम की अंग्रेज इतिहास कारों ने बड़ी प्रशंसा की है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् बिहार की सरकार ने इस वीर सेनानी के जन्म दिवस २३ अप्रैल को सार्वजनिक छुट्टी घोषित कर दी।

कुवित्शेक (जुस्सेलीन कुवित्शेक)

ब्राजील नामक देश के सन् १९५५ में चुने हुए राष्ट्रपति। जिन्होंने अपने शासनकाल में ब्राजील की नवीन राजधानी ब्राजीलिया निर्माण किया।

सन् १९५५ में ब्राजील के राष्ट्रपति पद के लिए श्री जुस्सेलीन कुवित्शेक खड़े हुए, और उन्होंने अपने पांच वर्षीय कार्यकाल में ही ब्राजील की नवीन राजधानी का निर्माण कर डालने का आश्वासन दिया। जिसके बल पर जनता ने उन्हें चुन लिया।

इसके पहले इस शताब्दी के शुरू में ही सरकार द्वारा निर्मित क्रुल्स आयोग ने नवीन राजधानी के लिए गोयास प्रदेश की पठारी भूमि प्लैनेल्टो सेण्ट्रल का चुनाव कर लिया था और सन् १९२२ में वहां पर राजधानी की आधारशिला भी रख दी गई थी। मगर उसके बाद यह काम पोल में पड़ गया और आगे कोई प्रगति नहीं हुई।

पुरानी राजधानी रियो द-जैनीरो से नई राजधानी का यह स्थान करीब ६०० मील दूर पड़ता था और इस दूरी को जोड़ने के लिए कोई भी रेल लाइन या सड़क नहीं थी। सबसे नजदीक का रेलवे स्टेशन भी वहां से १०० मील दूर आनापोलिस में पड़ता था।

इतनी कठिनाइयो के होते हुए भी प्रेसीडेण्ट कुवित्शेक इस महान् कार्य्य में जुट गये। उन्होंने अपने कार्य्यकाल के नौवें महीने में ही राजधानी निर्माण का काम प्रारम्भ कर दिया। सबसे पहले संगमरमर और कांच का एक प्रसाद बनवाया गया। इसके बाद पर्यटकों के लिए एक शानदार होटल बनवाया गया। राजधानी का मास्टर प्लॉन बनाने के लिए इन्जिनियरों और शिल्पियों में प्रतियोगिता रक्खी गई। २६ प्रतियोगियों द्वारा पेश किये गये नक्शों में लूंसिड कास्ता नामक व्यक्ति का प्लॉन श्रेष्ठ समझा गया, और उसी के अनुसार तेजी से राजधानी का निर्माण प्रारम्भ हुआ। सन् १९५७ में कार्य्य प्रारम्भ हुआ और सन् १९६० की २१ अप्रैल को नवीन राजधानी ब्राजीलिया का उद्घाटन दिवस रक्खा गया।

उद्घाटन के दिन ब्राजील निवासियों की खुशी का का पार नहीं था। दूर-दूर से हजारों आदमी इस समारोह में शामिल होने के लिए आ रहे थे। ब्राजील राष्ट्र ने उस दिन एक नये युग में प्रवेश किया था।

उसके बाद यह शहर दिन दूनी और रात चौगुनी तरक्की करने लगा। चार बरस में उसकी जनसंख्या दूनी हो गई। सरकार के सारे महत्त्वपूर्ण कार्यालय वहां स्थापित हो चुके हैं। इसके प्लान में आधुनिक नगर की सभी सुविधाओं का ध्यान रक्खा गया है। बड़ी-बड़ी दुकानें, होटल, कार्यालय, सिनेमा घर, कारखाने, सड़कें जल व्यवस्था आदि सभी सुविधाओं से यह नवीन राजधानी सम्पन्न है।

इस प्रकार राष्ट्रपति कुबित्शेक की महान् कर्मशीलता और लगन से इस सुन्दर राजधानी का निर्माण हुआ।

कुवलय माला

जैनाचार्य्य उद्योतनसूरि-जिनका दूसरा नाम दाक्षिण्यांक सूरि भी था—के द्वारा रचा हुआ प्राकृत भाषा का एक सुन्दर काव्य। जिसकी रचना सन् ७७७ ई० में राजस्थान के जाबालिपुर या जालौर नामक स्थान पर बने हुए ऋषभ देव के मन्दिर में हुई।

कुवलय माला का कथाकाव्य प्राकृत साहित्य में एक बहु मूल्य रत्न की तरह है। यह काव्य चम्पू काव्य के ढंग का है। इसकी रचना शैली बाण की कादम्बरी या त्रिविक्रम कवि की दमयन्ती कथा के ढंग की है। इसकी भाषा अत्यन्त लालित्य पूर्ण और काव्यशैली चमत्कार युक्त है। प्राकृत भाषा का अध्ययन करने वालों के लिए यह बड़ा बहुमूल्य ग्रन्थ है। इस काव्य में कवि ने प्राकृत भाषा के साथ अपभ्रंश और पैशाची भाषा की छटा दिखला कर अपनी काव्य प्रतिभा का विशेष रूप से परिचय दिया है। इस कारण यह ग्रन्थ भाषाशास्त्रियों के लिए भी उपयोगी हो गया है। अपभ्रंश भाषा में लिखे हुए इतने पुराने वर्णन अभी तक अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हुए हैं, इसमें कवि ने अठारह देशों के नाम देकर उन में बोली जाने वाली भाषाओं का कुछ आभास भी दिया है।

काव्य कला में उत्कृष्ट होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है। इस ग्रन्थ से आठवीं सदी के भारतीय इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। सुप्रसिद्ध प्रतिहार सम्राट् वत्सराज ने अपने पराक्रम से उत्तर भारत के कान्यकुब्ज या कन्नौज पर विजय करके एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था यह सम्राट् गुर्जर प्रतिहार वंश का था और इसकी पुरानी राजधानी जबालिपुरमें थी। उस सम्राट् का इस काव्य में काफी उल्लेख आया है वत्सराज के पुत्र नाग भट्ट का या आम राजा का भी इसमें उल्लेख आया है।

इस प्रकार काव्य कला और इतिहास दोनों ही दृष्टियों से कुवलय माला का बड़ा महत्त्व है।

कुवैत

ईरान और सऊदी अरब के बीच फारस की खाड़ी के उत्तर पश्चिमी कोने पर स्थित एक छोटा सा देश। जिसका क्षेत्रफल १९५० वर्गमील और जनसंख्या केवल ६०००० है।

कुवैत का शासक शेख खानदान है। इस खानदान के इब्न साहब नामक शेख ने टर्की के आक्रमण से अपना संरक्षण करने के लिए सन् १८९९ में ब्रिटिश सरकार का संरक्षण प्राप्त किया। सन् १९१४ में अंग्रेजों ने कुवैत को स्वतंत्रता प्रदान कर दी। सन् १९३८ में तैल कूपों का पता लग जाने से इसका महत्व बहुत बढ़ गया।

कुवैत यद्यपि एक छोटा सा देश है मगर अपने तैल कूपों के कारण वह संसार का सबसे अमीर देश माना जाता है।

"फ़ाइनेन्शियल टाईम्स" नामक एक अंगरेजी पत्र के अर्थ शास्त्री ने विभिन्न देशों की अमीरी का हिसाब लगाकर कुवैत को दुनिया का सबसे अमीर देश बतलाया है।

उक्त अर्थशास्त्री ने फ़ारस की खाड़ी के एक दूसरे तेल के धनी देश कातार का अमीर देशों में दूसरा और अमरीका को तीसरा नम्बर दिया है।

इसी लेखक के अनुसार फारस की खाड़ी का एक अन्य देश आबूढाबी भी दुनिया का सबसे अमीर देश गिना जा सकता है मगर उसके आंकड़े प्राप्त नहीं हो सके हैं।

अमरिका का राष्ट्रीय उत्पादन प्रति व्यक्ति २५०० डालर है और कुवैत तथा कातार का राष्ट्रीय उत्पादन प्रति व्यक्ति ५००० डालर है। चीन और भारत का राष्ट्रीय उत्पादन प्रति व्यक्ति ७५ डालर है और इनका नम्बर ८५ वां है। सोवियट संघ का नम्बर १६ वा है।

कुशपुर (सुलतानपुर)

उत्तर प्रदेश में गोमती नदी के तीर पर बसा हुआ प्राचीन नगर जिसका पुराना नाम कुशपुर और वर्त्तमान नाम सुलतान पुर है।

चीनीयात्री हुएन संग सातवीं सदी के प्रथम भाग में कुशपुर (कि-अ-सी-पो-ल) देखने आये थे। उन्होने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है कि पहले वहाँ एक बौद्ध संघाराम बना हुआ था। प्राचीन युग में इसी संघाराममें सुप्रसिद्ध बौद्धभिक्षु धर्मपाल ने अन्य धर्मी लोगो से शास्त्रार्थ किया था। इस स्थान पर सम्राट् अशोक द्वारा प्रतिष्ठित एक भग्न स्तूप भी है। मुसलमानो ने जब उत्तर प्रदेश पर अधिकार किया तब यह नगर नन्दकुमार नामक एक राजा के अधिकार में था। अलाउद्दीन ने उसे पराजित कर इस नगर पर अधिकार कर लिया और इसका नाम 'कुशपुर' से बदल कर 'सुलतानपुर' रख दिया।

कुशस्थली ब्राह्मण

दक्षिणी भारत में गोआ के अन्तर्गत कुशस्थली नामक गाँव से प्रादुर्भूत सारस्वत ब्राह्मणो की एक शाखा।

कुशस्थली समाज के लोग कारवाड़, कुमता, होनावर और मालाबार के समुद्र तट पर थोड़ी-थोड़ी संख्या में पाये जाते हैं। गोआ जिले में कुश स्थली नामक ग्राम के नाम पर ही इस जाति का नामकरण हुआ है। पहले ये लोग वहाँ की शेनवी नामक जाति से मिले हुए थे, मगर सन् १५८० के करीब किसी विषय पर मतभेद होजाने से उनसे अलग हो गये। इनके गोत्रों में वात्स्य, कौशिक कौण्डिन्य, भारद्वाज और अग्निगोत्र प्रमुख है। इनकी उपाधियों में कुलकर्णी, नाडकरणी, मने, वारटे, चिक्कर इत्यादि उपाधियां उल्लेखनीय है। ये उपाधियां सन् १५६० से १७६३ के बीच मैसूर और बदनूर के इक्केरी राजाओं के समय से चली हैं। इसके पहले ये लोग तैलंग, वैद्य, पण्डित, बागले इत्यादि शेनवी उपाधियो को धारण करते थे। सारस्वतों की एक शाखा मानते हुए भी कुशस्थली दूसरे सारस्वतों के साथ खान पान और आदान प्रदान का कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

कुशीनगर

भगवान् बुद्ध की पवित्र निर्वाण भूमि, बौद्धो का का सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान।

गोरखपुर जिले में गोरखपुर से ३६ मील की दूरी पर वर्तमान कसिया नामक ग्राम ही भगवान् बुद्ध की निर्वाण-भूमि कुशी नगर समझा जाता है।

यहाँ पर खुदाई से निकली हुई मूर्तियों के अतिरिक्त परिनिर्वाण स्तूप और विहार स्तूप दर्शनीय हैं। ८० वर्ष की अवस्था में ईसा से पूर्व ५ वी शताब्दी में भगवान् बुद्ध ने दो शालि वृक्षो के बीच यहाँ परिनिर्वाण प्राप्त किया था।

कुशीनगर की स्थिति के सम्बन्ध में पहले इतिहास-कारों के अन्दर काफी मतभेद था। कुछ लोग इसकी स्थिति नैपाल में मानते थे और कुछ अन्यत्र। अन्त में इतिहासकार कनिंघम ने कई प्रमाणों से कुशीनगर की स्थिति इसी स्थान पर सिद्ध की और अब तो यहाँ से पुरातत्व सम्बन्धी इतने प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं कि इस स्थान का बुद्ध की निर्वाण भूमि होने में कोई सन्देह शेष नहीं रहता।

कुषाण राजवंश

मध्य एशिया से आकर भारत पर विजय प्राप्त करने वाला एक विदेशी राजवंश। जिसका शासन ई० सन् २५ से लेकर सन् ४२५ ई० तक कमोवेश रूप में इस देश पर रहा।

कुषाण जाति के इतिहास को भली प्रकार समझने के लिए उस समय हिन्दुकुश पर्वत के आसपास बसने वाली कुछ जातियों की संक्षिप्त जानकारी लेना आवश्यक है। उस समय की जानकारी चीनी यात्री चाङ्ग-क्यान के विवरण से भली प्रकार मिल जाती है। चाङ्गक्यान को चीन सम्राट् वू-ती ने ई० सन् पूर्व १३८ में मध्य एशिया के अन्तर्गत यूची शासकों के पास इस लिए भेजा था कि वे लोग पश्चिम की ओर से हूणों पर आक्रमण करके चीनी सम्राट् के हूण विरोधी अभियान में सहयोग करें।

ई० सन् पूर्व १७४ में चीन के जबर्दस्त प्रहार से लड़खड़ाकर हूण लोग वहाँ से भगे। उस समय पश्चिम में यूची नामक जाति शासन कर रही थी। हूणों ने इस यूची जाति के लोगों को खदेड़ कर और पश्चिम में ढकेल दिया।

जिस समय चाङ्ग-क्यान यूची शासकों से मिलने आया उस समय के उसके लेख से मालूम होता है कि उस समय कांग-किन या सिर दरिया के उत्तर में हूणों का राज्य था और दक्षिण में यूची जाति का राज्य था। यूची लोग चांग-क्यान के पहुँचने तक ग्रीक बाख्तरी राजाको जीत चुके थे।

बाख्तरी राजा अपोलो दोत को जीतने वाले यूचियों के चार कबीलों में 'असि-ई' नामक एक कबीला बड़ा शक्तिशाली था। इसी कबीले में से कुषाण कबीला आविर्भूत हुआ ऐसा कई इतिहास कारों का मत है।

कुछ अन्य इतिहास कारों के मतानुसार यूची जाति दो विभागों में विभक्त हो गई थी। एक विभाग महा यूची का था जो सतनद और त्यान-शान की वू-सून नामक जातिको पराजित करता हुआ, पश्चिम की ओर बढ़ते बढ़ते सिर दरिया की उपत्यका में जा पहुँचा और ग्रीक बाख्तरियों से फरगाना जीत कर उसने वहीं अपना शासन स्थापित किया। यूचियों की दूसरी शाखा लघु-यूची थी जो तोखारी के नाम से भी प्रसिद्ध थी। इसी तुखारी वंश की एक शाखा क्वाद-शुआंग या कुषाण थी। जिनका नाम वहाँ के कूचा नगर में अब भी पाया जाता है। जिस समय यूचियों की बड़ी शाखा ने बैक्ट्रीया, कपिशा और गान्धार पर विजय प्राप्त की, उसी समय इस छोटी शाखाने पामीर और गिलगिट में अपने पैर जमाये। इसी जाति के पाँच कबीलों में जब प्रतिद्वन्दिता हुई तो उसमें कुषाण कबीले ने अपने सरदार कुजुल के नेतृत्व में विजय प्राप्त की और वहाँ से आगे बढ़कर भारत वर्ष के सीमावर्ती पल्लव राजवंशका भी उच्छेद किया।

कुषाण वंशकी खास भाषा तुखारी थी और उसका सम्बन्ध शक भाषा से था। मध्यएशिया के कई शिला लेख इस भाषा में मिलते हैं। इस भाषा का रूप इण्डो यूरोपीय भाषा के केन्तम परिवार की भाषा से कुछ मिलता है जब कि ईरानी, संस्कृत और पुरानी शक भाषा शतम-परिवार से सम्बन्ध रखती है।

एक मत के अनुसार कुषाण लोगों की उत्पत्ति कूचा नामक नगर से होना सम्भव है। यह नगर उस समय मध्य एशिया में सभ्यता का प्रधान केन्द्र था और शायद कुश द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। इसी स्थान के नाम से इस जाति का नाम कुषाण पड़ा। कूचा द्वीप की खुदाई में कुषाण राजाओं के बहुत से सिक्के भी मिले हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि बाद में यह क्षेत्र विस्तृत कुषाण साम्राज्य का अंग भी रहा।

जो भी हो मगर इसमें सन्देह नहीं कि शक, यूची और कुषाणों की सभ्यता, भाषा और रहन सहन में बहुत समानता थी। तत्कालीन चीनी राजदूत चांग-क्यान् लिखता है कि—'फ़रगाना से पार्थिया तक एक ही प्रकार की भाषा बोली जाती है। इन लोगों के रीति रिवाज और रहन सहन में भी समानता है।'

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यूची और कुषाण शकजाति से ही सम्बन्धित थे।

कुषाण राजवंश में (१) कुजुल कदाफिस (सन् २५–५०) (२) विमकदाफिस (सन् ५०–७४) (३) कनिष्क (१) (सन् ७४–१०१) (४) वशिष्क (१०१–१०६) (५) कनिष्क (२) (११६ ई०)। (६) हुविष्क (१२०-१५२) और वासुदेव (१५२–१८६) ये सात प्रसिद्ध राजा हुए। वैसे इस वंशका सिलसिला चौथी सदी के अन्त तक रहा।

कुजुल कदाफिस

जिस समय कुजुल कदाफिस का कुषाण कबीला शक्ति में आया, उस समय कपिशा या काबुल में ग्रीकराजा हरमेयस

राज्य करता था। हरमेयस के जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें हरमेयस के साथ कुजुल का नाम भी पाया जाता है। एक सिक्के में ग्रीक अक्षरों में 'बसिले उस कुषाणो कोजोलो कदफिजोयुस' लिखा हुआ है। उसी तरफ हरमेयस का आधा शरीर भी अंकित है। दूसरी ओर ग्रीक देवता हरेकल की आकृति तथा खरोष्ठी लिपि में 'कुजुल कसस कुषाण यवगस ध्रमठिदस' लिखा हुआ है। इस से ऐसा अनुमान किया जाता है कि शुरू शुरू में कुजुल हरमेयस का एक क्षत्रप या उपराजा रहा हो। इसके बाद के सिक्को पर से हरमेयस का नाम हट जाता है और उसकी जगह मुकुट पहने हुए राजा का सिर और ग्रीक भाषा और लिपि में कुजुल का नाम पाया जाता है। और दूसरी तरफ देवता की मूर्त्ति के साथ 'मह रजस महत्तस कुषाण' इत्यादि लेख पाये जाते है। इससे पता चलता है कि बाद में ग्रीक बाख्तरी साम्राज्य का उच्छेद होने पर कुजुल ने अपने को स्वातंत्र शासक घोषित कर दिया। कुजुल जीवन भर अपने साम्राज्य की नींव मजबूत करने के लिए संघर्ष करता रहा और चीनी लेखकों के मतानुसार ८० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई।

विम कदाफिस (ई० सन् ५०-७८)

कुजुल के पश्चात् विम-कदाफिस कुषाण राज्य का स्वामी हुआ। चीनी ग्रन्थकारों के अनुसार इसी ने पहले पहल भारत वर्ष में विजय प्राप्त कर अपने राज्य की सीमा को यमुना तक पहुँचा दिया। आगे जाकर कनिष्क के साम्राज्य का जो भारी विस्तार हुआ उसकी पूर्व भूमिका विम कदाफिस ने तैय्यार कर दी थी।

विम कदाफिस के शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उसके द्वारा भारत में पहले पहल सोने के सिक्के का चलाया जाना है। यूनानी आक्रमणकारियों के पहले हमारे देश में ताम्बे या चान्दी के चौकोर सिक्के चलते थे। यूनानी लोगों ने अपने सिक्कों को गोल बनाकर उसपर राजा की या देवता की मूर्ति अंकित करना प्रारम्भ किया। किन्तु इनमें से किसी ने सोने का सिक्का नहीं चलाया। विम कदाफिस ने अपने सोने के सिक्के में रोमन सिक्कों की प्रणाली का अनुकरण किया। यह सिक्का तौल में १२४ ग्रेन का होता था। इस सोने के सिक्के पर एक ओर शिव की मूर्ति और राजा के नाम के साथ "माहेश्वर" लिखा होता है दूसरी ओर मुकुटधारी राजा हाथ में गदा और शूल लिए दिखाई पड़ता है। उसी के नीचे ग्रीक लिपि में "वसिलेउस विम कदफिसस" लिखा रहता है इससे कई लोगों का अनुमान है कि विम कदाफिस ने सम्भव है बौद्ध की जगह शैव मतग्रहण कर लिया हो।

कनिष्क (७८-१०६)

विम कदाफिस के उत्तराधिकारी के रूप में सम्राट् कनिष्क को हम भारत ही नहीं एशिया के एक महान् शासक, महान् निर्माता के रूप में पाते हैं। जिस तरह कुजुल और विम का सम्बन्ध इतिहास को निश्चय रूप से नहीं मालूम है उसी प्रकार विम और कनिष्क के सम्बन्ध पर भी निश्चय रूप से कहना कठिन है। विम ने गंगा से वक्षु तक फैले हुए विशाल साम्राज्य और स्वर्णमुद्रा की प्रतीक वाली विशाल व्यापार लक्ष्मी को कनिष्क के लिए छोड़ा।

कनिष्क के सिंहासनारूढ़ होने के समय से उस संवत् का प्रारम्भ होता है जिसे आजकल शकशालिवाहन संवत् कहते हैं। शकों के साथ पीछे जाकर सातवाहन राजाओं के मैत्री सम्बन्ध और शादी विवाह भी होने लगे थे इसी से सम्भव है इस संवत् के साथ आगे जाकर सात वाहन का शालिवाहन शब्द जुड़ गया है।

कनिष्क एक ओर महान् विजेता और आक्रमणकारी और दूसरी तरफ बौद्धधर्म का कट्टर अनुयायी और उदार धार्मिक धर्म राजा भी था। सारनाथ में उसके शासन के तीसरे वर्ष का अर्थात् ई० सन् ८१ का एक अभिलेख मिला है। उससे मालूम होता है कि इन तीन वर्षों के भीतर ही वह सारे उत्तर प्रदेश का सम्राट् बन गया था। ख्वारेज्म की मरु भूमि में से भी कनिष्क के समय के नगर मिले हैं और इसी कारण ईसा की आरम्भिक तीन शताब्दियों की वहां की संस्कृति को कुषाण संस्कृति कहा जाता है।

ख्वारेज्म की खुदाई से इस बात का पता चलता है कि कनिष्क का राज्य आज के सारे उजबेकिस्तान में और ताजिकिस्तान में फैला हुआ था। उसकी राजधानी पुरुष-

पुर या पेशावर में थी। कनिष्क के पहले तक गान्धार के इस नगर को कोई महत्व नहीं मिला था। इसके पहले गान्धार की प्रसिद्ध नगरी और राजधानी तक्षशिला थी जो रावल-पिण्डी के समीप थी। कनिष्क के समय में पाटलि पुत्र का वैभव पुरुषपुर को मिल गया था। फरगाना की उर्वर और और स्मृद्ध उपत्यका तथा सिकियांग की पूर्वी सीमा से लेकर ईरान की सीमा तक का समूचा रेशम पथ भी कनिष्क के साम्राज्य में था। फरगाना तथा समरकन्द इत्यादि महत्व-पूर्ण व्यापारिक नगर भी उसके कब्जे में थे। कश्मीर में कनिष्क ने कनिष्क पुर नामक एक नगर बसाया था।

व्यापारिक स्मृद्धि और यातायात की सुविधा की ओर कुषाण राजाओं का बहुत अधिक लक्ष्य था। बड़ी २ नदियों में तो उनके जलयान चलते ही थे मगर छोटी २ नदियों में भी वर्षा काल में नावें चलती थीं। गाजीपुर जिले के सिसवा नामक ग्राम में कनिष्क के बहुत से सिक्के मिले हैं जिससे मालूम होता है कि कुषाण राज्यकाल में यह अच्छा व्यापारिक नगर रहा होगा। और इसके समीप बहने वाली मंगई नदी बरसात में व्यापारिक पथ का काम करती होगी।

जिस समय सम्राट् कनिष्क एक महान् साम्राज्य का अधिपति होकर अपनी अजेय सेना का नेतृत्व करते हुए विजय दुन्दुभी बजा रहा था। उस समय चीन में लोयांग के हानवंश का शासन था। इस वंश के प्रतापी सम्राट् चाङ्ग-ती (सन् ७६-८९) और हो-ती (सन् ८९-१०६) सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे।

चीनी सम्राट् के सेनापति पान्-चाउ की वीरता और रणकुशलता की उस समय बड़ी धाक जमी हुई थी और वही तरिम उपत्यका में कनिष्क को आगे बढ़ने से रोके हुए था।

कनिष्क ने चीन से अपने सम्बन्ध सुधारने के लिये अपने लिए एक चीनी राजकुमारी की माँग करने के उद्देश्य से एक दूत चीन भेजा। जब कनिष्क का दूत पान-चाउ के पास पहुँचा तो उसने इस मांग को चीन का अपमान समझ कर उसके उस दूत को जेल में डाल दिया।

इस अपमान से क्षुब्ध होकर कनिष्क एक बड़ी सेना को लेकर पामीर और हिमालय के दुर्गम पहाड़ों को पार करता हुआ वहाँ पहुँचा। मगर पान-चाऊ की चीनी सेना ने उसे भयंकर पराजय दी और कनिष्क को चीन का करद बन कर यहाँ से लौटना पड़ा।

कनिष्क के जीवन में यह एक अत्यन्त अपमान जनक और दुःखद घटना थी, जिसका प्रतिशोध लेने के लिये उसने फिर दूसरी बार एक विशाल सेना के साथ चीन पर आक्रमण किया। उस समय पान-चाउ मर चुका था और उसकी जगह उसका पुत्र पान-चांग चीन की पश्चिमी सेना का नियंत्रण कर रहा था। इस बार कनिष्क ने चीनी सेना को बुरी तरह पराजय दी और बन्धक के रूप में कुछ चीनी राजकुमारों को वह अपने साथ ले आया। इन चीनी राजकुमारों ने यहाँ आकर भारतवर्ष में पहले पहल आडू और नाशपाती के वृक्ष लगाये। कनिष्क ने इन राजकुमारों की सुख सुविधा और आराम की तरफ बहुत ध्यान दिया। उनके रहने के लिये उसने कोहदामन में एक अत्यन्त सुन्दर महल बनाया जिसे शे-लोक-विहार कहते थे। पंजाब के जालन्धर जिले में उन्हें बड़ी जागीर दी गई। इस जागीर का नाम ही चीन-भुक्ति पड़ गया था।

अपने राजनैतिक उत्थान के साथ ही कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार में भी इतना महान् योग दिया जितना सम्राट् अशोक के सिवा कोई भी दूसरा व्यक्ति नहीं दे सका था।

कनिष्क सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। पाटलिपुत्र जीत लेने के बाद वह सुप्रसिद्ध कवि और नाटक-कार अश्वघोष को अपने साथ ले गया। अश्वघोष से पहले वसुमित्र और पार्श्व भी उसके सम्माननीय आचार्य थे। इन्हीं तीनों आचार्यों की अध्यक्षता में उसने एक "बौद्ध संगीति" बौद्धपिटक के संशोधन और संग्रह के लिए कश्मीर में बुलाई थी। इसी संगीति में सर्वास्तिवाद के त्रिपिटिक का पाठ निर्णय, संग्रह और उनकी विभाषाओं (भाष्य) की रचना हुई थी। इन विभाषाओं में से एक भी अब मूल संस्कृत में नहीं मिलती। चीनी तथा तिब्बती भाषा में विनय-पिटक के अनुवाद और विभाषा प्राप्य है। इन्हीं विभाषाओं के कारण सर्वास्तिवादी बौद्धों का दूसरा नाम "वैभाषिक" भी पड़ गया। कश्मीर और गान्धार कुषाण वंश की समाप्ति के बाद भी वैभाषिकों के केन्द्र बने रहे।

इसी कनिष्क काल में काव्य-कला, मूर्तिकला और नाट्यकला में भारतीय और ग्रीक कलाओं का सुन्दर समन्वय हुआ। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध आचार्य चरक भी कनिष्क के युग में ही हुए थे। "मातृपेट" नामक लब्ध प्रतिष्ठ बौद्ध साहित्यकार भी इसी युग में हुए थे। जिन्होंने "अध्यद्ध शतक" नामक एक सुन्दर काव्य की बुद्ध-स्तुति के रूप में रचना की थी।

भगवान बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति का निर्माण कनिष्क ने ही करवाया था। जिसके चीवर के चुन्नट और केश-विन्यास पर ग्रीक मूर्तिकला का प्रभाव बड़े सुन्दर रूप में दिखाई देता है। वेक्ट्रियन ग्रीककला को भारतीय-गान्धार शैली में परिणत करने का काम भी कनिष्क के समय में हुआ। इस युग में मथुरा नगरी का वैभव भी बहुत उरूज पर था। बौद्धों के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र भी इसी नगरी में था। इसी धार्मिक सम्बन्ध को लेकर मथुरा कुषाण-वास्तु कला और मूर्ति कला की श्रेष्ठ नगरी बन गई थी।

सम्राट् कनिष्क के सिक्के विहार से लेकर अराल समुद्र तक बहुतायत से मिले हैं। इस सिक्के के अग्र भाग पर नुकीली टोपी, घुटनों तक का शकीय जूता पहने तथा भाला और अंकुश लिये कनिष्क की मूर्त्ति बनी हुई है। इसमें ग्रीक लिपि और भाषा में 'वेसिलियास येसिलिओन शाओ-ननो शाओ कनिष्को कुषाणो' अर्थात् राजाओं का राजा शाहानुशाह कनिष्क कुषाण लिखा रहता है और दूसरी तरफ ग्रीक देवताओं या ईरानी देवताओं की या सूर्य की मूर्त्ति अङ्कित रहती है। कनिष्क की पुरुषाकार मूर्ति भी मथुरा के म्यूज़ीयम में रखी हुई है।

सम्राट् कनिष्क के पश्चात् कुषाण राजवंश में वशिष्क (१०१-१०६) कनिष्क द्वितीय (११६) हविष्क (१२०-१५२) वासुदेव (१५२-१८६) तृतीय वासुदेव, तृतीय कनिष्क और किदार नामक राजा हुए। किदार इस वंश का अन्तिम प्रभावशाली राजा था जिसने अपने पूर्वावर्ती राजाओं के द्वारा खोये हुए पंजाब और कश्मीर को जीत कर अपने स्वतंत्र सिक्के चलाये थे। इसके पश्चात् पिरो नामक एक शासक और हुआ। जो चौथी सदी के चतुर्थ चरण में राज्य कर रहा था।

इसके बाद गुप्त साम्राज्य के सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पिरो को हराकर भारत में कुषाण शक्ति का नाम शेष कर दिया और मध्यएशिया में ईरान के सम्राट् शापुरने और बाद में, श्वेत हूणों ने कुषाण राजवंश को ध्वंस करके नाम शेष कर दिया।

कुश्ती

पहलवान लोग बिना किसी शस्त्र की सहायता के केवल शारीरि बल के सहारे, दाव पेंचों के साथ जो द्वन्द युद्ध करते हैं वह कुश्ती कहलाता है।

भारतवर्ष में कुश्ती का विकास व्यायामशाला के विकास के साथ ही हुआ है। व्यायामशालाओं का विकास हमारे देश में वैदिक काल से या शायद उससे भी पहले से हो चुका था। व्यायामशाला, कुश्ती या द्वन्द युद्ध के आराध्यदेव हमारे देश में हनुमान को माना है।

महाभारत काल में व्यायाम शालाएँ भारतीय जीवन का अभेद्य अंग बन गई थीं। भीम, जरासन्ध, दुर्योधन इत्यादि अनेक लोगों का कुश्ती की कला में निपुण होने का महाभारत में उल्लेख पाया जाता है।

बौद्ध काल या ईसा से छः शताब्दी पूर्व भी भारत वर्ष में व्यायामशालाओं और कुश्ती-कला का बहुत प्रचार था। जैनियों के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कल्पसूत्र में भगवान् महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की दिनचर्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

सूर्योदय के अनन्तर सिद्धार्थ राजा अट्टनशाला अर्थात् व्यायामशाला में जाते थे। वहाँ वे कई प्रकार के दण्ड बैठक, मुग्दर उठाना आदि व्यायाम करते थे। उसके अनन्तर वे मल्लयुद्ध करते थे। इससे उनको बड़ा परिश्रम हो जाता था। इसके पश्चात् शतपाक तैल—जो सौ प्रकार के द्रव्यों से निकाला जाता था—और सहस्रपाक तैल जो हजार प्रकार के द्रव्यों से निकाला जाता था—से वे मालिश करवाते थे। यह मालिश रस, रुधिर इत्यादि धातुओं को शक्ति देने वाला, दीपन करने वाला और बल वृद्धि करने वाला होता था।

कुश्ती या द्वंद युद्ध के सम्बन्ध में इस देश में नैतिक संहिता भी बनी हुई थी। उस संहिता से विरुद्ध काम करने वालों की निन्दा होती थी। श्रीकृष्ण के संकेत से भीम ने जरासन्ध की संधियों को चीर कर तथा दुर्योधन की जांघ पर गदा मार कर उसे घायल करने का जो कार्य्य किया था उसकी नैतिक दृष्टि से निन्दा ही हुई थी।

मध्य काल में मुसलमानों के आगमन से अरबी कुश्ती कला और भारतीय कुश्ती कला का समन्वय हुआ। फिर भी इनमें प्रधानता भारतीय कुश्ती कला की ही रही।

भारत वर्ष की कुश्ती कला में विशेष रूप से दो प्रकार की पद्धतियाँ चालू हैं। पहली को हनुमन्ती कुश्ती कहते हैं और दूसरी का नाम भीमसेनी कुश्ती है। हनुमन्ती कुश्ती में दाव पेंच तथा कला की प्रधानता होती है और भीमसेनी कुश्ती में शारीरिक शक्ति को विशेष महत्व दिया जाता है।

भारत वर्ष के अन्तर्गत सभी प्रकार के खेलों तथा कुश्ती और व्यायामशालाओं की हमेशा से यह विशेषता रही है कि इनमें तड़क, भड़क, दिखावट, परिग्रह और विशाल साधनों की जगह सादगी, कम खर्च, और बहुत थोड़े साधनों में अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेने की भावना रहती है। कुश्ती, व्यायामशाला और खेल कूद का मुख्य उद्देश्य अपने शारीरिक बल और स्वास्थ्य को संतुलित रखना और थोड़े समय के लिए अपना मनोरंजन कर लेने का होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति सीमित साधनों के द्वारा भी हो सकती है और विराट् साधनों के द्वारा भी। हमारे देश में इस उद्देश्य को सीमित साधनों के द्वारा ही पूर्ण करने की प्रवृत्ति रही है। कबड्डी, लोनबाट, खोखोहरडी, गेंद इत्यादि हमारे यहाँ के सभी खेल कौड़ियों के खर्च में होते थे और उनके द्वारा हम उसी शारीरिक सिद्धि को प्राप्त कर लेते थे जो आज लाखों रुपये के खर्च से होने वाले आडम्बर पूर्ण खेलों से मनुष्य प्राप्त करता है।

कुश्ती या व्यायामशालाएँ भी हमारे यहां बहुत साधारण खर्च में हुआ करती हैं। कुश्ती के अभ्यास के लिए हमारे देश में बीस वर्ग फुट घेरे की व्यायामशालाएँ या अखाड़े बनते हैं। व्यायाम करने वाले या कुश्ती लड़ने वाले लोग फावड़े से अखाड़े में पड़ी हुई मिट्टी के गोड़ कर उसे रेशम की तरह मुलायम कर लेते हैं। फिर एक लंगोट और जांघिया पहन कर पहलवान लोग उस अखाड़े में इष्टदेव की वन्दना कर अपने गुरु या उस्ताद के पैर छू कर उतरते हैं और अपने दांव पेंच दिखलाते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ की व्यायामशालाएँ इतने कम खर्च में तैयार हो जाती हैं कि गरीब से गरीब लोग उसका लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष के छोटे छोटे ग्रामों में भी ऐसी व्यायामशालाएँ और अखाड़े देखने को मिलते हैं।

कम खर्च की व्यायामशालाएँ या लंगोट पहन कर कुश्ती लड़ने का यह अर्थ नहीं है कि हमारे देश के पहलवान संसार के किसी दूसरे देशों के पहलवानों से किसी भी दशा में हलके उतरे हों। सादा रूप होने पर भी हमारे यहां की कुश्ती कला इतनी उच्च कोटि की और दाव पेंचों से युक्त है उसके आधार पर हमारे देश के पहलवानों ने दूसरे देशों के नामी नामी पहलवानों को मिट्टी चटाई है।

गुलाम पहलवान

आधुनिक कुश्ती कला के इतिहास में हमारे देश में रुस्तमे हिन्द गुलाम का नाम बड़ा उल्लेखनीय है गुलाम पहलवान इन्दौर नरेश महाराजा शिवाजी राव का आश्रित पहलवान था। दुबले पतले गुलाम पहलवान की हाथी की तरह लम्बे चौड़े कीकर पहलवान के साथ होने वाली कुश्ती चिरस्मरणीय है। कीकर का वजन सात मन था और उसका सीना ७० इंच चौड़ा था। बैलों के द्वारा कुएँ से खींच कर निकालने वाले मोट (चरस) को वह अकेला अपनी कमर से रस्सी बांध कर खींच लेता था। ऐसे भारी पहलवान से जब गुलाम की कुश्ती हुई तो लोग इस बेजोड़ जोड़ी से बड़े निराश थे। मगर जब गुलाम पहलवान ने अपने दाव पेंचों से उस हाथी सदृश पहलवान को उठा कर चित कर दिया तो दर्शकों में हर्ष की लहर दौड़ गई और "गुलाम जिन्दाबाद" के आकाशभेदी नारों से वातावरण गूँज उठा।

सन् १८९२ में इंगलैंड का प्रसिद्ध पहलवान टाम कैनन रुस्तमेहिन्द गुलाम से लड़ने भारतवर्ष आया था मगर गुलाम तक पहुँचने के पहले ही गुलाम के शिष्य करीमबख्श ने रास्ते ही में उसे ऐसी करारी

हार दी कि फिर उसे गुलाम तक पहुँचने का साहस नहीं हुआ। वह वहीं से अपने देश वापस लौट गया। गुलाम का छोटा भाई कल्लू भी बड़ा नामी पहलवान था और गुलाम की मृत्यु के बाद उसी को रुस्तमेहिन्द की पदवी मिली। सन् १९०० में पं० मोतीलाल नेहरू गुलाम तथा कल्लू को लेकर पेरिस की विश्व-प्रदर्शनी में गये थे। वहां पर गुलाम की कुश्ती यूरोप के प्रसिद्ध पहलवान अहमद मद्राली से हुई जो बराबर पर छूटी।

गामा पहलवान

भारतीय कुश्ती के इतिहास में गामा पहलवान का नाम भी अमर है। सन् १८८२ में उसका जन्म झांसी के पास दतिया नामक एक छोटी रियासत में हुआ था। सन् १९१० में इंग्लैण्ड की "जॉन बुल वर्ल्ड रेस्लिंग चेम्पियनशिप" के संचालकों ने ससार भर के पहलवानों को बुलाया। इस प्रतियोगिता मे भारतवर्ष से गामा, इमाम बख्श और अहमदबख्श तीन प्रतिनिधि भेजे गये। वहां पहुँचने पर इन लोगों को बड़ी निराशा हुई। क्योंकि उस प्रतियोगिता में लड़ने वाले प्रतियोगियों के लिए जितने ऊँचे कद और जितने वजन की आवश्यकता थी उतना वजन और कद इन तीनों में से किसी का न था। इस प्रतियोगिता में संसार भर के करीब ४५० पहलवान आये हुए थे। जिनमें "जबिस्को" "हेकन्जमिड" "मोरिसलम" और "डेरिश्ज" जैसे विश्व-ख्याति प्राप्त पहलवान भी थे। उनके सामने गामा और अहमद पद्द छोटे छोटे पिल्लों की तरह नजर आते थे। जब भारतीय पहलवानों के लाख कोशिश करने पर भी किसी को कुश्ती के लिये नहीं चुना गया तो गामा ने एक सार्वजनिक घोषणा छपवा कर बँटवाई—"संसार का जो भी पहलवान मेरे सामने अखाड़े में पांच मिनिट ठहर जावेगा और नहीं गिरेगा उसे मै पांच पोण्ड इनाम दूँगा" और दूसरी घोषणा यह थी "मैं इंगलैण्ड के किन्हीं बीस पहलवानों को एक एक करके सिर्फ एक घण्टे में चित कर सकता हूँ। जो भी चाहे मेरे मुकाबिले पर आ जाय।"

पहली चुनौती को स्वीकार कर करीब पन्द्रह पहलवान गामा के मुकाबिले पर आये, मगर गामा ने दो-दो तीन-तीन मिनिट में हर एक को चित कर दिया।

इस घटना से सब दूर हलचल मच गई। जिसके फल स्वरूप टूर्नामेंट कमेटी को गामा का नाम लड़ने वालों की सूची में दर्ज करना पड़ा।

टूर्नामेंट कमेटी ने पहले ही दिन गामा की कुश्ती संसार प्रसिद्ध पहलवान 'जबिस्को' से रख दी। पूरे तीन घण्टे तक कुश्ती हुई, मगर हारजीत का फैसला नहीं हुआ। लन्दन के प्रसिद्ध दैनिक समाचार पत्र टाईम्स ने इस कुश्ती पर टिप्पणी लिखते हुए लिखा था कि—"जबिस्को अखाड़े के एक कोने में पड़ा हुआ रेंगता रहा जब कि गामा का हाथ उसके ऊपर था और साफ दिखाई दे रहा था कि वह जबिस्को से बढ़िया पहलवान है।"

आखिर हारजीत का फैसला न होने पर टूर्नामेंट कमेटी ने वह कुश्ती अगले दिन के लिए स्थगित कर दी। मगर अगले दिन "जबिस्को" शरम के मारे अखाड़े में ही नहीं आया। फल स्वरूप कमेटी ने 'विश्व-विजेता चेम्पियन" की पेटी गामा को प्रदान की।

इसके बाद भारत लौटने पर गामा की कुश्ती इलाहाबाद में प्रसिद्ध पहलवान रहीमबक्श से हुई। यह कुश्ती भारतीय कुश्ती के इतिहास में चिरस्मरणीय है। दोनो पहलवान बराबरी से लड़ते थे मगर रहीमबक्श को गामा के दुहत्थड़ से ऐसी चोट लगी कि वह अखाड़े में टिक न सका और रुस्तमेहिन्द की पदवी गामा को मिली।

सन् १९२८ में "जबिस्को" ने अपनी हार का बदला लेने के लिए गामा से लड़ने की फिर इच्छा प्रकट की और वह उससे लड़ने पटियाला आ पहुँचा। यह कोई साधारण कुश्ती नहीं थी। दोनों पहलवानों को अपनी ही नहीं अपने अपने देश की इज्जत का भी खयाल था। इस कुश्ती को देखने देश के हर कोने से लोग पटियाला पहुँचे।

मगर दस्तपंजा लेने के दो ही मिनट के अन्दर बिजली की तरह लपक कर गामा ने जबिस्को को पहले ही झटके मे चित कर दिया। कुश्ती में गिरते समय जबिस्को के मुँह से यही निकला कि "गामा तुम शेर हो" उसके बाद भी जब जबिस्को से गामा के बारे में राय पूछी गई तो उसने कहा कि—"गामा सर्वश्रेष्ठ पहलवान है उसे संसार कभी नहीं भूलेगा।"

गामा की अन्तिम कुश्ती जे० सी० पेटरसन से हुई। यह पहलवान अपने आपको चैम्पियनों का चैम्पियन समझता था। गामा ने उसे भी दो मिनिट में चित कर दिया। इस प्रकार गामा ने सारे संसार के कुश्ती-क्षेत्र में भारत का सिक्का जमा दिया।

सन् १९३८-३९ में बम्बई के अन्दर एक अन्तर्राष्ट्रीय कुश्ती की प्रतियोगिता हुई। इस प्रतियोगिता में सुप्रसिद्ध जर्मन पहलवान क्रेमर ने भारत के प्रसिद्ध पहलवान गूँगा को पछाड़ दिया। मगर उसी पहलवान क्रेमर को इमाम-बख्श पहलवान ने चित कर दिया। इसी प्रकार हमीदा पहलवान ने किंगकांग नामक सुप्रसिद्ध पहलवान को पछाड़ कर भारतीय कुश्ती के गौरव को ऊँचा बढ़ाया।

विदेशों के अनुकरण पर आजकल कुछ भारतीय पहलवान फ्री स्टाँइल कुश्ती में भी निपुणता प्राप्त करने लगे हैं। ऐसे पहलवानों में दारा सिंह, हरिवंश सिंह तथा योगेन्द्र सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

यूनान

यूनान में ओलेम्पिक खेलों का प्रारम्भ होने के पहले ही कुश्ती कला का विकास हो चुका था जिसका वर्णन होमर के काव्यों में पाया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि यूनान में सबसे पहले थीसियस नामक व्यक्ति ने कुश्ती कला के सम्बन्ध में विधान-संहिता बनाई। ओलेम्पिक खेलों का प्रारम्भ होने के पश्चात् कुश्ती कला का वहां विशेष रूप से विकास हुआ। उस काल के पहलवानों में क्रोटोन निवासी मिलो का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है जिसने पायथागोरस के गिरते हुए मकान की छत को अकेले अपने शरीर पर थाम लिया था और जिसने ओलेम्पिक खेलों की कुश्ती में छः साल तक बराबर विजय प्राप्त की थी।

इसी प्रकार मिश्र में भी कुश्ती कला का आरम्भ ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व हो चुका था ऐसे प्रमाण वहां के भित्ती चित्रों को देखने से प्राप्त होते हैं।

यूनान ही की तरह रोम में भी बहुत प्राचीन समय से कुश्ती कला का विकास हो गया था। ग्रीक और रोमन लोगों की समन्वित प्राचीन कुश्ती कला ही इस समय रोमन-ग्रीक पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। मगर इस समय यूरोप में जिस रोमन-ग्रीक पद्धति का प्रचार है वह पद्धति प्राचीन पद्धति से भिन्न है। इस नवीन रोमन-ग्रीक पद्धति का प्रचलन सबसे पहले सन् १८६० से फ्रांस में प्रारम्भ हुआ।

जापान में प्रचलित कुश्ती कला को 'सूमो-पद्धति' कहते हैं। सूमो पद्धति का प्रचार इस देश में ईसा से कुछ पहले से ही चालू है। वहाँ के साहित्य में जिस पहली सूमो कुश्ती का उल्लेख मिलता है वह जापान में ईसा से २३वर्ष पहले हुई थी और उसमें "सुकुने" नामक पहलवान ने विजय प्राप्त की थी। हमारे यहां के हनुमान की तरह "सुकुने" भी जापानी सूमो-कुश्ती का आराध्य देव माना जाता है। कुश्ती को जापानी लोग एक राष्ट्रीय खेल की तरह मानते हैं और फसल कटने के समय राष्ट्रीय त्यौहार के रूप में इसका प्रदर्शन होता है।

अमरीका में कुश्ती का विकास अठारहवीं शताब्दी से हुआ। सन् १७८० में हावर्ड विश्व विद्यालय प्रतियोगिता में अब्राहमलिंकम ने जैक आर्मस्टांग को पराजित कर कुश्ती की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। अमेरिकन कुश्ती के इतिहास में विलियम मलडून, फार्मरबर्न्स, फ्रैङ्कगाच इत्यादि पहलवानों के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

फ्री स्टाइल कुश्ती

कुश्ती की यह नवीन और कलापूर्ण पद्धति सन् १९२० में एण्टवर्प ओलेम्पिक प्रतियोगिता में आविष्कृत की गई। इस कुश्ती में पहलवानों को सिर्फ बारह मिनिट का समय दिया जाता है। पहले छः मिनिट खड़ी कुश्ती होती है, आगे के चार मिनटों में जमीन की कुश्ती होती है और अन्तिम दो मिनटों में फिर खड़ी कुश्ती होती है। यह कुश्ती छः मीटर लम्बे, छः मीटर चौड़े और दस सेंटीमीटर मोटे गद्दे पर लड़ी जाती है।

इस कुश्ती के नीति विधान में बाल या जांघिया पकड़ना, अंगुली मरोड़ना, पांव कुचलना, गला दबाना, इत्यादि बातें कुश्ती के नियमों के विरुद्ध मानी जाती है।

फ्री स्टाइल कुश्ती की तरह यूरोप में ग्रीको-रोमन पद्धति, कम्बर लैण्ड पद्धति, सूमो पद्धति, जिंवजेन पद्धति तथा अमेरिकन पद्धति इत्यादि कई प्रकार की कुश्ती-पद्धतियां प्रचलित हैं।

इतनी पद्धतियों के आविष्कृत हो जाने पर भी भारत की कुश्ती कला की मौलिकता और उसके गौरव पर कोई आंच नहीं आई है। अपने कम खर्चीले स्वरूप, दावपेंचों की जटिलता, अपने नैतिक विधान, और प्रतिपक्षी को किसी प्रकार की शारीरिक यंत्रणा न पहुँचाने की भावनाओं के कारण आज भी उसका अपना स्थान है और उसकी वजह से संसार के पहलवानों के बीच आज भी भारत का पहलवान विजय के गौरव से गौरवान्वित अपने सिर को ऊंचा रखकर चलता है और संसार भर के पहलवानों को चुनौती देता है।

(ना० प्र० विश्वकोष)

कुस्तुन्तनिया (कान्स्टेण्टिनोपल)

टर्की राज्य का एक सुप्रसिद्ध नगर और भूतपूर्व राजधानी जो बासफोरस जल संयोजक के किनारे पर बसा हुआ है। यह बासफोरस जल संयोजक इस भाग में एशिया और यूरोप के बीच की सीमा रेखा है। यह नगर त्रिभुजाकार पहाड़ियो पर बसा हुआ है। और इसकी उत्तर, दक्षिण और पूर्व की दिशाएं जल से घिरी हुई है। रूम सागर और काला सागर के बीच में स्थित जलमार्ग पर इस नगर की सुरक्षात्मक स्थिति बड़ी सुदृढ़ है। इसकी जन संख्या नौ लाख से ऊपर है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कुस्तुन्तनिया का इतिहास बड़ा रोचक, गौरव पूर्व और उत्थानपतन की घटनाओं से परिपूर्ण है।

ईसा की चौथी शताब्दी में जर्मनी की गाथ नामक जाति के आक्रमण से महान् रोमन साम्राज्य की स्थिति कमजोर होने लगी। चारों तरफ भय और आतंक का संचार हो गया, और यह अनुभव होने लगा कि इतने बड़े विशाल साम्राज्य का संचालन एक केन्द्र से होना बड़ा कठिन हो गया है, और पूर्वीय दिशा से रोम पर आक्रमण का विशेष भय है। तब रोम के तत्कालीन प्रतापी सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने इस बड़े साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए सन् ३३० ई० में यूरोप और एशिया की सीमा पर बैजण्टाइन नामक नगर के स्थान पर अपने नाम से कान्स्टेण्टिनोपल नामक नगर की स्थापना की जो द्वितीय रोम के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और यहां पर रोम राष्ट्र की दूसरी राजधानी स्थापित की गई। इसके बाद से एक सम्राट् रोम में रह कर और दूसरा कान्स्टेण्टिनोपल में रहकर राज्य करते थे मगर दोनों राष्ट्र की एकता का पालन करते थे और एक दूसरे के बनाये कानूनो को मान्य करते थे। सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने ही रोम सम्राटों में सबसे पहले ईसाई धर्म को ग्रहण किया। मगर विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि राजनैतिक दृष्टि से पूर्वी साम्राज्य रोम राष्ट्र का अंग होने पर भी धार्मिक दृष्टि से वह रोमन चर्च का अनुयायी कभी नहीं रहा, और पूर्वी साम्राज्य के सभी सम्राट् ग्रीक चर्च के अनुयायी रहे। और यह बात रोमन चर्च के पोप को हमेशा खटकती रही।

ई० सन् ४७६ में गाथ जाति के सरदार ओडेसर ने आक्रमण करके पश्चिमीय रोम के सम्राट् को गद्दी से उतार कर वहाँ निकाल दिया, और वहां का राजदण्ड, छत्र इत्यादि पूर्वीय सम्राट् (कुस्तुन्तनिया) के पास भेजकर उनसे आज्ञा मांगी कि 'मुझे अपना प्रतिनिधि समझकर पश्चिमी रोमका राज कार्य्य करने की आज्ञा प्रदान करें। आप तो स्वयं ऐसे प्रतापी और तेजस्वी हैं कि साम्राज्य के दो विभाग करने की आवश्यकता नहीं है। आप अकेले ही इस विशाल साम्राज्य का शासन कर सकते हैं। अगर आप चाहे तो आप के प्रतिनिधि रूप में पश्चिमी रोम के राजकार्य्य की मैं देख रेख कर सकता हूँ।'

ओडेसर जानता था कि पश्चिमी रोम का यदि वह एकाएक सम्राट बन गया तो रोमन जाति उसे कभी स्वीकार न करेगी और वहाँ भयंकर विद्रोह हो जायगा। इस लिए इसने बुद्धिमानी पूर्वक पूर्वीय सम्राट् के प्रतिनिधि के तौर पर राज्य शासन करने में ही कुशल समझी।

मगर कुछ ही वर्षों के बाद सन् ४९३ में पूर्वीय गाथ जाति के सरदार थियोडोरिक ने ओडेसर को मारकर रावेना में अपनी राजधानी स्थापित की। मगर इसने भी पूर्वीय सम्राट् की छत्र छाया को अपने ऊपर बराबर बनाये रक्खी और वहां के सिक्कों पर भी पूर्वीय सम्राट् की मूर्ति अंकित करवाई, मगर वह अपने शासन में पूर्वीय सम्राट् का कोई हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता था।

पश्चिमीय रोमन राष्ट्र के टूटजाने पर भी पूर्वीय रोम राष्ट्र सर्वाङ्ग पुष्ट रहा। कुस्तुन्तनिया का विशाल नगर धनिक व्यापारियों से भरा रहा। इसके बड़े-बड़े भवनों, सुन्दर बगीचों और स्वच्छ सड़कों को देखकर पश्चिम के यात्री स्तम्भित हो जाते थे।

सन् ५२७ में कुस्तुन्तनिया के पूर्वीय साम्राज्य की गद्दी पर सम्राट् जस्टीनियन नामक प्रसिद्ध नरेश बैठा। इसने विचार किया कि पुराने रोम साम्राज्य, इटली और अफ्रिका के हिस्सों को फिर से जीत लिया जाय। इस विचार के अनुसार सन् ५३४ में उसके सेनापति बेलीसरियस ने उत्तरी अफ्रीका के वरडालों के राज्य को जीतलिया और सन् ५५३ में इसी सेनापतिने इटाली से गाथ जाति को निकाल कर अपना राज्य स्थापित किया।

मगर जस्टीनियन की मृत्यु के पश्चात् ही लम्बार्ड जाति के लोगों ने साम्राज्य पर धावा कर दिया और यह जाति उत्तरी इटली में आकर बस गई।

पश्चिमी रोमन चर्च के अधिकारी पोप भी कुस्तुन्तनिया के सम्राट् को ही रोमन साम्राज्य का अधिकारी समझते थे। पोप ग्रेगरी महान् भी जो सन् ५९० में रोमन चर्च के पोप बने, पूर्वीय सम्राट् को ही सम्राट् मानते थे और उनके १०० वर्ष बाद तक भी यही परम्परा जारी रही।

मगर सन् ७२५ में पूर्वी रोम के सम्राट् लियो तृतीय ने मुसलमान धर्माचार्यों के प्रभाव में आकर यह आज्ञा निकाली कि सच्चे क्रिस्तान लोग ईसा मसीह और अन्य साधु सन्तों की मूर्तियों का पूजन न करें और साम्राज्य के गिरजा घरों में जितनी मूर्तियाँ हैं सब हटा ली जांय और दीवारों पर बने सब चित्र मिटा दिये जांय'।

इस आज्ञा का ईसाई जगत् में भारी विरोध हुआ। रोमन चर्च के पोपने इस आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया और उसने एक सभा बुलाकर निर्णय किया कि जो लोग मूर्त्तियों का किसी भी रूप में अपमान करेंगे वे धर्म च्युत समझे जावेंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मूर्त्तियां अपने स्थानों से नहीं हटाई गईं।'

इसका प्रतिकार पूर्वीय रोमसम्राट् ने उस समय लिया जब सन् ७५१ में 'आइस्टुल्फ' नामक लम्बार्ड सरदार ने रोम पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उस समय रोमन चर्च के पोप ने पूर्वीय सम्राट् से सहायता के लिए प्रार्थना की मगर पूर्वीय सम्राट् ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब पोप ने पूर्वीय साम्राज्य से सम्बन्ध भंग कर फ्रान्स के राजा पिपिन से अपने सम्बन्ध स्थापित किये। सन् ७५४ में पिपिन अपनी सेना सहित इटली में गया और लम्बार्ड लोगों के आक्रमण से रोम की रक्षा थी।

उसके पश्चात् सन् ८०० में पिपिन के पुत्र शार्लमेन महान् को रोमन चर्च के पोप तृतीय लियो ने सारे रोम साम्राज्य का सम्राट् घोषित कर दिया और उसके सिरपर साम्राज्य का मुकुट रख दिया। यह घटना यूरोप के इतिहास में बड़े महत्व की मानी जाती है। इस घटना से कुस्तुन्तनिया का पूर्वी साम्राज्य भी शार्लमेन के साम्राज्य का अंग बन गया।

इस समय कुस्तुन्तनिया में सम्राट् छठे कान्स्टेण्टाइन को मारकर 'आयरीनी' नामक एक अत्यन्त अत्याचारी स्त्री शासन कर रही थी। सारी प्रजा इससे असन्तुष्ट थी उसे हटाकर साम्राज्य के सम्राट् कान्स्टेण्टाइन छठे का अधिकारी सम्राट् शार्लमेन को घोषित कर दिया गया।

सम्राट् शार्लमेन जब तक जीवित रहा तब तक तो साम्राज्य की व्यवस्था बखूबी चलती रही मगर उसकी मृत्यु के बाद ही उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े हो गया और इसी अर्से में कुस्तुन्तनिया का पूर्वी साम्राज्य फिर से आजाद हो गया। कितनी ही शताब्दियों तक वहाँ के शासक अलग ही शासन करते रहे।

इसके पश्चात् जब ईसाई लोगों के इतिहास प्रसिद्ध क्रूसेड युद्ध प्रारम्भ हुए तब कुस्तुन्तनिया का नाम एक बार फिर से संसार के सामने आया।

सन् १०७१ में कुस्तुन्तनिया के पूर्वी सम्राट् को सेलजुक लोगोंने कड़ी पराजय दी और एशिया माइनर उसके हाथों से छीन लिया। कुस्तुन्तनिया के ठीक सामने नेसिया का दुर्ग था। उसपर सेलजुक तुर्कों का अधिकार हो गया। ईसाइयों की पवित्र भूमि जेरुसलेम भी उनके अधिकार में चली गई।

सन् १०८१ में कुस्तुन्तनिया के पूर्वी साम्राज्य की गद्दी पर सम्राट् अलेक्सियस बैठा। इसने इन तुर्कों को साम्राज्य से बाहर निकालने का प्रयत्न किया। मगर जब

उसमें सफलता न मिली तब उसने रोमन चर्च के पोप द्वितीय अर्बन से इन नास्तिकों को निकालने में सहायता करने की प्रार्थना की। तब पोप द्वितीय अर्बन ने सन् १०९५ में क्लेमेंसट नामक स्थान से समस्त ईसाई जगत के नाम एक भावपूर्ण घोषणा निकालकर पवित्र भूमि से नास्तिकों को निकालने के लिए क्रूसेड की पवित्र यात्रा का आह्वान किया। क्रूसेड की ये लड़ाइयाँ यूरोप और ईसाई जगत् के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ये करीब २०० वर्षोंतक चलती रहीं।

मगर इन क्रूसेडर्स लोगों का भीतरी भाव पूर्वी साम्राज्य के सम्राट् और कुस्तुन्तनिया की ईसाई जनता के प्रति अच्छा नहीं था। क्योंकि ये लोग ग्रीक चर्च के अनुयायी थे और रोमन चर्च से इनका सम्बन्ध टूट चुका था। इसलिए रोमन चर्च के अनुयायी येक्रूसेडर्स एक ही निशाने में दो शिकार खेलना चाहते थे। जेरूसलेम की नास्तिकों से मुक्ति और पूर्वी साम्राज्य का विनाश करके वहां छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर देना।

पूर्वी साम्राज्य के ग्रीक चर्च के अनुयायी लोगों को इन लोगों की यह भावना मालूम पड़ गई और उन्होंने इन क्रूसेडर्स से लोगो से कोई सहानुभूति नहीं बतलाई। उधर क्रूसेडर्स नेता गाडफ्रे वगैरह ने भी इन लोगों के साथ बड़ा घृणा पूर्ण व्यवहार किया और इनको धोखेबाज और विश्वासघाती बतलाया। सम्राट् की पुत्री ने अपने उस समय के इतिहास में इन धर्म योद्धाओं के उग्र व्यवहार का बड़ा भयंकर चित्र खींचा है।

अन्त में धर्म योद्धाओं ने एक ओर जेरूसलेम पर आक्रमण कर वहाँ अपना अधिकार कायम किया और दूसरी ओर कुस्तुन्तनिया पर आक्रमण करके वहाँ से पूर्वीसम्राट् और ग्रीक लोगों को भगा कर वहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया। उन्होंने कुस्तुन्तनिया के एक हिस्से को जला भी डाला और बहुत से लोगों को मार डाला तथा वहाँ पर पश्चिमीय रोम सम्राट् और रोमन चर्च का अधिकार घोषित कर दिया।

मगर इन लोगों का अधिकार अधिक समय तक कायम नहीं रह सका। ग्रीक लोग कमजोर होने पर भी फिर उठे और पचास साल की अवधि में उन्होंने कुस्तुन्तनिया से इन लोगों को फिर खदेड़ कर पूर्वी सम्राट् का अधिकार फिर से स्थापित कर दिया। जो लगभग २०० वर्ष और चला। अन्त में सन् १४५३ में उस्मानी तुर्कों ने अन्तिम रूप से हमेशा के लिए इस साम्राज्य का विध्वंस कर डाला और कुस्तुन्तनिया को अपने जीते हुए टर्की देश की राजधानी बना दिया।

इस प्रकार सम्राट् कान्स्टेण्टाइन के द्वारा सन् ३३० में स्थापित किया हुआ यह साम्राज्य ग्यारह शताब्दियों से से अधिक समय तक चलता रहा।

उस्मानी तुर्कों के हाथ में आ जाने के पश्चात् कुस्तुन्तनिया का इतिहास टर्की के इतिहास के साथ साथ चलता है। शुरू से ही इस क्षेत्र पर रूसके दांत थे। रूसका सम्राट् अपने को बिजैण्टाइन सम्राटों का उत्तराधिकारी समझता था और वह कुस्तुन्तनिया की पुरानी राजधानी के हर कीमत पर प्राप्त करना चाहता था। सन् १७९२ और १८०७ ई० के बीच रूसी सीमा कुस्तुन्तनिया की तरफ बढ़ती गई और तुर्की सीमा लगातार पीछे हटती गई। जब यूनान की स्वतंत्रता के युद्ध में तुर्क लोग फँसे हुए थे तब रूसने कुस्तुन्तनिया पर हमला करके उसे हड़पने की कोशिश की, मगर इंगलैण्ड और आस्ट्रिया के बीच में पड़जाने से फिर कुस्तुन्तनिया उसके पंजे में पड़ने से बच गया। इसी प्रकार और भी कई बार आक्रमण करके रूसने बराबर टर्की को कमजोर करने की कोशिश की। टर्की कमजोर पड़ गया मगर फिर भी कुस्तुन्तनिया रूसके हाथों में नहीं आया।

अन्त में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् टर्की में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में एक महान् क्रान्ति हुई। जिसने तुर्की राष्ट्र में एक नवीन जिन्दगी, नवीन उत्साह और नवीन राष्ट्र का भाव जाग्रत कर दिया। सुलतान गद्दी से उतार दिया गया। खिलाफत को समाप्त करदी गई और विदेशी लोगों के जुए को उतार कर फेंक दिया गया। और कमाल अतातुर्क के नेतृत्व में नवीन तुर्की राष्ट्र का निर्माण हुआ जिसने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। कुस्तुन्तनिया आज उसी टर्की राष्ट्र का एक प्रधान नगर है।

—

क्रुक्स विलियन

थैलियम नामक धातु के आविष्कारक, सुप्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक और रसायन शास्त्री जिनका जन्म सन् १८३२ में लन्दन में हुआ और मृत्यु सन् १९१९ में हुई।

क्रुक्स विलियम ने रॉयल कॉलेज ऑफ केमिस्ट्री से रसायन शास्त्र की डिग्री लेकर अपनी निजी प्रयोगशाला की स्थापना की और उस प्रयोग शाला से "केमिकल न्यूज" नामक एक पत्र निकालना प्रारम्भ किया।

थैलियम धातु का अविष्कार करने और रेडियो मीटर निर्माण करने के कारण क्रुक्स विलियम की सब दूर प्रसिद्धि हो गई। इसके पश्चात् इन्होंने रेडियम धातु पर गहरे अन्वेषण कर स्पिंथेरिस्कोप (Spintheriscope) नामक यंत्र का अविष्कार किया। इस यंत्र के द्वारा रेडियम के छोटे से छोटे अंश का भी पता लगाया जा सकता है।

आँखों के चश्मे के क्षेत्र में क्रुक्स-लैंस क्रुक्स विलियम की ही देन है। रसायन शास्त्र पर इन्होंने कई मौलिक पुस्तकों की रचना भी की है।

क्रुप प्रतिष्ठान

जर्मनी में लोहे और इस्पात का सामान तथा शस्त्रास्त्र तैयार करने वाला सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठान जिसकी स्थापना सोलहवीं सदी में हुई थी।

इस व्यवसाय के संचालकों में फ्रेडरिक क्रुप का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसका जन्म सन् १७८७ में और मृत्यु १८२६ में हुई थी। इस व्यक्ति ने सबसे पहले इस कारखाने में ढला हुआ इस्पात तैयार करने का प्रयास किया मगर इसके प्रयत्नों को मूर्त रूप इसके लड़के अलफ्रेड क्रूप ने दिया। अलफ्रेड क्रुप का जन्म सन् १८१२ में हुआ सन् १८४८ में इसने ढले हुए इस्पात से तोपें ढालने में सफलता प्राप्त की। इस उद्योग में इन लोगों को इतनी सफलता मिली कि ये "तोपों के राजा" कहलाने लगे।

सन् १८५१ में इंगलैण्ड की प्रदर्शनी में ५५ मन वजन की इस्पात की बनी हुई तोप का प्रदर्शन करके इन्होंने संसार के उद्योगपतियों को आश्चर्य चकित कर दिया।

सन् १८६२ में बेसेमर प्रोसेस की नवीन पद्धति से इस्पात ढालने की प्रक्रिया का सबसे पहले इस प्रतिष्ठान में प्रारम्भ हुआ। अलफ्रेड क्रुप के समय में इस कारखाने की बहुत प्रगति हुई और इसमें २१००० मजदूर काम करने लगे।

अलफ्रेड के बाद फ्रेड्रिक अलफ्रेड ने इस कारखाने का संचालन किया। फ्रेड्रिक अल्फ्रेड का जन्म सन् १८५४ में और मृत्यु सन् १९०२ में हुई। सन् १८९० में इस कारखाने ने कवचपट्ट निर्माण, जहाज निर्माण, खदानों से धातु निकालना इत्यादि कई नवीन कामों का प्रारम्भ किया। रासायनिक और भौतिक अनुसन्धानों के लिये क्रुपे प्रतिष्ठान ने एक अन्वेषण संस्था स्थापित की। जो क्रोम-निकेल इस्पात सम्बन्धी अनुसन्धान के लिये संसार में प्रसिद्ध हो गई। अब इस कारखाने के मजदूरों की संख्या बढ़ कर ४३००० हो गई थी।

प्रथम युद्ध के समय अकेला यही कारखाना जर्मनी की अस्त्र शस्त्र सम्बन्धी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। मगर इस युद्ध में पराजय होने से इस कारखाने को बड़ा धक्का लगा और अब यह अस्त्रशस्त्रों की जगह रेलवे इंजन और कृषि के यंत्र तैयार करने लगा।

दूसरे महायुद्ध में भी इस कारखाने ने हिटलर की बहुत सहायता की मगर उस युद्ध में भी जर्मनी की पराजय होने से इसका काम खतरे में पड़ गया। इस कारखाने के मालिकों पर युद्ध अपराधी का केस चलाया गया और इसके मालिक अल्फ्रेड को १२ वर्ष की सजा और सारी सम्पत्ति जब्त का दण्ड मिला। मगर सन् १९५१ में इसकी सजा माफ हो गई और सम्पत्ति की जब्ती की आज्ञा भी रद्द कर दी गई—और सन् १९५३ में इस कारखाने को इस शर्त पर काम चलाने की आज्ञा दी गई कि यह कोयला और इस्पात का उत्पादन कभी नहीं करेगा।

(ना० प्र० विश्वकोष)

क्रुप्सकाया

बोलशेविक दल के सुप्रसिद्ध नेता लेनिन की पत्नी, सोवियट कम्यूनिस्ट दल की नेत्री। जिसका जन्म सन् १८६९ में और मृत्यु सन् १९३९ में हुई।

कुप्सकाया ने अपने पति महान् क्रान्तिकारी लेनिन के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर काम किया। सन् १८६० में उसने रूसी क्रान्ति आन्दोलन में अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया। लेनिन ने सन् १८६५ में सेण्टपीटर्स वर्ग में जिस मजदूर मुक्ति संघ की स्थापना की थी कुप्सकाया ने उसमें भी बड़ी लगन से भाग लिया। सन् १८६७ से १६०० तक वह लेनिन के साथ साइबीरिया में निर्वासित रहीं। उसके पश्चात् विदेशों में रहकर उसने कई कम्यूनिस्ट पत्रों के सम्पादकीय विभागों में काम किया। बोलशेविक शासन हो जाने के पश्चात् सन् १६२६ में ये रूस के शिक्षा विभाग में डिप्टी पीपुल्स कमिश्नर की जगह नियुक्त की गईं। शिक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में इनका अध्ययन काफी गहरा था।

कूका-सम्प्रदाय

एक नानक पन्थी सम्प्रदाय, जिसकी स्थापना आदिगुरु रामसिंह ने की थी जो अठारहवीं सदी के मध्य में हुए और जो बढ़ई जाति के थे।

कूका सम्प्रदाय के लोग श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। वे सूत या ऊन की माला पहनते हैं और दिन में तीन बार स्नान करते हैं। झूठ बोलना उनके यहाँ बहुत बुरा समझा जाता है। अपनी सभा में ये गुरु नानक की वाणी का उच्चारण करते हैं।

इनके आदि गुरु रामसिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोटला के विद्रोह में भाग लिया था। जिसमें वे पकड़े गये और उन्हें कालापानी की सजा हुई। वहीं पर सन् १८३० में उनकी मृत्यु हुई। कूका सम्प्रदाय का गुरुद्वारा लुधियाना जिले के तरण नामक गाँव में है।

कू-क्लक्स-क्लेन

अमेरिका में स्थापित गोरे लोगों की एक गुप्त षड्यंत्रकारी संस्था। जो हब्शी और निग्रो लोगों के विरुद्ध सन् १८६५ ई० में कायम की गयी।

सुप्रसिद्ध राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के प्रयत्न से जब दक्षिणी अमेरिका में गुलाम लोगों को गुलामी से छुटकारा मिला तो गोरे लोगों ने गुप्त रूप से उनका दमन करके उनको अपनी इच्छानुसार चलाने के लिये पुलस्की नामक स्थान में कू-क्लक्स-क्लेन नामक गुप्त संस्था की स्थापना की।

इस संस्था की सब बैठकें गुप्त होती थीं। इसके सदस्य शरीर पर नकाब डाले हुए, मुँह पर सफेद चेहरा लगाये हुए और शिर पर एक भयंकर आकार की टोपी लगाये हुए रहते थे। उनका सारा शरीर काले लबादे से ढका रहता था। प्रत्येक सदस्य के पास एक सीटी रहती थी।

इस संस्था की हलचलों से और हब्शी लोगों पर इसके द्वारा किये जाने वालों भयंकर अत्याचारों से चारों तरफ बड़ी हलचल मच गयी, जिसके फलस्वरूप सन् १८७१ ई० में राष्ट्रपति 'ग्रेंट' के अनुरोध से अमेरिकन कांग्रेस ने इस संस्था की समाजविरोधी प्रवृत्तियों का अन्त करने के लिए 'फोर्सबिल' नामक एक कानून की घोषणा की। मगर इसका इस संस्था पर कोई विशेष असर नहीं पड़ा—तब अमेरिकन राष्ट्रपति को दुबारा एक घोषणा करनी पड़ी जिसके अनुसार इस संस्था के कई प्रमुख व्यक्तियों की गिरफ्तारियाँ हुईं और इन गिरफ्तारियों से इस संस्था की पहली किश्त का अन्त हो गया।

मगर गोरों के हृदय में कालों के प्रति जो दुर्भावना थी, उसका अन्त नहीं हुआ। वह ज्यों की-त्यों बनी रही, जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १६१५ में 'जोसेफ सीमेन्स' नामक व्यक्ति ने अटलांटा में इस संस्था की फिर से स्थापना की। यह संस्था पहली से भी अधिक निष्ठुर, शक्तिशाली और साहसी थी। इस संस्था का विस्तार दक्षिण अमेरिका के अलावा प्रशान्त महासागर के किनारे-किनारे सब दूर हो गया। इस संस्था ने हजारों हब्शियों पर बड़े निर्मम और दारुण अत्याचार किए।

सन् १६२६ में इसकी शाखाओं की संख्या दो हजार से ऊपर हो गयी थी और आर्थिक दृष्टि से भी यह संस्था अधिक मजबूत हो गयी थी। सरकार के द्वारा लगातार प्रहार किये जाने के कारण और इस संस्था के कई सदस्यों में भ्रष्टाचार और विश्वासघात की प्रवृत्ति हो जाने के कारण यद्यपि यह संस्था अब पहले से बहुत कमजोर पड़ गई है,

फिर भी इसका अस्तित्व समाप्त हो गया हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कूचबिहार

भारतीय स्वाधीनता के पूर्व बंगाल प्रान्त का एक देशीराज्य। जिसके उत्तर में जलपाईगुड़ी का पश्चिमी भाग पूर्व में आसाम का ग्वाल पाडा जिला, दक्षिण में रंगपुर और पश्चिम में जलपाई गुड़ी है।

कूचबिहार राज्य में कालजनी, गदाधरी, तिस्ता, तरसा, धवला और रैधक नामक छः नदियाँ बहती हैं। इन नदियों में नौकाओं का यातायात बारहो महीने चालू रहता है।

कूच बिहार के अधिकांश निवासी राजवंशी या कोच जातीय हिन्दू हैं। मुसलमान भी यहाँ काफी संख्या में रहते हैं।

कूचबिहार का पन्द्रहवीं सदी से पहले का इतिहास अन्धकार के गर्भ में है। पूर्वकाल में इस रियासत का कितना ही अंश कामरूप, गौड़ और पौण्ड्र राज्य में बँटा हुआ था। इस अञ्चल में पहले भगदत्तवंश और कायस्थ-वंश के शासक शासन करते थे। कूचबिहार के लाल बजार नामक नगर में कायस्थवंश की राजधानी कामतापुर के के भग्नावशेष पाये जाते हैं।

वर्तमान कूच विहार के राजवंश का इतिहास ई० सन् १५१० से प्रारंभ होता है। जब मैच-राजवंश के बिसूसिंह नामक राजा २२ वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठे। इसी समय से इस रियासत का सम्वत् "राजशाक" के नाम से प्रारम्भ हुआ। बिसूसिंह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में योगिनीतंत्र और मुंशी यदुनाथ घोष द्वारा लिखित राजोपाख्यान में कई अलौकिक किंवदन्तियाँ दी हुई हैं।

राजा बिसूसिंह ने चिकना पहाड़ छोड़कर कूचबिहार के समतल मैदान में हिंगलावास राजधानी की स्थापना सन् १५५४ से कुछ पहले की।

सन् १५५४ में बिसूसिंह ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया।

बिसूसिंह के पश्चात् उनके दूसरे पुत्र नरनारायण कूचबिहार की गद्दी पर आये। नरनारायण इस वंश में बड़े प्रतापी राजा हुए। इन्होंने आसपास का बहुत सा क्षेत्र जीत कर अपने राज्य में मिलाया और कामरूप जिले में कामाक्षा देवी का सुप्रसिद्ध मन्दिर बनवाया तथा और भी कई मन्दिरों का निर्माण करवाया। कामाक्षादेवी के मन्दिर में अब भी नरनारायण और उनके भाई शुक्लध्वज की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

राजा नरनारायण ने सबसे पहले कूचविहार में नारायणी नामक सिक्का चलाया और अपने भाई शुक्ल-ध्वज के साथ सौमार और कामरूप पर अधिकार कर अपने राज्य में मिला लिया।

३३ वर्ष राज्य कर के सन् १५८७ में राजा नरनारा-यण स्वर्गवासी हुए।

नरनारायण के पश्चात् उनके पुत्र लक्ष्मीनारायण राजा हुए। इन्होंने सम्राट् अकबर के समय में मुगलों की अधीनता स्वीकार की। आईन-अकबरी के अनुसार उस समय कूच राजा के पास एक हजार घुड़सवार और एक लाख पैदल सेना थी।

सन् १६२१ में लक्ष्मीनारायण की मृत्यु हुई और उनकी जगह उनके लड़के वीरनारायण गद्दी पर बैठे। राजा वीरनारायण बड़ा विलासी और कामुक था। एक बार वह अपनी लड़की के रूप पर मोहित हो गया। जब राजकुमारी को यह बात मालूम पड़ी तो घृणा और लज्जा से वह नदी में डूबमरी। तभी से उस नदी का नाम कुमारी नदी पड़ गया।

सन् १६२६ में वीरनारायण की मृत्यु हुई और उसकी जगह उसका पुत्र प्राणनारायण गद्दी पर आया। प्राण-नारायण स्मृति, व्याकरण और संगीत का बड़ा पंडित था। उसने अपने दरबार में ५ विद्वानों की पञ्चरत्न सभा कायम की थी। और उसी के उद्योग से जल्पीश बाणेश्वर और कामतेश्वरी देवी का मन्दिर तथा नगर पर सुदृढ़ प्राचीर का निर्माण करवाया गया।

३६ वर्ष तक राज्य करके प्राणनारायण की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् उसके पुत्र मोदनारायण गद्दी पर आये।

मोदनारायण के पश्चात् उनके लड़के वासुदेव नारायण राजा हुए। इन्हीं के समय में भूटिया लोगों ने कूच-बिहार पर भयंकर आक्रमण किया, जिसमें राजा वासुदेवनारायण मारे गये और कूचबिहार नष्टभ्रष्ट हो गया।

वासुदेवनारायण के बाद महेन्द्रनारायण और उनके पश्चात् जगतनारायण के पुत्र रूपनारायण सन् १६९४ में राजा हुए।

राजा रूपनारायण ने तरसा नदी के पूर्वी तट पर गुड़िया हारी ग्राम में अपनी राजधानी स्थापित की। उसी का नाम कूचबिहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने ढाका के नवाब से एक सन्धि की जिसके कारण उनको बोदा, पाटग्राम और पूर्वी हिस्से के कई ग्राम वापस मिल गये।

राजा .रूपनारायण के पश्चात् सन् १७१४ ई० में उनके पुत्र उपेन्द्रनारायण गद्दी पर बैठे। इन्होंने अपनी प्रिय नर्तकी लालबाई के नाम पर लालबाजार नामक नगर बसाया।

उपेन्द्रनारायण के पश्चात् धैर्य्येन्द्रनारायण नामक राजा गद्दी पर बैठे, मगर भूटान के राजा देवराज से कुछ झगड़ा हो जाने के कारण देवराज ने बन्दी बना कर इनको कारागार में डाल दिया। उसी समय से भूटान और कूचबिहार के बीच में झगड़ा शुरू हुआ और भूटान ने 'जिम्पे' नामक सेनापति के अधीन एक बड़ी फौज कूचबिहार का विध्वंस करने के लिए भेज दी।

इस सेना ने कूच बिहार को जीतकर सारे कूच बिहार पर अपना दखल कर लिया। और धैर्येन्द्रनारायण के पुत्र धरेन्द्रनारायण को कूचबिहार का राज्य देने से इनकार कर दिया। अन्त में धरेन्द्रनारायण ने सन् १७७३ ई० में अंग्रेजों से एक सन्धि की और कुछ रुपये देकर अंग्रेजी फौज को सहायता करने के लिये बुला लिया।

अंग्रेज सेनापति 'पर्लिङ्ग' की सेना के साथ भूटिया सेनापति 'जिम्पे' का बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। जिम्पे इस लड़ाई में बड़ी बहादुरी के साथ लड़ता हुआ मारा गया। अंग्रेजों ने राजा धैर्येन्द्रनारायण को भी जेल से छुड़ा लिया। मगर राजा धैर्येन्द्रनारायण कूचबिहार में अंग्रेजों का प्रभाव देखकर बड़े निराश हुए और कहा कि स्वाधीनता के विक्रय की अपेक्षा तो विश्व-सिंह के वंश लोप हो जाना ही अच्छा था और वे सन्यासी होकर वहाँ से चले गये।

धरेन्द्रनारायण के बाद इस वंश में हरेन्द्रनारायण हुए। इन्होंने सन् १८१२ ई० में भीतागुड़ी ग्राम में अपनी राजधानी कायम की।

हरेन्द्रनारायण के बाद शिवेन्द्रनारायण, नरेन्द्रनारायण और नृपेन्द्रनारायण राजा हुए। नृपेन्द्रनारायण का विवाह ब्राह्मसमाज के सुप्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन की बड़ी लड़की से और उनके लड़के जितेन्द्रनारायण का विवाह बड़ोदा-गायकवाड़ की राजकुमारी इन्दिरा देवी से हुआ।

इस प्रकार कूचबिहार का इतिहास भी कई प्रकार के उत्थान और पतन के बीच विकसित हुआ। भारतीय स्वाधीनता के पश्चात् यह राज्य बंगाल के राज्य में मिला लिया गया।

कूचा

मध्य एशिया का एक प्राचीन सांस्कृतिक नगर जो तरिम उपत्यका में स्थित था।

ऐसा समझा जाता है कि भारतीय पुराणों में कई स्थानों पर जिस कुश द्वीप का उल्लेख पाया जाता है वह मध्य एशिया की तरिम उपत्यका में स्थित प्राचीन नगर कूचा ही होना चाहिए। वराहमिहिर ने अपनी बृहत् संहिता में इस स्थान का वर्णन करते हुए इस क्षेत्र में बसने वाली जातियों के नाम शक, शूलिक और कुथिम बतलाया है।

कूचा प्राचीन युग में बौद्ध धर्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। जिसमें बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए १००० विहार बने हुए थे। इतिहास प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारजीव की माता जीवा यहीं की रहने वाली थी और कुमारजीव का जन्म भी इसी स्थान में हुआ था। कुमारजीव के पहले यह स्थान हीनयानी बौद्धों का बहुत बड़ा केन्द्र था मगर कुमारजीव ने इसको महायान तथा सर्वास्तिवाद के केन्द्र में बदल दिया।

बौद्ध धर्म का केन्द्र होने तथा मध्य एशिया के महत्वपूर्ण स्थान पर होने के कारण चीन का भी इस क्षेत्र से काफी सम्बन्ध रहा है। कई बार इस क्षेत्र पर चीन के बड़े-बड़े आक्रमण हुए। एक आक्रमण के समय में तो वे यहाँ से बौद्ध धर्म के आचार्य कुमारजीव को ही बन्दी

बनाकर अपने साथ ले गये। इन्हीं सब कारणों से चीनी साहित्य में भी इस क्षेत्र का कई स्थानों पर उल्लेख आया है।

कूचा, प्रारम्भ में शक और बु-सुन संस्कृति का केन्द्र था। ई० पू० ६५ में यहाँ के राजा 'क्यांचिन' ने वू-सून जाति की राजकुमारी से विवाह किया था। बु-सुन जाति के लोग बौद्ध मतावलम्बी थे और उन्हीं के कारण सम्भवतः बौद्ध धर्म ने यहाँ प्रवेश किया।

वैसे बौद्ध भिक्षु इस क्षेत्र में ई० पू० दूसरी शताब्दी से ही आने लग गये थे मगर व्यवस्थित और व्यापक रूप से बौद्ध धर्म का विस्तार यहाँ पर ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ। ईसा की तीसरी शताब्दी में तो यह स्थान बौद्ध धर्म और सभ्यता का एक महान् केन्द्र हो गया और यहाँ पर बौद्ध धर्म के करीब एक हजार मन्दिर और विहार बन गये। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की शिक्षा देने के लिए एक विशाल विद्यापीठ का भी निर्माण हुआ जिसमें आचार्य्य कुमारजीव भी बौद्ध धर्म के आचार्य्य थे।

सन् ४०० ई० में फा-शीन नामक एक चीनी यात्री यहाँ पर आया था। उसको इस क्षेत्र में कई घूमने वाले लोगों के काफिले मिले जिसमें कई व्यक्ति संस्कृत भाषा के पण्डित भी थे। सन् ६३० में हुएनसंग यहाँ पर आया था उसने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि "कूचा की लम्बाई पूर्व से पश्चिम १००० ली और चौड़ाई उत्तर से दक्षिण ६०० ली है। राजधानी सत्रह अठारह ली है। राजधानी से चालीस ली उत्तर दो बहुत सुन्दर बौद्ध विहार बने हुए हैं। जिनमें दो अत्यन्त कलापूर्ण बुद्ध मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। इन मूर्त्तियों की ऊँचाई नब्बे फुट से भी अधिक है। यहाँ पर हर पाँच वर्ष में एक बहुत विशाल मेला लगता है जो दस दिन तक चालू रहता है। इस मेले में बड़े-बड़े विद्वानों और आचार्य्यों के धर्मोपदेश होते हैं और हर एक विहार अपने रथों और मूर्त्तियों को सजाकर शोभा-यात्रा निकालते हैं। बाद में सब रथ एकत्र हो जाते हैं और नदी के किनारे आश्चर्य्य विहार में पहुँचते हैं।"

हुएनसंग लिखता है कि इस समय यहाँ करीब सौ विहारों में पाँच हजार भिक्षुक रहते हैं। ये सभी हीनयानी हैं मगर महायान के सूत्रों को भी मानते हैं। यहाँ की लिपि और भाषा भारतीय भाषा से बहुत मिलती जुलती है।"

चीनी ग्रन्थों के अनुसार सन् ४६ ई० में याद कन्द के राजा ने कूचा पर आक्रमण किया था। परन्तु हूण लोगों ने सहायता देकर कूचा की रक्षा करली और तब चेंग-तेन नामक व्यक्ति जनता की राय से कूचा की राज-गद्दी पर बिठाया गया। इसके बाद कूचा के राजा ने काशगर को जीता। किन्तु कुछ समय बाद ही चीनी सेनापति याङ्ग-चान ने आक्रमण करके कियानवी के पुत्र "पो" को गद्दी पर बिठाया। तभी से कूचा के राजा अपने-अपने नाम के आगे "पो" शब्द लगाने लगे। सन् ३८३ में यहाँ का राजा "पो-च्वेन" था जो बौद्ध मतावलम्बी था।

सन् ३५० ई० में ७० हजार चीनी सेना ने कूचा पर आक्रमण करके पो-च्वेन को राजा बना दिया और आचार्य्य कुमार जीव को अपने साथ ले गये।

सन् ४५० ई० में जब कि कूचा का राजा सू-ची-पो था, तब चीनी सेना ने फिर आक्रमण करके कूचा को कुचल दिया। तब कूचा के राजा ने चीन को छोड़कर तुर्कों से मित्रता कर ली।

सन् ६४८ ई० में तिब्बत के राजा स्रोंग-चन्-गम्पो ने कूचा पर आक्रमण किया और ८वीं सदी तक यह क्षेत्र तिब्बतियों, उईगरों और तुर्कों के हाथ में खेलता रहा।

९वीं शताब्दी में उईगरों ने यहाँ से तिब्बतियों को भगाकर अपना राज्य कायम किया। उईगर लोग भी बौद्ध धर्म के हीनयान मत के अवलम्बी थे।

११वीं शताब्दी में इन सब लोगों ने इस्लाम को ग्रहण कर लिया और तब से यह क्षेत्र भी विशाल इस्लामी दुनियाँ में शामिल हो गया।

कुछ समय पूर्व कूचा के क्षेत्र की खुदाई में कुछ चित्र प्राप्त हुए हैं। इन चित्रों में स्त्री-पुरुषों के भूरे बाल, नीली आँखें तथा उनकी वेष-भूषा को देखकर कुछ यूरोपीय पुरातत्व-वेत्ताओं ने यह निर्णय कर डाला कि यहाँ के लोग यूरोप से आई हुई किसी जाति के वंशज हैं, जो एशियाटिक शक-समुद्र के भीतर एक द्वीप की तरह कूचा और उसके आसपास में बस गई। इनकी तुखारी भाषा

का रूप पश्चिमी यूरोप की कैन्तम परिवार की भाषा से मिलता-जुलता है।

मगर उन लोगो को इनकी वेश-भूषा को देखकर जितना आश्चर्य हुआ, उससे अधिक आश्चर्य उनके रीति-रिवाज और उनकी नृत्यकला को देखकर हुआ। इनकी नृत्यकला और इनकी संगीतकला पूर्णरूप से भारतीय थी। चीनी लेखकों ने भी इनके संगीत को भारतीय माना है। इसके अतिरिक्त यहाँ से प्राप्त शिलालेखों में "स्वर्ण उस्पे" "दानपति कूचीश्वर' "वसुयश" इत्यादि ऐसे नाम मिले हैं, जो पूर्णरूप से पूर्णतः भारतीय हैं। नीली आँखें और भूरे बाल योरोपियों में ही नहीं, वैदिक आर्यों में भी पाये जाते थे। बुद्ध की आँखें अलसी के फूल की तरह नीली थी। महाकवि, अश्वघोष की माँ स्वर्णाक्षी पीली आँखों वाली थी। 'मिनांडर' के समकालीन पतञ्जलि ब्राह्मण का कपिल वर्ण और पिङ्गल केश थे। कूचा की स्त्रियों से कुछ मिलते-जुलते कोट आज भी हिमालय के जौनसार प्रान्त की स्त्रियों में देखे जाते हैं। इससे यूरोपीय लेखक 'लेकाक' का यह कथन कि 'भूरे बालों और नीली आँखो की वजह से कूचा की रहने वाली जातियाँ यूरोप से आई थीं"— कोई महत्व नही रखता। कूचा के लोगो का धर्म, उनके रीति-रिवाज, उनकी पोशाक, उनके नृत्य व संगीत सभी कुछ भारतीयो से मिलते-जुलते रहे हैं।

कई इतिहासकारों के मत से कुषाण लोगों की उत्पत्ति भी कूचा से ही हुई, ऐसा समझा जाता है। क्योंकि कुषाण राजा की उपाधि कुशाण-शाह बतलाई गयी है। कुशाण-शाह का मतलब कुशों का शाह बतलाया गया है। कुश लोग यहीं के निवासी थे। सूत्रालंकार के चीनी अनुवाद में भी कनिष्क को 'कू-श' कुश जाति का ही बताया है। महाराज 'कनिष्क लेख' के तिब्बती अनुवाद में भी कनिष्क को कुश जाति में पैदा हुआ बताया गया है। इस प्रकार कुशाण शकों का मूल स्थान कूचा ही सिद्ध होता है।

(चिरंजीला पाराशर—विश्व-सभ्यता का विकास)

कूनवार

उत्तरी भारत में गढ़वाल के समीपवर्ती बशाहिर क्षेत्र का एक भाग। इसके उत्तर में स्पिति, पूर्व में चीन की सीमाएँ, दक्षिण में बशाहिर तथा गढ़वाल और पश्चिम में कुलू है। यह सारा क्षेत्र पहाड़ों से परिपूर्ण है। यह तलो (नीचा) और मलमी (ऊँचा) ऐस दो भागों में विभक्त है।

उत्तरी क्षेत्र के कूनवारी बौद्ध और लामा-धर्म के अनुयायी हैं और दक्षिणी क्षेत्र वाले हिन्दू धर्म का पालन करते हैं।

कुनवारी जाति बड़ी बलिष्ठ, लड़ाकू और साहसी होती है। एक बार गोरखा लोगों ने कुनवार पर अधिकार करने के लिए संगठित होकर आक्रमण किया। मगर कुनवारी लोगो ने बड़ी वीरता से मुकाबिला करके उस आक्रमण को विफल करके गोरखाओं को संधि के लिए मजबूर किया और आगे से गोरखा फिर हमला न करें, इसके लिए ७५००) वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

कुनवारी लोगों को नृत्य और संगीत से बड़ा प्रेम है। आश्विन के प्रारम्भ में कुनवार में "मेन्तिक" नामक उत्सव होता है। उस समय कुनवार युवक और युवतियाँ पहाड़ों की हरीभरी चोटियो पर चढ़कर नाना प्रकार के रंग-विरंगे फूलों से अपने शरीर को सजाकर खूब मौज में नाच और गीत करते हैं। सबका खाना पीना भी वहीं होता है। जिस समय कुनवारी युवक-युवतियाँ ताल और सुर के साथ नृत्य और संगीत का समा बाँधती हैं उस समय संगीत-लहरी और नृत्य की झन्कार से सारा पहाड़ संगीतमय हो उठता है। कुनवारी लोगों में द्रौपदी की तरह एक पत्नी के कई पति होने की परम्परा भी चालू है।

आचार व्यवहार और धर्म-भेद के अनुसार कुनवार के उत्तरी हिस्से में भूटानी और दक्षिणी हिस्से में संस्कृत मिश्रित हिन्दी भाषा बोली जाती है। इस हिन्दी को कुनवारी लोग "मिलचन" भाषा कहते हैं।

कुनवार की पैदावार में सुन्नना का सेव, आकपा का अँगूर, और पङ्गी नामक स्थान का जायफल प्रसिद्ध है। कुनवार के अँगूर से बढ़िया शराब बनाई जाती है।

कूनवार (२)

मध्य प्रदेश का एक प्राचीन और ऐतिहासिक ग्राम जो रायपुर से उत्तर की ओर चौदह मील पर विलासपुर रोड के करीब स्थित है।

किम्वदन्ती के अनुसार राजा कुनवत ने इस ग्राम को बसाया। इस ग्राम में उनकी रानी ने एक तलाब खुदवाया जो 'रानी तलाब' के नाम से प्रसिद्ध है। इस गाँव में अभी भी प्राचीन काल के जैन और हिन्दू मन्दिर और सती-स्तम्भ वर्तमान हैं।

कूनूर

दक्षिण भारत में मद्रास का एक प्रसिद्ध हिल स्टेशन, जो नीलगिरि पर्वत की, टाइगर रॉक नामक चोटी पर बसा हुआ है। समुद्रतल से ६००० फीट की ऊँचाई पर यह स्थित है। यहाँ का जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यकर है। यहाँ का सेंट कैथेराइन नामक जलप्रपात अत्यन्त मनोहर और दर्शनीय है। इस क्षेत्र में काफी की पैदावार बड़ी तादाद में होती है।

कूद्दालूर

मद्रास प्रेसीडेन्सी के दक्षिणी अर्काट का एक नगर, जहाँ पर अँग्रेजों ने सेण्ट डेविड का दुर्ग बनाया था।

सन् १६८४ में शम्भू जी ने अँग्रेजों को यहाँ पर दुर्ग-निर्माण की अनुमति दी थी। सन् १७०२ में उक्त दुर्ग का पुनः निर्माण हुआ। सन् १७४३ ई० में लाबुरदोनी ने मद्रास पर आक्रमण किया था। उस समय अंगरेज कम्पनी का राजकीय दफ्तर मद्रास से उठकर कूद्दालूर आ गया था। सन् १७५८ ई० में फ्रेञ्च जनरल लाली ने आक्रमण करके कुद्दालूर पर अधिकार कर लिया। मगर सन् १७६० में अंग्रेज जनरल कर्नल कूट ने उस पर फिर अधिकार कर लिया। सन् १७८२ में हैदरअली की मदद से फ्रेञ्च लोगों ने फिर कुद्दालूर पर कब्जा कर लिया। उसके बाद सन् १७८५ में फिर यह स्थान अंग्रेजों का अधिकार में आ गया।

कूफा

मध्य एशिया में ईराक-राज्य का एक बड़ा नगर। जिसे खलीफा ऊमर ने सन् ६३८ ई० में बसरे के साथ-साथ बसाया था। उसके बाद यह नगर सारे मध्य एशिया में साहित्य, संस्कृति और कला का एक बड़ा केन्द्र हो गया था। अरबी-लिपि की "कूफी" शैली का इसी नगर से विकास हुआ था।

कूमायूँ

भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश राज्य का एक डिवीजन जिसमें अलमोड़ा, नैनीताल और कुमायूँ तीन जिले शामिल हैं। इस प्रदेश के उत्तर में तिब्बत, पूर्व में नैपाल, दक्षिण में बरेली विभाग और पश्चिम में देहरादून जिला है।

यह प्रदेश भारत के पौराणिक युग में सम्भवतः पञ्चकूट और कूर्माचल के नाम से प्रसिद्ध रहा। इस प्रदेश में कई प्रकार की पौराणिक किंवदंतिया प्रचलित है जिनसे मालूम होता है कि चम्पावत के पूर्व चाराल के बीच कूर्माचल नामक एक गिरिश्रृंग है। कूर्मावतार काल में विष्णु तीन वर्ष तक इसी गिरि श्रृंग पर रहे थे। महाभारत युद्ध में अङ्गराज कर्ण के द्वारा घटोत्कच के मारे जाने पर भीम सेन ने अपने पुत्र की सद्गति के लिए कूर्माचल पर दो मन्दिर बनवा दिये थे। इस समय चम्पावत के पूर्व फुङ्गर के निकट "घटका देवता" तथा दाक्षीणांश के पर्वत पर "घटकू" नामक जो मन्दिर दिखलाई पड़ते हैं वे भीमसेन के द्वारा स्थापित किये हुए हैं ऐसा कहा जाता है।

मध्यकाल में प्रसिद्ध इतिहास लेखक फरिश्ता के अनुसार आठवीं सदी में इस क्षेत्र पर "फुर" नामक कोई अत्यन्त पराक्रमी राजा यहाँ राज्य करता था। इसने दिल्ली से बंगाल तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था।

दसवीं शताब्दी में "सोमचन्द" नामक एक राजपूत ने कुमायुं में अपना राज्य स्थापित किया। सोमचन्द्र के पश्चात् उसका वंश सम्भावतः आठ सौ वर्षों तक इस प्रदेश पर राज्य करता रहा। इस राजवंश के

राजा अपने नाम के साथ "चन्द" शब्द लगाया करते थे। इन चन्द्र राजाओं में गरुड़ ज्ञानचन्द (सन् १४३१) और उद्यानचन्द (१४७७) विशेष प्रसिद्ध हुए। राजा उद्यानचन्द्र ने कुमायुं के प्रसिद्ध "जालेश्वर" नामक शिव मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। राजा कल्याणचन्द ने अपने राज्य की राजधानी अलमोड़ा में स्थापित की।

सन् १७४४ में अलीमुहम्मद रुहेला ने कुमायूं पर चढ़ाई की। चन्द नामधारी कमजोर राजा रुहेलों का मुकाबिला न कर सके। रुहेलों ने अलमोड़ा को लूट लिया, वहां के देव मन्दिरों को तोड़ फोड़ दिया। मगर फिर भी वे वहाँ पर जमकर शासन न कर सके।

सन् १७६० में नेपाल नरेश पृथ्वीनारायण सिंह के उत्तराधिकारी ने गोरखा सेना के साथ कुमायूं पर आक्रमण किया। दुर्बल चन्द्र नामधारी राजा यहां से भाग खड़े हुए और इस राज्य पर गोरखों का अधिकार हो गया जो २४ साल तक कायम रहा।

सन् १८१५ में यह प्रदेश गोरखाओं के हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में आया और अंग्रेजों का शासन समाप्त होने पर यह स्वाधीन भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का अङ्ग बनाया।

कुमायूं प्रदेश चारों तरफ सेहिमालय के ऊँचे-ऊँचे गिरिश्रृंगों से घिरा हुआ है। १४० मील लम्बे और ४० मील चौड़े इस क्षेत्र में लगभग तीस गिरिश्रृंग ऐसे हैं। जिनकी ऊँचाई १८००० फीट से २३००० फीट तक है। इस क्षेत्र में बहने वाली नदियों में शारदा, माकाली, और कालीगंगा है। ये सब नदियां अलखनन्दा में जा मिलती हैं। इस क्षेत्र में नैनीताल, रानीखेत और अलमोड़ा प्रसिद्ध पहाड़ी स्टेशन हैं।

कुमायुं में चारो ओर सैकड़ों हिन्दू देव मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरों में योगेश्वर, बाघेश्वर, सोमेश्वर त्रिशूलाद्रिका के मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं।

चीन और भारत की सीमाओं से लगा हुआ होने के कारण सामरिक दृष्टि से अब यह प्रदेश बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

कूमामोतो

जापान का एक सुप्रसिद्ध नगर, जापान के ह्विओगो नामक प्रान्त की राजधानी।

कूमामोतो जापान के रेशम-उद्योग का एक बड़ा केन्द्र है। चावल का भी यहाँ बड़ा व्यापार होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय यह नगर जलकर नष्ट हो गया था और उसके बाद भयंकर बाढ़ ने इसको फिर से नष्ट किया। मगर दोनों बार इस नगर का निर्माण नवीन ढंग पर होने से इस नगर की सुन्दरता बहुत बढ़ गई है। सन् १९५४ में यहाँ पर भगवान् बुद्ध की स्मृति में 'ग्रेनाइट पत्थर' की एक विशाल मीनार का निर्माण किया गया जो सारे एशिया में अपने ढंग की अद्वितीय है।

क्यूनीफार्म लिपि

मेसोपेटोमियां की प्राचीन संस्कृति की लिपि जो मिट्टी की ईंटों पर कील की तरह उठी हुई रहती थी।

यह लिपि मिट्टी की कच्ची ईंटों पर इस प्रकार लिखी जाती थी कि अक्षर कीलों की तरह ऊपर उभर जाते थे। बाद में उन ईंटों को पका लिया जाता था।

इस प्रकार की मिट्टी की तीस हजार ईंटों पर खोदा हुआ सुमेरियन सभ्यता का प्राचीन इतिहास तेलोनगर नामक स्थान से पुरातत्ववेत्ता डी० सरजक को व्यवस्थित रूप से प्राप्त हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस विशाल ईंट-साहित्य का निर्माण ईसा से करीब २७०० वर्ष पहले हुआ और ईसा से २६०० वर्ष पहले सम्राट् गुड़िया के समय में इसे व्यवस्थित रूप दिया गया। उस समय इस साहित्य को संग्रह करके एक मकान में ऊपर से नीचे इस तरह जमाया गया जैसा किसी पुस्तकालय को जमाया जाता है।

क्यूनीफार्म लिपि का यह पुस्तकालय संसार का पहला पुस्तकालय कहा जा सकता है। इस ईंट साहित्य में वहाँ के ऐतिहासिक राजाओं की पाँच हजार वर्ष पहले की वंशावली और उनके कार्य क्रमबद्ध रूप में मिलते हैं।

इन ईंटों के मिल जाने से संसार की एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का क्रमबद्ध इतिहास प्रकाश में आ गया।

इन्हीं ईंटों में प्राचीन जल-प्रलय की कहानी बतलाने वाला "गिलगमेष" नामक एक काव्य भी अंकित मिला है।

मेसोपेटोमियां वालों की यह क्यूनीफार्म लिपि मिस्र वालों की लिपि से भिन्न थी। मिस्र वाले अपनी लिपि को चीनियों की तरह कूँचियों द्वारा रंग से लिखते थे। मगर मेसोपेटोमियां वाले अपने अक्षरों को मिट्टी की ईंटों पर किसी नोकदार वस्तु से तैयार करते थे।

बहुत समय तक यह क्यूनोफार्म लिपि पुरातत्व-वेत्ताओं को समझ में नहीं आई। मगर उन्नीसवीं शताब्दी में गूटिंगेद युनिवर्सिटी में यूनानी भाषा के प्रोफेसर "ग्रोटेफेण्ट" और उसके बाद 'रालिन्सन' नामक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक कर्मचारी ने इस लिपि को समझ कर उसका भेद खोल दिया और 'बहिस्तून" के महत्वपूर्ण अभिलेख की प्रतिलिपि तैयार कर दी। ऐसा समझा जाता है कि भारतीय, अमरीकी, चीनी और मिश्रीलीपियों को छोड़कर संसार की प्रायः सारी लिपियाँ इसी क्यूनी फार्म-लिपि से निकली है। इस लिपि का प्रचलन ईसा से चार हजार वर्ष पहले हो चुका था।

उसके पश्चात् तो यह सारा साहित्य पढ़ा जाने लगा जिसकी वजह से संसार के प्राचीनतम इतिहास के कई महत्व-पूर्ण तथ्य सामने आये और सुमेरियन, बेबिलोनियन और असीरियन सभ्यताओं का तो क्रमबद्धइतिहास प्रकाश में आ गया।

क्यूरी-दम्पत्ति

विश्व के वैज्ञानिक क्षेत्र में कृत्रिम रेडियो सक्रियता के आविष्कारक आइरीन और फ्रेडरिक जोलियो—क्यूरी दम्पति।

फ्रेडरिक जोलियों क्यूरी का जन्म सन् १९०० में और मृत्यु सन् १९५८ में हुई। आइरीन क्यूरी का जन्म सन् १८९७ पेरिस में हुआ और मृत्यु सन् १९५६ में हुई।

विद्युत शक्ति के प्रयोग के बिना पाये तत्व न्यूट्रोन्स और क्लीवाण की खोज में जोलियो क्यूरी और उनकी पत्नी का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। न्यूट्रोन्स और क्लीवाण का सिद्धान्त सबसे पहले ब्रिटिश रसायन शास्त्री जेम्स चेडविक ने खोजा था। मगर उस सिद्धान्त को व्यवहारिकता का रूप देने का श्रेय क्यूरी-दम्पत्ति को ही है जिन्होंने सन् १९३२ में अपनी प्रयोगशाला में उसे सक्रिय-रूप प्रदान किया।

सन् १९३१ में जोलियो क्यूरी ने बतलाया कि "यदि हम विज्ञान की उपलब्धियों का अध्ययन करें तो हम यह विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि रासायनिक तत्वों के विघटन और निर्माण कार्य्य को अपनी इच्छा के अनु-सार करने में वैज्ञानिक सफल हो जायेंगे। यदि इस प्रकार की प्रतिक्रिया की शृंखला (चैन-रिएक्शन) सम्भव हो जाती है तो अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे प्रयोग जन्य अनन्तशक्ति या उर्जा का प्रसार सम्भव है।"

आणविक विज्ञान के क्षेत्र में "चेन-रिएक्शन" (प्रतिक्रियात्मक शृंखला) का यह सबसे पहला उल्लेख था। इस समय अर्थात् सन् १९३५ तक जोलियो-क्यूरी के समान इस विषय पर जिम्मेदारी पूर्वक बोलने का अधि-कार उनकी पत्नी आइरीन-क्यूरी ही को था।

जनवरी सन् १९३४ में क्यूरी-दम्पत्ति ने रेडियो-सक्रियता का आविष्कार कर इस क्षेत्र में सर्व प्रथम सफलता प्राप्त की, और सन् १९३५ में इस आविष्कार पर उन्हें रसायनशास्त्र का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे उस समय अज्ञात-रेडियो सक्रिय तत्वों के रासायनिक घटकों को प्रथक् निर्दिष्ट करने में सफल हो गये थे। सन् १९३५ में आइरीन क्यूरी को भी अपने पति के साथ नोबल-प्राइज प्राप्त हुआ।

सन् १९३९ में क्यूरी-दम्पति विखण्डन की स्थिति स्पष्ट कर यह प्रदर्शित करने में सफल हो गये कि भारी तत्वों के विघटन से भारी शक्ति का निर्माण होता है। इसी वर्ष वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन में जिसमें ये भी सम्मिलित थे घोषणा की गई कि विघटन की प्रतिक्रिया-शृंखला के प्रसार को नियन्त्रित भी किया जा सकता है। इसी महत्वपूर्ण निर्णय के आधार पर बाद में अमेरिका में परमाणु बम का निर्माण किया गया।

मई १९४० में जिस समय जर्मन लोग यूरोप की भूमि को तेजी से रौंदते हुए चले आ रहे थे उस समय शृंखला-त्मक प्रतिक्रिया को नियन्त्रित करने के परीक्षण के लिए "हैवीवाटर" का एकमात्र स्टॉक क्यूरी की प्रयोगशाला में पहुँचाने के लिए नारवे से फ्रान्स लाया गया। मगर जब

फ्रान्स का भी पतन हो गया तब यह हैवीवाटर (ड्यूटीरियम ऑक्साइड) फ्रान्स से इंग्लैण्ड ले जाया गया।

इन बुनियादी परीक्षणों के आधार पर ही इंग्लैण्ड में फ्रेञ्च वैज्ञानिकों का सहयोग चालू रहा। बाद में इसी सिद्धान्त के आधार पर अमेरिका में परमाणु बम की रचना हुई और अमेरिका ने इन परमाणु बमों का प्रयोग जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नामक स्थानों पर किया, जिनसे लाखों का नरसंहार हुआ। जापान को आत्म समर्पण करना पड़ा और युद्ध की हार, जीत में बदल गई।

जोलियो क्यूरी को सन् १९३३ में एकेडेमी ऑफ साइंस का हेनरी-विल्डे-प्राइज और सन् १९३८ में स्टैलिन प्राइज प्राप्त हुआ। जोलियो क्यूरी की पत्नी आइरिन-क्यूरी को सन् १९३३ में हेनरी-विल्डे प्राइज और सन् १९३४ में मार्क वे प्राइज प्राप्त हुआ।

क्यूरी-मारी

पोलैंड की सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और रसायन शास्त्री। जिसका जन्म सन् १८६७ ई० में वारसा में और मृत्यु सन् १९३४ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई।

पोलैंड में स्त्रियों के लिए वैज्ञानिक शिक्षा की मनाही होने के कारण मैडम क्यूरी को अपना देश छोड़कर फ्रांस आना पड़ा और पेरिस के शर्बो विद्यालय में उसने नौकरी करली और वहीं वह अपना अध्ययन भी करने लगी। यहीं पर उसका परिचय पीरी-क्यूरी नामक वैज्ञानिक से हुआ और सन् १८९५ में इन दोनो का विवाह भी हो गया।

उसी वर्ष जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक रांटजन् ने एक्स-रे का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने संसार के वैज्ञानिकों का ध्यान रेडियम धर्मा पदार्थों की ओर आकर्षित किया।

मैडम क्यूरी और उनके पति ने भी इस सम्बन्ध में अन्वेषण करना प्रारंभ किये। अकस्मात् उनके हाथ 'पिचब्लैंड' नामक खनिज तत्व लगा। इस पिचब्लैंड के रासायनिक विश्लेषण में से मैडम क्यूरी ने दो तत्व प्राप्त किये। एक 'पोलोनियम' और दूसरा 'रेडियम'। उन्होंने सिद्ध किया की रेडियम से निकली तीव्र किरणों के द्वारा मनुष्य को होने वाले चर्म रोगों की सफल चिकित्सा की जा सकती है। इस अन्वेषण के उपलक्ष में उन्हें डाक्टर की उपाधि और सन् १९०३ में 'नोबुल प्राइज' प्राप्त हुआ। सन् १९११ में उन्हें रसायनशास्त्र में नोबुल प्राइज प्राप्त हुआ। सन् १९१४ ई० में फ्रांस में उन्होंने एक रेडियम इंस्टीट्यूट की स्थापना की और सन् १९३४ ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

क्यूबा

पश्चिमी द्वीप-समूह का सब से बड़ा गणतंत्र। जिसका क्षेत्रफल ४४१६४ वर्गमील और जन-संख्या ५८२२२७७ है। क्यूबा का ८० प्रतिशत भाग पहाडी और पठारी है। पर्वतों की तीन शृंखलाओं पर यह बसा हुआ है। छोटा द्वीप होने के कारण क्यूबा का प्रत्येक भाग समुद्र के निकट है।

क्यूबा संसार में चीनी उत्पन्न करने का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। यहाँ की आर्थिक आधार शिला ही चीनी के उत्पादन पर निर्भर करती है। क्यूबा की राजधानी हावेना और यहाँ की प्रमुख भाषा स्पेनी है।

आधुनिक युग के इतिहास में क्यूबा ने संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है।

१० मार्च सन् १९५२ को 'बाटिस्टा' नामक एक व्यक्ति ने सैनिक विद्रोह के द्वारा क्यूबा की सरकार का तख्ता उलट दिया, और स्वयं वहाँ का तानाशाह बन कर वहाँ अपना आतंक राज्य कायम कर दिया।

तब 'कास्ट्रो' नामक एक युवक ने अपने छोटे भाई के साथ विद्रोहियों का एक दल संगठित कर २६ जुलाई सन् १९५३ को क्यूबा पर आक्रमण कर दिया। मगर बाटिस्टा की सेना ने उसको बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया और १५ साल की सजा देकर कास्ट्रो को जेल में डाल दिया। मगर सन् १९५५ में वे जेल से छूट गये और उसके बाद उन्होंने क्यूबा वासियों की विद्रोही भावनाओं का मजबूत संगठन किया और सन् १९६० में जेनरल बाटिस्टा को भगा कर क्यूबा की राजसत्ता को अपने हाथ में लेली, और क्यूबा का नवीनीकरण प्रारंभ कर दिया

जिसके फलस्वरूप उनको अमेरिका से विरोध मोल लेना पड़ा। क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र होने पर भी क्यूबा आर्थिक दृष्टि से अमेरिका की पराधीनता में रहा है, और उसके चीनी-उद्योग पर अमेरिका का नियंत्रण बना हुआ है।

फिडेल कास्ट्रो ने जब इस आर्थिक दासता से मुक्ति पाने के लिए कदम उठाना प्रारंभ किये तो अमेरिका बिगड़ उठा। तब कास्ट्रो ने अमेरिका से मोर्चा लेने के लिए रूस से साठगाँठ करना शुरू किया। रूस ने अमेरिका के समीप ऐसा सुविधाजनक अड्डा पाने के अवसर को हाथ से छोड़ना उचित न समझा और अपने जहाजों और पनडुब्बियों को क्यूबा के तट पर भेजना प्रारंभ कर दिया और अमेरिका को धमकी दी कि वह स्वतंत्र क्यूबा के मामले में हस्तक्षेप न करे वर्ना रूसी राकेट क्यूबा की रक्षा करने को तैयार हैं।

मगर अमेरिका ने इस नाजुक प्रसंग पर बड़ी दृढ़ता और साहस से काम लिया, और रूस को चेतावनी दे दी कि अमुक-अमुक समुद्री सीमा के भीतर रूसी जहाज और पनडुब्बियाँ प्रवेश न करें, वर्ना उन्हें डुबो दिया जायगा। और इस चेतावनी के साथ ही अपनी जलशक्ति को तुरन्त उन सीमाओं पर जाने का आदेश दिया।

अमेरिका के इस सख्त कदम से रूस बड़े आश्चर्य में आ गया और उसने क्यूबा के मामले में आगे बढ़ाए हुए कदमों को पीछे हटा लिया। रूस की इस कमजोरी से कास्ट्रो के हौसले भी ठण्डे पड़ गये। और उधर से आने वाले जोश-खरोश पूर्ण समाचार भी बन्द हो गये।

कूर्मपुराण

हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध पुराण जो महर्षि व्यास रचित अठारह पुराणों में पन्द्रहवाँ पुराण माना जाता है।

कूर्म पुराण के पूर्व भाग में विष्णु का कूर्म शरीर धारण; धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का महात्म्य; इन्द्रद्युम्न का राज प्रसंग, लक्ष्मी प्रद्युम्न संवाद, वर्णाश्रम का आचार, जगत् की उत्पत्ति, काल संख्या, प्रलय का वर्णन, शङ्कर चरित्र, पार्वती सहस्र नाम, योग निरूपण, भृगुवंश वर्णन, स्वायुम्भव मनु का वर्णन, देवनाग की उत्पत्ति, दक्ष यज्ञ भंग, दक्ष सृष्टि, कश्यप वंश वर्णन, आत्रेय वंश वर्णन, कृष्ण चरित्र, मार्कण्डेय कृष्ण संवाद, व्यास पाण्डव संवाद, युग धर्म, व्यास जैमिनी संवाद, काशी महात्म्य, प्रयाग महात्म्य, त्रैलोक्य वर्णन और वेदशाखा निरूपण का विवेचन किया गया है।

इसके उत्तर खण्ड में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का वृत्ति निरूपण, सङ्कर जाति की वृत्ति, काम्य कर्म का विधान, षट्कर्म सिद्धि, मुक्ति का उपाय और पुराण श्रवण की फल श्रुति है।

कूर्बे

फ्रान्स का एक यथार्थवादी चित्रकार जिसका जन्म सन् १८१९ में और मृत्यु सन् १८७७ में हुई।

फ्रांस में चित्र कला की चली आने वाली परम्परा को, जिसमें सुन्दर स्त्रियों और आभिजात्य वर्ग के पुरुषों का विशेष रूप से चित्रांकन किया जाता था, कूर्बे ने एक जबर्दस्त चुनौती दी, और अपने चित्रों में यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया। उसके इस नवीन दृष्टिकोण को तत्कालीन फ्रेन्च चित्र कला के क्षेत्र में विशेष मान नहीं मिला, और इसी कारण सन् १८५५ में हुई अन्तर्राष्ट्रीय चित्र कला प्रदर्शिनी "एक्स पोजिशन युनिवर्सल" में उसे सैलून में स्थान नहीं मिला। तब उसने अपने चित्रों की अलग प्रदर्शनी की जिसमें आभिजात लोगों के विरुद्ध दीन जनता के भावों का पोषण किया गया था।

सन् १८४८ की क्रान्ति में भी कूर्बे ने बड़ा सक्रिय भाग लिया था और सन् १८७१ में कम्यून आन्दोलन के समय भी उसने अपना सक्रिय पार्ट अदा किया था। इसके फलस्वरूप उसे देश से निर्वासित कर दिया गया। निर्वासन में ही उसकी मृत्यु हुई।

कूलिज (कालविन कूलिज)

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के तीसवें राष्ट्रपति, जो तीन अगस्त सन् १९२३ से सन् १९२९ तक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति रहे।

कालविन कूलिज का जन्म सन् १८७२ में नार्थ हैम्पटन

नगर में हुआ था। २५ वर्ष की अवस्था में सन् १८९७ में इन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। अपनी बुद्धिमानी, सेवा भाव और भाषण कला से अमेरिका के रिपब्लिकन दल में ये बहुत शीघ्र आगे आगये। और बढ़ते बढ़ते सन् १९१९ और १९२० में मेसा चूसेट्स राज्य के दो बार गवर्नर बनाये गये।

इसके पश्चात् सन् १९२० में ये अमरीका के उपराष्ट्रपति बने और सन् १९२३ में राष्ट्रपति हार्डिंज की मृत्यु हो जाने पर इन्होंने राष्ट्रपति पद की शपथ ली। राष्ट्रपति काल में इनको रिपब्लिकन दल की गुटबन्दी के कारण कई बाधाओं का सामना करना पड़ा। पर अपनी कार्य कुशलता से इन्होने उन बाधाओं पर विजय पाई।

सन् १९२५ के राष्ट्रपति चुनाव में ये फिर विजयी हुए। इस काल में इन्होने अमरीका की गृहनीति में काफी सुधार किया। जिससे सरकार के गठन में बड़ी दृढ़ता आई। इसलिए रिपब्लिकन दल ने सन् १९२८ में तीसरी बार फिर इनको राष्ट्रपति पद के लिए नामजद करना चाहा। मगर इन्होने इसके लिए इन्कार कर दिया। सन् १९२९ में राष्ट्रपति पद से मुक्त होकर इन्होंने अपनी एक सुन्दर आत्मकथा लिखी। सन् १९३५ में इनका स्वर्गवास हो गया।

कूविए-जार्ज लिओपोल

एक सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च जीव-शास्त्री। जिनका जन्म सन् १७६५ में फ्रान्स के एक ग्राम में और मृत्यु सन् १८३१ में हुई।

कूविए-जार्ज लिओपोल ने प्राणि-शास्त्र के ऊपर बड़ी महत्वपूर्ण खोजें कीं। सन् १७९८ ई० में जीव-जगत् का वर्गीकरण करके इन्होंने Tableaw elementaire de l'histoire naturelle des animaux नामक अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके बाद इसी विषय पर इनके और भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। जिनसे जीव शास्त्र के क्षेत्र में इनकी बहुत कीर्ति हो गई। सन् १८०८ में सम्राट् नैपोलियन ने इन्हें इम्पीरियल यूनिवर्सिटी की कौंसिल में नियुक्त किया। सन् १८३१ में फ्रान्स की मिनिस्टरी आफ इण्टिरिअर में इनकी नियुक्ति हुई, मगर उसी साल इनका देहान्त हो गया।

क्रूसेड के धर्मयुद्ध

योरोप के मध्यकालीन इतिहास में सबसे अद्भुत और आश्चर्यजनक घटना 'क्रूसेड' के धर्मयुद्ध हैं, जो ईसाइयों ने अपनी धर्मभूमि 'जेरूसलेम' को आक्रमणकारी 'सेलजुक' तुर्कों के हाथ से बचाने के लिए किये थे। क्रूसेड की ये धर्म लड़ाइयाँ सन् १०९६ से प्रारंभ हुई और करीब डेढ़ सौ वर्षों तक चलती रहीं।

पैगम्बर मोहम्मद की मृत्यु के थोड़े ही दिन पश्चात् अरब लोगों ने सीरिया पर आक्रमण करके ईसाइयों के पवित्र तीर्थस्थान जेरूसलेम पर कब्जा कर लिया। फिर भी इनलोगों ईसामसीह की जन्मभूमि में ईसाइयों के प्रवेश और उनकी उपासना के मार्ग में किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचायी।

मगर ११वीं सदी में सेलजुक तुर्क नामक जाति ने ने कुस्तुन्तुनियाँ के पूर्वी सम्राट् को सन् १०७१ ई० में हराकर उससे एशिया माइनर छीन लिया। और इन लोगों ने जेरूसलेम में ईसाइयों के पहुँचने और पूजा करने में भी बाधा डालना शुरू किया।

सन् १०८१ में सम्राट् अलेक्सियस कुस्तुन्तुनियाँ की गद्दी पर बैठा। इसने इन मुसलमानों को निकालने का प्रयत्न किया, मगर जब उसमें उसे सफलता न मिली तब उसने सन् १०९५ में रोमन चर्च के अधिपति 'द्वितीय अर्बन' से सहायता की प्रार्थना की।

पोप अर्बन ने फ्रांस के 'क्लेरमंट' नामक स्थान पर एक सभा बुलाई और एक ऐसा भावपूर्ण आमंत्रण पत्र ईसाई-जगत् के नाम पर निकाला, जिसका परिणाम इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण हुआ। इस आमंत्रण पत्र में पूरब के अन्दर अपने पीड़ित भाइयों की दशा का करुण चित्र अंकित करते हुए उनकी रक्षा के लिए प्रार्थना की गई थी और कहा था कि—'यदि ऐसा न किया जायगा तो घमंडी तुर्क अपना अधिकार बढ़ाते जायंगे, और ईश्वर के सच्चे सेवकों को अधिक दुःख देंगे। मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे ईसूमसीह का वह पवित्र

समाधिस्थान, जो कि अपवित्र नास्तिकों के हाथ में पड़ गया है और जिसको कि वे लोग अपवित्र करके अवज्ञा कर रहे हैं, उसको दुष्टों के हाथ से छुड़ाकर अपने अधीन करलो। ईश्वर तुम लोगों को शक्ति दे। पवित्र मन्दिर की यात्रा का मार्ग पकड़ो।"

पोप की इस अपील का भारी प्रभाव हुआ और हजारों व्यक्ति इस धर्म युद्ध में चल पड़ने को तैयार हुए। पोप ने उन लोगों से कहा कि —'जो लोग क्रूसेड की यात्रा पर जाना चाहते हैं, उन्हें अपनी छाती पर एक 'क्रास' बाँधना पड़ेगा और जब वे अपना पवित्र कार्य कर वापस लौटेंगे, उस समय यह दिखलाने के लिए कि वे अपने पवित्र काम को पूरा करके आ रहे हैं, वही क्रास अपनी पीठ पर बाँधना होगा।

पोप की इस अपील ने भिन्न-भिन्न की अवस्था के लोगों पर अपने भिन्न-भिन्न प्रभाव डाले। इसका प्रभाव केवल भक्त और धार्मिक लोगों पर ही नहीं पड़ा, किन्तु ऐसे असन्तुष्ट सामन्तों पर भी पड़ा जो पूर्व में जाकर अपना स्वतंत्र राज्य-स्थापन करना चाहते थे। ऐसे व्यवसायियों पर भी पड़ा, जो वहाँ जाकर नये-नये उद्योग करना चाहते थे। ऐसे भीषण अपराधियों पर भी पड़ा, जो इस युद्ध में जाकर अपने कुकर्म के दण्ड से बचने की आशा रखते थे। इन लोगों ने पोप की अपील पर विशेष ध्यान दिया और वे सभी लोग क्रूसेड की लड़ाइयों में शामिल हो गये। अर्बन ने केवल उन्हीं लोगों को उत्तेजित किया था, जो लोग अपने स्वजाति भाई-बन्धुओं से लड़ रहे थे।

क्लेरमंट की बैठक सन् १०६५ के नवम्बर मास में हुई थी। सन् १०६६ की वसन्त ऋतु के पूर्व ही जो लोग क्रूसेड पर व्याख्यान देने को रवाना हुए थे, उन्होंने 'फ्रांस' और 'राइन' में साधारण लोगों की एक बहुत बड़ी सेना एकत्र की। इन लोगों में सबसे अधिक काम पादरी पीटर ने किया था, जो क्रूसेड का मुख्य संचालक था। किसान, कारीगर, बदचलन स्त्रियाँ और बालक भी दो हजार मील जाकर पवित्र मन्दिर की रक्षा के लिए तत्पर और सन्नद्ध हो गये। उन लोगों का पूर्ण विश्वास था कि इस यात्रा के दुःख से ईश्वर हम लोगों की रक्षा अवश्य करेगा। और नास्तिकों पर हम लोग विजयी होंगे।

इन सब कारणों से क्रूसेड में शामिल होने के लिए बहुत से लोग इकट्ठे हो गये। इस अजीब जमघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और समाज का ऐसा कूड़ा कर्कट भी था, जो हर तरह के अपराध कर सकता था। धर्म युद्ध में जाने वाले इन जिहादियों में से बहुत से तो रास्ते में लूट-मार और अन्य बुराइयों में ऐसे फँस गये कि फिलस्तीन के पास तक पहुँच ही नहीं पाये। कुछ ने रास्ते में यहूदियों का कत्ल करना शुरू कर दिया। कुछ ने अपने ईसाई भाइयों को ही मार डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशों से होकर ये गुजरे, वहाँ के किसानों ने इनकी बदमाशियों से तंग आकर इनका डट कर मुकाबला किया।

अन्त में 'गाडफ्रे' नामक एक नार्मन के नेतृत्व में क्रूसेड का एक जत्था फिलीस्तीन पहुँच गया। इस जत्थे ने सन् १०६६ में जेरूसलेम को जीत लिया। फिर वहाँ एक हफ्ते तक कत्ले आम हुआ और उसमें हजारों लोग कत्ल कर दिये गये। इस घटना को अपनी आँखों से देखने वाले एक फ्रेंच लेखक ने लिखा है कि —

"मस्जिद की बरसाती के नीचे घुटने के बराबर खून बह रहा था, जो घोड़ों की लगाम तक पहुँच जाता था।"

इस विजय के बाद गाडफ्रे जेरूसलेम का बादशाह बन गया।

क्रूसेड का एक जत्था कुस्तुन्तुनियाँ भी पहुँचा। कुस्तुन्तुनियाँ के सम्राट् को इन जिहादियों की नीयत का पता लग गया था। वे समझ गये थे कि इन लोगों की नियत पूर्वी रोमन-साम्राज्य पर अधिकार करने की और ग्रीक चर्च को रोमन चर्च के आधीन कर देने की है। इसलिए पूर्वी रोमन सम्राट और यूनानी चर्च वालों ने इन जिहादियों की कोई मदद नहीं की, बल्कि उनके मार्ग में जितनी बाधाएँ पहुँचाई जा सकती थीं, पहुँचायी।

फिर भी जिहादियों ने अपनी शक्ति के बल पर कुस्तुन्तुनियाँ पर कब्जा कर लिया, और पूर्वी साम्राज्य के सम्राट् अलेक्सियस को मार कर भगा दिया और वहाँ पर लेटिन राज्य और रोमन कैथोलिक चर्च की स्थापना कर दी। इन लोगों ने कुस्तुन्तुनियाँ में भयंकर मारकाट की। और शहर के एक हिस्से को जला भी दिया। लेकिन

यह लेटिन-राज्य अधिक दिनों तक कायम न रह सका। पूर्वी रोमन-साम्राज्य के यूनानी कमजोर होते हुए भी वापस लौटे और ५० साल से कुछ ही अधिक समय के अन्दर इन्होंने लेटिनों को मार भगाया। उसके बाद करीब दो सौ वर्षों तक कुस्तुन्तुनियाँ का यह पूर्वी साम्राज्य कायम रहा।

क्रूसेड की इस लड़ाई के पश्चात् पश्चिमी लोगों ने जेरूसलेम के आसपास चार राज्यों की नींव डाली। जिनके नाम 'एडेसा' 'एँटीओक' 'ट्रिप्ली के पास का प्रदेश' और 'जेरु सलेम' नगर थे। गाडफ्रे के भाई 'बाल्डविन' ने जेरूसमेल नगर को बड़ी शीघ्रता से बढ़ाया। जिनेवा और वेनिस नगर की सामुद्रिक शक्तियों की सहायता से उसने समुद्र किनारे के अनेक नगरों पर अपना अधिकार कर लिया था।

इस क्रूसेड आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप इस क्षेत्र में कई नवीन संस्थाओं का जन्म हुआ। इन संस्थाओं में हास्पिटलर्स (रोगियों की सेवा करने वाली संस्था) टेम्प्लर्स और ट्युटानिक नाइट्स — ये तीन संस्थाएँ प्रधान थीं। इन संस्थाओं में सिपाही और महन्त, दोनों के हित सम्मिलित थे। एक ही मनुष्य एक साथ सिपाही भी हो सकता था और महन्ती का चोंगा भी धारण कर सकता था। टेम्पलर्स लोग लाल क्रास से सुसज्जित एक लंबा चोंगा धारण करते थे। उन्हें गिर्जों के कठिन नियमों का पालन करना पड़ता था और आज्ञाकारिता, दरिद्रता और अविवाहित रहने की शपथ भी लेनी पड़ती थी। उस समय इस संस्था की प्रशंसा सारे यूरोप में फैल गयी थी। पोप ने इसको बहुत से अधिकार भी प्रदान कर दिये थे। मगर आगे जाकर जब धन और सत्ता से यह संस्था युक्त हो गयी, तब बहुत से दुष्ट भी इसमें घुस गये। और अनेक अनैतिक कार्य भी इसमें होने लगे।

फलस्वरूप १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह संस्था उठा दी गयी। और इसके सभासदों पर नास्तिकता के आरोप लगा कर कइयों को जीते-जी जला दिया गया और कइयों को बन्दीगृह में डाल दिया गया।

प्रथम क्रूसेड के ५० वर्ष के पश्चात् सन् ११४४ में ईसाइयों के पूर्वी राज्य 'एडेसा' का पतन हुआ। तब उसके उद्धार के लिए 'सेंट बर्नर्ड' की अध्यक्षता में दूसरे क्रूसेड का प्रारंभ हुआ। इसमें फ्रांस के राजा 'तीसरे कानराड' ने भी भाग लिया, मगर यह क्रूसेड बिल्कुल असफल रहा।

इसके बाद सन् ११८७ में मिस्र के सुल्तान सलादीन ने जेरूसलेम को ईसाइयों से फिर छीन लिया। इससे यूरोप को जनता पुनः उत्तेजित हो उठी और एक के बाद एक कई क्रूसेड हुए। जिनमें यूरोप के कई बादशाह और सम्राट भी शामिल हुए, लेकिन उन्हें कोई सफलता न मिली। यह क्रूसेड वीभत्स और निर्दयता पूर्ण लड़ाइयों और साजिश तथा अपराधों की कहानियों से भरा हुआ था, लेकिन कभी-कभी इन कहानियों में मानव-प्रकृति के सद्गुणों की उज्ज्वल रेखाएँ भी दिखाई पड़ती थीं।

सलादीन बड़ा लड़ाका और अपनी वीरोचित उदारता के लिए मशहूर था और बाहर से आये हुए धर्म योद्धाओं में इंग्लैंड का राजा 'शेरदिल रिचर्ड' अपनी शाही शक्ति और साहस के लिए मशहूर था। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड लू लगने से बहुत बीमार पड़ गया। जब सलादीन को इसकी खबर हुई तो उसने रिचर्ड के लिए पास के पहाड़ों से मँगवा कर ताजा बर्फ भेजने का इन्तजाम कर दिया।

फिलीस्तान से लौटते समय इंग्लैण्ड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी यूरोप में उसके दुश्मनों ने पकड़ लिया और उसको छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रकम देना पड़ी। फ्रान्स का राजा फिलीस्तीन में ही गिरफ्तार कर लिया गया था और वह भी बहुत बड़ी रकम के बदले में छुड़ाया गया। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा फिलीस्तीन की एक नदी में डूब गया, फिर भी जेरूसलेम पर ईसाइयों का कब्जा न हो सका।

इन क्रूसेडों में सब से भयङ्कर क्रूसेड वह था जो "बच्चों का क्रूसेड" कहलाता है। बहुत बड़ी तादाद में धर्म युद्ध के जोश में हजारों बच्चे अपने घरों से निकल आये। खास कर फ्रान्स और जर्मनी के बच्चे अपने घरों को छोड़ कर फिलीस्तीन जाने को चल पड़े। उनमें से कितने ही तो रास्ते में मर गये, कितने ही खो गये और शेष जो मार्सल्स पहुँच गये उनके साथ गुण्डों ने बड़ा धोखा किया। और उनके उत्साह से बेजा फायदा उठाकर

उन्हें पवित्र भूमि में पहुँचाने का झांसा देकर मिश्र में लेगये और वहाँ उन सब को गुलामों की मण्डी में वेच दिया।

सन् १२४६ में अन्तिम क्रूसेड हुआ। इस क्रूसेड का नेता फ्रान्स का राजा नौंवा लुईथा, वह हार गया और कैद कर लिया गया। और बाद में काफी धन देकर छुड़ाया गया।

मतलब यह कि इन क्रूसेडों का कोई नतीजा नहीं निकला और जेरुसलेम की पवित्र भूमि मुसलमानों के हाथ से नहीं छुड़ाई जा सकी। तब पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने फिलीस्तीन जाकर युद्ध करने के बजाय मिश्र के सुलतान से भेंट कर एक दोस्ताना सन्धि कर ली। जिससे फिलीस्तीन में ईसाइयों का वेरोक टोक आना जाना और उपासना करना प्रारम्भ हो गया।

क्रूसेड की लड़ाइयों पर अपना मत अभिव्यक्त करते हुए सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार ट्रेवेलिन लिखता है कि—

"क्रूसेड, यूरोप को उसे फिर से जगाने वाली उस चेतना के सैनिक और धार्मिक पहलू थे जो उसे पूर्व की ओर जाने को प्रेरित कर रही थी। क्रूसेडों से यूरोप को वह जीत नहीं मिली कि पवित्र भूमि हमेशा के लिए ईसाइयों के हाथ में आ गई हो या ईसाई जगत् में प्रभाव कारक एकता पैदा हो गई हो। क्रूसेडों की कहानी तो इन बातों का लम्बा प्रतिवाद है। इन सब बातों के बजाय यूरोप में ललित कलाएँ, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान तथा बौद्धिक जिज्ञासा अर्थात् यानी वे तमाम चीजें आईं जिनसे सेण्टपीटर को सख्त नफ़रत थी।"

कृत्तिवास

बंगला-भाषा के महान् कवि, बंगला-रामायण के कर्त्ता जिनका जन्म सन् १३४६ के फरवरी महीने में हुआ।

कृत्तिवास ने अपने पूर्वजों का जो परिचय दिया है, उससे मालूम होता है कि यह घराना संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष की वंश-परंपरा में था और गौड़ेश्वर आदिशूर के बुलावे पर यह वंश कन्नौज से बंगाल में आया।

शुरू में यह वंश स्वर्णग्राम में जमा और सन् १२४८ ई० के लगभग ये लोग फूलिया ग्राम चले गये। वहीं पर इस कुटुम्ब में कृत्तिवास का जन्म हुआ। कृत्तिवास के पिता का नाम वनमाली और माता का नाम मालिनी था।

संस्कृत-व्याकरण और काव्य में पाण्डित्य प्राप्त करके कृत्तिवास गौड़-नरेश के पास संरक्षण प्राप्त करने के लिए गये। गौड़-नरेश ने बड़े सम्मान के साथ इनको अपने दरबार में रखा और उन्हींके आग्रह से कृत्तिवास ने बंगला में उक्त रामायण की रचना प्रारंभ की।

बंगाल के जन-समुदाय में कृत्तिवास की रामायण अत्यन्त लोक-प्रिय हुई। उसमें विशेषता यह है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है—त्यों-त्यों इस रामायण की लोक-प्रियता घटने के बजाय बढ़ती चली जा रही है। आज भी बंगाल के गांवों में घर-घर इसका पाठ होता दिखाई देता है।

कृत्तिवास की रामायण ने, इस लोक-प्रियता के कारण भिन्न सम्प्रदायों के द्वारा खींचतान करने से, कुछ विकृतरूप भी धारण कर लिया है। यही कारण है कि आज शैव और वैष्णव-सम्प्रदायों के द्वारा प्रकाशित रामायणों में कई क्षेपक जुड़ गये हैं। जिससे उसके असली रूप का पता लगाना कठिन हो गया है।

फिर भी कृत्तिवास की रामायण बंगला-साहित्य की नींव का पत्थर है। यद्यपि इसकी रचना सुप्रसिद्ध वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई है। फिर भी इसमें बंगाली लोक-जीवन की सामग्री, वहाँ की भावनाओं का स्वरूप और दूसरे अन्य संशोधनों से यह काव्य एक स्वतंत्र काव्य की तरह बन गया है। जिसकी सहज-सरलभाषा बंगला और उसके सर्वप्रिय छन्द 'पयार' में जब पाठक राम, लक्ष्मण और सीता के चरित्रों को पढ़ता है तो उसमें उसको बंगाल के वातावरण और उसके घरेलू जीवन की झाँकी स्पष्ट रूप से झलकती दिखलाई देती है। इसीसे इस रामायण में उच्चकोटि के बंगला-लोक-साहित्य के सभी आकर्षक गुण विद्यमान हैं।

कृत्तिवास की रामायण और काशीरामदास के महाभारत ने भारतीय साहित्य की दो प्रमुख धाराओं को साधारण जन-समुदाय तक पहुँचाने का अत्यन्त महान् कार्य

किया है। ये दोनों प्रसिद्ध ग्रन्थ बंगाली-जीवन की सांस्कृतिक परंपरा के महान् स्तंभ हैं।

कृपलानी जे० बी० आचार्य

भारत के एक सुप्रसिद्ध गांधी तत्वज्ञान के प्रवक्ता, सन् १९४६ में आल इण्डिया नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष, जिनका जन्म सन् १८८९ में सिन्ध हैदराबाद में हुआ। इनका पूरा नाम जीवनराम भगवानदास कृपालानी है।

आचार्य्य कृपलानी के पिता का नाम काका भगवान दास था। इनका कुटुम्ब वैष्णव धर्म का कट्टर अनुयायी था। फिर भी यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इनके बड़े भाइयों में से दूसरे और पाँचवें नम्बर के दो भाइयों ने वैष्णव धर्म छोड़कर इस्लाम ग्रहण कर लिया। और इस्लाम भी इतना कट्टर कि, जिस समय भारतवर्ष में खिलाफत आन्दोलन चल रहा था उस समय इन दोनों में से एक ने अफगानिस्तान से साँठगाँठ करके यह प्रयत्न करना चाहा कि जिस समय भारत में खिलाफत आन्दोलन तेजी पर हो उस समय अफगानिस्तान भारत पर हमला करके यहाँ पर इस्लामी हुकूमत कायम कर दे। मगर उनका षड्यन्त्र समय से पहले ही पकड़ लिया गया और वे भागकर इस दुनिया से किनाराकशी कर गये। दूसरे भाई यूनान-टर्की युद्ध में टर्की की ओर से लड़ते हुए मारे गये।

आचार्य्य कृपलानी का विद्यार्थी जीवन लड़खड़ाता हुआ चला। अपनी क्रान्तिकारी और लड़ाकू भावनाओं के कारण दो-दो कालेजों से इनका नाम काटा गया। फिर भी सन् १९१२ में इन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से राजनीति और अर्थशास्त्र में एम० ए० की परीक्षा सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की।

अपने देश के प्रति अभिमान, अंग्रेजी राज्य से घृणा और क्रान्ति की चिनगारियाँ आचार्य्य कृपलानी में विद्यार्थी जीवन से ही पैदा हो गई थी। जब देश में बङ्ग भङ्ग का आन्दोलन चला, तब उनकी ये भावनाएँ और भी तीव्र हो गईं और वे सन् १९०७-८ में सिन्ध से बिहार आकर वहाँ के क्रान्तिकारी दल में ये सम्मिलित हो गये। फिर भी उनके जीवन का एक निश्चित क्रम नहीं बना और सन् १९१२ में मुजफ्फरपुर के जी० बी० बी० कालेज में वे अर्थशास्त्र के लेक्चरार बन गये।

महात्मा गांधी का अनुगमन

आचार्य्य कृपालानी के जीवन की स्थिर रूपरेखा तब निश्चित हुई जब वे सन् १९१७ में चम्पारन-सत्याग्रह के समय में महात्मा गांधी के सम्पर्क में आये। यद्यपि हिंसक-क्रान्ति की भावनाएँ बद्धमूल होने से शुरू-शुरू में महात्मा गांधी की एकदम जीवन और दुनिया से निराली अहिंसात्मक-नीति पर उनका विश्वास नहीं जमा, पर अन्त में महात्मा गांधी के तत्त्वज्ञान में उनकी अचल श्रद्धा हो गई और उसी चम्पारन-सत्याग्रह में वे महात्मा गांधी के साथ जेल में गये।

अब आचार्य्य कृपलानी के जीवन का एक निश्चित और स्थायी आदर्श कायम हो गया। अब वे गांधी तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन और पर्यालोचन करने लगे और इस विषय में इन्होंने इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि समूचे भारत में गांधी-तत्त्वज्ञान के जो आठ-दस प्रमुख प्रवक्ता माने जाते हैं—उनमें एक ये भी हैं। गांधीजी के आधारभूत सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए "दी गान्धियन वे" नामक अपनी पुस्तक में वे लिखते हैं—

"गांधीजी की दृष्टि में व्यक्ति दैवी सृष्टि है और उसका भाग्य भी दैवी है। अतः उसका उद्देश्य आध्यात्मिक होना चाहिए। व्यक्ति को आध्यात्मिक समाज में अपनी पूर्णता प्राप्त करना चाहिए और इस समाज की रचना ऐसे सिद्धांतों पर होना चाहिए जो व्यक्ति को उसके दैवी आदर्श की ओर ले जाय। संक्षेप में ये सिद्धांत प्रेम, अहिंसा, सत्य और न्याय हैं। इन सिद्धातों के आधार पर बनी हुई समाज-व्यवस्था में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक किसी भी प्रकार का शोषण सम्भव न हो सकेगा।"

"अतः यदि राष्ट्र को बचाना है तो वह केवल शक्ति के हेर-फेर से सम्भव नहीं होगा। चाहे वह कितना ही महत्व का क्यों न हो। वह तो जीवन के नवीन मूल्यांकन से ही सम्भव होगा और जीवन का यह मूल्यांकन आध्यात्मिक और आदर्शवादी होगा।"

इस प्रकार आचार्य्य कृपलानी का जीवन सम्पूर्ण रूप से गांधीवादी साँचे में ढल गया और वे अपनी पूरी शक्ति से इस आन्दोलन में सहयोग देने लगे।

सन् १६२२ में महात्मा गांधी ने आचार्य्य कृपलानी को अपने पास अहमदाबाद बुला लिया और गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ में इनको आचार्य्य बना दिया।

सन् १६३४ में बम्बई-कांग्रेस के जब डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अध्यक्ष चुने गये तब कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी का भार आचार्य्य कृपलानी के कन्धे पर आया। तबसे आप बराबर बारह वर्ष तक कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी-पद पर काम करते रहे। सन् १६३८ में इन्होंने ही कांग्रेस के अन्दर विदेशी विभाग की स्थापना का महत्वपूर्ण कदम उठाया। सन् १६४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन भी आपके मंत्रित्व में ही हुआ और उसमें अन्य नेताओं के साथ ये भी जेल में बन्द कर दिये गये।

सन् १६४६ में पं० जवाहरलाल नेहरू के अस्थायी सरकार में चले जाने पर आचार्य्य कृपलानी को कांग्रेस का अध्यक्ष बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इन्हीं के नेतृत्व में ब्रिटिश सरकार की तरफ से कांग्रेस को भारत की स्वाधीनता का पैगाम मिला।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस सरकार को गांधीवादी सिद्धान्तों से दूर जाते हुए समझ कर आचार्य्य कृपलानी ने कांग्रेस से अपना त्यागपत्र देकर प्रजा-समाजवादी दल की स्थापना की। मगर कुछ समय पश्चात् प्रजा समाजवादी दल से भी मतभेद हो जाने पर ये उससे भी अलग होकर स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे।

सन् १६६२ के चुनाव में आचार्य्य कृपलानी बम्बई के एक क्षेत्र से श्रीकृष्ण मेनन के मुकाबिले में लोक-सभा के लिये खड़े हुए। यह चुनाव सारे भारतवर्ष में अनोखा था। बम्बई की अनेक पार्टियाँ, जिनमें कांग्रेसी तत्व भी शामिल थे, आचार्य्य कृपलानी का समर्थन कर रही थीं और कम्यूनिस्ट तथा कुछ वामपक्षी पार्टियों का समर्थन श्रीकृष्ण मेनन को प्राप्त था। अन्त में इस चुनाव में कृष्ण मेनन का समर्थन करने स्वयं पं० जवाहरलाल नेहरू को दो बार बम्बई आना पड़ा और उन्होंने कहा कि "कृष्ण मेनन की हार मेरी हार होगी" तब कड़े संघर्ष के बीच श्रीकृष्ण मेनन को भारी बहुमत से विजय प्राप्त हुई।

उसके पश्चात् उत्तर प्रदेश में लोक-सभा के एक उपचुनाव में आचार्य कृपलानी हाफ़िज मुहम्मद इब्राहीम के मुकाबिले में खड़े हुए और काफी बहुमत से विजयी हुए।

आचार्य कृपलानी 'भारतीय पार्लमेंट' में विरोधी दल के एक जिम्मेदार और निर्भीक प्रवक्ता तथा सरकार की कमजोरियों और गलतियों पर तर्क सम्मत दृष्टिकोण से प्रकाश डालने वाले स्पष्ट भाषी और प्रभावशाली सदस्य हैं। ७६ वर्ष की आयु में भी ये अपना कार्य्य ईमानदारी और मनोयोग के साथ कर रहे हैं।

कृपलानी सुचेता

आचार्य जे० बी० कृपलानी की पत्नी तथा उत्तर प्रदेश की मुख्य मंत्री, श्रीमती सुचेताकृपलानी।

श्रीमती सुचेता कृपलानी का जन्म बंगाल के नदिया जिले के एक ग्राम में एक सम्भ्रान्त ब्रह्म समाजी परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम डॉ० सुरेन्द्र नाथ मजूमदार था। इन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री प्राप्त कर बनारस हिन्दूयुनिवर्सिटी के महिला कॉलेज में प्रोफेसर का पद अङ्गीकार कर लिया। इसी समय आचार्य्य कृपलानी से इनका परिचय हुआ, यह परिचय घनिष्ठता में और घनिष्ठता प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गई, और दोनों व्यक्ति विवाह सूत्र में बंधने को तैयार हो गये।

मगर सुचेता के परिवार वालों ने इस सम्बन्ध का विरोध किया। क्योंकि एक तो आचार्य कृपलानी सिंध के रहने वाले थे, दूसरे उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे वैवाहिक जीवन को खुशहाली से बिता सकें।

मगर श्रीमती सुचेता ने हिम्मत और दिलेरी के साथ इन आपत्तियों का खण्डन किया, और विपत्तियों से लड़कर अपनी क़िस्मत का फैसला करने का निश्चय किया, और आचार्य्य कृपलानी के हाथ में अपनी जीवन नौका सौंप दी।

विवाह के पश्चात् एक आदर्श गृहिणी की तरह "सादा जीवन और उच्च विचार" की कहावत को इन्होंने अपने जीवन में उतार लिया। और अपनी छोटी सी गृहस्थी का सब एक काम बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने हाथों से करने लगीं।

एक लेखक ने लिखा है कि—"जहाँ आचार्य्य कृपलानी गम्भीर और फौलादी तबियत के हैं वहाँ उनका दूसरा पहलू सुचेता के रूप में बहुत ही विनोदी, चपल और नम्र स्वभाव का है। दिन भर का थकामान्दा भारतीय राजनीतिज्ञ जब आचार्य्य कृपलानी के रूप में अपनी गृह लक्ष्मी के पास भोजन ग्रहण करने जाता है तब गृह लक्ष्मी की सौम्य और विनोदनी मूर्ति उस फौलादी चेहरे की झुर्रियों को ढीला कर देती हैं और तब उस गम्भीर शान्त मुद्रा में आनन्द और विनोद की तरङ्गें उठने लगती हैं।"

कांग्रेस से मतभेद हो जानेपर जब आचार्य्य कृपलानी ने कांग्रेस से त्याग-पत्र देदिया तब भी श्रीमती सुचेता कांग्रेस में बनी रहीं और वे उत्तर प्रदेश विधान सभा की सदस्या भी चुनी गईं।

सन् १९६३ में जब कामराज योजना के अन्तर्गत श्री चन्द्रभानु गुप्ता ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया, तब श्रीमती सुचेता कृपलानी उत्तर प्रदेश की मुख्य मंत्री चुनी गईं। मगर जब से वे चुनी गईं तभी से कांग्रेस की दलबन्दी के कारण वे लगातार संघर्ष में से गुजरती रहीं, अभी भी वह संघर्ष बराबर चालू है और उसका अन्त कहाँ जाकर होगा यह नहीं कहा जा सकता।

कृष्णकुमारी

राजपूताने में महाराणा भीमसिंह की कन्या, जिसका जन्म सन् १७९४ में हुआ और जो सन् १८१० ई० में जबर्दस्ती जहर पिला कर मारी गयी।

कृष्णकुमारी मेवाड़ के राणा भीमसिंह की कन्या थी। भीमसिह सन् १७९८ में मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठे। कृष्णकुमारी का रूप बहुत ही सुन्दर था और जब उसके सौन्दर्य में यौवन ने प्रवेश किया तब तो उसे और भी शोभा का घर बना दिया। इसीसे उसे राजपूताने के लोग 'फुल्लनलिनी' कहते थे।

जब कृष्णकुमारी विवाह के योग्य हुई तब राणा भीमसिंह ने जयपुर के राजा जगत्सिंह के साथ उसका विवाह करना निश्चित किया। राजा जगत्सिंह ने भी इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया।

मगर कृष्णकुमारी के रूप-लावण्य की बात को सुन कर जोधपुर के राजा मानसिंह भी कृष्णकुमारी को पाने के लिए लालायित हो उठे और उन्होंने राणा भीमसिंह को लिख दिया कि आप हमको यदि अपनी कन्या न देंगे तो हम जगतसिंह के साथ होने वाले ब्याह में पूरा अड़ंगा लगायेंगे।

इधर ग्वालियर के सेंधिया जोधपुरवालों के पक्ष में हो गये और वे आठ हजार सेना के साथ जयपुर पहुँच गये। इन सारी घटनाओं से घबराकर राणा भीमसिंह ने जयपुर के दूत को वापस कर जगतसिंह के साथ कृष्णा का ब्याह करने में मजबूरी प्रकट की। तब जयपुर के राजा जगतसिंह ने सेना संग्रह करके जोधपुर पर आक्रमण कर दिया, मगर मानसिह की सेनाओं ने जगतसिंह को हरा कर भगा दिया।

इधर पिंडारी नेता अमीर खाँ भी जोधपुर-नरेश के साथ हो गया और राणा भीमसिंह पर उसने जोर किया कि वह कृष्णा का विवाह जोधपुर के राजा मानसिंह के साथ कर दे।

मगर राणा भीमसिंह किसी भी तरह मानसिंह के साथ कृष्णाकुमारी का विवाह करने के लिए तैयार नहीं हुए। तब अपने भाई-बन्धुओं की सलाह से राणा ने यह तय किया कि सारे झगड़े की जड़ 'कृष्णा' को ही मार दिया जाय तो यह सब झगड़ा समाप्त हो सकता है।

तब राणा ने कृष्णकुमारी के भाई जवानदास को राजकुमारी को मारने का भार सौंपा। जवानदास हाथ में तलवार लेकर राजकुमारी को मारने के लिए चले, किन्तु बहिन को देखते ही उनके हाथ से तलवार गिर पड़ी और वे रोते हुए वहाँ से भाग गये।

जब महारानी को यह बात मालूम हुई, तब वह फूट-फूट कर रोने लगी और कन्या के प्राण की भिक्षा माँगने लगी। उस करुणाजनक दृश्य को देखकर सब के हृदय रोने लगे। अन्त में किसी हथियार से मारने की बात छोड़ कर कृष्णकुमारी को जहर का प्याला पिलाने की बात तय की गयी और यह कार्य राणा भीमसिंह की बहिन चाँद बाई को सौंपा गया।

चाँद बाई ने जहर का प्याला लेकर कृष्णा को दिया और कहा—"बेटी अपने आप के सम्मान की रक्षा करो। अपने वंश की मर्यादा बचाओ। मान की चाल से राणा जिस घोर संकट में पड़ गये हैं, उससे उन्हें छुड़ा लो।"

कृष्णा ने यह सुनकर विष का प्याला ले लिया और ईश्वर से अपने पिता के लिए मंगल-कामना कर के वह विष का प्याला पी गयी।

कृष्णा के विष पीने की बात बिना विलम्ब उदयपुर में चारों ओर फैल गयी। सारे नगर में इस लोमहर्षक घटना से हाहाकार मच गया। सब लोग राणा को गालियाँ देने लगे। यह स्थिति देखकर अमीर खाँ भी वहाँ से चलता बना।

कृष्णगोपाल राव (राव कृष्णगोपाल)

सन् १८५७ की क्रान्ति के एक प्रसिद्ध सेनानी, जो हरियाने के रहने वाले, अहीर जाति के थे।

राव कृष्णगोपाल के पिता का नाम जीवाराम था। जो रिवाड़ी से कुछ दूर पर नांगल पठानी नामक ग्राम के रहने वाले थे। यह गावं अब नांगल जीवाराम के नाम से प्रसिद्ध है।

राव कृष्णगोपाल जीवाराम के दूसरे पुत्र थे और ब्रिटिश शासन में मेरठ शहर के कोतवाल थे।

जिस समय सन् ५७ की क्रान्ति ताँतिया टोपे की योजना के विरुद्ध, समय से पहले ३१ मई की जगह १०मई को ही प्रारम्भ हो गई। उस समय मेरठ में छावनी स्थित जाट तथा राजपूत सेनाएँ अँग्रेज अफ़सरों को मारती-काटती छावनी में आग लगाती हुई कोतवाली के सामने पहुँची। उस समय राव कृष्णगोपाल ड्यूटी पर तैनात थे। सिपाहियों ने उन्हें अपना नेतृत्व करने के लिये निमंत्रित किया। राव कृष्णगोपाल ने उस निमंत्रण को स्वीकार करके तत्काल जेल का फाटक खोल कर सब कैदियों को मुक्त कर दिया तथा कचहरियों पर कब्जा कर अपना झंडा फहरा दिया, और दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया। रास्ते में अंग्रेजों के विरुद्ध जनमत को उभाड़ते हुए वे ११ मई को दिल्ली पहुँचे।

दिल्ली के कमिश्नर एस० फ्रेसर तथा दूसरे अंग्रेजों को मारकर उन्होंने लाल किले पर शाही झण्डा फहरा कर बहादुर शाह जफर को देश का बादशाह घोषित कर दिया और शाही दरबार में उपस्थित होकर उन्होंने बादशाह से आशीर्वाद मांगा। बादशाह ने दुखी दिल से कहा—"मेरे पास पैसे नहीं हैं, दुआ है—इसे कबूल करो।" यह सुन कर राव कृष्णगोपाल रो पड़े। उन्हें रोते देख बादशाह बोले—"बेटा! रो मत।

गाजियों में बू रहेगी, जब तलक ईमान की।
तख्त लन्दन तक चलेगी, तेग हिन्दुस्तान की।"

पर कौन जानता था कि बेटे की गद्दी के लिये जीनत महल मुसाहिबों से षड्यंत्र करवा कर बादशाह की गिरफ्तारी का कारण बनेगी और बख्त खाँ जैसे बहादुर सेनापति को हुमायूँ के मकबरे से निराश होकर खाली हाथ जाना पड़ेगा।

तीन दिन दिल्ली में ठहर कर १६ मई को कृष्णगोपाल रिवाड़ी गये। १७ मई को आक्रमण कर उन्होंने रिवाड़ी तहसील पर अधिकार कर लिया। तहसीलदार और दारोगा को गिरफ्तार कर किले में अपने चचेरे भाई राव तुलाराम के पास भेज दिया।

उस समय राव कृष्णगोपाल के पास पाँच सौ सिपाही थे। कुछ ही दिनों में उन्होंने आसपास के प्रदेश से दो हजार सिपाही भरती कर दिल्ली भेजे। राव तुलाराम ने भी ३ लाख रुपये बादशाह को भेजे।

अक्टूबर सन् १८५७ के प्रारम्भ में सेनापति फोर्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने रिवाड़ी की ओर कूच किया। तावडू के मैदान में दोनों ओर की फौजों में भारी लड़ाई हुई। जिसमें अंग्रेजी फौज हार कर भाग गयी। मगर दूसरी

बार फिर अंग्रेजों ने दल-बल के साथ रिवाड़ी पर चढ़ाई की। इस बार राव तुलाराम ने रिवाड़ी खाली कर दिया और अपनी फौज के साथ नारनौल की तरफ चले और सब सेनाओं को इकट्ठा कर उन्होंने राव कृष्णगोपाल के नेतृत्व में एक पहाड़ी स्थान नसीरपुर में भेज दिया। जहाँ दोनों फौजों में जमकर युद्ध हुआ। ब्रिटिश फौज का संचालन काना साहब नामक एक अंग्रेज कर रहे थे। तीसरे दिन कृष्णगोपाल ने क्रुद्ध होकर अपने घोड़े को काना साहब के हाथी पर छोड़ दिया। घोड़ा हाथी के मस्तक पर पाँव रख कर हिनहिना उठा। कृष्णगोपाल ने भाले के एक भरपूर हाथ से काना साहब को मार गिराया और तलवार से हाथी की सूँड़ भी काट डाली। हाथी चीत्कार करता हुआ और अंग्रेजी फौज को रौंदता हुआ भागा और उसके साथ अंग्रेजी फौज भी भाग खड़ी हुई। जीत राव कृष्णगोपाल की रही।

नसीरपुर से भाग कर सेनापति फोर्ड दादरी के पास आकर रुके। यहाँ पर उनसे पटियाला, नाभा, जींद तथा जयपुर के राजाओं की सेनाएँ आ मिलीं। ब्रिटिश तोपखाना भी आ पहुँचा। अब अंग्रेजों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। कृष्णगोपाल ने अपनी विश्वस्त सेना के साथ जीवन के अन्तिम क्षण तक बड़ी बहादुरी से शत्रु-सेना का संहार किया और वहीं पर लड़ते हुए मारे गये।

राव तुलाराम भी रिवाड़ी के अन्तिम युद्ध में हार कर विदेश चले गये और उनके वंशधरों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर अंग्रेजों ने साफ कर दिया।

कृष्णदेव राय

विजयानगरम् के सुप्रसिद्ध महाराजा। जिनका शासन काल सन् १५०९ से १५३० ई० तक रहा और जो विजयानगरम् साम्राज्य के निर्माता के रूप में इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

विजयानगरम् के नरेशों में महाराजा कृष्ण देव राय सब से अधिक प्रतापी, शक्तिशाली और महान् हुए। इनके राज्य-काल में विजय नगर के साम्राज्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की।

शासनारूढ़ होने के करीब १॥ वर्ष तक इन्होंने अपने राज्य की घरेलू स्थिति को सुदृढ़ बनाने तथा अपने कर्तव्यों, उत्तरदायित्व और समस्याओं के अध्ययन करने में व्यतीत किया।

उसके पश्चात् उन्होंने अपनी विजय यात्रा प्रारंभ की और सब से पहले नेलोर के उदय गिरि दुर्ग पर अपना कब्जा किया। उसके बाद सन् १५२० ई० में रायचूर के युद्ध में उन्होंने बीजापुर के सुल्तान इस्माइल आदिल शाह को करारी पराजय देकर बीजापुर पर अधिकार कर लिया। और बहमनियों की पुरानी राजधानी गुलबर्गा को भी क्षतविक्षत कर दिया। किन्तु अपनी महान् परंपरा के अनुसार उन्होंने वहाँ की प्रजा को, स्त्रियों को और आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों को भी नहीं सताया। पुर्तगाली इतिहासकार 'नूनिज' ने कृष्णदेव के इस युद्ध का आँखों देखा सजीव वर्णन किया है।

सन् १५२२ ई० में प्रसिद्ध पुर्तगाली यात्री 'पेई' ने कृष्णदेव राय की शक्ति, प्रताप और चरित्र की बहुत बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है—

"इस सम्राट् की राजराजेश्वर, महाराजाधिराज इत्यादि पदवियाँ केवल इसी लिए नहीं हैं कि वह भारत के सभी नरेशों से वैभवशाली और शक्ति-सम्पन्न हैं, और उसकी सेना अतुल है। बल्कि इसलिए भी है कि वह अत्यन्त शूर-वीर, उदारचेता और सर्व गुण-सम्पन्न हैं। एक महान् सम्राट् के सभी गुण उसमें हैं।"

राजा कृष्णदेव राय की धार्मिक समदर्शिता भी बड़ी प्रसिद्ध थी। राज्यधर्म वैष्णवधर्म होते हुए भी वे सभी भारतीय धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। उनका साहित्य प्रेम, विद्वानों के प्रति आदर भाव, धर्म भक्ति और प्रजावात्सल्य अद्वितीय था। देवालयों, गुरुओं और ब्राह्मणों को इस सम्राट् ने अपार धन दान में दिया था।

इस प्रकार इतिहास के पृष्ठों को समुज्ज्वल करने वाला यह सम्राट् दक्षिण भारत के नरेशों में सब से महान् था।

महाराज कृष्णदेव की राजसभा में विभिन्न दर्शनों और मतों के विद्वानों के शास्त्रार्थ हुआ करते थे। महाराज स्वयं विद्वानों का बड़ा आदर करते थे।

एक बार इनकी सभा में तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य वादि विद्यानन्द का अन्य दार्शनिकों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। जिससे विद्यानन्द की प्रसिद्धि सब दूर हो गयी थी और उनके प्रभाव से महाराज कृष्णदेव राय ने भी सन् १५२८ में वेलारी जिले के कुछ जैन मन्दिरों को काफी दान दिया था और उसका शिलालेख भी अंकित करवाया था।

सन् १५२० में पेई नामक पुर्तगाली यात्री और सन् १५३५ ई० में न्युनिज नामक यात्री विजयनगर आये थे। इन लोगों ने अपने यात्रा-विवरणों में विजयनगर साम्राज्य का आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक विवरण दिया है। उससे पता चलता है कि उस समय यह साम्राज्य १२०० वर्ग मील के भूभाग पर फैला हुआ था। इसकी जन-संख्या १,८०,००,००० थी साम्राज्य की राजधानी विजय नगर की जनसंख्या ५००००० थी और मकानों की संख्या १००००० थी। इस जन-संख्या में सम्राट् की ६ लाख की विशाल सेना सम्मिलित नहीं थी।

सम्राट् कृष्णदेव राय के समय में यह नगर ३ भागों बंटा हुआ था। नगर का केन्द्र भाग 'हम्पी' अपने विख्यात हम्पी-बाजार और विशाल विरूपाक्ष-मन्दिर के लिए प्रसिद्ध था। राजप्रासाद, साम्राज्य के विभिन्न विभागों के कार्यालय, हजाराराम का मन्दिर और 'विजय-गृह' दूसरे भाग में थे। तीसरा भाग नागलपुर कृष्णदेव राय ने अपनी माता नागाम्बिका के नाम पर निर्मित किया था।

उद्योग-धन्धे और कारीगरी के क्षेत्र में भी विजय-नगर बहुत प्रसिद्ध था। यहाँ की बनी हुई 'चितली' नामक एक प्रकार की 'छींट' और रेशमी कपड़े बहुत ऊँचे दामों पर विदेशों में बिकते थे। हीरे, चांदी तथा और कई प्रकार के खनिज द्रव्यों की भी यहाँ पर बहुत सी खदानें थीं। विदेशों से आयात और वहाँ से निर्यात होने वाले व्यापारों का भी विजय-नगर उस समय बहुत बड़ा केन्द्र था।

कृष्णदेव राय के समय में विजय नगर साम्राज्य में चीजों के मूल्य भी बहुत कम थे। उस समय 'प्रताप' नामक एक छोटी स्वर्ण मुद्रा प्रचलित थी। ऐसे चार या पाँच 'प्रताप' प्रतिमास व्यय करके एक सरदार राजधानी में अपने सुख और आराम के लिए एक सेविका तथा सवारी के लिए एक घोड़ा रख सकता था।

सिक्के

कृष्णदेवराय के साम्राज्य में विजयनगर में निम्नलिखित सिक्के प्रचलित थे—

(१) वराह (२) अर्ध वराह अर्थात् 'प्रताप' (३ पौन वाराह (४) हन (वराह का १/१० भाग) ये चारों स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। चाँदी की मुद्राओं में 'तार' नामक मुद्रा प्रचलित थी। वराह की एक मुद्रा में तार की ६० मुद्राएँ आती थीं। ताँबे की मुद्रा में 'जीतल' नाम की एक मुद्रा प्रचलित थी। पेई के लेखानुसार सम्राट् कृष्णदेव राय के खजाने में प्रतिवर्ष बचत के रूप में १० करोड़ 'प्रताप' जमा होते थे। सब से पहले राजा कृष्णदेव राय ने अपने सिक्कों पर नागरी लिपिका प्रयोग करना प्रारंभ किया। इसके पहले इन सिक्कों पर तेलगू लिपि का प्रयोग होता था।

उच्च वर्ग के लोग जरी के कामों और बहुमूल्य रत्नों से टँके हुए रेशमी छाते, प्रयोग में लेते थे। रात के समय जब ये लोग चलते थे, तब इनके आस-पास इनकी पद-प्रतिष्ठा के अनुसार मशालें जलती रहती थीं। किसी को पाँच, किसी को आठ, किसी को दस और किसी को बारह मशालें जलाने का अधिकार रहता था। स्वयं सम्राट् के आगे डेढ़ सौ मशालें चलती थीं।

कृष्णदेव राय के समय में सारे राज्य में राजकीय वैभव, जागृति और जनता का सुख अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। पोर्तुगीज यात्री पेई ने लिखा है कि संसार में विजय नगर ही ऐसा नगर है जहाँ हर मौसम में हर प्रकार की चीजें उपलब्ध हैं, और किसी भी मौसम में गेहूँ, चावल, दाल इत्यादि खाद्य पदार्थों की खत्तियाँ भरी हुई देखी जा सकती हैं।

कृष्णदेव राय के समय से कुछ पूर्व आये हुए अब्दुल रज्जाक नामक ईरानी यात्री ने लिखा है—"विजयनगर ऐसा शहर न तो आँखों की पुतलियों ने देखा है और न कानों ने ही सुना है कि दुनियाँ में कोई इसके समान नगर मौजूद है।

कृष्णदेव राय की संरक्षता में उस समय की काव्य-कला उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गई थी। कृष्णदेव राय स्वयं संस्कृत और तेलगू के महान् पंडित थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक काव्य और नाटकों की रचना की। जिनमें 'जाम्वन्ती कल्याण' एक प्रसिद्ध नाटक है। उन्होंने तेलुगू में "आमुक्त माल्यद" नामक प्रबन्धकाव्य की रचना की आमुक्त माल्यद में राजनीतिक सिद्धान्तों पर महत्वपूर्ण चर्चा की गयी है। यह उनके और तत्कालीन अन्य राजाओं के राजकीय व्यवहार का पथ-प्रदर्शक बना।

इनके दरवारी कवि 'अलसानी पेद्दना' ने 'स्वारोचिष-मनुचरित्रम्' नामक एक अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध काव्य लिखा। इन आमुक्त माल्यद और स्वारोचिष-मनुचरित्रम् ने तेलगू-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारंभ किया। अलसानी पेद्दना को कृष्णदेवराय ने "आन्ध्रकविता पितामह" की उपाधि देकर राज-गौरव से गौरवान्वित किया था।

कृष्णदास कविराज

बंगाल के एक सुप्रसिद्ध लेखक, जिन्होंने चैतन्य महाप्रभु की सबसे अधिक प्रामाणिक जीवनी 'चैतन्य चरितामृत' की रचना की। इनका जन्म १६ वीं शताब्दी में हुआ और इन्होंने ९७ वर्ष की अवस्था में सन् १६५१ में इस महाग्रन्थ चैतन्य-चरितामृत को पूरा किया।

कविराज कृष्णदास का जन्म वर्धमान जिले के झामटपुर नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था। उनके जन्म लेने से पहले ही चैतन्य देव स्वर्गवासी हो चुके थे। तब कृष्णदास वृन्दावन में चैतन्य देव के शिष्य रघुनाथदास गोस्वामी के पास जाकर रहे। और वहाँ से चैतन्य महाप्रभु के जीवन के घटनाओं को संग्रह करके चैतन्य-चरितामृत की रचना की।

इस चैतन्य-चरितामृत के ३ खण्ड हैं। आदिखण्ड, मध्यखण्ड और अन्त्यखण्ड। कविराज ने इस ग्रन्थ में षट् दर्शन की विद्वतापूर्ण पृष्ठभूमि पर चैतन्य देव के सिद्धान्तों का दर्शन करवाया है। सिद्धान्तों से गुँथा हुआ यह ग्रन्थ काव्यात्मक वर्णनों और रस के परिपाक से भी पूर्ण है। महाप्रभु के जीवन की मार्मिक घटनाओं को विशद चित्र इसमें चित्रित किये गये हैं। बंगाली-साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत लोक-प्रिय हुआ और प्रामाणिक भी माना गया।

कृष्णदास कविराज की भाषा हिन्दी मिश्रित बंगाली थी। इनकी भाषा के सम्बन्ध में डा० सुकुमार सेन ने अपने 'हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर' में लिखा है कि—"Krishna Daasa's command over the language was much in advance of his time." अर्थात् कृष्णदास का भाषा पर अधिकार अपने समय से बहुत आगे का था।

कृष्णमूर्ति शास्त्री

तेलगू साहित्य के सुप्रसिद्ध और महान् कवि, कवि सार्वभौम, महामहोपाध्याय, कलाप्रपूर्ण श्री श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री।

श्री श्रीपाद शास्त्री २० वीं सदी के आधुनिक युग में प्राचीन सनातनी ढंग के अनुयायी हैं। इन्होंने अकेले ही रामायण, महाभारत और भागवत का पद्यमय अनुवाद संस्कृत से तेलुगू में किया है। उनकी करीब १५० कृतियाँ आज दिन तेलुगू साहित्य में प्रतिष्ठित हैं।

कृष्ण पिल्ले

तामील-साहित्य के एक आधुनिक प्रसिद्ध कवि जो तिरुवनन्त पुरम् महाराजा कालेज में दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे।

श्रीकृष्ण पिल्ले पहले हिन्दू थे। बाद में ईसाई बन गये। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का प्रयोग धर्म प्रचार के लिये ग्रन्थ-रचना करने में किया। अंग्रेजी ग्रन्थ, 'पिल्ग्रिम्स-प्रोग्रेस' की कहानी के आधार पर इन्होंने 'इरक्षणीय यत्रिकम्' नामक काव्य की रचना की है। इनके इस काव्य-ग्रन्थ पर 'कम्ब-रामायण' और सन्त कवियों के गीतों का प्रभाव है।

कृष्णमूर्ति मोकपार्टी

आंध्र प्रदेश के एक प्रसिद्ध लोक चित्रकार जिनका जन्म सन् १९१० ई० में कृष्णानदी के तट पर वसन्तवाड़ा नामक ग्राम मे हुआ।

कृष्णमूर्ति का बचपन से ही चित्रकला की ओर आकर्षण था। यह देखकर उनको मद्रास स्कूल आफ आर्ट में अध्ययन के लिये भेज दिया गया। वहाँ उन्होंने श्री देवी प्रसाद राय चौधुरी के शिष्य के रूप में अध्ययन प्रारंभ किया।

श्री कृष्णमूर्ति का बचपन से ही साहित्य की ओर विशेष झुकाव था। इस साहित्यिक अभिरुचि के कारण उनकी चित्रकला में भी काव्यगत विशेषताएँ अवगत होती हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि—"मेरी मौलिक शैली के निर्माण का श्रेय मेरे गुरु देवी प्रसाद राय चौधुरी को है। उन्होंने मुझे अपने व्यक्तित्व को बनाए रखने का उपदेश दिया।

कृष्णमूर्ति के अध्ययन-काल के बने हुए चित्रों में 'रासलीला बरुधनी' 'माता' इत्यादि चित्रों की काफी प्रशंसा हुई। उनके रासलीला नामक चित्र पर आँध्र चित्र-कला-प्रदर्शिनी ने सर्वश्रेष्ठ स्वर्ण पदक प्रदान किया।

इसके पश्चात् लोक कला क्षेत्र में भी श्री कृष्णमूर्ति ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इस क्षेत्र में पौराणिक घटनाओं ने उनको आकर्षित किया। और उन्होंने कई पौराणिक चित्रों का निर्माण किया। उनके प्रसिद्ध चित्र तुलसी को सन् १९५० में मदरास की अखिल भारतीय कला-प्रदर्शिनी से प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसी प्रकार उनके 'हिमवन्त और गौरी' तथा 'मडी नैलू' नामक चित्र भी बहुत प्रशंसित और प्रसिद्ध हुए।

इस प्रकार आँध्र चित्र कला के इतिहास में मोकपार्टी कृष्ण मूर्ति ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

कृष्ण महाशय

आर्य समाज के एक सुप्रसिद्ध नेता और प्रसिद्ध पत्रकार, जिनका जन्म सन् १८८० के करीब पश्चिमी पञ्जाब के वजीराबाद में हुआ और मृत्यु सन् १९६४ के फरवरी मास में हुई।

बाल्यकाल से ही महाशय कृष्ण पर आर्य-समाज और स्वामी दयानन्द का बहुत बड़ा प्रभाव हो गया था। और ग्रेजुएट होने के पश्चात् उन्होंने लाहौर से एक उर्दू साप्ताहिक 'प्रकाश' नाम से निकालना प्रारंभ किया। प्रकाश आर्य जगत् का एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्र था। और महाशय कृष्ण की लेखन-कला ने उसके लेखों में अच्छा प्रभाव पैदा कर दिया था।

पञ्जाब में हिन्दी का पहला दैनिक पत्र निकालने वाले कदाचित् महाशय कृष्ण ही थे। पञ्जाब में हिन्दी के प्रबल समर्थकों में से वे एक थे। पञ्जाब में हिन्दी पर जब-जब विपत्ति आयी, तब-तब वे उसका सामना करने के लिए छाती तान कर आगे निकले।

देश-विभाजन के पश्चात् वे दिल्ली आ गये और यहाँ पर उन्होंने उर्दू 'प्रताप' और हिन्दी दैनिक 'वीर अर्जुन' का सम्पादन अपने हाथों में लिया। वीर अर्जुन में उनके सम्पादकीय बड़े महत्वपूर्ण होते थे।

महाशय कृष्ण जीवन भर आर्य समाज के एक स्तंभ रूप बने रहे। वे वर्षों तक पञ्जाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री और बाद में अध्यक्ष रहे। कई वर्षों पहले जब हैदराबाद के निजाम ने आर्य समाजियों पर प्रतिबन्ध लगा कर उन पर अत्याचार करना शुरू किया तब उसका प्रतिरोध करने के लिए अखिल भारतीय आर्य समाज को सत्याग्रह का आयोजन करना पड़ा था—उस समय महाशय कृष्ण भी एक सत्याग्रही दल के नेता बन कर गये थे और गिरफ्तार हो कर वहाँ जेल में भी रहे थे।

आर्य-समाज के सम्बन्ध में उनकी सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। इसी से जब उनकी मृत्यु हुई तब उनके लिए पञ्जाब व्यापी शोक मनाया गया था।

कृष्णराज प्रथम

दक्षिण का प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा। जिसका समय सन् ७५७ से सन् ७७३ तक समझा जाता है और जिसका पूरा नाम कृष्ण प्रथम, अकाल वर्ष शुभतुंग था।

कृष्णराज सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग का काका था। सन् ७५७ ई० में दन्तिदुर्ग की निःसन्तान मृत्यु हो

जाने पर वह मान्यखेट की गद्दी पर बैठा। उसने चालुक्य सत्ता को निःशेष करके दक्षिणी कोंकण में अपने शिलाहार सामन्तों को नियुक्त किया।

सन् ७६३ ई० के लगभग उसके पुत्र गोविन्द द्वितीय ने वेंगि के चालुक्य नरेश विजयादित्य प्रथम को पराजित करके अपने अधीन किया।

सन् ७६८ ई० में उसने गंग-नरेश श्रीपुरुष मूत्तरस को पराजित करके अपने अधीन किया।

सन् ७६९-७० ई० उसने एलोरा में सुप्रसिद्ध कैलाश मन्दिर को पहाड़ में से काट कर बनवाया। यह कैलाश मन्दिर आज भी उसकी कीर्त्ति को अमर कर रहा है। उसके निकट ही इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा के जैन-गुहा मन्दिर भी इसीके समय में बनने प्रारंभ हुए।

इसके समय में प्रसिद्ध जैनाचार्य परवादि-मल्ल थे, जिन्होंने बौद्ध दिङ्नाग के न्याय-बिन्दु पर धर्मोत्तर द्वारा लिखे गये टिप्पण पर भाष्य लिखा। राजा कृष्णराज ने इस आचार्य का यथोचित सम्मानित किया था।

कृष्णराज द्वितीय

दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश के सुप्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष प्रथम का पुत्र कृष्ण द्वितीय शुभतुंग अकालवर्ष जिसका समय सन् ८७८ ई० से ९१४ ई० तक था।

राजा अमोघवर्ष ने ६० वर्ष राज्य करने के उपरान्त सन् ८७५ ई० में अपने युवराज कृष्ण द्वितीय को राज्य सौंप कर स्थायी रूप से अवकाश ले लिया था। उसने अपने सामन्त लाट के राष्ट्रकूटों की सहायता से भोज-प्रतिहार के आक्रमण का निवारण किया और भोज की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद उसके पोते महीपाल के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित किया।

कृष्ण द्वितीय ने लाट की राष्ट्रकूट शाखा का अन्त करके उस प्रदेश को भी अपने अधिकार में ले लिया। कृष्ण की पट्टरानी चेदि नरेश कोक्कल प्रथम की पुत्री थी। इस राजा ने वेंगि के गुणाग विजयादित्य और चालुक्य भीम पर भी आक्रमण किये थे। मगर इन दोनों आक्रमणों में यह असफल रहा।

अपने पिता की तरह कृष्ण द्वितीय भी जैन-धर्म का अनुयायी था। जिनसेन के पट्ट-शिष्य, उत्तर पुराण के कर्त्ता गुणभद्राचार्य उसके गुरु थे। इसी नरेश के आश्रय में कन्नड़ी भाषा के जैन-महाकवि गुणवर्म ने अपने हरिवंश-पुराण की रचना की थी। इसी के समय में एक अन्य जैन महाकवि हरिश्चन्द्र ने अपने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक काव्य की रचना की थी।

सन् ८९८ ई० में गुणभद्राचार्य के शिष्य लोकसेन ने उनके उत्तर पुराण की प्रशस्ति का संवर्धन कर के कृष्ण द्वितीय के सामन्त लोकादित्य की राज सभा में उक्त पुराण का पूजनोत्सव एवं वाचन किया था।

कृष्ण द्वितीय की मृत्यु सन् ९१४ में हुई।

कृष्णराज तृतीय अकालवर्ष

राष्ट्रकूट-वंश का अन्तिम महान् नरेश जो अमोघ वर्ष तृतीय का पुत्र था। जिसका शासन-काल सन् ९३९ से ९६७ ई० तक रहा।

कृष्णराज तृतीय अपने बहनोई भूतुंग की सहायता से लल्लेय को पराजित कर राष्ट्रकूट की गद्दी पर बैठा और भूतुंग को गंगवाड़ी और बनवासी की गद्दी पर बैठाया।

उसने भूतुंग के पुत्र तथा अपने भांजे मरुलदेव के साथ अपनी पुत्री विजब्बा का विवाह किया और गंगनरेश भूतुंग की पुत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह कर दिया। इन विवाहों से उसकी मैत्री का क्षेत्र बहुत बढ़ा गया और गंग-नरेश उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के हमेशा के लिए सहायक बन गये। कृष्ण के लिए इन्होंने अनेक युद्ध किये। भूतुंग ने उत्तर में चित्रकूट और कालिञ्जर तक विजय की। दक्षिण में कृष्ण के साथ चोलों पर आक्रमण किया और परान्तक चोल के पुत्र राजादित्य को हाथी पर बैठे बैठे ही बाण से वेध दिया।

गंग नरेश की सहायता से कृष्ण तृतीय ने चोल, पाण्डय, केरल, कलभ, अोच एवं सिंहल के राजाओं को पराजित किया, और रामेश्वरम् में अपना विजय स्तंभ स्थापित किया। उसकी तरफ से गंग मारसिंह और उसके वीर सेनापति चामुण्डराय ने नोलम्बों, गुर्जरों और किरातों को पराजित किया। उच्छंगी जैसे सुदृढ़ दुर्गों को हस्तगत

किया। उसने मालवा पर आक्रमण करके वहाँ के परमार राजा से अपनी अधीनता स्वीकार करवाई।

कृष्ण तृतीय एक वीरयोद्धा, दक्ष-सेनापति और महान् नरेश था।

अपने पूर्वजों की तरह वह भी जैन-धर्म का पोषक और विद्वानों का आश्रयदाता था। जैनाचार्य वादि मंगलभट्ट का वह बड़ा सम्मान करता था। उसने कन्नड़ी भाषा के जैन महाकवि 'पोन्न' को 'उभय भाषा चक्रवर्ती' की उपाधि देकर सम्मानित किया था।

कृष्ण के प्रधानमंत्री, भरत भी जैन-धर्म के अनुयायी थे और अपभ्रंश के महाकवि 'पुष्पदन्त' के आश्रयदाता थे। उन्हीं की प्रेरणा पर कवि ने अपने प्रसिद्ध महापुराण की रचना की थी। इससे पता चलता है कि राष्ट्रकूट राजाओं के समय में दक्षिण में जैन-धर्म की बड़ी प्रधानता थी। डा० अल्तेकर के मतानुसार राष्ट्रकूट साम्राज्य की लगभग दो-तिहाई जनता तथा राष्ट्रकूट राजा, राजपुरुष, सामन्त और महाजन तथा श्रेष्ठि लोग, अधिकांश इसी धर्म के अनुयायी थे। गुजरात से लेकर आंध्र प्रदेश पर्यन्त और नर्मदा से लेकर मदुरा पर्यन्त अनेक जैन-विद्यापीठ, जन-साधारण को ही नहीं, राजकुमारों एवं उच्चवंशीय छात्रों को धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा प्रदान करते थे।

सन् ९६७ में कृष्णराज तृतीय का देहान्त हो गया और इसके मरने के पश्चात् ही राष्ट्रकूट-वंश का सूर्य २५० वर्ष तक अपने पराक्रम से धरती को तपाकर अस्ताचल की ओर चल पड़ा। और सन् ९८२ ई० में इन्द्र चतुर्थ की मृत्यु के साथ राष्ट्रकूट-राजवंश का अन्त हो गया।

(ज्योतिप्रसाद जैन—भारतीय इतिहास)

कृष्णराज उडियार प्रथम

मैसूर के राजा चामराज उडियार के पुत्र जिनका शासन-काल सन् १८१४ से सन् १८६८ तक था।

ईसवी सन् १७९६ में मैसूर के राजा चामराज उडियार का स्वर्गवास हुआ, तब टीपू सुलतान ने उनके राज भवन को लूट कर, रानियों को बन्दी बना लिया। उस समय कृष्णराज की उमर केवल २ वर्ष की थी। बाद में यह परिवार श्रीरंगपट्टन में एक झोपड़ी बनाकर उसमें रहना लगा।

सन् १७९९ में टीपू सुल्तान के मरने पर उसका मंत्री 'पुरनिया' नामक एक ब्राह्मण उस बच्चे को लेकर अंग्रेज सेनापति 'हैरिस' के डेरे पर पहुँचा और निवेदन किया कि यह राजपुत्र मैसूर-राज्य का अकेला उत्तराधिकारी है। उस समय मैसूर राज्य का यह परिवार श्रीरंगपट्टम् में एक झोपड़े में रहता था। सेनापति हैरिस ने राजकुमार के साथ बड़ी सहानुभूति बतलाई।

इसके बाद मैसूर के इतिहास ने एक नया ही रंग पकड़ा। तत्कालीन गवर्नर जेनरल लार्ड 'वेलेस्ली' ने टीपू सुल्तान से विजय में प्राप्त किये हुए मुल्क को अपने तथा निजाम के बीच बाँट कर, शेष ४९ लाख वार्षिक आमदनी का मैसूर राज्य कृष्णराज उडियार को दे दिया। उस समय कृष्णराज उडिआर की आयु ३ वर्ष की थी। सर 'बेरी क्लोज' श्रीरंगपट्टम् के रेजिडेंट नियुक्त हुए और फोजी अधिकार कर्नल आर्थर वेलेस्ली को मिले। समस्त शासन-सञ्चालन का भार दूरदर्शी प्रधान पुर्णियाँ के जिम्मे किया गया। इस प्रकार १९ सदी के प्रारम्भ के साथ-साथ मैसूर में शान्ति की स्थापना हुई।

सन् १८०० ई० में मंत्री पुर्णिया ने राजधानी को श्री रंगपट्टन से बदल कर मैसूर में स्थापित की और टीपू सुल्तान के मकान को तोड़ कर उसीके साज सामान से कृष्णराज का बहुत बड़ा राज महल तैयार करवा दिया।

मंत्री पुर्णिया ने १२ वर्ष तक प्रधान मंत्री का काम किया और इतने समय में इसने राज्य की आमदनी को बढ़ा कर राज्य के खजाने को लबालब भर दिया।

ई० सन् १८११ में राजा कृष्णराज को बालिग होने पर राज्यशासन के अधिकार प्राप्त हुए। मगर उसके बाद ही सारे राज्य में गड़बड़ फैल गयी। कहीं-कहीं बलवा होने का भी मौका आ गया। तब अंग्रेज सरकार ने राज्य का शासन-भार अस्थायी रूप से अपने हाथों में ले लिया और इसके कार्य-सञ्चालन के लिए दो कमिश्नरों का एक बोर्ड स्थापित किया।

मगर यह पद्धति सफल नहीं हुई और सन् १८३४ में अकेले कर्नल मार्क क्यूबन पर मैसूर के शासन-सञ्चालन का भार दिया गया।

सन् १८५७ में विद्रोह के समय मैसूर नरेश ने अंग्रेज सरकार को अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाई इसके उपलक्ष में राज्य का शासन-भार महाराज कृष्ण राज उडियार को पुनः प्राप्त हो गया और उन्हें ब्रिटिश गवर्नमेंट से के० जी० सी० एस० आई० की उपाधि प्राप्त हो गयी।

सन् १८६८ ई० में ७४ वर्ष की अवस्था में महाराज कृष्णराज उडियार का स्वर्गवास हो गया।

कृष्णराज उडियार द्वितीय

मैसूर के सुप्रसिद्ध नरेश राजा चामराजेन्द्र के पुत्र जिनका शासन-काल सन् १६०२ में प्रारंभ हुआ।

मैसूर के राजा चामराजेन्द्र उडियार सन् १८६४ के दिसम्बर मास में कलकत्ते में स्वर्गवासी हुए। यही नरेश आधुनिक मैसूर के निर्माता थे।

जिस समय चामराजेन्द्र उडियार स्वर्गवासी हुए, उस समय उनके पुत्र कृष्णराज उडियार केवल १० साल के थे। इनके नाबालिग होने के कारण 'कौंसिल आफ रिजेंसी,' मुकर्रिर की गयी और इनकी विदुषी माता रिजेंट नियुक्त की गयी। इस कौंसिल के ७ वर्ष के शासन में मैसूर-राज्य की अच्छी उन्नति हुई।

चामराजेन्द्र-वाटरवर्क्स बंगलोर, वाणी-विलास वाटर वर्क्स मैसूर, कावेरी पावर वर्क्स इत्यादि कई औद्योगिक कारखाने इस रिजेंसी के समय में निमित किये गये।

सन् १६०२ ई० में कृष्णराज उडियार को शासन के अधिकार प्राप्त हुए। कृष्णराज उडियार के समय में मैसूर-राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। राज्य की ओर से एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय खोला गया, जो शायद भारत के देशी-राज्यों में सबसे पहला या दूसरा विश्वविद्यालय था। इनके शासन काल में रेलवे का भी बहुत काफी विस्तार किया गया और भद्रावती में लोहे का एक विशाल कारखाना खोला गया और राज्य में धारा सभा और प्रतिनिधि सभा की स्थापना कर उनके अधिकारों को विस्तृत किया गया।

राजा कृष्णराज उडियार के समय में मैसूर-राज्य शिक्षा के क्षेत्र में समस्त भारतवर्ष में नामांकित था। यहाँ के विश्व-विद्यालय को लन्दन और आक्सफोर्ड के विद्यालयों ने पूर्ण मान्यता दे रखी थी। ई० सन् १६१७ में ब्रिटिश-साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की जो कांग्रेस हुई थी, उसमें मैसूर विश्वविद्यालय के ६ प्रतिनिधि आमंत्रित किये गये थे। इसके अतिरिक्त वहाँ पर कालिज, हाईस्कूल और माध्यमिक स्कूलों की हजारों की संख्या में स्थापना हुई थी। इसी प्रकार वहाँ २३ औद्योगिक शिक्षालय, २ इंजिनियरिंग स्कूल, ४ व्यापारिक शिक्षालय, ५७ संस्कृत विद्यालय और २ कृषि-विद्यालय बने हुए थे। सन् १८८० और ८१ में वहाँ कुल शिक्षा-संस्थाओं की संख्या १०३४१ थी।

इस प्रकार महाराज कृष्ण उडियार द्वितीय के समय में भारत के देशी-राज्यों में मैसूर की रियासत अत्यन्त उन्नतिशील हो गयी थी।

कृष्णराज-सागर

महाराजा कृष्णराज के समय में मैसूर नगर से १२ मील उत्तर-पश्चिम कावेरी नदी पर एक विशाल जलाशय का निर्माण करवाया गया जिसका क्षेत्रफल ५० वर्ग मील के करीब है। कावेरी नदी पर १२४ फीट ऊँचा और १३१४ फीट लबा बाँध — बाँधकर यह जलाशय बनाया गया। इसमें कावेरी, हेमावती तथा लक्ष्मणतीर्था नामक नदियाँ गिरती हैं। इस जलाशय से निकाली हुई नहरों से आसपास की ६२ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। इस बांध से काफी बिजली भी पैदा की जाती है जिससे मैसूर और बंगलोर को बिजली प्राप्त होती है। इस बांध के पास बनी हुई वृन्दावन-वाटिका एक बड़े सुन्दर उपवन की भाँति अपनी ओर रसिकों का ध्यान आकर्षित करती रहती हैं।

कृष्णराम दास

बंगला-साहित्य में कालिका-मंगल, लक्ष्मी-मंगल इत्यादि मङ्गल-ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध रचनाकार। जिनका जन्म सन् १५८६ में हुआ था।

वङ्गाली साहित्य के अन्तर्गत मंगल-ग्रन्थ लिखने वालों में कृष्णराम दास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनको मानों देवी-देवताओं पर लघु काव्य-ग्रन्थ लिखने का अभ्यास ही हो गया था। इन्होंने पाँच मंगल-काव्यों की रचना की। जिनके नाम कालिकामंगल, षष्ठीमंगल, राममंगल, शीतलामंगल और लक्ष्मीमंगल हैं।

कृष्णन श्रीनिवास कार्य्यमाणिक्यम्

भारत के एक सुप्रसिद्ध भौतिक-वैज्ञानिक जिनका जन्म सन् १८९८ में और मृत्यु सन् १९६१ में हुई।

भारतवर्ष के वैज्ञानिक क्षेत्र में अपने बहुमूल्य अन्वेषण कर जिन लोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की उनमें दक्षिणी भारत के डॉ० श्रीनिवास कृष्णन भी एक प्रमुख व्यक्ति हैं। अपनी शिक्षा समाप्त कर ये कलकत्ते के इण्डियन एसोसिएशन फ़ार कल्टीवेशन ऑफ साइन्स में अनुसन्धान कार्य करने लगे। उसके पश्चात् इलाहाबाद विश्वविद्यालय में फिजिक्स के प्रोफेसर बनाये गये। सन् १९४७ में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के प्रथम संचालक के रूप में नियुक्त हुए।

डॉ० कृष्णने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रकाश, चुम्बक, विद्युत् इत्यादि अनेक क्षेत्रों में अपनी बहुमूल्य खोजों के द्वारा अपना योगदान दिया। विज्ञान के कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में आपने भारत का प्रतिनिधित्व करके अपने देश के गौरव को बढ़ाया।

डॉ० कृष्णन की भौतिक विज्ञान सम्बन्धी महान् खोजों पर भारत की ब्रिटिश सरकार ने सन् १९४६ में उन्हें "सर" की उपाधि से और मद्रास के विश्वविद्यालय ने डॉक्टरेट की उपाधि से विभूषित किया। सन् १९४५-४६ में वे इण्डियन नेशनल साइन्स एकेडेमी के अध्यक्ष चुने गये।

भारतीय परमाणु-आयोग और वैज्ञानिक औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद् के कार्य्यकारी मण्डल के आप सदस्य रहे। सन् १९६१ में आपकी मृत्यु हो जाने से भारत के वैज्ञानिक क्षेत्र की गहरी हानि हुई।

कृष्णमेनन वी० के०

भारतीय राष्ट्र के भूतपूर्व रक्षामंत्री, राष्ट्रसंघ में 'कश्मीर प्रश्न' पर भारत के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता और सुप्रसिद्ध धाराशास्त्री जिनका जन्म सन् १८९६ में कालीकट-मलाबार में हुआ।

श्रीकृष्ण मेनन भारतवर्ष के जाने-माने धाराशास्त्री और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त व्यक्ति हैं। वैसे इन्होंने देश और विदेश की कई सार्वजनिक संस्थाओं में बड़ा महत्व पूर्ण भाग लिया, पर इनकी विशेष कीर्ति उस समय हुई जब इन्होंने 'राष्ट्रसंघ' और 'सुरक्षा-परिषद्' में कश्मीर के प्रश्न पर भारत का पक्ष प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में इनकी भाषण-कला और तर्कशक्ति को देखकर राष्ट्र-संघ और सुरक्षा परिषद् में बैठने वाले संसार के प्रतिनिधि चकित रह जाते थे। काश्मीर के प्रश्न पर इंग्लैण्ड और अमेरिका का रुख प्रारम्भ से ही भारतवर्ष के खिलाफ रहा है और इन दोनों देशों के पीछे रहने वाले अनेक देशों के कारण यद्यपि कृष्ण मेनन को सफलता नहीं हुई और रूस के विशेषाधिकार प्रयोग से ही कश्मीर-प्रश्न पर भारत का प्रश्न टिका रहा, फिर भी इनकी दलीलों की सब लोगोंने सराहना की।

सन् १९५७ में श्रीकृष्ण मेनन भारत के सुरक्षा-मंत्री बनाये गये। इन्हींके मंत्रित्व-काल में भारत पर चीन का प्रसिद्ध आक्रमण हुआ। इस आक्रमण में भारतीय सेनाओं की पराजय के कारण पार्लमेंट में और सारे देश में इनकी कड़ी आलोचना हुई जिसके फलस्वरूप इनको सुरक्षा-मंत्री के पद से इस्तीफा देना पड़ा।

सन् १९६२ में श्रीकृष्ण मेनन बम्बई के एक क्षेत्र से पार्लमेंट चुनाव के लिए खड़े हुए। इनकी प्रतियोगिता में जे० बी० कृपलानी खड़े थे। यह चुनाव भारी संघर्ष से परिपूर्ण था और सारे देश की आंखें इस चुनाव पर लगी हुई थीं जिसके परिणामस्वरूप श्रीकृष्ण मेनन का समर्थन करने के लिए स्वयं पण्डित जवाहरलाल नेहरू को दो बार बम्बई की सभाओं में भाषण करना पड़ा। पं० नेहरू के प्रभाव से अन्त में कृष्ण मेनन भारी बहुमत से विजयी हुए।

इस समय भी श्रीकृष्णमेनन देश और विदेशों में पाकिस्तान के विरुद्ध भारतीय पक्ष का समर्थन करने का सफल प्रयत्न कर रहे हैं।

कृष्णमाचारी टी० टी०

भारत सरकार के वित्तमंत्री और उसके पहले उद्योग-मंत्री, जिनका जन्म नवम्बर सन् १८९९ में मद्रास में हुआ।

श्रीकृष्णमाचारी, टी० टी० रंगाचारी के पुत्र हैं। मद्रास यूनिवर्सिटी से बी० ए० की परीक्षा पास कर इन्होंने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९३७ से १९४२ तक ये मद्रास असेम्बली के लेजिस्लेचर रहे। इसके बाद ये सेण्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बर हुए।

सन् १९५२ से १९५६ तक भारत सरकार के कॉमर्स इण्डस्ट्री और आयर्न स्टील विभाग के मिनिस्टर रहे। उसके पश्चात् सन् १९५६ से ५८ तक ये वित्तमंत्री रहे।

श्री टी० टी० कृष्णमाचारी के मंत्रित्व-काल में ही प्रसिद्ध उद्योगपति श्री हरिदास मूंदड़ा का केस चला था जिसके सिलसिले में इनको मंत्रिपद से इस्तीफा देना पड़ा था।

सन् १९६२ के चुनाव के पश्चात् श्री टी० टी० कृष्णमचारी पहले मिनिस्टर ऑफ विदाउट पोर्ट फोलियो और उसके पश्चात् देश के वित्तमंत्री बनाये गये। इसी पद पर इस समय आप सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं। इनके समय में सन् १९६५ का जो बजट प्रकाशित हुआ, उस बजट की सभी क्षेत्रों में बड़ी प्रशंसा हुई।

कृष्णकुमार बिड़ला

भारत के एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति, प्रसिद्ध बिड़ला-उद्योग-प्रतिष्ठान के पार्टनर और डाइरेक्टर जिनका जन्म सन् १९१८ में हुआ।

श्रीकृष्णकुमार बिड़ला भारतवर्ष के प्रसिद्ध उद्योग-पतियों में से एक हैं। ये सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्रीघनश्याम दास बिड़ला के पुत्र हैं। शुगर-उद्योग के सम्बन्ध में इनको काफी अनुभव है। 'इंडियन शुगर मिल्स एसोशियेशन' कलकत्ता की समिति के ये कई वर्षों से सदस्य हैं तथा इस संस्था के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

'बिड़ला-ब्रदर्स' द्वारा सञ्चालित सभी शुगर मिल्स, टैक्सटाइल मैशिनरी कारपोरेशन, जयश्री टी गार्डेन्स तथा और भी कई उद्योगों के ये डाइरेक्टर हैं।

शिक्षा और समाज के क्षेत्र में भी श्रीकृष्णकुमार बिड़ला को काफी दिलचस्पी है। 'राजस्थान क्लब' कलकत्ता के ये कई वर्षों से कोषाध्यक्ष हैं और कई वर्षों तक इसके अध्यक्ष भी रहे हैं और भी कई सामाजिक प्रवृत्तियों और साहित्यिक गति-विधियों में ये बड़े उत्साह से अपना सहयोग देते रहते हैं।

कृष्णमूर्ति जे०

थियोसोफिकल सोसायटी से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध प्रवक्ता और आचार्य, जिनका जन्म ११ मई सन् १८९५ को दक्षिण भारत के चितूर जिले के 'मदनपल्ली' नामक स्थान में हुआ।

बचपन से ही कृष्णमूर्ति में तेजस्विता, आध्यात्मिक बल और बौद्धिक वैशिष्ट्य को देखकर थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा—श्रीमती एनीबीसेंट और सी० डब्लू० लेडबीटर ने इस बालक के अन्दर अवतारिक विभूति की कल्पना को और यह अनुभव किया कि आगे आने वाले जिस अवतार की कल्पना की जाती है, वह अवतारिक विभूति, इसी बालक में केन्द्रित है और उन्होंने बड़े लाड़-प्यार के साथ इस बालक की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था का भार अपने पर ले लिया।

मगर आने वाले समय ने बता दिया कि कृष्णमूर्ति कोई अवतारी पुरुष नहीं हैं और न वे किसी धर्म-विशेष के संस्थापक हैं और न कोई धर्मगुरु ही हैं। मगर एक बुद्धिशाली, विचारक, दर्शन-शास्त्री और संसार की समस्याओं पर गंभीरता पूर्वक विचार करने वाले एक प्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक हैं। आधुनिक संसार की समस्याओं पर विचार करते हुए वे बतलाते हैं—

"आधुनिक मानव-भेदाभेद, आशा और निराशा के चक्कर में फँसा हुआ है। एक ओर वह परमाणु बम और हाइड्रोजन बम के समान विनाशकारी अस्त्रों का निर्माण कर तामसी अभिमान में चकनाचूर हो रहा है, दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के बीच तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच

प्रतिस्पर्धा, शत्रुता और राग-द्वेष की भावनाएँ दिन-दिन बढ़ती जा रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र दूसरे व्यक्तियों और दूसरे राष्ट्रों को नीचा दिखाने, उन पर विजय प्राप्त करने और उनका सर्वनाश करने की चेष्टा कर रहा है। ऐसे भयंकर और तमोगुणी मनोवैज्ञानिक वातावरण के अन्तर्गत जो भी सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और तात्त्विक परिवर्त्तन या सुधार किये जायेंगे, वे इस मनोवैज्ञानिक वातावरण से दूषित होंगे और मनुष्य-जाति को अपने मंजिले-मकसूद तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होंगे।

इसलिए इस मनोवैज्ञानिक वातावरण से आबद्ध मनुष्य को इन भावनाओं से संपूर्ण रूप से मुक्ति पाये बिना वास्तविक सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। सत्य का दर्शन प्राप्त करने के लिए इस आधिभौतिक और पतनोन्मुख वातावरण से मुक्त होकर मन को सम्पूर्ण रूप से स्तब्ध करना आवश्यक है। तभी उस स्मृति शून्य, और क्रियाशून्य पटल पर सत्य का सञ्चार स्वतंत्ररूप से हो सकता है। सत्य के साक्षात्कार के बिना कोई भी सर्जनशील कार्य या सामाजिक, नैतिक और आर्थिक सुधार, मनुष्य-जाति में स्थायीरूप से शान्ति का बीज नहीं बो सकता।"

कृष्णदास पयहारी

कबीरदास के गुरु रामानन्दजी के शिष्य-अनन्तानन्द के शिष्य, कृष्णदास पयहारी, जिन्होंने जयपुर-राज्य के 'गलता' नामक स्थान में रामानन्द-सम्प्रदाय की सबसे पहली और सबसे प्रधान गद्दी स्थापित की। इनका समय १७वीं सदी के मध्य में अनुमान किया जाता है।

रामानुज-सम्प्रदाय के लिए दक्षिण में जो महत्व 'तोताद्रि' की गद्दी को है, वही महत्व रामानन्दी-सम्प्रदाय के लिए उत्तर भारत में गलता की गद्दी को है। यह स्थान उत्तर तोताद्रि के नाम से प्रसिद्ध है।

कृष्णदास पयहारी राजपूताने के रहने वाले दाहिमा ब्राह्मण थे और इन्होंने स्वामी रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द से भक्ति-सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी।

भक्ति-आन्दोलन के पूर्व इस देश में, विशेषतः राजपूताने में 'नाथ-पन्थी' कनफटे योगियों का बहुत बड़ा प्रभाव था, जो अपनी सिद्धि की धाक जनता पर जमाये रहते थे। जब सीधे सादे वैष्णव-भक्ति-मार्ग का आन्दोलन देश में चला, तब उसके प्रति दुर्भाव रखना इनके लिए स्वाभाविक था।

जब कृष्णदास पयहारी पहले पहल गलता पहुँचे, तब वहाँ की गद्दी नाथ-पन्थी साधुओं के अधिकार में थी। कृष्णदास पयहारी रात भर टिकने के विचार से वहीं धूनी जमा कर बैठ गये। यह देख कर कनफटों ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। उसके बाद ऐसा कहा जाता है कि दोनों पक्षों में चमत्कारों का संघर्ष हुआ जिसमें पयहारी की जीत हुई और आमेर के राजा पृथ्वीराज, पयहारी के शिष्य हो गये, और गलता की गद्दी पर रामानन्दी वैष्णवों का अधिकार हो गया।

नाथ पंथी योगियों के अनुकरण पर पयहारी की शिष्य परंपरा में भी योग-साधना का कुछ समावेश हुआ। पयहारी के शिष्य कील्हदास ने राम-भक्ति के साथ-साथ अपने सम्प्रदाय में योग-साधना का भी समावेश किया। यह शाखा वैरागियों में तपसी शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

कृष्णबिहारी मिश्र

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग के एक प्रसिद्ध समालोचक, जिन्होंने 'देव और बिहारी' नामक अपनी पुस्तक में सुप्रसिद्ध कवि देव और बिहारी दोनों की कविताओं पर तुलनात्मक दृष्टि से बड़ी सुन्दर आलोचना की है।

इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न-भिन्न कविताओं का मिलान किया गया है। इस ग्रन्थ की साहित्य-विवेचना उत्कृष्ट श्रेणी की है।

इसके अतिरिक्त ये लखनऊ से निकलने वाली सचित्र मासिक पत्रिका 'माधुरी' के सम्पादक भी रहे।

कृष्णलाल हंस (डॉक्टर)

हिन्दी में निमाड़ी-साहित्य के अनुसन्धानकर्त्ता, लेखक और सम्पादक जिनका जन्म सन् १६०५ में बैतूल में हुआ।

डॉ० कृष्णलाल हंस ने नीमाड़ी-भाषा के साहित्य पर बड़ी खोज और अनुसन्धान किये हैं। इनके द्वारा अनुसन्धानित निमाड़ी के लोकगीत, निमाड़ी की लोक कथाएँ, निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य इत्यादि रचनाओं से निमाड़ी भाषा के साहित्य पर काफी प्रकाश पड़ा है।

नीमाड़ी साहित्य के अतिरिक्त इनकी "मराठी साहित्य का इतिहास" "भारतीय साहित्य दर्शन" "सूर दर्शन" "हिन्दी साहित्य दर्शन" इत्यादि रचनाएँ भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। निमाड़ी लोक साहित्य और निमाड़ी के लोकगीत नामक रचनाओं पर मध्य प्रदेश की सरकार ने आपको पुरस्कारों के द्वारा सम्मानित किया है। सन् १९५७ में इनको नागपूर विश्वविद्यालय ने डाक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया है। इस समय ये शासकीय स्नातक-महाविद्यालय, देवास में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

कृष्णदेव उपाध्याय (डॉक्टर)

हिन्दी में भोजपुरी-साहित्य के अनुसन्धान-कर्त्ता, साहित्यकार और सम्पादक जिनका जन्म सन् १९११ में हुआ।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी-भाषा के साहित्य पर काफी अनुसन्धान किये हैं। इनके द्वारा अनुसन्धानित भोजपुरी के लोकगीत, भोजपुरी और उसका साहित्य भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, आदि रचनाओं ने भोजपुरी-साहित्य के ऊपर काफी प्रकाश डाला है।

भोजपुरी-साहित्य के अतिरिक्त इन्होंने १६ खण्डों में हिन्दी-साहित्य के वृहत् इतिहास का, राहुल जी के साथ, सम्पादन भी किया है। इलाहाबाद में इन्होंने भारतीय लोक-संस्कृति-शोध-संस्थान नामक संस्था की स्थापना की है। इस समय गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी) में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

कृष्णचंद्र विद्यालंकार

हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक और साहित्यकार जिनका जन्म सन् १९०४ में हुआ।

श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालंकार हिन्दी के प्रसिद्ध सम्पादक और लेखक हैं। १८ वर्ष तक इन्होंने साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' का और ११ वर्ष तक "सम्पदा" नामक अर्थशास्त्रीय पत्रिका का सम्पादन किया। इनकी साहित्यिक रचनाओं में "चीन का स्वाधीनता युद्ध" "भारतीय संस्कृति" "वर्तमान जगत्" "आविष्कार और आविष्कारक" "कांग्रेस का इतिहास" "हिन्दी व्याकरण", "भारत की मध्यकालीन संस्कृति" इत्यादि रचनाएँ प्रमुख हैं।

कृष्णदास (राय)

श्री राय कृष्णदास का जन्म सन् १८९२ ई० में, काशी के प्रसिद्ध राय-परिवार में हुआ, जो अपने कला और संस्कृति-प्रेम के लिए प्रसिद्ध रहा है। आपके पिता, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। उन्हीं से इनको साहित्य और कला का प्रेम विरासत में मिला।

राय कृष्णदास की मुख्यतः शिक्षा-दीक्षा घर में ही हुई। परन्तु विद्या व्यसन इनके रक्त में था। शीघ्र ही उन्होंने साहित्य और अन्य शास्त्रों की तह में प्रवेश किया। भारतेन्दु की परंपरा में और फिर श्री राधाकृष्णदास के संपर्क से इनमें हिन्दी लिखने का उत्साह काफी पहले से ही रहा। फिर आचार्य द्विवेदी के संपर्क से नियमित साहित्य-सेवा प्रारम्भ की। जिसके कारण स्व० जयशंकर प्रसाद और स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त का अत्यन्त निकटत्व प्राप्त हुआ। हिन्दी-गद्य को आधुनिकता की ओर लाने में उनका प्रयास महत्वपूर्ण है। उनके गद्य-काव्यों का संग्रह 'साधना' ने हिन्दी में प्रमुख स्थान ग्रहण किया। इनकी कहानियाँ भी उस काल की विशेष महत्वपूर्ण रचनाओं में मानी जाती हैं।

बाद में विशेष रूप से आपका झुकाव कला और भारतीय इतिहास की खोज की ओर रहा। इन विषयों पर आपकी पुस्तकें प्रमाण मानी जाती हैं। आपने भारतीय कला के शोध-कर्ताओं का एक वर्ग भी तैयार किया।

'भारत कला-भवन' इनकी एक महत्वपूर्ण देन है, जो निसंदिग्ध रूप से संसार के कलात्मक संग्रहों में से एक है।

आपकी सेवाओं को देखते हुए काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने आपको, अपना सभापति चुना और १९६१ में भारत सरकार ने 'पद्म-भूषण' की उपाधि से तथा हिंदी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ने १९६५ में 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९६३ में आप ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली के सम्मानित सदस्य (फेलो) चुने गये।

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

हिन्दी साहित्य में हास्यरस के एक प्रसिद्ध लेखक। इनका उपनाम 'बेढब बनारसी' है। इनका जन्म सन् १८९५ में हुआ। इनकी शिक्षा प्रयाग तथा काशी में एम-ए०, एल्-टी० तक हुई।

श्री बेढब उर्दू, फारसी, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि कई भाषाओं के जानकार हैं। यह कई वर्षों तक डी० ए० वी० कालेज वाराणसी के प्रिंसिपल रहे। इनके समय में इस शिक्षा संस्था ने अच्छी तरक्की की। यहाँ के विद्यार्थी भी सुयोग्य और कर्मठ निकलते गये।

ये हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के दो वर्षों तक मंत्री, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तीन वर्षों तक मंत्री तथा साहित्य-मंत्री रहे।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर कई शिक्षा-संस्थाओं में, उत्तर प्रदेश सेकंड्री एजूकेशन के सदस्य, एम-एल० सी०, प्रसाद-परिषद् वाराणसी के उपसभापति रह चुके हैं। इनको भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कवि-सम्मेलनों और कवि-गोष्ठियों में बुलाया जाता है।

'बेढब बनारसी' हिन्दी-साहित्य में खड़ीबोली के हास्यरस के उच्चकोटि के कवि और लेखक हैं। इनकी कविताएँ सुनने वाले हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। गम्भीर मुद्रा में भी इनकी बातों में सहज ही हास्यरस का पुट रहता है। यही इनकी विशेषता है। इनकी हँसोड़ी उपमाएँ बेजोड़ होती हैं।

इनकी लिखी हुई हास्यरस की पुस्तकों में 'बेढब की बहक' बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त शिवाजी की जीवनी, जापान वृत्तान्त, बनारसी एक्का, मसूरी वाली आदि पुस्तकें भी अच्छी हैं।

इन्होंने कई पत्रों का सम्पादन भी किया है और हास्यरसिक सम्पादकों, कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन भी दिया है। इनके सम्पादित पत्रों में 'करेला' और 'बेढब' मुख्य हैं।

कृष्णानन्द व्यासदेव

बंगाल के एक सुप्रसिद्ध संगीतकार, 'राग-कल्पद्रुम' नामक एक बहुत बड़े संगीत-कोष के प्रणेता, जिनका जन्म १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था।

कृष्णानन्द स्वयं एक अच्छे संगीतकार और उस्ताद थे। उन्होंने राजा राधाकान्त देव के संरक्षण में बंगाला, हिन्दी, करनाटकी, मराठी, तैलंगी, गुजराती, उड़िया, फारसी, अरबी, संस्कृत, अंग्रेजी इत्यादि अनेक भाषाओं से नाना स्वरों के प्राचीन और नवीन गायनों को संग्रह करके चार खण्डों में 'राग-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह विशाल ग्रन्थ सन् १८४३ ई० में लिखकर पूरा हुआ।

राजा राधाकान्त देव संगीताचार्य कृष्णानन्द का बड़ा सम्मान करते थे।

कृष्णाजी सावन्त

पेशवाओं के एक मराठे सेनापति। जिन्होंने सन् १६९९ ई० में मालवे पर मराठों का सबसे पहला आक्रमण किया।

१६९९ ई० के नवम्बर मास में जब औरंगजेब सतारा के किले का घेरा डालने के लिए जा रहा था, उसी समय कृष्णाजी सावन्त नामक एक मराठा-सेनापति ने १५ हजार घुड़सवारों को लेकर पहले पहल नर्मदा नदी पार की और धामनी के कुछ आस-पास के प्रदेशों में लूट-खसोट करके वह लौट आया। भीमसेन नामक एक इतिहासकार लिखता है कि—

"पहले के सुल्तानों के समय से अब तक मरहटों ने कभी भी नर्मदा नदी को पार नहीं किया था। सबसे पहले कृष्णाजी सावन्त ने ही उसे पार किया और वह लूट-खसोट कर बिना विरोध के वापस चला गया।"[१]

सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि—"जो मार्ग इस प्रकार खुला, वह १८वीं शताब्दी के मध्य में, जब तक मालवा पूर्णतया मरहठों के आधिपत्य में न आ गया, गया, किसी भी प्रकार से बन्द नहीं हुआ।"

—

कृपाराम (कवि)

हिन्दी-भाषा के एक प्राचीन कवि जिन्होंने सन् १५४१ में रस-रीति पर 'हित-तरंगिणी' नामक ग्रन्थ दोहों में बनाया। रीति या लक्षण ग्रन्थों में यह ग्रन्थ बहुत पुराना है। हित-तरंगिणी के कई दोहे बिहारी के दोहों से कुछ मिलते-जुलते हैं। सम्भव है बिहारी ने अपनी 'सतसई' की रचना में उन दोहों का अनुकरण किया हो

हित-तरंगिणी के दोहे बहुत सरस, भाव पूर्ण और परिमार्जित हैं। जैसे—

लोचन-चपल कटाच्छ-सर, अनियारे विष-पूरि।
मन-मृग वेधैं मुनिन के, जय जन सहत विसूरि॥
आजु सवारें हौ गई, नन्दलाल हित-ताल।
कुमुद, कुमुदिनी के भटू, निरखे औरे हाल॥
पति आयो परदेश तें, ऋतु वसन्त को मानि।
झमकि-झमकि निज महल मे, टहलें करे सुरानि॥

—

कृषि (खेती)

मनुष्य का खेती-बाड़ी सम्बन्धी ज्ञान, जो जमीन के अन्दर बीज बोकर उसका फल ग्रहण करने से प्रारम्भ होता है।

मनुष्य को खेती-बाड़ी सम्बन्धी ज्ञान कब से प्रारम्भ हुआ—इसका ऐतिहासिक विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। क्योंकि प्राचीन से प्राचीन सभ्यताओं के जो अवशेष अभी तक प्राप्त हुए हैं, उन सबसे यह पता चलता है कि मनुष्य उस पुरातन काल में भी खेती-बाड़ी की कला से परिचित था।

भारतवर्ष में 'मोहन जोदड़ो' और 'हड़प्पा' की खोदाई से यहाँ की प्राचीन सभ्यता के ऊपर एक नवीन प्रकाश पड़ा है और पुरातत्वज्ञों का यह मत बन गया है कि ईसा से कम से-कम ४ हजार वर्ष पहले भी यह सिन्धु-घाटी-सभ्यता इस देश में अपने चरम विकास पर थी और उस समय के लोग खेती-बाड़ी की कला से पूर्णतः परिचित थे।

इस खुदाई में गेहूँ और जौ के जो नमूने प्राप्त हुए हैं, उस तरह के गेहूँ आज भी पंजाब के अन्दर बोये जाते हैं।

मिस्र के पिरामिडों में भी जो जौ के नमूने मिले हैं, उनसे पता चलता है कि मिस्र की सभ्यता में भी खेती-बाड़ी के ज्ञान से लोग परिचित थे।

इसी प्रकार प्राचीन चीन में भी हजारों वर्षों से लोगों को खेती-बाड़ी का ज्ञान था।

इससे यह निश्चित करना कि मनुष्य को खेती-बाड़ी की कला का ज्ञान कब से हुआ, बहुत कठिन है।

प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद का समय ५ हजार वर्ष पूर्व भी माना जाय तो उससे भी मालूम होता है कि उस समय यहाँ का मानव-समाज कृषि के मौलिक सिद्धान्तों से पूर्णतः परिचित था और यहाँ पर धान, जौ, तिल और दाल के अन्न प्रचुर मात्रा में पैदा होते थे और जमीन की जोताई के लिए हल का प्रयोग होता था।

कृषि-पाराशर नामक संस्कृत ग्रन्थ में खेती के विषय में बहुत उपयोगी बातें लिखी हुई हैं। हल के बनाने मे किन किन बातों की आवश्यकता होती है और हल किस प्रकार का बनता है—उसका इस ग्रन्थ में विशद विवेचन किया गया है। इसमें लिखा गया है कि—

'माघ मास ही खेती की जुताई के लिये अच्छा समय है। माघ महीने में मिट्टी सोने जैसी होती है, और उसमें चौगुना अन्न उपजता है। फाल्गुन में भूमि जोतने से चाँदी जैसी निकलती है, चैत में वह ताँबे जैसी रहती है। वैशाख मास में भूमि जोतने से धान्य बहुत कम मात्रा में पैदा होता है और जेठ-आषाढ़ में तो बीज का बीज होना भी मुश्किल है।"

पाराशर के मत से उत्तम खेती के लिये भूमि को ३ या ५ बार जोतना चाहिए। हल की ३ रेखाएँ अर्थ साधन और ५ रेखाएँ बहुत अन्न उपजाने वाली होती हैं।

माघ-फाल्गुन में बीज का संग्रह करना चाहिए। बीज एक जातीय होने से अच्छा फल लगता है। इसलिए ध्यान से ऐसा ही बीज संग्रह करना चाहिए। बीज अच्छा

होने से ही खेती आशानुरूप फल देती है। इसलिए बीज पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है।"

"बीज की दो प्रक्रियाएँ होती हैं। एक बोना और दूसरा लगाना। बोने के लिए वैशाख मास ही अच्छा समय है। खेत को उत्तम प्रकार से जोत कर उसमें बीज डालना पड़ता है और बीज पैदा होने पर उसकी यथासमय निदाई-खुदाई करनी पड़ती है।"

लगाने वाला बीज पहले क्यारियों में डाल कर पैदा किया जाता है और उसके बाद आषाढ़ मास में हल्की बरसात के समय उसको जमीन में चोप दिया जाता है। खेती की सफलतापूर्वक पैदावार के लिए तरह-तरह की खादों का प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

वराहमिहिर ने भी अपनी बृहत्-संहिता में बहुत उपयोगी वर्णन किया है।

मध्यकाल में घाघ और भड्डुरी की कहावतों में खेती के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और बरसात के आने के लक्षणों का दोहों में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। इन कहावतों में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पौधों की बीमारी इत्यादि कई विषयों का बड़े मनोरंजक ढंग से वर्णन किया गया है।

मौर्य-साम्राज्य के काल में कृषि का कार्य बहुत उन्नत अवस्था पर पहुँच गया था। आजकल के एग्रीकल्चरल डिपार्टमेंट की तरह उस समय भी कृषि-विभाग नियुक्त था। उसके प्रबन्धकर्ता को सीताध्यक्ष कहा जाता था। सीताध्यक्ष कृषि-विद्या का प्रकाण्ड पंडित होता था। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों ही प्रकार की कृषि-विद्या का उसे पूरा ज्ञान होता था। कृषि का छठा भाग राज्य में कर स्वरूप लिया जाता था। कृषक लोग सैनिक-सेवा से बिल्कुल अलग रखे जाते थे। मेगास्थनीज बड़े आश्चर्य के साथ लिखता है कि—"जिस समय देश के अन्दर घोर संग्राम मचा रहता था। उस समय में भी कृषक लोग अपने कृषि के काम में शान्तिपूर्वक लगे रहते थे।"

मौर्य-साम्राज्य के काल में कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध था। यह सिंचाई चार प्रकार से होती थी।

(१) हस्त प्रावर्त्तिय अर्थात् हाथ के द्वारा।

(२) स्कन्ध-प्रावर्त्तिय अर्थात् कन्धे पर पानी उठा कर।

(३) श्रोतोयंत्र प्रावर्त्तिय अर्थात् यंत्र के द्वारा।

(४) नदी सरस्तटाक-कूपोद्घाटम् अर्थात् नदी-तालाब और कूओं के द्वारा।

इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि प्रत्येक किसान को सिंचाई के लिए आवश्यकतानुसार जल मिलता रहे। जहाँ पर नदी, तालाब, कूएँ वगैरह नहीं होते थे, वहाँ पर राज्य की ओर से तालाब, नहर तथा कूएँ बनवाये जाते थे। उसी काल में 'पुष्य गुप्त' नामक एक वैश्य ने जो उस समय पश्चिमी प्रान्तों का एक शासक था, गिरनार से निकलने वाली दो नदियों पर एक बाँध-बँधवाकर 'सुदर्शन झील' नामक एक विशाल झील का निर्माण करवाया था। इस झील से कई नहरें निकाल कर उनसे सिंचाई का काम लिया जाता था।

मुसलमानी युग में भी यहाँ पर लोगों को खेती की कला का काफी ज्ञान हो गया था।

आधुनिक युग में कृषि का विकास

ये सब पुरानी बातें हैं। आधुनिक नवीन सभ्यता के युग में यंत्र-कला की उन्नति के साथ ही खेती-बाड़ी और अन्न-उत्पादन के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा और कम से कम भूमि में अधिक से अधिक उत्पादन कैसे हो, तथा उन्नत यंत्र-कला के द्वारा अधिक समय का काम थोड़े समय में कर के मानवीय श्रम की बचत किस प्रकार की जाय—इस सम्बन्ध में तरह-तरह के अनुसन्धान करने की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा।

सन् १७६८ में एडिनबरा विश्व-विद्यालय में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर विलियम कलेन ने एक व्याख्यान-माला में कृषि सम्बन्धी अनुसन्धानों पर कुछ भाषण दिये और उसके पश्चात् सन् १७८८ में इसी विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर जॉनवाकर ने एग्रीकल्चरल- लेक्चर्स सीरीज में खेती-बाड़ी पर कई भाषण दिये। इन भाषणों का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। जिसके कारण एडिनबरा विश्वविद्यालय को कृषि-शिक्षा के सम्बन्ध में नेतृत्व करने का यश प्राप्त हुआ।

सन् १८६० में प्रोफेसर जॉन विलसन का "Our form crops" नामक कृषि-विद्या पर एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का उस युग में बहुत आदर हुआ और कृषि-विज्ञान के सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाने लगा।

इसके बाद "रॉयल एग्रीकल्चरल सोसायटी" तथा स्कॉट लैण्ड की "हाइलैण्ड एण्ड एग्रीकल्चरल सोसायटी" ने कृषि सम्बन्धी कुछ परीक्षाएँ निकाल कर 'डिप्लोमा' देना प्रारम्भ किया।

इसके बाद उन्नीसवीं सदी के चौथे चरण से तो कैनाडा, आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, मिस्र इत्यादि अनेक देशों में कृषि की वैज्ञानिक शिक्षा देने वाले कई कालेज और इन्स्टीट्यूशन्स खुल गये।

कृषि सम्बन्धी अनुसन्धान

ज्यों-ज्यों कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक लोग गहरा प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस विज्ञान का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक होता गया और यह अनुभव किया गया कि यह विज्ञान केवल भूमि, बीज और खाद के ज्ञान तक ही सीमित नहीं है, मगर इसकी पूर्णता के लिए बॉटनी (वनस्पति-विज्ञान) एण्टोमालॉजी (कीट-विज्ञान) प्लॉण्ट पायथालाजी (पौधों का व्याधि विज्ञान) हार्टिकल्चर (उद्यान विज्ञान) तथा कृषि-इंजीनियरिंग आदि अनेक प्रकार के विज्ञानों के अध्ययन की आवश्यकता है।

अतः आजकल के कृषि-विद्यालयों में इन सभी विषयों का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है। वनस्पति-विज्ञान के द्वारा पौधों की उन्नत जातियों की खोज करना, ईख की ऐसी जातियों को निकालना, जिसकी पैदावार भी अधिक है और जिसमें चीनी की मात्रा भी अधिक निकले आदि कार्य्य, सम्पन्न किये जाते हैं।

क्रासिंग या संकरण-क्रिया के द्वारा दो जातियों का संकरण करके एक तीसरी जाति को पैदा करना जिसमें इन दोनों जातियों के गुण मौजूद हों—यह भी इसी विज्ञान का काम है।

कीट-विज्ञान के द्वारा फसलों को लगने वाली भिन्न भिन्न प्रकार की बीमारियों और कीड़ों से उनकी रक्षा करने के उपाय निकाले जाते हैं। इन बीमारियों से या कीड़ों से कितना व्यापक नुकसान होता है, और मीलों तक के क्षेत्र में फैली हुई गेहूँ की रस भरी फसल गेरू की एक झपट से देखते-देखते किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है—इसका अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। कीट-विज्ञान के द्वारा मनुष्य इस प्रकार के दैवी अभिशापों से फसल को बचाने के मार्ग खोज निकालता है।

भारतवर्ष में कृषि सम्बन्धी अनुसन्धानों के लिए सन् १९०३ में हेनरी फ़िप्स नामक अमेरिकन की आर्थिक सहायता से पूसा में एक विशाल अनुसन्धान-केन्द्र की स्थापना हुई। सन् १९३४ में भूकम्प से नष्ट हो जाने के कारण अब इस केन्द्र की दिल्ली में स्थापना की गई है।

इसी प्रकार इन्दौर में भी प्रो० हावर्ड के नेतृत्व में एक कृषि-अनुसन्धान-शाला की स्थापना हुई।

कृषि इञ्जिनियरिंग

कृषि-इञ्जीनियरिंग के द्वारा मनुष्य कृषि से सम्बन्धित सब प्रकार के यंत्र, जमीन की जुताई करने वाले ट्रेक्टर, मिट्टी को भुरभुरी करने वाली मैकानिक डीयरिंग मशीन, हैरो या अनाज सुखाने वाली मशीन, बीज बोने और खाद डालने की मशीन, अनाज बोने की मशीन, आलू बोने की मशीन, फसल काटने और फसल को गाहने वाली मशीनें इत्यादि सब प्रकार की मशीनों के उपकरणों की और उनको चलाने का ज्ञान प्राप्त करता है।

इसी कृषि इञ्जीनियरिंग में भूमि-व्यवस्था, भूमि के कटाव को रोकने की प्रक्रिया, जीव-जन्तु और बीमारियों से फसलों की रक्षा का ज्ञान भी वह प्राप्त करता है।

कृषि रसायन-शास्त्र के द्वारा वह तरह-तरह के बनावटी खादों के निर्माण और फसल में उनके प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करता है।

संयुक्त-राज्य अमेरिका में कृषि-इञ्जीनियरिंग की पढ़ाई का प्रारम्भ सन् १९०५ में लोआ स्टेट कालेज एम्स में हुआ और सन् १९५९ तक यहाँ ४६ कृषि-इञ्जीनियरिंग कालेज खुल चुके थे। भारतवर्ष में सन् १९४२ में इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट में कृषि इञ्जीनियरिंग

की शिक्षा प्रारम्भ हुई और सन् १९५६ से इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ़ टैकनालाजी खड्गपुर में भी इस विषय का अध्ययन प्रारम्भ किया गया।

सन् १९०७ में अमेरिकन सोसाइटी ऑफ एग्रीकल्चर्स इन्जीनियर्स नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई और इसमें प्रायः सभी उन्नतिशील देशों ने भाग लिया। सन् १९५९ में इसकी सदस्य-संख्या ५२१९ थी। इससे पता चलता है कि विश्व के हरएक देश में कृषि इंजीनियरिंग के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्पी ली जाने लगी है।

आधुनिक यंत्र-कला के युग में खेती-कला के सम्बन्ध में कई बड़े-बड़े उपयोगी यंत्रों का आविष्कार हो गया है। इन यंत्रों में जोताई करने वाले ट्रैक्टर, मिट्टी को भुरभुरी करने वाली मशीन, अनाज सुखाने वाली मशीन, खाद डालने वाली मशीन, अनाज बोने की मशीन, आलू बोने की मशीन, फसल को काटने वाली मशीन, अनाज साफ करने की मशीन, ईख पेरने की मशीन इत्यादि अनेक मशीनों का आविष्कार हो चुका है। जिनसे मनुष्य के द्वारा किया जाने वाला महीनों का काम घंटों में हो जाता है।

कम्युनिज्म के विकास के साथ-साथ कम्यूनिस्ट देशों में सहकारी खेती, सामूहिक खेती और छोटे-छोटे खेतों को तोड़ कर बड़े-बड़े फार्म बनाने की योजनाएँ कार्यान्वित की गयी हैं। रूस में सभी कार्य प्रायः मशीनों द्वारा होने लगे हैं और सामान्यतः वहाँ की ७८ प्रतिशत कृषि का यंत्रीकरण हो चुका है।

जर्मनी में सन् १९३८ तक १८ लाख बिजली की मोटरें, ११७५५ स्टीम इंजन, २ लाख, पेट्रोल तथा डीजल इंजन, ७० हजार टैक्टर तथा और भी भिन्न-भिन्न प्रकार की लाखों मशीनें खेती का काम कर रही थीं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९४४ में २० लाख ट्रैक्टर काम कर रहे थे।

ग्रेट ब्रिटेन में सन् १९४४ तक ट्रैक्टरों की संख्या १ लाख ६० हजार हो गयी थी।

चीन में यद्यपि रूस और अमेरिका की तरह कृषि-यंत्रों का विस्तार नहीं हुआ फिर भी सन् १९५२ से सन् १९५६ तक वहाँ कृषि यंत्रों के अन्तर्गत काफी उन्नति हुई।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि कृषि की पैदावार के क्षेत्र में अमेरिका संसार के सभी देशों में आगे है। वहाँ पर केवल ७ प्रतिशत व्यक्ति कृषि के कार्यों में लगे हुए हैं। फिर भी उस देश में इतना अन्न पैदा होता है कि वह अपने देश की आवश्यकता पूरी कर लेने के पश्चात् संसार के जरूरत मन्द देशों को लाखों टन अनाज भेजता है। कम्यूनिस्ट देशों ने यद्यपि सामूहिक खेती, सहकारी खेती, यंत्र कला इत्यादि कई क्षेत्रों में अनुसन्धान किये हैं, फिर भी वे अभी तक अन्न के मामले में स्वावलम्बी नहीं हो पाये हैं और अभी तक उन्हें अमेरिका से अन्न मंगाने को मजबूर होना पड़ रहा है।

भारतवर्ष में भी गत १८ वर्षों से अन्न की समस्या हल करने और खेती की उपज बढ़ाने के लिए सरकार निरन्तर और अथक प्रयत्न कर रही है। बड़ी-बड़ी नदियों पर विशाल बाँध बँधवा कर, उनसे नहरें काटकर सिंचाई करवाना, हजारों की तादाद में ट्यूब-वेल्स और कुएँ खुदवाना, खेती के लिए सब प्रकार की ट्रैक्टर आदि आधुनिक मशीनों की मुहैय्या करना, बड़े-बड़े प्रमुख केन्द्रों में कृषि के कालेज स्थापित करना इत्यादि सभी कार्य वह पूरे मनोयोग के साथ कर रही है।

इतना विराट् आयोजन और इतनी विराट् देखभाल होने के बावजूद इस देश में 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इन अठारह वर्षों में एक साल भी ऐसा नहीं बीता जिसमें कि हम अन्न के विषय में स्वावलम्बी हुए हों। प्रति वर्ष लाखों टन गल्ला दूसरे देशों से आता है, तब भी यहाँ की जनता का पेट ठीक से नहीं भरता और सेर-सेर, दो-दो सेर अन्न के लिए उसे घंटों तक लाइन में खड़ा होना पड़ता है।

किसी भी शासन के लिए, जिसे १८ वर्ष का लम्बा समय राष्ट्र-निर्माण के लिए मिला हो, अन्न के सम्बन्ध में ऐसी मोहताजी शोभनीय नहीं कही जा सकती।

कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि अमेरिका सरीखा देश, जिसमें केवल ७ प्रतिशत व्यक्ति कृषिजीवी हैं, अपनी

भूमि में इतना अन्न पैदा कर लेता है, जिससे सारे देश की जरूरतों को पूरी कर लेने के पश्चात्, करोड़ों टन अन्न वह बाहर विदेशों में भेज देता है और भारतवर्ष, जिसकी ८० प्रतिशत जनता कृषिजीवी होने पर भी हम अपने देश का पेट नहीं भर सकते। इस दुःखद-परिस्थिति के लिए कितनी जिम्मेदारी सरकार की है और कितनी जनता की—यह अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर भी कितने ही विचार शील लोगों का अनुमान है कि इस दुःखप्रद परिस्थिति के अनेक कारणों में से एक प्रधान कारण सरकार के द्वारा इस व्यवसाय पर अनैसर्गिक कंट्रोल, तरह-तरह के प्रतिबन्ध और एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की मनाही इत्यादि बातों से सम्बन्धित है।

स्वर्गीय रफी अहमद किदवई ने साहस के साथ इन अनैसर्गिक प्रतिबन्धों को उठाकर मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन देकर थोड़े ही दिनों में इस समस्या पर विजय प्राप्त कर ली थी। और जब तक कि वे जीवित रहे, तब तक इस जटिल समस्या को सिर उठाने का मौका नहीं दिया। मगर उनके मरने के बाद ही सरकार फिर उन्हीं नियंत्रणों के भँवर-जाल में पड़ गयी जिससे दिन-पर-दिन देश की अन्न-व्यवस्था तीव्र-से-तीव्रतर होती चली जा रही है।

केकय देश

भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त पर गान्धार का पूर्ववर्ती प्रदेश प्राचीन युग में केकय कहलाता था। आजकल रावलपिंडी और पेशावर के आसपास का प्रदेश प्राचीन केकय के स्थान पर अवस्थित है।

राजा दशरथ की रानी केकयी यहीं की राजकन्या थी।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार रामचन्द्र के वनवास पर भरत को बुलाने को जो दूत भेजा गया था, वह वाह्लिक, सुदामा पर्वत, विष्णुपद, विपाशा और शाल्मली नदी का दर्शन करके केकय के राजा की राजधानी गिरिव्रज या राजगृह में उपस्थित हुआ था।

फिर जब भरत अयोध्या की ओर आने लगे तो पूर्वाभिमुख गिरिव्रज से बाहर निकल कर सुदामा नदी उतरे थे। फिर वे पश्चिम की ओर बहने वाली विशाल ह्लदिनी नदी को पार करके शतद्रू नदी के उस पार पहुँचे।

उपरोक्त वर्णन से यह मालूम होता है कि केकय की राजधानी गिरिव्रज शतद्रू नदी से पश्चिम और विपाशा तथा शाल्मली नदी के आगे ही अवस्थित थी। शतद्रू को आजकल सतलज और विपाशा को व्यास कहते हैं। ये दोनों नदियाँ कश्मीर और पञ्जाब में बहती हैं। इसी अनुमान पर कुछ इतिहासकार आधुनिक जलालपुर को प्राचीन गिरिव्रज मानते हैं, और कुछ इतिहासकार कश्मीर-राज्य की सीमा के समीप पीर पञ्चाल गिरि से दक्षिण राजौरी नामक प्राचीन नगर को केकय की राजधानी गिरिव्रज या राजगृह मानते हैं।

रामायण में भरत के नाना केकयराज अश्वपति और उनके पुत्र युधाजित् का उल्लेख विद्यमान है। आजकल केकय देश और उसके निवासियों को कक्का कहते हैं।

केकुले फ्रीड्रिक आगस्त

एक जर्मन-रसायन-शास्त्री जिसका जन्म सन् १८२९ ई० में और मृत्यु सन् १८९६ में हुई।

उस युग के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री लीबिग (Liebig) से सम्पर्क होने पर केकुले की रुचि रसायन-शास्त्र की ओर हुई। और उन्होंने हाइडिल-वर्ग में अपनी एक छोटी सी रसायन-शाला स्थापित की और इसमें कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में वे अपने प्रयोग करने लगे।

सन् १८५९ में इन्होंने कार्बन-रसायन के सिलसिले में 'बेंजीन' के आविष्कार की कल्पना प्रस्तुत की। यह खोज इतनी महत्वपूर्ण थी कि उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रोफेसर 'जेप' ने लन्दन की 'केमिकल सोसायटी' में सन् १८९७ में जो भाषण दिया था, उसमें स्पष्ट रूप से कहा था कि—'कार्बनिक रसायन का तीन-चौथाई भाग प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से केकुले के बेन्जीन सम्बन्धी विचारों और परिकल्पनाओं का ऋणी है। केकुले द्वारा प्रस्तुत बेन्जीन सम्बन्धी सिद्धान्त हमारी सहायता न करता तो कोलतार से सम्बन्ध रखने वाले सहस्रों उपयोगी योगिकों की उत्पत्ति असम्भव हो जाती।"

जर्मनी के बोन नगर के विश्वविद्यालय में केकुले के स्मारक रूप में उनकी प्रस्तर मूर्ति अभी भी लगी हुई है।

केट्स
(Jacob Cats)

अठारहवीं सदी में डच साहित्य का एक प्रसिद्ध कवि जो जनता का कवि माना जाता था। उसकी कविताएं जनता में इतनी लोक प्रिय हुईं कि लोग उसे फादरकेट्स (Father Cats) के नाम से पुकारते थे। उसकी कविताएं जनजन के मुँह पर रहती थीं और लोग बाइबिल के साथ-साथ उसकी कविताओं के संग्रह को भी पास रखते थे।

कैंटरबरी चर्च

ग्रेट ब्रिटेन का एक प्राचीन और प्रसिद्ध गिरजाघर कैण्टरबरी चर्च।

ईसा की ६ठीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड में ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए रोमनचर्च के पोप 'ग्रेगरी महान्' ने ४० पदारियों का एक दल भेजा। उस समय इंग्लैंड के 'कैंट' नामक प्रदेश का राजा इथिलवर्ट था। ईसाई-धर्म के ये प्रचारक कैंट-राज्य के 'थेनिट' नामक राज्य में उतरे और राजा के पास सन्देशा भेजा कि हम लोग रोम से इसलिए आये हैं कि 'स्वर्ग के आनन्द' को प्राप्त करने की विधि आपको बतलाएं।

इथिलबर्ट की रानी फ्रांस की राजकुमारी बर्था पहले से ही ईसाई धर्म को माननेवाली थी और उसी धर्म के अनुकूल उसका आचार-विचार भी था। अतः इथिलबर्ट ने बड़े सम्मान से इन पादरियों का स्वागत किया। कैंटरबरी गाँव के पुराने गिर्जाघर में इन्हें ठहरने का स्थान मिला। यहीं उन्होंने धर्मशाला बनवाई और यहीं रहकर उन्होंने अपना धर्म-प्रचार करना प्रारंभ किया। तभी से कैंटरबरी का यह चर्च कैंटरबरीचर्च के नाम से प्रसिद्ध हो गया और आज तक भी इंग्लैंड का यह एक प्रसिद्ध चर्च माना जाता है और इसके पादरी 'लाट पादरी' कहे जाते हैं।

हेनरी द्वितीय के समय में अर्थात् ईसा की १२वीं शताब्दी के मध्य में कैंटरबरी का लाट पादरी एनसेलम (Anselm) था। इसके समय में रोमन चर्च के और ईसाई पादरियों के अधिकार बहुत बढ़ गये थे। यूरोप के दूसरे देशों की तरह इंग्लैंड में भी पादरियों के न्यायालय अलग बने हुए थे जिनमें पादरी लोग ही अपने अपराधियों को साधारण दण्ड देकर छोड़ देते थे।

इस प्रकार पादरी लोग राज-कानून से बिल्कुल नहीं डरते थे। राज्य-संस्था और धर्म-संस्था दोनों समानान्तर रूप से समाज के अन्दर चल रही थी। जब राजा द्वितीय हेनरी ने धर्म-संस्थाओं को राज्य-संस्था के कानूनों में लाने का प्रयत्न किया तो कैंटरबरी के लाट पादरी एनसेलम ने इस बात का झगड़ा उठाया कि धर्म-संस्था राजा के अधीन नहीं रह सकती।

तब द्वितीय हेनरी ने लाट पादरी के मरने के पश्चात् 'टामस बेकिट' नामक अपने आदमी को कैंटरबरी का लाट पादरी बना दिया। मगर बेकिट ने भी उस स्थान पर जाकर अपने रुख को बदल दिया और उसने भी राजा के हस्तक्षेप से धर्म-संस्था की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझा।

यह बात द्वितीय हेनरी को बहुत बुरी लगी और उसने चार गुंडों को भेज कर कैंटरबरी के गिर्जे में बेकिट को मरवा डाला। इससे सारी प्रजा और जमींदारों में विद्रोह हो गया। पोप ने स्वर्गीय बेकिट को सेंट की पदवी दी हेनरी ने भी बड़ा पश्चात्ताप किया और बेकिट के कब्र की पास जाकर उसने सिर झुकाया और दूसरे पादरियों से अपराध के दण्ड में अपने पीठ पर कोड़े लगवाये।

इस प्रकार बेकिट की मृत्यु ने कैंटरबरी की धर्म-संस्था को बिल्कुल स्वतंत्र कर दिया।

१७वीं शताब्दी के अन्त में राजा जेम्स द्वितीय के समय में राजा जेम्स के कैथोलिक होने के कारण कैथोलिक धर्म का जोर बहुत बढ़ गया। जेम्स ने सन् १६८८ के प्रारंभ में एक अनिषेध घोषणा (Declaration of Indulgence) निकाली और आज्ञा दी कि वह लगातार दो रविवारों को दो बार गिरजों में सुनाई जाय।

कैंटरबरी के लाट पादरी सेनक्राफ्ट (Sancroft) और उसी प्रान्त के ६ पादरियों ने एक प्रार्थना-पत्र भेजा कि इस आज्ञा के पालन से हम मुक्त कर दिये जायँ। जेम्स यह पत्र पढ़कर आग-बबूला हो गया और कहने लगा कि यह तो स्पष्ट विद्रोह है। लाट पादरी ने कहा कि राजन्! हम आपका आदर करते हैं, मगर हमें ईश्वर का भी भय है।

राजा की इस आज्ञा से इंग्लैंड में बड़ा असन्तोष छा गया और एक बड़ा आन्दोलन इंग्लैंड में पैदा हो गया। यह देखकर राजा ने उन सातों पादरियों को कैद करके लन्दन के टावर में भेज दिया। जब ये लोग टावर में ले जाये जा रहे थे तो हजारों नर-नारियों की पंक्तियाँ इनका आशीर्वाद लेने के लिए मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो जाती थीं। इनके पीछे एक हजार किश्तियाँ थीं, जिन पर बैठे हुए लोग पादरियों की जय के नारे लगा रहे थे।

अभियोग के दिन ६० रईस लोगों की जूरी बैठी। उसने १० बजे रात को व्यवस्था दी कि पादरी लोग निर्दोष हैं। तुरन्त ही चारों ओर पादरियों के जय के नारे गूँजने लगे। लन्दन में उसी रात रोशनी की गयी और घुड़सवार इस फैसले की खबर देने दूसरे नगरों को चल पड़े।

इसी कारण से जेम्स द्वितीय इंग्लैंड में बहुत अप्रिय हो गया। और कुछ समय पश्चात् उसे इंग्लैंड का राज्य छोड़ कर फ्रांस चला जाना पड़ा और उसका दामाद विलियम ऑरेंज इंग्लैंड का राजा हुआ।

इस प्रकार कैंटरबरी का चर्च एक सुप्रसिद्ध धर्म पीठ होने के साथ-साथ एक प्रभावशाली और घटना-चक्र से परिपूर्ण इतिहास से भी सम्बद्ध है।

केदारनाथ

हिमालय प्रदेश में स्थित, उत्तर प्रदेश के गढ़वाल प्रदेश की एक पुण्यभूमि, जिसका हिन्दू-तीर्थस्थानों के अन्तर्गत बहुत बड़ा महत्व है।

पवित्रता और माहात्म्य की दृष्टि से केदारनाथ का नाम बद्रीनाथ के साथ-साथ आता है। महाभारत, मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, कूर्मपुराण और नन्दीपुराण में केदारनाथ की महिमा का बहुत वर्णन किया है।

स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड में लिखा है कि- "अन्य तीर्थों में स्वधर्म का विधिपूर्वक पालन करते हुए मृत्यु होने से मोक्ष होता है, पर केदारनाथ तथा बद्री क्षेत्र के दर्शन मात्र से ही मुक्ति मनुष्य के हाथ आ जाती है। काशी में मरे हुए मनुष्य को 'तारक ब्रह्म' मुक्ति देने वाला होता है, पर केदार क्षेत्र में तो शिवलिंग के पूजन मात्र से मोक्ष प्राप्त होता है। श्रीनारायण-चरणों के समीप प्रकाशमान अग्नितीर्थ का, तथा भगवान शंकर के 'केदार-संज्ञक' महालिंग का दर्शन करके मनुष्य पुनर्जन्म का भागी नहीं होता।"

इस मन्दिर के निकट भैरव झम्प नामक एक पहाड़ी शिखर है। प्राचीन युग में यहाँ मुक्ति पाने के लिए इस गिरिश्रृंग पर से कूद कर के मनुष्य अपने प्राणों की आहुति दे देते थे। यहाँ के अन्य मन्दिरों में कल्पेश्वर, मद् महेश्वर, तुंगनाथ और रुद्रनाथ के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों मन्दिर मिलाकर पञ्चकेदार कहलाते हैं। प्राचीन किम्वदन्ती के अनुसार इस स्थान पर अपने शत्रु पाण्डवों से बचने के लिए भगवान् शंकर पृथ्वी में समा गये थे। परन्तु उनके शरीर का एक भाग चट्टान के रूप में ऊपर ही रह गया था। यह स्थान समुद्र तल से ११ हजार फीट ऊँचाई पर है।

केनसिंग्टन

लन्दन शहर के पश्चिमी भाग में स्थित एक क्षेत्र, जो अपने विशाल राज-प्रसादों, गिर्जाघरों, अजायबघरों, पुस्तकालयों और बाग-बगीचों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत 'ब्रिटिश म्युजियम आफ नेचरल हिस्ट्री' 'म्युजियम ऑफ आर्टस एंड क्रैफ्ट्स' म्युजियम ऑफ साइंस' 'रॉयल ज्योग्राफिकल सोसायटी' 'अलबर्ट हाल' 'कैन सिंग्टन लाइब्रेरी' इत्यादि कई सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ बनी हुई हैं। महारानी विक्टोरिया विशेष रूप से केनसिंग्टन के ही राजप्रासाद में रहती थी।

केनिया

पूर्वी अफ्रीका का एक ब्रिटिश-संरक्षित राज्य, जिसका क्षेत्रफल २ लाख २४ हजार ६६० वर्गमील तथा जन-संख्या ६० लाख के करीब है। इसकी राजधानी नैरोबी है। इसके पश्चिम में युगाण्डा राज्य और विक्टोरिया झील, पूर्व में सोमालीलेण्ड, उत्तर में इथिओपिआ और दक्षिण में टांगानिका राज्य है।

यहाँ पर यूरोपियन लोग भी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं। यहाँ की वनसपति और खनिज सम्पति यहाँ के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार है। यहाँ पर सोने की खदानें हैं तथा नागदी झील से सोडा कार्बेनिट निकाला जाता है। केनिया में अंग्रेजों का आधिपत्य होने से यहाँ की जनता में शासन के प्रति बड़ा असन्तोष है।

केन उपनिषद्

भारतीय उपनिषद् साहित्य की एक सुप्रसिद्ध उपनिषद्।

केन-उपनिषद् यह नाम सामवेद की तलवकार-शाखा के तलवकार ब्राह्मण का है। इसे जैमिनीय ब्राह्मण भी कहा जाता है। उसका यह उपनिषद् एक भाग है। इसके प्रारंभ में प्रश्नात्मक केर्ण शब्द पड़ा होने से इसका नाम केन-उपनिषद् पड़ा। इसमें ४ खण्ड और ३४ कण्डिकाएँ हैं।

पहले खण्ड में ब्रह्मतत्व का निरूपण है किन्तु इस निरूपण की शैली प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर है। दूसरे खण्ड की ५ कण्डिकाओं में ब्रह्म के रूप-स्वरूप को ठीक प्रकार से जानने और न जानने की विभाजक-रेखा का विषय बताया है।

तीसरे और चौथे खण्ड में एक विचित्र कहानी के द्वारा इस गहन विषय का निरूपण किया गया है। बतलाया गया है कि एक ओर यह विश्व है और दूसरी ओर है ब्रह्म। विश्व में जितनी शक्तियाँ हैं, वे ब्रह्म के रूप हैं। इनमें से प्रत्येक देव है। इन देवों में ३ देव मुख्य हैं। पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु और द्युलोक में इन्द्र।

जब ब्रह्म को सबसे बड़ा बतलाया गया तब इन तीनों देवों ने सन्देह किया और सोचा कि अपने-अपने लोक में हमी सब से बड़े हैं। हमारी महिमा से ही यह संसार चल रहा है। ब्रह्म उनके इस अहंकार को ताड़ गया। वह एक यक्ष के रूप में उनके सामने आया। पर वे नहीं जान पाये कि यह अद्भुत यक्ष क्या था!

तीनों देवों ने पहले अग्नि से कहा—'तुम जातवेद हो! सबको जानते हो। बताओ यह यक्ष क्या है? अग्नि जब उस यक्ष के सामने आया, तब उस यक्ष ने पूछा—तुम कौन हो?

अग्नि ने कहा—"तुम नहीं जानते—मैं अग्नि हूँ—मेरा नाम जातवेद है।"

यक्ष ने कहा—"तुम्हारी शक्ति क्या है?"

अग्नि ने कहा—"मैं जिसे चाहूँ, उसे भस्म कर दूँ।"

उस यक्ष ने अग्नि के सामने घास का एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे जलाओ!'

अग्नि ने उस तिनके को जलाने की पूरी शक्ति लगा दी, मगर उसे नहीं जला सका।

ऐसा ही वायु के साथ हुआ। वह भी यक्ष के दिये हुए तिनके को नहीं उड़ा सका।

तब देवों ने इन्द्र से कहा—"हे मघवन्! तुम इस यक्ष का पता लगाओ कि यह कौन है?"

इन्द्र के सामने से यक्ष अन्तर्ध्यान हो गया। तब इन्द्र ने वहीं उसी आकाश में एक सुन्दरी स्त्री को देखा। इन्द्र ने उससे पूछा कि "तुम पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है?" उस स्त्री ने बताया कि "यह ब्रह्म है।"

तब उन देवों को भी पता चल गया कि 'यह यक्ष ब्रह्म है।'

यह कहानी एक छोटा चुटकला है। जिसे इस उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का तारतम्य समझाने के लिए अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट रूप में कहा गया है। जिज्ञासा होती है कि यह तृण या तिनका क्या है? प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि जीवधारी का जीवन या आत्मा ही तृण है। उस आत्मा या प्राण को न तो अग्नि जला सकता है और न वायु उड़ा सकता है। इस चेतन तत्व को आज तक विश्व के अभिमानी देवता नष्ट न कर सके।

अग्नि, वायु और इन्द्र—इन तीन देवों में भी अग्नि भौतिक जगत् का, वायु प्राणात्मक जगत् का और इन्द्र मानस-जगत् का स्वामी है। चैतन्य रूप इन्द्र जिस प्रज्ञा के द्वारा विश्व के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, वह अन्तर्जगत् की मातृ शक्ति—हेमवती उमा है। उसे ही विश्व-माया या चेतना कहा जाता है। वही उमा पार्वती या जगदम्बा है। अतएव जब इन्द्र भी तृण के भीतर स्पन्दित चैतन्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तब वह हेमवती उमा या प्रज्ञाशक्ति के द्वारा ही उसे जान पाता है।

सब से अन्त में ऋषि ने ब्रह्मतत्व को और भी निकट से समझाने का प्रयास किया है। इस पर जब शिष्य ने आचार्य से प्रश्न किया—"कृपया मुझे ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान का उपदेश दीजिये!"

इस पर आचार्य ने कहा कि 'उस ब्रह्म का रहस्य, ज्ञान तो तुम्हें मैं ऊपर बता चुका, पर उसके अतिरिक्त तुम और भी कुछ जानना चाहो तो सुनो—

"तप, दम और कर्म-यही उस ब्रह्म के रहस्यात्मक ज्ञान की प्रतिष्ठा या जड़ है। वेद उस महान् वृक्ष के अंग-प्रत्यंग हैं। सत्य उसका धरातल है। जो इस विद्या को इस रूप में जानता है, वह पापों से छूट कर स्वर्गीय सुख को प्राप्त करता है।

(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)

केनेडी जॉन फिट्जरलैण्ड

अमेरिका के सुप्रसिद्ध राष्ट्रपति जो सन् १९६० में अमेरिका के राष्ट्रपति चुने गये और सन् १९६३ ई० में उनकी हत्या कर दी गयी।

प्रेसिडेण्ट केनेडी, जवाहर लाल नेहरू और खुश्चेव ये तीनों महान् व्यक्ति आधुनिक विश्व में शान्ति के मसीहा माने जाते थे। मगर कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि एक ही वर्ष के अन्दर इन तीनों महान् पुरुषों को प्रकृति ने मानव जाति से छीन लिया। दो की मृत्यु हो गई। तीसरे की राजनैतिक मृत्यु हो गई।

जान केनेडी का परिवार शुरू-शुरू में दक्षिणी आयरलैंड के 'लिस्मोर दुर्ग' से ५० मील दूर 'न्यूरास' नामक बस्ती का निवासी था।

आज से एक शताब्दी पहले अर्थात् सन् १८४० के करीब न्यूरास मुसीबतों का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ के लोग उस समय आलुओं की फसल पर ही अपना गुजारा करते थे। सन् १८४५ में आलुओं की फसल आधी से अधिक मारी गयी। बीमारी ने एक ही रात में आलुओं की फसल को नष्ट कर दिया।

बदकिस्मती कफन की तरह उस भूमि पर छाई हुई थी। इससे बचने को वहाँ के लोग विदेशों को भाग रहे थे। बुड्ढों और बच्चों को रास्ते के खड्डों में मरते हुए छोड़ कर कुछ परिवारों ने प्रदेश की राह पकड़ी।

कैनेडी पेट

नौजवान पेट-केनेडी न्यूरास्क स्थित अपनी झोपड़ी को छोड़कर भूखे और असहायों की उस प्रवास यात्रा में शामिल हो गया और अटलांटिक सागर पार करके सन् १८५० में पूर्वी बोस्टन के नाडिल द्वीप में पहुँच कर बस गया।

केनार्ड की ओर से वहाँ सेतु और मालगोदाम बनाये जा रहे थे। पेट केनेडी को भी उसमें काम मिल गया। आयरिश लोग इस क्षेत्र में बड़ी नीची श्रेणी के माने जाते थे। मगर पेट को इस ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। कुछ पैसा कमा लेने पर केनडी पेट ने एक आइरिश लड़की से विवाह कर लिया। सन् १८६२ में उसको चौथी सन्तान हुई और उसके कुछ ही दिनों बाद उसके पिता का स्वर्गवास हो गया।

इस चौथी सन्तान का नाम पैट्रिक जे० केनेडी रखा गया। यही पैट्रिक जे० केनेडी आगे चलकर जान केनेडी का पितरमह हुआ।

कैनेडी पैट्रिक

पैट्रिक जे० केनेडी ने कुछ समझदारी आने पर मदिरा का व्यवसाय प्रारम्भ किया और उसने एक सैलून खोला, और उसमें मदिरा की फुटकर बिक्री भी करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वी बोस्टन के बन्दरगाह के सामने ही उसका सैलून था।

इस सैलून में बैठकर ही उसने राजनीति में प्रवेश किया। हालां कि उसने ग्रामर स्कूल की कक्षाएँ भी पास

न की थीं। फिर भी मदिरालय के श्रद्धालु अनुगामियों की शक्ति से उनको काफी समर्थन प्राप्त था। जिसके परिणाम स्वरूप सन् १८८० में बोस्टन के राज-प्रतिनिधि के चुनाव में ५ वर्ष तक ये बराबर विजयी हुए और उसके बाद राज्य की 'सीनेट' में पहुँच गये।

सीनेट में उनका परिचय फिटजरलैंड नामक एक व्यक्ति से हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप फिट्जरलैंड की पुत्री की शादी पैट्रिक केनेडी के पुत्र जोसेफ-केनेडी के साथ हो गयी।

कैनेडी जोसेफ

जोसेफ केनेडी बड़ा साहसी, अध्यवसायी और साहसी व्यक्ति था। उसने संकल्प किया कि ३५ वर्ष की आयु तक वह कम-से-कम १० लाख डालर जरूर पैदा करेगा। उसने सोची हुई रकम से कई गुना पैदा करके अपना संकल्प पूरा भी किया।

उसके बाद उसने पूर्वी बोस्टन के एक छोटे से बैंक को अपनी जुटाई हुई पूँजी और थोड़ा ऋण लेकर अपने कब्जे में कर लिया और उस बैंक का प्रेसिडेंट चुन लिया गया। उस समय उसकी आयु केवल २५ वर्ष की थी और वह देश में सब से कम उम्र का बैंक-प्रेसिडेंट था। जोसेफ केनेडी ने राजनैतिक क्षेत्र में भी अपनी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ा ली, जिसके परिणाम स्वरूप वह इंग्लैण्ड में अमेरिका का राजदूत बनाया गया।

जोसेफ केनेडी को उसकी पत्नी रोज-फिटजरलैंड से सन् १९१७ में जॉन फिटजरलैंड-केनेडी का जन्म हुआ। यह जान फिटजरलैंड केनेडी आगे जाकर अमेरिका के राष्ट्रपति चुने गये।

जॉन फिटजरलैंड केनेडी

जॉन फिटजरलैंड केनेडी का जन्म २९ मई सन् १९१७ को ब्रुक-लाइन नामक बोस्टन के एक उपनगर में हुआ था। मगर उनके पिता जोसेफ केनेडी शीघ्र ही बोस्टन को छोड़ कर अपने परिवार के साथ ब्रोक्सविल चले आये। यह स्थान न्यूयार्क के समीप था। यह एक समृद्धिशाली शहर था।

बालक केनेडी यहाँ के रेवरेंड-स्कूल में शिक्षा के लिए जाने लगा। उसके पश्चात् १३ वर्ष की अवस्था में जॉन केनेडी ब्रोक्सविल का घर छोड़ कर 'कोयेट' चले गये। यह एक चुनिन्दा प्राइवेट स्कूल था, जहाँ एडलाई, स्टीवेंसन और चेस्टरबोल्स जैसे विद्यार्थी रह चुके थे।

जब केनेडी कोयेट की ऊँची कक्षा में थे तो उन्होंने अपने पिता को लिखा कि "उन्होंने यह निश्चित रूप से निर्णय कर लिया है कि वे समय का अपव्यय नहीं करेंगे। अगर मैं इंग्लैंड जाना चाहता हूँ तो मेरे लिए इस वर्ष के काम को भली भाँति सम्पन्न करना बहुत ही आवश्यक है। जब मैं यह सोचता हूँ कि मैं अब तक कितना ठोस काम करता रहा हूँ तो मैं सच्चे अर्थों में यही महसूस करता हूँ कि मैंने अब तक अपने आपको धोखा ही दिया है।"

पिता ने उत्तर में लिखा—"लोगों के आँकने के एक लम्बे तजुर्बे के आधार पर मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि तुम में गुण हैं और तुम एक बड़ी सीमा तक तरक्की कर सकते हो...इन सब के होते हुए भी मैं अपने में एक कमी महसूस करूँगा, यदि मैं एक मित्र की हैसियत से भी तुम्हें, तुम में मौजूद गुणों से लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित न करूँ। मैं आवश्यकता से अधिक की आशा नहीं करता। यदि तुम अपूर्व बुद्धि के व्यक्ति न भी निकले तो भी मैं निराश न हूँगा, लेकिन मैं इतना जरूर सोचता हूँ कि तुम वास्तव में एक सुयोग्य नागरिक बन सकते हो। जिसमें सूझ बूझ और निर्णय लेने की अच्छी योग्यता होती है।"

उनके पिता खाना खाते समय उन्हें राजनैतिक विचार-विनिमयों को प्रोत्साहित करते थे। वे अपने विचारों को दृढ़ता के साथ पेश करते थे। लेकिन उन्हें कभी भी दूसरे पर लादने की चेष्टा नहीं की।

१८ वर्ष की अवस्था में जॉन केनेडी ने कोयेट से स्नातकी-परीक्षा पास की और उसके बाद वे हावर्ड युनिवर्सिटी में स्नातकोत्तर पढ़ाई में भर्ती हुए।

सन् १९३७ के अन्त में राष्ट्रपति 'रूजवेल्ट' ने जॉन केनेडी के पिता 'जोसेफ केनेडी' को इंग्लैंड में अमेरिका का राजदूत बना कर भेजा।

उसके कुछ ही समय पश्चात् सन् १९३८ में योरोप में युद्ध के बादल घिर आये और सितम्बर सन् १९३८ में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री नेविल चेम्बरलेन ने हिटलर से दबकर

'म्युनिक' के समझौते में जेकोस्लाविया पर एडोल्फ हिटलर के अधिकार को स्वीकार कर लिया। यूरोप युद्ध की ज्वालाओं में क्रमशः घिरने लगा। उस अशान्त वातावरण में नौजवान जॉन केनेडी का मन पढ़ाई में न लगा और वे सारी परिस्थिति का अपनी आँखों से देखकर अध्ययन करने के लिए यूरोप की यात्रा पर निकल पड़े। पेरिस, पोलैंड, रीगा, रूस, टर्की, पेलिस्टाइन, बाल्कन प्रदेश और बर्लिन की यात्रा करके वे वापिस पेरिस आ गये।

इन सब स्थानों की रिपोर्ट वह अपने पिता जोसेफ केनेडी के पास लन्दन में भेजते रहे। उनकी लिखी इन रिपोर्टों की साहित्यिक विशेषता बहुत ऊँची नहीं थी, मगर उनमें मानसिक सन्तुलन, निष्पक्षता और निर्लिप्तता का आभास स्पष्टरूप से मालूम होता था।

यूरोप की यात्रा से वापस अमेरिका आकर उन्होंने हावर्ड युनिवर्सिटी में ऊँची डिग्री के लिए अपना 'थीसिस' प्रस्तुत किया। इस थीसिस का विषय था 'एपीजमेंट ऐट म्युनिक' अर्थात् नाजी आक्रमण को बचाने के लिए म्युनिक-सम्मेलन में नैतिक आदर्शों का बलिदान। अपनी यात्राओं के दौरान में उन्होंने 'चेम्बरलेन' की कठोर आलोचनाएँ सुनी थीं। अमेरिका में भी प्रधान मंत्री को असम्मान की दृष्टि से देखा जारहा था। इस सबसे केनेडी के मन में बार-बार यही विचार उठता था कि किन्हीं अत्यधिक गहरी और अव्यक्त शक्तियों ने श्रीचेम्बरलेन को बलि का बकरा बना कर उनकी आड़ तो नहीं ले रखी है।

जिस समय केनेडी ने सन् १९४० में प्रोफेसर 'हापर' को अपनी थीसिस सौंपी, लगभग उसी समय से यूरोप की घटनाओं ने उनकी थीसिस में बताई गयी, लोकतंत्र की कमजोरियों को नाटकीय ढंग से प्रमाणित करना शुरू कर दिया। जर्मनी ने बेल्जियम और डचों की प्रतिरक्षा को ध्वस्त करके फ्रांसोसी पैदल-सेना को चीरते हुए ब्रिटिश फौज को 'डंकर्क' में रोक दिया था। फ्रांस हार चुका था। ब्रिटेन जिसका नेतृत्व मि० चर्चिल कर रहे थे—भयानक रूप से खतरे में था। अमरीका के सामने एक यही सवाल था कि क्या वह समय रहते जाग सकेगा?

केनेडी के थीसिस का हावर्ड में बहुत अच्छा स्वागत हुआ। उस थीसिस पर उन्हें 'मेग्नाकम-लाडे' पुरस्कार प्राप्त हुआ। अपने थीसिस के इतने अच्छे स्वागत को देखकर उन्होंने उसे पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया।

पुस्तक का नाम रखा गया 'ह्वाई इंग्लैंड स्लेप्ट' अर्थात् इंग्लैंड सो क्यों गया! इस पुस्तक को अद्भुत सफलता मिली। वह ब्रिटेन पर नाजियों की बम-वर्षा के कुछ दिन पूर्व प्रकाशित हुई थी और उसकी ४० हजार प्रतियाँ अमेरिका में और लगभग इतनी ही प्रतियाँ इंग्लैंड में बिकीं। समीक्षकों को इस पर हैरानी थी कि यह २३ वर्ष का युवक इतनी सामग्री का निरूपण कितनी धीरता और गंभीरता के साथ करता है। 'ह्वाई इंग्लैंड स्लेप्ट' अमेरिका में बिकने वाली सर्वाधिक पुस्तकों की कोटि तक पहुँच गयी।

युद्ध में प्रवेश

जॉन एफ० केनेडी ने अब विश्वव्यापी युद्ध में सक्रिय भाग लेने का विचार किया। मगर उनकी पीठ की बीमारी के कारण वे मेडिकल जांच में असफल हो गये। तब उन्होंने पांच महीने तक लगातार इलाज और व्यायाम करके अपने को दुरुस्त किया और सितम्बर १९४२ में वे अमेरिका की नौ-सेना में भरती हो गये।

सन् १९४३ के प्रारम्भ में वे प्रशान्त महासागर के लिए सान-फ्रान्सिस्को से रवाना हुए। उस समय तक पर्लहार्बर की भयङ्कर घटना घट चुकी थी और मित्र-राष्ट्रों की सेना ने जापानियों को पीछे खदेड़ना शुरू कर दिया था।

दो अगस्त १९४३ को आधी रात के बाद जब ले० केनेडी की कमान में गश्त करने वाली 'टारपीडो' नौका पी० टी० १०९ सालोमन द्वीपसमूह के निकट गश्त कर रही थी तभी एक जापानी विध्वंसक "आमा गिरि" उस जलक्षेत्र में घुस आया। और उसने कोई तीस नाट (समुद्री मील) की दूरी से पी० टी० बोट को 'तारपीडो' के द्वारा बीच से काट दिया। पी० टी० बोट के दो टुकड़े हो

गये और उसके पानी में तैरते हुए दोनों हिस्सों से आग की लपटें उठने लगीं।

इस पी० टी बोट पर लेफ्टि० जॉन एफ० केनेडी, और उनके बारह अफसर और कर्मचारी असहाय होकर उस विध्वंसक के द्वारा अपनी नौका की दुर्दशा देखते रहे। दो व्यक्ति तो उसी समय मर गये और शेष पानी में तैरते हुए उन आग की लपटों से बचने की कोशिश करने लगे, केनेडी धक्का खाकर अपनी पीठ के बल काक पिट में जा गिरे। लेकिन उनकी पी० टी० नौका का आधा हिस्सा अभी भी समुद्र की सतह पर उतरा रहा था। केनेडी और उनके चार साथी उसे पकड़ कर लटक गये। उन्होंने आवाज लगा कर जीवित बचने वाले लोगों को पुकारा। पता लगा कि मैक्महान नामक व्यक्ति बुरी तरह जल गया है और हैरिस के पैर में भयङ्कर चोट आई है।

केनेडी तैर कर उनके पास पहुँचे और उन्हें सम्हालते तथा रास्ता दिखाते नौका के पास ले आये। सुबह तक वे उस नौका के आधार से जीवित बचे रहे, मगर सुबह होने पर नौका का वह हिस्सा भी डूबने लगा। तथा काफी इन्तिजार करने पर भी कोई दूसरी पी० टी० नौका नजर नहीं आई। तब ये लोग अपने घायल साथियों को सहारा देते हुए पांच घण्टे तक लगातार तैर कर एक छोटे से द्वीप में पहुँचे। लगभग पन्द्रह घण्टे तक उन्हें समुद्र में रहना पड़ा।

इसके बाद केनेडी ने निर्णय किया कि वे अकेले ही तैरकर पास के एक दूसरे द्वीप तक जांय और फर्ग्यूसन मार्ग से गुजरने वाले नियमित जलपथ पर कोई नौका नजर आवे तो उसे बुलावें। वे जहाज की लालटेन लेकर तैरते हुए समुद्र तट की एक द्वीपनुमा चट्टान पर पहुँचे। मगर काफी इन्तजार करने पर भी जब कोई नौका दिखलाई न दी तब वे वापस लौटे। लेकिन अब लहरों का वेग बढ़ गया था। वे भी थके हुए थे, जिससे वे तैर न सके और लहरों में बहने लगे। बीच-बीच में वे बेहोश भी हो जाते थे, लेकिन धारा उन्हें फिर धीरे-धीरे बहाकर फर्ग्यूसन-मार्ग पर ले आई। तब आखिरी प्रयत्न करके वे अपने साथियों के पास पहुँचे और वहाँ पहुँचते ही बेहोश हो गये।

उधर नौ-सेना के प्रधान केन्द्र पर इन लोगों के जीवित बचने की आशा छोड़ दी गयी थी और उनकी यादगार में ईश्वर-प्रार्थना भी हो चुकी थी।

दूसरे दिन होश में आने पर केनेडी ने जोर दिया कि तैर कर फर्ग्यूसन-मार्ग के एक द्वीप में चला जाय और वे अपने साथियों के साथ तीन घंटे तक लगातार तैर कर उस द्वीप पर पहुँचे। वहाँ उन्हें नारियल के पेड़ दिखाई दिये। भूखे-प्यासे लोगों ने नारियलों को तोड़ कर उनका पानी पीया।

यह चौथा दिन था। जीवन से निराश केनेडी अपने एक साथी के साथ तैर कर नारू-द्वीप पर जा पहुँचे। वहाँ पर उन्हें कुछ जापानी खाद्य-सामग्री मिली और कुछ द्वीप-वासी भी दिखाई दिये। केनेडी ने नारियल के एक खोल पर एक सन्देश अंकित किया—"११ व्यक्ति जीवित, आदिवासियों के नारू-द्वीप में स्थित और समुद्री चट्टान ज्ञात" इस सन्देश को अमेरिकन क्षेत्र में पहुँचाने के लिए कैनेडी ने द्वीपवासियों को दिया। केनेडी के नारियल को लेकर द्वीपवासी नौका पर चल पड़े। केनेडी दिन भर नारू-द्वीप में इन्तजार करते हुए पड़े रहे। फिर उन्होंने तथा उनके साथियों ने निश्चय किया कि फर्ग्यूसन-मार्ग में जायें और नौकाओं की खोज करें। हवा बहुत तेज थी। समुद्र ज्वार पर था। अस्थिर लहरों ने उनकी नाव को उलट दिया। दोनों व्यक्ति उस ज्वार का दो घंटे तक मुकाबला करते रहे। किसी तरह ज्वार को पार कर द्वीप की ओर बढ़े। सामने उमड़ती हुई लहरें थीं। लहरों के एक थपेड़े ने केनेडी को नाव से बाहर उछाल फेंका। वे उसमें डूबने-उतराने लगे, लेकिन भाग्यवश किसी मूँगे की चट्टान से न टकराकर एक छोटे से भँवर में जा पड़े। उनके साथी की बाहें और कन्धे बुरी तरह से कट गये थे। दोनों किसी तरह नारू के समुद्र तट पर पहुँचे और वहाँ बेहोश होकर गिर गये।

कुछ समय के बाद जब उन्हें कुछ होश आया तो उन्होंने देखा कि दो आदिवासी एक पत्र लेकर उनके पास खड़े हैं। तब उनके दुर्भाग्य का अन्त हुआ और वे एक नौका के द्वारा अपने केन्द्र में पहुँच गये। केनेडी के द्वारा किये गये जीवन और मृत्यु के संघर्ष

की साहस पूर्ण कहानी समूचे केन्द्र में फैल गयी। नौ-सेना ने केनेडी को "पर्पिल हार्ट" और "नेवी ऐंड मेरिन कोर्प्स" के पदक देकर उनका अधिकाधिक सम्मान किया।

मगर इसके बाद लेफ्टिनैंट केनेडी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। जिसके कारण उनको सैनिक-सेवा से निवृत्त होना पड़ा और इलाज के लिए उन्हें अमेरिका के एक अस्पताल में दाखिल होना पड़ा।

जब वे अस्पताल में थे तभी उनके बड़े भाई जोसेफ जूनियर इंग्लिश चैनल के ऊपर उड़ते हुए दुर्घटना के शिकार हो गये। अपने भाई की इस मृत्यु का जॉन केनेडी पर अत्यन्त दुःखदायी प्रभाव हुआ, और इस घटना ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने अनुभव किया कि उनके बड़े भाई जोजेफ ने अपने लिए राजनैतिक जीवन का जो आयोजन किया था, उसे आगे बढ़ाना अब मेरा कर्तव्य है।

इस कर्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर उनके जीवन ने सन् १९४६ में राजनीति की ओर नया मोड़ लिया। उस समय केनेडी की आयु सिर्फ २८ साल की थी।

उसी समय कांग्रेस के ११वें जिले मैसाचूसेट्स से अमेरिकी प्रतिनिधि सभा में एक रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए एक विशेष प्राथमिक चुनाव होने वाला था। इस चुनाव में केनेडी ने खड़े होने का निश्चय किया। दृढ़ इच्छाशक्ति को साथ लेकर, मतदाताओं के घर-घर में जा कर, सड़कों पर मिलकर, राजनैतिक सभाओं में भाषण देकर उन्होंने अपने पक्ष का प्रचार किया। इस कार्य में उनकी माता ने, उनकी बहनों ने और उनके परिवार के अन्य लोगों ने केनेडी को सुदृढ़ समर्थन प्रदान किया। जिससे इस चुनाव में केनेडी की भारी विजय हुई और उसी वर्ष आगे चलकर वे कांग्रेस के सदस्य चुन लिए गये गये।

प्रतिनिधि-सभा के तीन बार सदस्य चुने जाने के पश्चात् केनेडी ने सन् १९५२ में अमेरिकन सीनेट के चुनाव लड़ने का निश्चय किया। इस बार उनका मुका-बला हेनरीकेबटलॉज के साथ था। चुनाव-सम्बन्धी आन्दोलन-कर्त्ता के रूप में मि० लॉज का रिकार्ड बहुत जोरदार था। वे जबर्दस्त आन्दोलन कर्त्ता थे और वर्षों से 'मैसाचूसेटस' के राष्ट्रमण्डल भर में जनता से मिलते-मिलाते रहे थे। यदि बोस्टन में केनेडी का नाम घर-घर पहुँचा था तो लॉज का नाम समूचे राज्य भर में एक सक्षम राजनैतिक 'ट्रेड-मार्क' की भाँति लोकप्रिय था। जैसे जैसे चुनाव का दिन नजदीक आता गया—केनेडी परिवार की सक्रियता चरमोत्कर्ष तक पहुँचती गयी। उनकी चारों बहनें घर-घर में घूमीं, उनकी माँ ने बोस्टन के वार्डों का दौरा किया और केनेडी ने शहरों की गलियों में लोगों से हाथ मिलाया। फलस्वरूप केनेडी ने लॉज को ७० हजार से अधिक मतों से पराजित किया।

केनेडी ने सीनेट और उसकी अन्दरूनी जिन्दगी में बड़े सहज भाव से प्रवेश किया। सीनेट में प्रवेश करने का अर्थ था, ऐसे व्यक्तियों के साथ सम्पर्क और ऐसे अधिक व्यापक तथा सुसंस्कृत संसार में प्रवेश, जिसका सीधा रास्ता सीनेट में होकर था। यह संसार था मंत्रिमण्डल के सदस्यों और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का, विदेशी राजदूतों और विदेश-विभाग के उच्चधिकारियों का, व्यव-साय और श्रम के क्षेत्र में माने हुए व्यक्तियों का और एलसप बन्धु, मार्किस चाइल्डस तथा जेम्स रेस्टन जैसे विख्यात पत्रकारों का। केनेडी का ऐसे व्यक्तियों से पहले अपने पिता के माध्यम से परिचय था। अब वे स्वयं इस स्थिति में थे कि उनके साथ हिल-मिल सकें।

१८ मई सन् १९५३ के दिन केनेडी का सीनेट भवन में पहला भाषण हुआ। इस भाषण में उन्होंने न्यू-इंग्लैंड की आर्थिक समस्याओं और उन समस्याओं के हल पर करीब २ घंटे तक भाषण किया। इस भाषण का प्रभाव बहुत ही अच्छा हुआ।

लेकिन अभी तक इतना काम करने वाला और इतने खतरों को उठाने वाला यह नौजवान ३६ वर्ष की आयु हो जाने पर भी कुँवारा था। सेटरडे इवनिंग पोस्ट में प्रकाशित एक लेख के अनुसार—"नौजवान केनेडी लखपती सीनेटर के रूप में शायद समस्त अमेरिका में सर्वाधिक विवाह योग्य कुँवारे थे और उनके कुँवारे होने का कोई तर्क संगत कारण नहीं था।"

लेकिन इसी अखबार ने यह भी लिखा कि—"यह

हँसमुख नौजवान कुँवारा अपनी भावी पत्नी के साथ 'कोर्टशिप' में व्यस्त है।"

सन् १६५१ में कांग्रेस-सदस्यता के काल में ही वे एक डिनर पार्टी में सुन्दरी 'जैकी लाइन-ली-बोवियर' से मिले थे, जो उस समय २१ वर्ष की थी।

अन्त में १२ सितम्बर सन् १६५३ को केनेडी और जैकेलाइन विवाह-बन्धन में बँध गये।

सन् १६५४ में केनेडी की पीठ का दो बार आपरेशन हुआ तब जाकर पीठ के दर्द से उनको कुछ राहत मिली।

इसी समय उन्होंने 'प्रोफाइल्स इन करेज' नामक राजनैतिक साहस के ऊपर एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसमें उन्होंने अमेरिका के ८ ऐसे सीनेटरों के जीवन-वृत्तान्त का विश्लेषण किया, जिन्होंने उन सिद्धान्तों पर अडिग बने रहने के लिए, जिनमें उनकी अटूट आस्था थी—लोकमत के विरोध की परवाह न की। यह पुस्तक प्रकाशित होते ही हाथों हाथ बिक गयी। आलोचकों ने मुक्त कण्ठ से इसकी सराहना की। स्पेनी, तुर्की, जापानी, अरबी, इंडोनेशियाई, विएटनामी, तेलगू आदि कई भाषाओं में इस पुस्तक के अनुवाद हुए और उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ जीवन कथा के रूप में उनको 'पुलिट्जर' पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।

सन् १६५६ के वर्ष में केनेडी का अभ्युदय एक राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ के रूप में हुआ। इस अभ्युदय के कुछ ही पहले एक घटना हुई। यह घटना कुछ पुरातन-पन्थी डिमाक्रेटिक और रिपब्लिकन सीनेटरों के इस प्रयास से सम्बद्ध थी कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति में परिवर्तन किया जाय। मगर केनेडी के प्रयत्न और उनके प्रभाव से उनको इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। और इस संघर्ष में केनेडी ने अपने जिस कौशल और बुद्धिमानी का परिचय दिया, उसकी समाचार-पत्रों तथा दूसरे सीनेटरों ने बड़ी प्रशंसा की।

इसी वर्ष केनेडी अमेरिका के उपराष्ट्रपति पद के लिए डिमाक्रेटिक दल की उम्मेदवारी में खड़े हुए, लेकिन इस चुनाव में सफल नहीं हुए। उनके जीवन में सबसे पहली यही पराजय थी।

सीनेट की सदस्यता के समय में सन् १६५८ में 'म्युचुअल सिक्योरिटी एक्ट' पर होनेवाली बहस के दौरान में उन्होंने स्वयं अमेरिका के विदेश-मंत्री जॉन फास्टर डलेस को आड़े हाथों लिया। अल्जीरिया के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा कि—"यदि फ्रांस अल्जीरिया के स्वतंत्र व्यक्तित्व को मान्यता न दे तो अमेरिका को चाहिए कि अल्जीरिया को सीधे आजादी दिलाने का समर्थन करे!

केनेडी के इस भाषण से एक छोटा सा राजनैतिक तूफान पैदा हो गया। न्यूयार्क टाइम्स ने अपने मुख पृष्ठ पर इस भाषण का हवाला देते हुए लिखा—"केनेडी का यह भाषण अल्जीरिया के प्रति पश्चिमी देशों की नीति पर लगाया गया, बहुत विस्तृत और सार्वजनिक आरोप है, जिसे एक अमेरिकन सार्वजनिक पदाधिकारी ने ही लगाया है।"

आइजन होवर ने अपनी प्रेस कान्फ्रेंस में कहा कि—"अमेरिका को दोनो पक्षों के औचित्य को देखना चाहिए और यदि वह ऐसी बातों को लेकर चिल्लाने लगेगा तो शान्ति-संस्थापक के रूप में उसकी भूमिका खतरे में पड़ जायगी।" डलेस ने उत्तेजना के स्वर में कहा कि—"यदि सीनेटर उपनिवेशवाद को खतम करना चाहते हैं तो उन्हें कम्यूनिस्टों के द्वारा प्रस्तुत उपनिवेश-वाद के विभिन्न रूपों का विरोध करना चाहिए।"

सन् १६५८ तक केनेडी सारे राष्ट्र में विख्यात हो चले थे। उनके कार्यालय में भाषण देने के लिए प्रति सप्ताह सौ से अधिक निमंत्रणों का तांता लगा रहता था। उनमें जितनों को वे समय दे सकते थे, दे देते थे। सन् १६५७ में उन्होंने देश भर में कम-से-कम डेढ़ सौ भाषण दिये और सन् १६५८ में उनके दो सौ भाषण हुए।

सन् १६६० ई० में राष्ट्रपति पद के लिए जॉन फिटजरलैंड-केनेडी डिमोक्रेटिक दल की ओर से उम्मीद-वार चुन लिए गये। उसके बाद ही केनेडी ने अपने चुनाव का व्यापक प्रचार किया और उसमें मुख्यतः देश के आन्तरिक और बाह्य मामलों में गतिशील और अग्रोन्मुखी नीतियों की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि—"राष्ट्र के शक्ति-सञ्चय और सुदृढ़ीकरण

का युग समाप्त हो चुका है और एक बार फिर हमारे सामने परिवर्तन और चुनौती का युग उपस्थित हो गया है। हमें अपने जीवन और समय के प्रत्येक दिन और क्षेत्र में अपने युग की वास्तविक समस्या, अस्तित्व बनाए रखने की समस्या का सामना करना पड़ेगा।"

जॉन केनेडी बहुत बड़े जनमत के साथ राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। २० जनवरी सन् १९६१ को शपथ ग्रहण के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति केनेडी ने अपने देशवासियों और संसार भर के लोगों से अनुरोध किया कि-'वे मानव समाज के सामान्य शत्रुओं; अत्याचार, दरिद्रता, रोग और युद्ध के विरुद्ध संघर्ष में सहयोग प्रदान करेंगे।" उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक नई पीढ़ी, एक नई प्रशासन-शक्ति और त्याग को प्रयुक्त करने की प्रतिज्ञा की।

राष्ट्रपति की हैसियत से अपने शासन काल के सौ दिनो के भीतर ही उन्होंने कांग्रेस के समक्ष शिक्षा के हेतु संघीय सहायता के लिए कार्यक्रम और अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देने के अनेक प्रस्ताव रखे।

देश के आन्तरिक पक्ष में उन्होने करों में कटौती, विस्तृत आवास-व्यवस्था के लिए कार्यक्रम, वृद्धजनों के लिए चिकित्सा व्यवस्था इत्यादि कार्यों पर बल दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में केनेडी ने बर्लिन में तनाव कम करने के लिए अपने देश के प्रयास को जारी रखा। स्वतंत्र और तटस्थ लाओस के निर्माण पर बल दिया। प्रभावकारी आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के लिए विश्व को आह्वान किया। सर्वव्यापक निःशस्त्रीकरण सन्धि के लिए प्रयत्न किया और एशिया, लेटिन अमेरिका, अफ्रिका तथा पश्चिम एशिया के विकासोन्मुख राष्ट्रों की सहायता की घोषणा की।

अक्टूबर सन् १९६२ में अमेरिकी राष्ट्र-संगठन के सर्वसम्मतिपूर्ण समर्थन से तथा 'मुनरो-सिद्धान्त' की धारणा के अनुसार उन्होंने क्यूबा में सोवियट आक्रामक शस्त्रास्त्रों के चोरी-चोरी हो रहे निर्माण को रोकने तथा उन्हें वहाँ से हटाये जाने की तत्काल कारवाई की। रूस की धमकियों की परवाह न करते हुए इस सम्बन्ध में उन्होंने दृढ़ रुख अपनाया जिसके फलस्वरूप आक्रामक शस्त्रास्त्रों के प्रश्न पर सोवियट संघ के साथ होने वाले युद्ध का खतरा टल गया।

अपने शासन के दौरान में राष्ट्रपति केनेडी ने ने विश्वशान्ति का निर्माण करने के लिए वाशिंगटन तथा अन्य राजधानियो में स्वतंत्र संसार के अनेक राजनेताओं से भेंट मुलाक़ात करके उनसे विश्वशान्ति के सम्बन्ध में विचार विनिमय किया। उन्होंने कनाडा, इंग्लैंड, आस्ट्रिया, फ्रांस आदि देशों की राजकीय यात्राएँ की। सन् १९६१ में उन्होंने वियेना में सोवियट प्रधान मंत्री ख़ुश्चेव से भी भेंट की।

राष्ट्रपति की हैसियत से केनेडी अपने प्रशासन के सभी निर्णयों के लिये पूर्णरूप से उत्तरदायी रहे। उनके दृष्टिकोण में उस समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका मत था कि—"प्रत्येक व्यक्ति को उस मार्ग का स्वयं ही निर्णय करना होता है, जिसका अनुगमन उसे करना है। भूतकाल की कहानियाँ उस आवश्यक तत्व की व्याख्या कर सकती हैं, किन्तु वे स्वयं साहस प्रदान नहीं कर पातीं। इसके लिए तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपनी आत्मा के भीतर खोज करनी पड़ती है।"

ऐसे महान् व्यक्ति की, जब वे डलास में अपना भाषण करने के लिए जाने वाले थे, रास्ते में शुक्रवार २२ नवम्बर सन् १९६३ के दिन किसी हत्यारे ने गोली मारकर हत्या कर डाली जिससे संसार के इस तेजस्वी महान् पुरुष का अन्त हो गया।

केन्यूट

प्राचीन युग में इंग्लैंड का डेन-राजा जिसका शासन-काल सन् १०१६ ई० से सन् १०३५ ई० तक रहा।

इंग्लैंड का राजा ईथिलरेड बड़ा निर्बल और डरपोक राजा था इससे वह इतिहास में ईथिलरेड-अनरेडी (Ethelred-Unready) के नाम से प्रसिद्ध था। इसने ३७ वर्ष तक राज्य किया। इसके समय में इसकी कमजोरी का लाभ उठा कर डेन-जाति के लोगों ने इंग्लैंड पर बार-बार आक्रमण करना शुरू किया। डेन लोगों के

सेनापति स्वेंड (Swend) और उसके पुत्र केन्यूट (Canute) ने बहुत सा देश अपने अधिकार में कर लिया।

ईथिलरेड के मरजाने पर उसका पुत्र एडमंड गद्दी पर बैठा। इसने लड़ाई करके डेन लोगों से बहुत-सा भाग जीत लिया, परन्तु यह उसी वर्ष मर गया और १०१६ ईसवी में 'केन्यूट' सारे इंग्लैंड का राजा हुआ।

केन्यूट इंग्लैंड के अतिरिक्त नार्वे और डेनमार्क का भी राजा था। यह राजा बड़ा न्यायी और समदर्शी था। अंग्रेजों और डेनों को यह एक दृष्टि से देखता था और एक को दूसरे पर अत्याचार करने से रोकता था।

एक बार उसने कहा था कि—"मैंने ईश्वर की साक्षी में व्रत लिया है कि मैं धर्म और न्याय पूर्वक राज्य करूँगा। यदि युवावस्था की क्रूरता या असावधानी के कारण मुझसे कोई अन्याय हुआ हो तो मैं उसे बदलने को तैयार हूँ।'

केन्यूट की मृत्यु सन् १०३५ ई० में हो गयी।

केप ऑफ गुडहोप

दक्षिण अफ्रीका का एक प्रान्त जिसकी खोज 'बार्थो-लोम्यो' नामक एक पुर्तगाली ने सन् १४८८ में की थी।

इस क्षेत्र में डच जाति के 'बोअर' लोग करीब २०० वर्षों से बसे हुए थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में अंगरेजों का जब 'नेपोलयन' से युद्ध हुआ, उस समय यह डच-उपनिवेश अंग्रेजों के हाथ में आ गया और इसका नाम 'केप कालोनी' पड़ गया। परन्तु पुराने बोअर लोगों को अंग्रेजों का संसर्ग बहुत बुरा लगा और उनके बीच में रोज झगड़े होने लगे। बहुत से बोअर लोगों ने केप कालोनी छोड़ कर 'ट्रांसवाल' और 'औरेंज रिवर फ्री स्टेट' नामक दो नये उपनिवेश और बसा लिये। फिर भी यह झगड़ा शान्त न हुआ। जब बोअरों की इस भूमि में हीरे और स्वर्ण की खानें मिलीं और ब्रिटिश लोग उन्हें खोदने के लिए जाने लगे तो झगड़ा और भी बढ़ गया। जिसके फलस्वरूप सन् १८६६ ई० में इतिहास-प्रसिद्ध 'बोअर-युद्ध' शुरू हुआ। इस युद्ध में बोअर लोग बड़ी वीरता से लड़े और उन्होंने कई बार अंग्रेजों को करारी शिकस्त दी, पर अन्त में बहुत सी सेना इधर-उधर से अंग्रेजों की मदद में पहुँचाई गयीं। तब अंग्रेजों ने बोअर लोगों को युद्ध में परास्त कर दिया।

इस प्रान्त की राजधानी केप-टाउन नामक विशाल नगर है, जो बन्दरगाह भी है। इस नगर की स्थापना 'रायबीक' नामक डच ने सन् १६५२ ई० में की थी। इस नगर की जन संख्या ६ लाख के करीब है जिसमें गोरे लोगों की संख्या ३ लाख के करीब है।

सन् १९१८ में यहाँ पर केप-टाउन नामक युनिवर्सिटी की स्थापना की गयी।

केप-कालोनी का क्षेत्रफल २,७७,११३ वर्गमील है। तथा यहाँ की जन-संख्या ४७ लाख के करीब है। इस प्रान्त में हीरा, सोना, टीन, लोहा इत्यादि खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में पैदा होते हैं। पोर्ट एलीजाबेथ तथा केप-टाउन यहाँ के प्रमुख बन्दरगाह हैं। जहाँ से यहाँ पैदा होने वाले खनिज पदार्थ तथा अन्य वस्तुओं का निर्यात किया जाता है।

केपिटल

कार्लमार्क्स के द्वारा लिखा हुआ एक सुप्रसिद्ध महान् ग्रन्थ, जो समाज में पूँजी और श्रम के बीच में रही हुई विषमताओं का एक नवीन और मौलिक ढंग से विचार करता है। इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड सन् १८६७ में प्रकाशित हुआ था।

इस ग्रन्थ की समीक्षा-लिखते हुए मार्क्स के सहयोगी एँगेल्स लिखते हैं कि—

"जब से पृथ्वी पर पूँजीपतियों और मजदूरों का आविर्भाव हुआ है, तब से अब तक मजदूरों के लिए इतना महत्व रखनेवाली कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी, जिस पर हम आज विचार कर रहे हैं। हमारी वर्त-मान समाज-व्यवस्था पूरी की पूरी जिस धुरी पर घूमती है, वह धुरी पूँजी और श्रम के बीच पाया जाने वाला सम्बन्ध है। इस पुस्तक में पहली बार इस सम्बन्ध पर वैज्ञानिक ढंग से ऐसी पूर्णता तथा कुशाग्रता के साथ विचार किया

गया है, जो केवल एक जर्मन में ही मिल सकती थी। ओवेन, सेंट साइमन और फूरिए जैसे लेखकों की रचनाएँ बड़ी मूल्यवान हैं और सदा मूल्यवान रहेंगी, परन्तु उस ऊँचाई तक पहली बार पहुँचना केवल एक जर्मन के ही भाग्य में लिखा था, जिस पर पहुँचकर आधुनिक सम्बन्धों के सम्पूर्ण विस्तार को उसी प्रकार साफ-साफ और अच्छी तरह देखा जा सकता है जिस प्रकार पर्वत की सब से ऊँची चोटी पर चढ़कर नीचे के तमाम पर्वतीय दृश्यों को देखा जा सकता है।"

मार्क्स का 'केपिटल' नामक ग्रन्थ ३ खण्डों में विभक्त है। पहला खण्ड उनके जीवन-काल में प्रकाशित हो गया था और दूसरा तथा तीसरा खण्ड उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके मित्र ऐंगल्स ने प्रकाशित करवाया।

पहला खण्ड ६ अध्यायों में विभाजित था, लेकिन बाद में ५ वाँ अध्याय दो भागों में बाँट दिया गया, जिससे यह खण्ड ७ भागों में विभाजित हो गया। पूँजी का तीसरा खण्ड दिसम्बर सन् १८९४ में प्रकाशित हुआ और उसके प्रकाशित होते ही एक गरमागरम साहित्यिक बहस प्रारम्भ हो गयी। मार्क्स के असंख्य आलोचकों ने पूँजी के पहले और तीसरे खण्ड के बीच सैद्धान्तिक विरोध करने की कोशिश में धड़ाधड़ लिखना शुरू किया। मार्क्स के मित्र ऐंगल्स ने अपने लेखों में 'मर्क्सवाद' के इन आलोचकों की आलोचनाओं के खण्डन करने का प्रयत्न किया।

केपिटल के पहले खण्ड में मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' के सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है जो कि मार्क्स के आर्थिक [illegible]द्धान्तों का आधार-स्तम्भ है।

मार्क्स का कहना है कि हर वह मजदूर जिसे पूँजीपति ने नौकर रख छोड़ा है, दोहरे ढंग से श्रम करता है। अपने श्रम काल के एक भाग में वह उस मजदूरी के बराबर श्रम करता है, जो उसे पूँजीपति से मिलती है। श्रम के इस भाग को मार्क्स ने "आवश्यकश्रम" का नाम दिया है, लेकिन उसके बाद भी मजदूर को अपना श्रम जारी रखना पड़ता है, और इस काल में पूँजीपति के लिए वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है—जिसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा मुनाफा बन जाता है। श्रम का यह भाग 'अतिरिक्त श्रम' कहलाता है। यदि काम का दिन १२ घंटे का होता है तो वह ६ घंटे में अपना आवश्यकश्रम और शेष ६ घंटे अतिरिक्त मूल्य उत्पादन करने का अतिरिक्त श्रम करता है।

यह अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपतियों की पूँजी के संचय का मूल-स्रोत है और यही पूँजीपति प्रणाली का जन्मदाता है। पूँजीवादी प्रणाली अर्थात् वह प्रणाली जिसके अस्तित्व के लिए पूँजीपतियों और मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों का होना आवश्यक है, न केवल पूँजीपति की पूँजी का लगातार विस्तार करती जाती है, बल्कि साथ ही मजदूरों की गरीबी का भी पुनरुत्थान करती जाती है। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि एक ओर तो उन पूँजीपतियों की पूँजी में हमेशा वृद्धि होती जायगी, जो जीवन निर्वाह के सभी साधनों, कच्चे माल और श्रम के औजारों के स्वामी होते हैं। दूसरी ओर उन मजदूरों की विशाल संख्या भी सदा बनी रहेगी जिनको मजबूर होकर अपनी सारी श्रम-शक्ति इन पूँजीपतियों के हाथ जीवन-निर्वाह के साधारण साधनों के बदले में बेच देनी पड़ती है। यही पूँजीवादी संचय का निरपेक्ष और सामान्य नियम है।

इसके बाद इस ग्रन्थ में मार्क्स ने मुद्रा-परिचलन और विनिमय-क्रिया, मुद्रा का पूँजी में रूपान्तरण, निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन, सापेक्ष्य अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन, मशीनों के द्वारा श्रम-शक्ति को हस्तगत करना, प्रचलित अर्थशास्त्र की समीक्षा इत्यादि अनेकानेक विषयों पर एक नवीन और मौलिक दृष्टिकोण से विचार किया है।

केपिटल के प्रकाशन ने अभी तक के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों और चली आई आर्थिक परम्पराओं का वास्तविक रूप जनता के सामने खोल कर रख दिया। इस महान् ग्रन्थ ने समस्त विश्व के साहित्य में अपने क्षेत्र के अन्तर्गत अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और सारे संसार के विचारकों को एक नवीन दिशा में सोचने को बाध्य कर दिया। हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें प्रतिपादित सभी सिद्धान्त निरपेक्ष और निर्विवाद हैं।

फिर भी संसार में कम्युनिस्ट क्रान्ति का मूल-स्रोत इसी ग्रन्थ की विचारधारा से प्रारम्भ होता है और कम्युनिस्ट

लोग इस ग्रन्थ का वेद और बाइबिल की तरह ही सम्मान करते हैं।

केमिलस

रोम-साम्राज्य का एक सुप्रसिद्ध डिक्टेटर जिसको रोम-साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक भी माना जाता है। इसका समय ईसवी पूर्व सन् ४४७ से ई० पूर्व सन् ३६५ तक माना जाता है।

केमिलस एक बहुत साधारण घराने में पैदा हुआ था। सबसे पहले उसने 'इक्वीयन' और 'वाल्सीयन' लोगों के साथ युद्ध में 'पास्टूमियस टुबर्टिस' की अध्यक्षता में लड़ते हुए बड़ी नामवरी पैदा की और जाँघ में एक भारी घाव लग जाने पर भी वह लड़ाई से अलग नहीं हुआ, बल्कि भाले को जाँघ से बाहर निकाल कर शत्रुओं से भिड़ गया और उनको भगा कर ही दम लिया।

उसकी इस वीरता के लिए उसे और इनामों के साथ-साथ 'सेंसर' का पद मिला जो उस समय अत्यन्त गौरवास्पद और अधिकार-सम्पन्न माना जाता था। सेंसर के पद पर आकर उसने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। युद्धों के कारण देश में विधवा स्त्रियों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। उसने ऐसे लोगों को जिनके पास स्त्रियाँ नहीं थीं, समझा-बुझा कर या जुरमाने की धमकी देकर विधवाओं से ब्याह करने को राजी कर लिया और हजारों विधवाओं को फिर से गृहस्थ बना दिया।

केमिलस के सम्मुख इस समय सबसे जटिल समस्या नगर 'वी' के घेरे की थी। यह तस्कनी प्रान्त का सबसे बड़ा नगर था। इस पर रोमन-सेना ने घेरा डाल रखा था। मगर तस्कनी के लोगों ने नगर के चारों ओर सुदृढ़ दुर्ग बनाकर तथा पर्याप्त शस्त्र और भोजन सामग्री एकत्रित करके अपने आपको सुरक्षित कर लिया था। यह घेरा ७—८ वर्षों तक बराबर पड़ा रहा, मगर कोई नतीजा नहीं निकला। तब दसवें वर्ष में सीनेट ने केमिलस को उस घेरे का 'डिक्टेटर' बना दिया। आक्रमण के द्वारा नगर लेना कठिन और संकट पूर्ण समझकर उसने जमीन के नीचे सुरंग खुदवाना शुरू किया। एक तरफ तो उसने आक्रमण कर शत्रुओं का ध्यान दुर्ग की दीवारों पर केन्द्रित कर दिया और उधर सुरंग खोदने वाले दुर्ग के मध्य में 'जूनो' के मन्दिर तक पहुँच गये। उसके बाद नगर पर अधिकार कर लिया गया और लोगों ने आकर उसको बधाई दी। नगर की लूट के उपरान्त वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार "जूनो" देवी की प्रतिमा को रोम ले जाने की व्यवस्था करने लगा।

इतने बड़े नगर की विजय तथा आसपास के लोगों की खुशामद-खोरी से केमिलस को इतना घमंड हो गया कि वह अपने को प्रधान शासक से भी बढ़ कर समझने लगा। विजयमद से चूर होकर उसने चार सफेद घोड़ों के द्वारा खींचे जाने वाले रथ में बैठ कर सारे नगर का चक्कर लगाया।

इस तरह का कार्य उससे पहले या उसके बाद के किसी सेनापति ने नहीं किया था। रोमन लोगों का विश्वास था कि केवल राजा या धर्माचार्य ही ऐसे रथ पर सवारी कर सकता है। केमिलस के इस कार्य से जनता उससे बहुत अप्रसन्न हो गयी।

इसके साथ ही एक दूसरी घटना और हुई। रोम की जनता ने सीनेट को दो भागों में बाँट कर एक भाग को रोम में और दूसरे को नवविजित नगर "वी" में रखने का विचार किया। एक भाग में न्यायाधीश लोग थे और दूसरे में शासक लोग थे। मगर जब केमिलस से इस सम्बन्ध में राय पूछी गयी तो उसने कुछ बहाने ढूँढ़ कर इस विषय को टाल दिया। इससे भी लोगों का असन्तोष उसके प्रति बढ़ गया।

और भी कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं जिससे केमिलस जनता में अधिक अप्रिय हो गया। मगर इसी समय रोमन लोगों का 'फालिस्कन' लोगों के साथ फिर युद्ध छिड़ गया। इसलिये अप्रिय होने पर भी अनुभवी होने के कारण केमिलस को फिर इस सेना के सञ्चालन का भार दे दिया गया। केमिलस ने फालिस्कन लोगों के 'फेलेरियायी' नामक नगर पर घेरा डाल दिया।

इस घेरे के समय में फालिस्कन लोगों का एक अध्यापक नगर के साथ विश्वासघात करके कुछ विद्यार्थियों को नगर के बाहर निकाल लाया और उसने उन बालकों को

केमिलस को सुपुर्द कर किले के द्वार खोलने का आश्वासन दिया। शिक्षक के इस विश्वासघात को देख कर केमिलस आश्चर्य-चकित हो गया। उसने कहा—"इसमें कोई सन्देह नहीं कि युद्ध में अन्याय और हिंसात्मक कार्य होते हैं। फिर भी सत्पुरुष लोग कुछ नैतिक नियमों का पालन करते हैं। विजय कोई ऐसी चीज नहीं जिसके लिए हम लोग इस प्रकार के नीच और पापमय कर्मों का सहारा लेने में प्रवृत्त हों। अच्छे सेनानायक को औरों के दुर्गुणों का अवलम्बन न कर अपनी ही शक्ति का भरोसा रखना चाहिए।"

इसके पश्चात् उसने उस विश्वास घाती शिक्षक के कपड़े फाड़ कर उसके हाथ पीछे की तरफ, कस कर बाँध दिये और लड़कों के हाथ में कोड़े देकर इस देश-द्रोही को पीटते हुए नगर में वापस ले जाने की आज्ञा दी।

तब तक नागरिकों को शिक्षक के विश्वरसघात का पता लग चुका था। इस संकट के कारण सारे शहर में हाहाकार मच गया था। मगर इसी समय लड़कों ने बँधे हुए शिक्षक के नंगे वदन पर कोड़े मारते हुए और केमिलस को देवता और पिता कहते हुए नगर में प्रवेश किया।

केमिलस के उस न्याय ने वह कार्य करके दिखाया, जो उसकी सेना नहीं कर सकती थी। सारे नगर के लोग उसके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हो गये और वहुत सा द्रव्य देकर उन लोगों ने केमिलस के साथ सन्धि कर ली।

मगर इस सन्धि के कारण केमिलस के सैनिकों को लूट-मार का अवसर नहीं मिला जिससे वे उस पर बहुत नाराज हो गये और अन्त में 'लूसियस अपूलियस' नामक व्यक्ति ने केमिलस पर लूट की बहुत सी वस्तुओं को हड़प जाने का मुकद्दमा चला दिया। केमिलस इससे वहुत दुखी होकर रोम छोड़ कर विदेश को चला गया। वह न्यायालय में भी उपस्थित न हुआ।

इसी समय गाल-जाति के लोग (आधुनिक फ्रेंच जाति के पूर्वज) इटली की ओर तेजी से बढ़ते आ रहे थे। उधर सैनिक-ट्रिब्यून रोमन लोगों को समर-भूमि में लाकर युद्ध के लिये तैयार कर रहे थे। ये लोग संख्या में गाल लोगों से कम न थे। पर अधिकांश ऐसे गये रंगरूट थे, जिन्होंने शस्त्र का कभी प्रयोग नहीं किया था, और न इनकी सेना में कोई व्यवस्थित अनुशासन था और न कोई सर्वाधिकार सम्पन्न सेनापति था।

उधर गाल लोगों का राजा 'ब्रेन्नस' बड़ा मंजा हुआ खिलाड़ी था। ईसवी सन् से ३९० वर्ष पूर्व एलिया नदी के तीर पर रोमन और गाल लोगों में यह लड़ाई हुई। इस लड़ाई में रोमन सेना बड़ी बुरी तरह पराजित हुई। यह दिन ग्रीष्म ऋतु की पूर्णिमा का था। रोमनों की इस पराजय के उपलक्ष में इस दिन का नाम 'एलीअन्सिस' पड़ गया जो अभी तक प्रचलित है और रोमन लोग इस दिन को बहुत बुरा मानते हैं।

भागे हुए लोगों ने रोम नगर में जाकर इतना आतंक फैला दिया कि बहुत से नागरिक तो वहाँ से अपने-अपने सामान लेकर भाग गये और जिन नागरिकों ने रोम में रहने का निश्चय किया, उन लोगों ने वृहस्पति-देव के मन्दिर में घुसकर उस मन्दिर को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया।

युद्ध के तीसरे दिन ब्रेन्नस अपनी सेना के साथ रोम नगर में पहुँचा। वहाँ चारों ओर खुले दरवाजों और रक्षक हीन प्राचीरों को देख कर रोमन लोगों की कायरता पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने आसानी से रोम पर कब्जा करके, वृहस्पति के मन्दिर ऊपर घेरा डाल दिया और उसकी सेना रसद संग्रह करने के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बना कर आस-पास के गावों को लूटने लगी।

इसमें से एक टुकड़ी 'आर्डिया' नामक नगर की ओर गयी, जहाँ पर केमिलस रोम से निर्वासित होकर अपना निर्वासित जीवन बिता रहा था। शत्रुओं का आगमन सुन कर उसको जोश आया, और उसने आर्डिया के लोगों को लड़ाई के लिए उकसाकर संगठित कर लिया, और रात के समय चुपके से गाल-सेना के पड़ाव के पास पहुँच कर, उसने अचानक उन पर आक्रमण कर दिया और बहुत सों को तो वहीं मार डाला तथा बहुत सों को वहाँ से भगा दिया।

केमिलस के इस कार्य की प्रशंसा चारों ओर फैल गयी। आसपास के बहुत से लोग तथा एलिया-युद्ध से भागे हुए रोमन सिपाही उसके साथ हो गये और उन लोगों ने केमिलस को अपना सेनापति बनने का आग्रह

किया। केमिलस ने जवाब में कहा कि—"जब तक बृहस्पति-मन्दिर में घिरे हुए जवाबदार लोग मुझे सेनापति न बनाएँगे तब तक मैं सेनापति बनना स्वीकार न करूँगा।" तब कोमिनियस नामक एक साहसी व्यक्ति अनेक खतरों को उठाता हुआ, शत्रु-सैनिकों के बीच से निकलता हुआ खड़ी पहाड़ी चढ़ कर बृहस्पति-मन्दिर में पहुँचा और वहाँ से केमिलस को सेनापति बनाने का आदेश ले आया।

बृहस्पति-मन्दिर का आदेश पाते ही केमिलस अपनी सेना लेकर रोम के द्वारपर आ धमका। इस समय बृहस्पति-मन्दिर वाले अधिकारी, गाल-राज ब्रेनस से समझौता करके उनको हरजाने में दिया जाने वाला सोना तौल रहे थे।

उसी समय केमिलस ने वहाँ पहुँच कर तराजू के पलड़े से सोना निकाल कर अपने कर्मचारियों को बाँट दिया और गालों के राजा ब्रेनस से कहा कि—"रोमनों की यह रीति है कि वे सोने से नहीं, बल्कि लोहे से अपने देश को मुक्त करते हैं।"

ब्रेनस ने जब क्रोध में आकर समझौता तोड़ने का आरोप लगाया तो केमिलस ने कहा कि—"मेरी स्वीकृति के बिना किसीको समझौता करने का अधिकार नहीं है। अब मैं आ गया हूँ। तुमको जो कहना हो कहो! माफी चाहने वाले को मैं छोड़ भी सकता हूँ और अपराधी को पश्चात्ताप न करने पर दण्डित भी कर सकता हूँ।"

इस पर ब्रेनस ने क्रोध में आकर रोम से अपने सैनिकों को हटा लिया और वहाँ से चार कोस दूर जाकर अपना पड़ाव डाला। सवेरा होते ही केमिलस अपनी सेना को सुसज्जित कर वहाँ पहुँच गया और गालों को बुरी तरह से हराकर बहुतों को मार डाला और बहुतों को भगा दिया।

इस प्रकार १५ जुलाई से १३ फरवरी तक ७ मास शत्रुओं के हाथ में रहने के पश्चात् 'रोम' नगर फिर से रोमनों के कब्जे में आया और केमिलस को लोग देवता की तरह देखने लगे। लोगों को ऐसा अनुभव हुआ, मानो केमिलस के साथ रोम के देवतागण भी वहाँ आ गये हैं।

केमिलस ने देवताओं को बलिदान चढ़ाने के बाद वहाँ के मन्दिरों का उद्धार किया।

उस समय सारा नगर खण्डहरों का ढेर हो रहा था। जब उसके पुनर्निर्माण का प्रश्न सामने आया तो बहुत से लोगों को इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ और वे लोग रोम को छोड़कर "वी" नामक नगर में जाकर बसने के पक्षपाती हो गये।

मगर केमिलस दृढ़ता के साथ रोम-नगर का निर्माण करना चाहता था। इससे बहुत से लोग केमिलस के खिलाफ हो गये। मगर केमिलस ने दृढ़ता के साथ सीनेट में रोम नगर के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव रखा और इसी समय कुछ दैवी घटनाएँ भी ऐसी हुईं कि सीनेट ने केमिलस के प्रस्ताव को मान लेने में ही रोम का कल्याण समझा। लोगों ने उत्साह के साथ नगर का पुनर्निर्माण में प्रारंभ कर दिया। देखते-ही-देखते एक वर्ष में एक नया नगर बनकर खड़ा हो गया।

मगर इसी समय इक्वीयन, वालसीयन तथा लेटिन लोगों ने रोमन प्रदेश पर आक्रमण कर दिया और उनके सहायक नगर 'सूट्रियम' पर घेरा डाल दिया। इस युद्ध का सञ्चालन भी केमिलस के जिम्मे किया गया। इस युद्ध में भी केमिलस ने अपनी बुद्धिमानी से विजय पाकर इक्वीयन लोगों के नगर पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार केमिलस की वीरता और योग्यता को लोगों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया।

मगर 'मार्कस मेनलिअस' नामक व्यक्ति केमिलस से बहुत ईर्ष्या करता था। वह राष्ट्रमण्डल में सर्व प्रधान होकर रहना चाहता था। केमिलस के विरुद्ध प्रचार करके उसने जनता के एक भाग को अपनी ओर कर लिया था। वह न्यायालयों में जाकर केमिलस के विरुद्ध हल्ला मचाया करता था। इसलिए केमिलस को पुनः सैनिक-शासक चुना गया और न्यायालय में मेनलिअस के खिलाफ मुकद्दमा चलाया गया और न्यायालय ने उसे मृत्यु दण्ड दिया। रोमन लोगों ने उसके मकान को गिरा कर उसकी जगह पर "मोनोथ देवी" का मन्दिर बना दिया।

अब केमिलस वृद्ध हो चुका था और जब छठी बार उसके सैनिक-शासक चुने जाने का अवसर आया तब उसने बुढ़ापे के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की। मगर जनता ने यह कह कर कि "हमें आपके बल की नहीं, नेतृत्व की आवश्यकता है" उसके बहानों को न माना।

इसके बाद केमिलस को रोम-राज्य में होने वाले कुछ अन्तर्विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इन अन्तर्विद्रोहों के कारण उसने अपने पद से इस्तीफा भी दे दिया। मगर इतने ही में फिर खबर मिली कि गाल लोग रोम पर चढ़ कर आ रहे हैं और जिस प्रदेश से वे गुजरते हैं, उसे नष्ट करते जाते हैं। यह देखकर सब लोगों ने फिर उसे सेना का सेनापति नियुक्त किया। उस समय केमिलस की अवस्था ८० वर्ष की हो गई थी। फिर भी देश पर आये हुए संकट को विचार कर उसने यह कार्य भार अपने ऊपर ग्रहण कर लिया।

गाल लोग युद्ध में विशेष कर तलवारों का ही उपयोग करते थे। इसलिए केमिलस ने अपने सैनिकों के लिए लोहे के ऐसे शिरस्त्राण और कवच बनवाए, जिनका बाहरी हिस्सा बहुत चिकना होता था। जिस पर आघात करने से या तो तलवार टूट जाय या फिसल जाय। उन सैनिकों की लकड़ी की ढालों पर पीतल के पत्तर जड़वा दिये जिससे ढालें भी बहुत मजबूत हो गयीं।

जब गाल लोग अपना भारी पड़ाव और बहुत सा लूट का माल लेकर एलिओ नदी के पास पहुँचे तो केमिलस भी अपनी सेना को लेकर एक पहाड़ी पर, जिसमें कई दर्रे थे—चढ़ गया। जब रात में उसने देखा कि गाल-सेना के कुछ लोग लूट-पाट करने बाहर निकल गये हैं और कुछ खाने-पीने में मस्त हैं। तब उसने अपनी विशाल सेना के साथ, एकाएक उन पर आक्रमण कर दिया। गालों को इतनी बड़ी सेना का स्वप्न में भी अनुमान न था। उनका उत्साह बहुत ढीला पड़ने लगा। फिर भी उन्होंने भयंकर लड़ाई की, मगर थोड़े ही समय में रोमन-सेना की जोरदार मार से वे मैदान छोड़ कर भाग निकले,

यह युद्ध रोम-पतन के १३ वर्ष बाद अर्थात् ईसवी सन् से ३७७ वर्ष पूर्व हुआ।

केमिलस का यह सबसे आखिरी युद्ध-कार्य्य था, परन्तु प्रधान शासक के चुनाव की बहुत बड़ी समस्या अभी बाकी थी। अभी तक प्रधान शासक का चुनाव पेट्रिशियन लोगों की कुलीन सभा में से हुआ करता था, पर अब जनता इस प्रचलित नियम के विरुद्ध प्लेबियन लोगों में से प्रधान शासक चुनने पर जोर देने लगी। कुलीन-सभा इसका घोर विरोध कर रही थी। वह केमिलस को अपने पद से इस्तीफा भी नहीं देने देती थी, और उसकी आड़ में उच्चवर्ग की शक्ति को व्यापक रखना चाहती थी।

ऐसी कठिनाइयों के बीच वह नहीं समझ सका कि क्या किया जाय? फिर भी वह अपने पद से इस्तीफा न देकर सीनेट के सभ्यों को अपने साथ सभा-भवन में ले गया। भवन में प्रवेश करने के पूर्व उसने देवताओं से इन कठिनाइयों के अन्त करने की प्रार्थना की और 'एकता' देवी का एक मन्दिर-निर्माण करने की मनौती मानी। सीनेट में पहले तो प्रधानशासक सम्बन्धी प्रस्ताव का बहुत कड़ा विरोध हुआ, पर बाद में लोगों ने एक प्रधान शासक जन-साधारण में से लेना स्वीकार कर लिया।

जब केमिलस ने कुलीन-सभा के निर्णय की घोषणा की तो जनता स्वभावत: प्रसन्न हो गयी और उसके प्रतिनिधि हर्ष प्रकट करते हुए उसके साथ उसके घर तक पहुँचाने गये। दूसरे दिन जन-साधारण ने एकत्रित होकर न्यायालय और सभाभवन के सम्मुख 'एकता देवी' का मन्दिर बनाने का निश्चय किया।

इस सुलह के उपलक्ष में रोम में एक और राष्ट्रीय त्यौहार कायम किया गया जिससे रोम के राष्ट्रीय त्योहारों की संख्या चार हो गयी।

इस प्रकार सर्वप्रथम केमिलस के ही समय में जनसाधारण में से एक सेक्सस नामक प्रधान शासक चुना गया। यही केमिलस का रोम में अन्तिम कार्य था, जो ईसवी सन् से पूर्व ३६६ वर्ष पहले सम्पन्न हुआ। यह वर्ष रोम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य था।

ऊपर लिखे हुए बड़े-बड़े जिम्मेवारी के काम कर केमिलस ने रोमनगर में शान्ति स्थापित की। इसी से

रोम का इतिहास उसको 'राम्युलस' के पश्चात् रोम का द्वितीय संस्थापक होने का गौरव प्रदान करता है।

ईसवी सन् पूर्व ३६६ में केमिलस की हैजे की बीमारी से मृत्यु हुई।

केम्पीटालिया

जन-गणना का रोमन राष्ट्रीय त्यौहार

प्राचीन रोम का एक राष्ट्रीय त्यौहार जो ईसवी सन् पूर्व ७वीं शताब्दी में राजा सर्वियस ने सब से पहले जन-गणना या मर्दुमशुमारी करने के निमित्त स्थापित किया था।

राजा सर्वियस ने सब से पहले मर्दुमशुमारी करने की पद्धति शुरू की। इस काम के लिए उसने दो नवीन त्यौहारों की योजना की। शहर के बाहर रहने वाले लोगों की मर्दुमशुमारी करने के लिए 'पेगानालिया' नामक त्यौहार की स्थापना की गयी। पेगानालिया पेगस शब्द से बना है। 'पेगस' शब्द का अर्थ पहाड़ों पर की तटबन्दी है। प्रत्येक जाति के पास एक-एक पेगस था। पेगानालिया त्यौहार के दिन ये लोग अपने-अपने पेगस में इकट्ठे होते थे। और वहीं उनकी गिनती की जाती थी। नगर में रहने वाले लोगों को गिनने के लिए केम्पोटालिया त्यौहार की योजना की गयी। केम्पीटालिया केम्पिटा शब्द से बना है। रोमन-भाषा में केम्पिटा उस स्थान को कहते हैं जहाँ दो या उससे अधिक रास्ते मिलते हैं। केम्पी-टालिया त्यौहार के दिन लोग ऐसे स्थानों पर इकट्ठे हुआ करते थे और वहाँ उनकी जन-गणना की जाती थी। प्रत्येक कुटुम्ब के मुखिया को अपने कुटुम्ब के लोगों की और गुलामों की संख्या बतानी पड़ती थी। द्रव्य, जमीन, घर, पशु आदि की गिनती भी इसी समय होती थी। इस पद्धति से जन-संख्या मालूम हो जाती थी और इससे लोगों की मालियत पर नवीन कर लगाने का साधन भी सरकार को मिल जाता था।

राजा सर्वियस के समय में रोम की जन-संख्या ८३ हजार थी।

केम्पोफार्मियो की सन्धि

सन् १७९७ में आस्ट्रिया के द्वारा नेपोलियन बोनापार्ट से केम्पोफोर्मिया नामक स्थान पर की हुई संधि।

सन् १७९६ में नैपोलियन बोनापार्ट ने इटली के सार्डीनिया के राजा को परास्त कर 'नीस' और 'सेवाय' को फ्रान्स के साम्राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने उत्तरी इटली के लोम्बार्डी और मिलान नामक वैभवशाली भागों पर कब्जा कर आस्ट्रिया की भूमि में प्रवेश किया। मेण्डुश्रा और आर्कोल के रणक्षेत्र में नैपोलियन की सेना ने आस्ट्रिया की सेनाओं को बुरी तरह पराजित किया। तब आस्ट्रिया ने "केम्पोफार्मिया' नामक स्थान पर नैपोलियन के साथ एक अपमानपूर्ण सन्धि की। इस संधि के अनुसार आस्ट्रिय ने आस्ट्रियन नेदरलैण्ड को फ्रान्स के कब्जे में दे दिया और उत्तरी इटली में जीते हुए प्रदेशों की नैपोलियन द्वारा बनाई हुई सिसल्पाइन रिपब्लिक को उसने मान्यता दे दी।

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी

इंग्लैंड का एक सुप्रसिद्ध विश्व-विद्यालय, जो लन्दन से उत्तर-पूर्व ५० मील की दूरी पर कैम्ब्रिज नामक नगर में स्थापित है।

केम्ब्रिज का विश्व-विद्यालय संसार के प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्रों में से एक है। इस विद्यालय में ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखाओं की पढ़ाई का उच्च कोटि का प्रबन्ध है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए यहाँ सर्व-साधन-सम्पन्न प्रयोगशालाएँ भी बनी हुई हैं। इस विश्व विद्यालय को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसने कई उच्चकोटि के विद्वान और वैज्ञानिक प्रसूत करके संसार को अर्पित किये हैं। यहाँ पर 'गील्ड हॉल लाइब्रेरी' नामक एक विशाल पुस्तकालय भी स्थापित है।
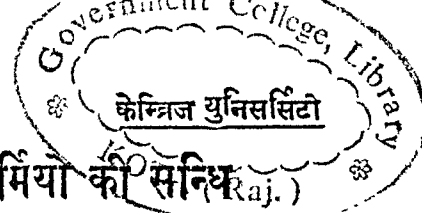
केयस-मारियस

प्राचीन रोम का एक प्रसिद्ध सेनापति और कौंसल जिसका समय ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में था।

'केयस मारियस' एक गरीब किसान का लड़का था। घर की गरीबी के कारण उसे उच्च शिक्षा नहीं मिली थी, परन्तु वह शारीरिक श्रम करने का अभ्यासी था। यह ग्रीस का रहने वाला था। बचपन से इसके हृदय में महत्वाकांक्षा होने से यह अपनी जन्मभूमि को छोड़ कर रोम की सेना में आकर भरती हो गया था। जब 'सीपिओ' नामक सेनापति ने स्पेन के न्यूमीशिया नगर को घेरा था, उस समय भी केयसमारियस ने रोम की सेना के साथ बड़ी वीरता का परिचय दिया था। इससे उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था, जिसके परिणाम स्वरूप वह ट्रिब्यून' बना दिया गया। ट्रिब्यून होते ही उसने ट्रिब्यून के चुनाव में धनी लोगों के हस्तक्षेप को रोकने के लिए एक मसविदा पेश किया। धनी लोगों ने उसका विरोध किया, मगर मारियस ने उसकी कोई परवाह न की।

इसी समय दैवयोग से केयसमारियस का विवाह सीजर-वंश के एक धनी पुरुष की लड़की 'जूलिया' से हो गया। यह जूलिया जूलियस सीजर की बूआ थी।

इसी समय अफ्रिका के उत्तर में न्यूमीडिया (आधुनिक अल्जीरिया) नामक देश के राजा 'जुगर्था' के साथ रोम का संघर्ष शुरू हुआ और इस संघर्ष में रोम की सेना के साथ केयस-मारियस भी गया। मगर उस युद्ध के बीच से ही अपने साथी 'मेटेलस' से मतभेद हो जाने के कारण, रोम वापस आ गया और वहाँ पर वह कौंसल चुन लिया गया।

कौंसल चुने जाने के बाद केयस-मारियस ने 'न्यूमीडिया' में होने वाले युद्ध में अपनी नियुक्ति करवा ली। और अपने साथ 'ल्युसियस' तथा 'सुल्ला' को रोम से वह अपने साथ ले गया। वहाँ पर किसी विश्वासघाती को अपने साथ मिलाकर उसने न्यूमीडिया के राजा जुगार्था को पकड़ लिया और ईसवी सन् से २१८ वर्ष पूर्व वह पुनः रोम लौट आया। रोम के लोगों ने बड़ी शान से उसका एक जलूस निकाला। इस जलूस में हाथ और पाँव में बेड़ी पहने हुए राजा जुगार्था सबसे आगे किया गया था। इसके बाद जुगार्था को 'मामेटाइन' नामक जेल में बन्द कर दिया गया। उस जेल में ८ दिन तक अन्न और पानी न मिलने के कारण न्यूमीडिया देश का राजा-जुगार्था, कुत्ते की मौत मरने को विवश हुआ।

इसी समय रोम पर केल्ट-जाति और गाथ-जाति के लोग हमला करके उस देश को लूटना चाहते थे। इन लोगों के पास तीन लाख सेना थी और इससे पहले वे तीन बार रोमन-सेना को हरा चुके थे और इन्हीं लोगों का वह संकट रोम पर फिर आ रहा था। इस संकट से इटली का उद्धार करने वाला केयस-मारियस के सिवाय दूसरा और दृष्टिगोचर नहीं होता था। इसलिए रोम की जनता ने उसे १० वर्ष के भीतर दूसरी बार कौंसल चुना, जो कि उनकी परम्परा के विरुद्ध था।

ईसवी सन् से २०२ वर्ष पूर्व केल्ट और गाथ-जाति की सेना-दो भागों में विभक्त होकर इटली में घुसी। एक टुकड़ी के साथ केयस-मारियस का 'एक्स नगर' के पास भयानक युद्ध हुआ जिसमें जंगली लोगों की करारी हार हुई।

जंगली-सेना की दूसरी टुकड़ी 'टायरोल' प्रान्त से होकर इटली में घुसी। इस सेना के साथ रोम-सेना क भारी लड़ाई हुई, मगर अन्त में आक्रमणकारी बुरी तरह से हरा दिये गये। यह अन्तिम युद्ध 'वर्सेली' में हुआ था। इसके बाद केयस-मारियस ५ वीं बार कौंसल बनाया गया। इस युद्ध में सुल्ला और केटूलस ने बड़ी बहादुरी बतलाई थी, मगर इसमें विजय का सारा श्रेय केयस मारियस को ही मिला। इससे रोम के लोग उसे अधिक मानने लगे। रोमनगर की स्थापना करने के कारण राम्यूलस को और उसकी रक्षा करने के कारण केमिलस को रोम के लोग देवता मानते थे। अब वे केयस-मारियस को भी तीसरा देवता मानने लगे।

केयस-मारियस युद्ध-विद्या में तो प्रवीण था, मगर राजनैतिक कार्यों में उसका दिमाग काम नहीं करता था। उधर उसका प्रतिद्वन्दी सुल्ला लोगों का मन वश में करके केयस-मारियस को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता था।

अन्त में केयस-मारियस को राजनीति के झगड़ों से दूर रहना पड़ा।

इसके कुछ समय बाद मध्य इटली की मार्सेन-जाति के लोगों के विद्रोह को दबाने के लिए रोम की सेना को जाना पड़ा। इन लड़ाइयों में केयस-मारियस और सुल्ला रोम के मुख्य सरदार थे। इस समय मारियस की उम्र ७० वर्ष की थी और सुल्ला जवान था। ये दोनों एक दूसरे से द्वेष करते थे।

इसी समय रोम को, एशिया-खण्ड के अपने राज्य की रक्षा के लिये 'मीथ्रिडेटस्', नामक राजा से युद्ध करने को बाध्य होना पड़ा। इस लड़ाई में जाने के लिए भी मारियस और सुल्ला में बड़ी प्रतिस्पर्धा हुई और मारियस तथा सुल्ला के बीच टक्कर भी हुई, पर उसमें मारियस को सफलता नहीं मिली। उसे वहाँ से भागना पड़ा। क्योंकि उसका सिर काट कर लाने वाले के लिए सुल्ला ने इनाम रख दिया था।

एक बार मारियस अपने शत्रुओं के हाथ बन्दी भी हो गया, मगर किसी प्रकार वह छूट कर अफ्रिका चला गया। वहाँ से वह इटली गया और सुल्ला के शत्रु 'कार्नेलियस-सिन्ना' के साथ मिलकर उसने रोम पर चढ़ाई कर दी। मारियस, सुल्ला के पक्ष के लोगों से बदला लेना चाहता था इसलिये उसने सुल्ला के पक्ष के लोगों का बध करना शुरू किया। सुल्ला के घर को गिरा दिया गया। उसकी जायदाद जप्त कर ली गयी और पाँच दिन तक रोम में कत्ले-आम होता रहा।

उसके बाद मारियस और सिन्ना दोनों कौंसल बनकर रोम का राज्य करने लगे। मारियस ७ वीं बार कौंसल चुना गया। मगर इसके बाद वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा और उसकी मृत्यु हो गयी।

केरल

भारत के दक्षिण में अरब-समुद्र और पश्चिमी पहाड़ों के बीच, गोकर्ण से कुमारिका तक फैला हुआ भूभाग—केरल कहलाता है।

'केरल' का इतिहास बहुत प्राचीन है। पौराणिक किम्वदन्तियों के अनुसार भार्गव-परशुराम ने हजारों वर्ष पहले इस भूभाग को समुद्र से उठा कर स्थापित किया था और यहाँ पर श्रेष्ठ ब्राह्मणों को लाकर बसाया था।

अशोक-कालीन शिला-लेखों में भी इस राज्य का और यहाँ के केरल-पुत्र नामक किसी राजा का उल्लेख पाया जाता है।

ईसा की ९ वीं शताब्दी में इस राज्य के राजा चरूम-पेरूमल नामक व्यक्ति थे। कोचीन का राज्यवंश उन्हीं का वंशज था।

१६ वीं शताब्दी में यह राज्य विजय-नगर-साम्राज्य में सम्मिलित था। उसके बाद इसका बहुत सा हिस्सा कोचीन-ट्रावंकोर राज्य में चला गया।

सन् १९५६ में स्वाधीन भारत के अन्दर केरल प्रान्त का पुनर्निर्माण किया गया। यह प्राचीन ट्रावंकोर-कोचिन राज्य का नवीन रूप है। ओल्लग जिले के ताल्लुके के कुछ भाग तथा तिरुवनन्तपुरम् के चार ताल्लुके इससे पृथक् कर दिये गये और मदरास प्रान्त का मलाबार जिला तथा दक्षिणी कनाड़ा जिले का कासरगोड ताल्लुका, इसमें शामिल कर लिये गये हैं।

केरल जिले का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा अद्भुत है। प्राकृतिक सुन्दरता में कश्मीर से ही इस भूभाग की तुलना की जा सकती है। यह क्षेत्र बड़े-बड़े फलों के बोझ से लदे हुए ऊँचे-ऊँचे नारियल के पेड़ों, कलरव करते हुए छोटे-छोटे पहाड़ी झरनों, गिरि-कन्दराओं, और हरे-भरे लहलहाते हुए खेतों से सुशोभित हैं।

केरल का धार्मिक इतिहास भी भारत के धार्मिक इतिहास में एक प्रकाश-बिन्दु की तरह जगमगा रहा है। सारे भारत को अपने अद्वैतवाद से प्रकाशित करने वाले जगद्-गुरु श्री शंकराचार्य ने इसी भूमि-भाग में जन्म लिया था। उनके सिद्धान्त और आदर्श आज भी हमारे धार्मिक क्षेत्र में प्रकाश-स्तंभ का काम कर रहे हैं।

ऐश्वर्य और प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से भी यह प्रांत किसी से पिछड़ा हुआ नहीं है। समस्त भारत में पैदा होने वाली काली मिर्च का ९८ प्रतिशत तथा रबर का ९५ प्रतिशत इसी प्रान्त में पैदा होता है।

आजकल के अत्यन्त आवश्यक खनिज पदार्थ 'तोरियम' की खदानें भी यहाँ निकाली जा चुकी हैं।

केरल की शुद्ध जनता में न तो शुद्ध द्राविड़ हैं और न शुद्ध आर्य। यहाँ द्रविड़ और आर्यों का सांस्कृतिक सम्मेलन ही न हुआ, बल्कि रक्त-सम्बन्ध भी हुआ। भार्गव-परशुराम के जमाने से ही यहाँ के द्राविड़ों और आर्यों में सांस्कृतिक और वैवाहिक सम्बन्ध होते आ रहे हैं। यहाँ की भाषा 'मलयालम' पर भी आर्यभाषा संस्कृत का प्रभाव पड़ा, होगा कि उसकी उत्पत्ति, मूल द्राविड़-भाषा से ही हुई। यह तामिल, तेलगू, कनाड़ी आदि द्राविड़ भाषाओं की बहिन है।

साक्षरता के क्षेत्र में केरल का स्थान भारतवर्ष में सर्व प्रथम माना जाता है। स्त्री-शिक्षा में भी यह प्रान्त दूसरे प्रान्तों से आगे है। आधुनिक शिक्षा का अधिक प्रचार होने के कारण इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट विचारधारा का बहुत प्राबल्य है और इसी राज्य में सबसे पहले कम्युनिस्ट-मिनिस्ट्री का निर्माण हुआ था।

ईसाई धर्म-प्रचारकों और मिश्नरियों का भी यहाँ पर बहुत बड़ा जोर है। मुसलिम-लीग का भी यहाँ पर काफी जोर-शोर है।

केरल-राज्य की आबादी प्रायः डेढ़ करोड़ है और यहाँ की राजधानी तिरुवनन्तपुरम् में है। यहाँ की प्रधान भाषा मलयालम है।

यहाँ के नगरों में तिरुवनन्तपुरम्, कालीकट, अलेपी, मत्तनचेरी, कोल्लम् और एरनाकुलम् विशेष उल्लेखनीय हैं।

केरीनेलिया

प्राचीन रोम का एक राष्ट्रीय त्यौहार जो रोम के महान्-संस्थापक 'राम्युलस' की स्मृति में ईसवी पूर्व सन् ८३१ से रोम में प्रारंभ हुआ।

प्राचीन रोम के लोगों का विश्वास था कि राम्युलस एक अवतारी पुरुष है और वह सदेह स्वर्ग में गया और जाते समय वह अपने मित्र 'ज्युलिस प्रोक्यूलस' से कह गया है कि—"मेरा अवतार कृत्य पूरा हो गया है। ईश्वर की इच्छा है कि अब मैं मृत्यु-लोक में न रहूँ। और उसने मुझे यहाँ से चले आने का सन्देश भेजा है। इसलिए अब तुम लौट जाओ और रोमन लोगों को मेरा यह सन्देश कह देना कि—"मेरा बसाया हुआ यह शहर एक दिन सारे संसार की राजधानी होगा और मैं 'क्वेरीनस' देवता बन कर तुम्हारी सहायता करूँगा।"

रोम के लोगों को इस कथन की सचाई पर इतना विश्वास हो गया कि उन्होंने उसके नाम पर एक मन्दिर बनवाया और उसकी पुण्य तिथि पर एक राष्ट्रीय त्यौहार की योजना की। राम्युलस की मृत्यु फाल्गुन में हुई थी, अतः यह त्यौहार फाल्गुन में ही मनाया जाने लगा। और वह क्वीरीनस देवता बन कर उनका सहायक होने वाला था, इस लिए इस त्यौहार का नाम 'क्वेरीनेलिया' रखा गया।

केरेडॉक

प्राचीन युग में ब्रिटेन के वेल्स-प्रान्त का राजा, जो केल्ट-जाति का था और जिसका समय ईसवी सन् ४० से लेकर ५२ तक समझा जाता है।

जिस समय केरेडाक (Caradoc) वेल्स प्रान्त का शासन कर रहा था, उस समय रोम-साम्राज्य का सम्राट् 'क्लौडियस' था। क्लौडियस की सेना में ब्रिटेन पर चढ़ाई कर दी। और ईसवी सन् ४३ से ५२ तक १० वर्ष में ब्रिटेन का सारा भाग जीत लिया। तब वेल्स के अधिपत्ति 'केसवालन' के वंशज केरेडॉक ने एक बड़ी सेना सगठित कर रोमनों का मुकाबला किया। इसकी सेना एक पहाड़ी पर जमी हुई थी। पहाड़ी के इधर-उधर केरेडॉक ने खाइयाँ खुदवा लीं और दीवारें बनवा लीं।

ब्रिटेन लोग बड़ी वीरता से लड़े, पर रोमन सेना के सामने उनकी एक न चली। केरेडॉक परास्त हो गया। उसकी रानी तथा कन्या बन्दी हो गई। केरेडॉक भाग तो गया, पर पकड़ा गया। उसे हथकड़ी और बेड़ी डाल कर रोम को ले गये। रोम के लोग अपनी छतों और मार्ग में खड़े-खड़े सारा जलूस देख रहे थे। क्योंकि केरेडॉक की वीरता की कथाएँ पहले ही रोम में प्रचारित हो गयी थीं।

जब केरेडॉक को रोम के सम्राट् के सामने पेश किया गया। तो वह निर्भीकता पूर्वक खड़ा रहा और कहने लगा "मेरे पूर्वज शासक थे, यदि आज मैं तुम्हारे विरुद्ध न लड़ा होता तो यहाँ पर तुम्हारा मित्र बन कर आता, बन्दी बन कर नहीं। पर जब मेरे पास सेना और शक्ति थी, तो मैं तुम्हारी गुलामी क्यों स्वीकार करूँ! तुम सब जातियों को अपने शासन में लेना चाहते हो, पर यह आवश्यक नहीं कि दूसरी जातियाँ भी तुम्हारे आधीन होना चाहें। मुझे मार डालोगे तो शीघ्र ही लोग मेरी कथा को भूल जायेंगे, पर यदि क्षमा करोगे तो तुम्हारी दया का यश सदा बना रहेगा।"

क्लोडियस की आत्मा पर इस कथन का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने केरेडॉक तथा उसके वंशजों को क्षमा प्रदान कर दी, पर उनको स्वदेश जाने की इजाजत न मिली।

केल्ट-जाति

यूरोप के मध्य तथा पश्चिमी भाग की एक प्राचीन आदिम-जाति, जिसका विस्तार ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में विशेष रूप से हुआ।

केल्ट जाति की कई शाखाएँ थीं। इन शाखाओं में गोयडल, ब्रिटन, गॉल और बेल्जियन शाखाएँ विशेष प्रसिद्ध थीं। इनमें गॉल-शाखा विशेष कर फ्रांस के अन्दर फैल गयी।

आँग्ल देश में केल्ट-जाति की दो शाखाएँ भिन्न-भिन्न समय में आईं। पहले गोयडिल (Goidel) शाखा आई। उसके बाद दूसरी ब्रिटन (Brythan) शाखा ने वहाँ आकर गोयडिल शाखा को उत्तर तथा पश्चिम की ओर भगा दिया। आयर्लेण्ड तथा स्काटलैंड के हाईलैंड भाग के निवासी इन्हीं गोयडलों की सन्तान हैं और इन्हीं की भाषा बोलते हैं। वेलस निवासी ब्रिटन लोगों की सन्तान हैं और इनकी भाषा भी प्राचीन ब्रिटन भाषा का ही एक रूपान्तर है।

केल्ट-जाति की ब्रिटन शाखा के लोग लम्बे और बलवान होते थे। इनके केश सुन्दर, काले और पीठ पर लटकते हुए होते थे। इनकी आँखें नीली होती थीं। ये केवल मूछें रखते थे। दाढ़ी को मुड़ा डालते थे। युद्ध के समय में एक नीली जड़ी के रस से अपने चेहरों को रंग लेते थे, जिससे इनकी आकृति बड़ी डरावनी हो जाती थी। ये जंगलों के बीच में कुछ स्थान साफ कर के अपने दुर्ग बनाते थे और उनके चारों ओर मिट्टी के तूदे और बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ बना लेते थे।

ब्रिटन लोग रथ चलाने की कला में बड़े दक्ष थे। पहाड़ी से ढाल की ओर बड़े वेग से रथ दौड़ाते थे और इस दशा में भी घोड़ों को रोक कर झट मोड़ सकते थे।

केल्ट-जाति के पुरोहितों को ड्रूइड्स (Druids) कहते थे। ड्रूइड लोग वनों में रहते थे और युवकों को सदाचार और धर्म-सम्बन्धी शिक्षा देते थे। पुरोहिताई के अतिरिक्त न्यायालयों का काम भी इन्हीं ड्रूडों को करना पड़ता था। ये झगड़ों का निपटारा करके अपराधियों को दण्ड देते थे।

उसके बाद जब जूट, सेक्सन और ऐंग्ल-जाति के लोगों ने इंग्लैंड पर आक्रमण करके केल्ट-जाति के लोगों को भगाना शुरू किया, तो ये लोग वहाँ से भाग कर कुछ तो वेल्स के पहाड़ों में जा छिपे और वहीं पर उन्होंने अपने वेल्स-राज्य की स्थापना की। और बहुत से लोग आयरलैंड में जाकर बस गये। आयरलैंड में केल्ट-जाति के लोग स्वतन्त्रता पूर्वक रहने लगे। इनके बड़े-बड़े कबीले होते थे। हर कबीले का एक राजा होत होता था, जिसकी सहायता के लिए एक और शासक होता था जिसे टैनिस्ट (Taenist) कहते थे।

आयरलैंड की केल्ट जाति धर्म-भाव से परिपूर्ण थी। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने यहाँ पहुँच कर ईसाई-धर्म का प्रचार कर दिया था। मगर उसके बाद आयरलैंड पर भी बाहरी लोगों के आक्रमण होने लगे और वहाँ से भी इस जाति का अस्तित्व समाप्त प्राय हो गया था।

केलकर नरसिंह-चिन्तामणि

मराठी के 'केसरी' और 'मराठा' नामक सुप्रसिद्ध पत्रों के सफल सम्पादक, सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, लोकमान्य 'तिलक' के सहयोगी, जिनका जन्म सन् १८७२ में और मृत्यु सन् १९४७ ई० में हुई।

मराठी-भाषा की पत्रकार-कला, समालोचना-क्षेत्र और निबन्धरचना-क्षेत्र में केलकर अपनी अमर-स्मृति छोड़ गये हैं। उनकी जोड़ के सम्पादक, राजनीतिज्ञ और निबन्ध लेखक मिलना कठिन है।

नरसिंह चिन्तामणि केलकर का जन्म 'मिरज' नामक कस्बे में हुआ था। लॉ ग्रेजुएट की डिग्री प्राप्त कर लेने के पश्चात् इनकी तीक्ष्ण प्रतिभा को देखकर लो० तिलक ने इनको 'मराठा' नामक अंग्रेजी और केसरी नामक मराठी पत्र का सम्पादक बनाया। और उसी समय से अर्थात् सन् १८९६ से सन् १९४७ ई० तक ये बराबर नियमित रूप से सम्पादन-कला के क्षेत्र में बने रहे। इनके सम्पादन-काल में लोकमान्य तिलक के 'केसरी' नामक पत्र को अखिल भारतीय सम्मान प्राप्त हो गया था और अपने गंभीर तथा प्रौढ़ विचार, उत्कृष्ट सम्पादकीय लेख और उग्र राजनीतिक विचारों के कारण अन्य भाषा भाषी क्षेत्रों में भी यह पत्र बहुत ही लोक-प्रिय हो गया था।

नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने पत्रकार-कला के साथ-साथ मराठी-साहित्य को सम्पन्न बनाने में भी अपना महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। साहित्य, इतिहास, जीवनी, निबन्ध, उपन्यास, नाटक इत्यादि अनेकानेक विषयों पर इन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ कृतियों का निर्माण किया। इनका लिखा हुआ लोकमान्य तिलक का एक विशाल जीवन चरित्र हजार-हजार पृष्ठों के तीन खण्डों में समाप्त हुआ है। जो मराठी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। करीब ८ सौ पृष्ठों में इन्होंने अपनी आत्मकहानी लिखकर मराठी-साहित्य को अर्पित की। इनका लिखा हुआ 'मराठा और अंग्रेज' नामक ग्रन्थ मराठों के इतिहास को एक नवीन दृष्टिकोण के साथ पेश करता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है।

इसी प्रकार और भी कई जीवन-चरित्र, नाटक, हास्यरस के ग्रन्थ इत्यादि की रचनाएँ इन्होंने की। इनके द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये निबन्धों का यदि संग्रह किया जाय तो उनकी पृष्ठ-संख्या प्रायः पाँच हजार तक पहुँचेगी।

इस प्रकार मराठी-साहित्य को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध कर यह प्रसिद्ध व्यक्ति सन् १९४७ ई० में स्वर्ग-वासी हुआ।

केल्तमीनार-संस्कृति

मध्य एशिया की एक प्राचीन संस्कृति, जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४ हजार वर्ष से ३ हजार वर्ष ई० पू० तक माना जाता है।

यदि हम 'ख्वारेजम' के पुराने इतिहास पर दृष्टि डालें तो नव पाषाण और अनव-पाषाण युग में यहाँ एक बहुत प्राचीन संस्कृति का पता लगता है जिसे सोवियट इतिहास-कारों ने 'केल्तमीनार' संस्कृति का नाम दिया है।

केल्तमीनार निम्न वक्षू नदी से उत्तर की ओर जाने वाली पुरानी नहरों में से एक है। इसी के नाम पर इस संस्कृति का नाम पड़ा। आजकल कीजिलकुम या लाल रेगिस्तान में इसी परित्यक्त नहर के उत्तर में 'जाँबास कला' का ध्वंसावेश मिला है। इसमें नव पाषाण युगीन पत्थरों के शस्त्र और मिट्टी के बर्तन मिले हैं।

यहाँ मिली हुई वस्तुओं का निरीक्षण करने के पश्चात् सोवियट-इतिहासकार इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि उस काल में जो संस्कृति यहाँ पर थी, उसका विस्तार दक्षिणी यूराल, सिरदरिया और पूर्वी तुर्किस्तान से लेकर दक्षिण में हिन्दमहासागर के तट तक हो गया था। भाषा के विचार से इसके एक भाग में जहाँ मुंडा द्रविड़ भाषा का प्रचार था, वहाँ दूसरे हिस्से में उइगुर भाषा की मातृ-स्थानीय प्राचीन भाषा बोली जाती थी।

केलोन

सन् १७८२ में फ्रान्स के सम्राट् सोलहवें लुई का प्रधान मंत्री।

प्रधानमंत्री नैकर को सम्राज्ञी की सिफारिश से बरखास्त कर सम्राट् सोलहवें लुई ने केलोन को अपना प्रधान मंत्री बनाया। उसने उन कामों का करना शीघ्रता से शुरू कर दिया जो क्रान्ति के आरम्भिक रूप समझे जाते थे। केलोन एक कुलीन वंश का दरबारी था। उसने प्रारम्भ में सम्राट् और राजवंशीय लोगों के ऐशोआराम और मौज करने के लिए कर्ज लेकर उनकी आवश्यकताएँ पूरी करना प्रारम्भ किया। क्योंकि राज्य की आमदनी उनकी जरूरतों को पूरी करने के लिए पर्याप्त नहीं होती थी। चार बरस में

उसने कई करोड़ रुपयों का कर्ज कर लिया। मगर उसके बाद कर्ज मिलना भी बन्द हो गया। तब उसने सम्राट् को सूचना दी कि राज्य को दिवालिया होने से बचाने के लिए नये टैक्सों की योजना करना अत्यन्त आवश्यक है। कुलीन और पादरी लोग जो अभी तक भूमि कर नहीं देते हैं उनको भी अन्य लोगों की तरह भूमि कर देने को वाध्य किया जाय।

इसके लिये सन् १७८६ में राज्य और चर्च के प्रमुख लोगों की एक सभा बुलाई गई। इस सभा में केलोन ने राज्य की आर्थिक परिस्थिति का पूरा नक्शा खींच कर राज्य की आर्थिक दुर्दशा सूचना दी और इसका एकमात्र उपाय यह बतलाया कि जो लोग अभी तक भूमिकर से मुक्त हैं उन पर भी यह टैक्स लगाया जाय। तभी राज्य की आर्थिक दुर्दशा दूर हो सकती है। केलोन के इस प्रस्ताव से सारी सभा बड़ी क्रुद्ध हुई। क्योंकि इस सभा में अधिकांश ऐसे ही लोग थे जो भूमि कर से मुक्त थे। सभा ने केलोन पर अविश्वास प्रकट किया। केलोन अपने पद से बरखास्त कर दिया गया और इसके साथ ही यह सभा भी बरखास्त हो गई।

क्लेमेण्ट मारो
(Clement marot)

फ्रान्स में लिरिक काव्य का एक प्रसिद्ध और प्रारम्भिक कवि जो सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

क्लेमेंट मारो एक निर्धन, निर्वासित और कारागार में बद्ध अत्यन्त संघर्षपूर्ण जीवन का प्रतीक था। उसकी कविताएँ कल्पना और भावनाओं के आधार पर नहीं प्रत्युत निजी अनुभूति के आधार पर लिखी हुई थीं। इसीलिए उनमें प्रदर्शित भावनाएँ अत्यन्त शक्तिशाली, करुण, यथार्थ और हृदय पर चोट करने वाली है। बन्धन की मुक्ति के लिए, स्वदेश वापस लौटने के लिए, उसकी काव्य पंक्तियों में बड़ी सजीव पुकार दिखलाई पड़ती है। लगातार कष्टों को सहन करते करते उसकी आत्मा उन कष्टों की चुनौती स्वीकार करने में जिस हास्यरस का सृजन करती है वह भी अत्यन्त सजीव है। उसकी कृति अपनी अद्भुत ताजगी का प्रभाव प्रत्येक पाठक पर डालती है।

केल्टिक शाखा

ईसाई धर्म की एक शाखा, जिसका प्रचार 'कोलम्बन' नामक एक ईसाई पादरी ने आयरलैंड में किया था।

आयरलैंड में उस समय ईसाई मत की दो शाखाएँ थीं। एक रोमन-शाखा, जो रोम के पोप के आधीन थी और जिसका आगस्टाइन और कोलीनस ने प्रचार किया था। दूसरी केल्टिक शाखा जिसके प्रचारक कोलम्बन और उसके शिष्य थे।

अनेक बातों में इन दोनों शाखाओं में भेद था, पर सबसे मुख्य बात यह थी कि केल्टिक लोग न तो विशप या पादरी को मानते थे और न वे पोप के अधिपत्य को स्वीकार करते थे।

इस झगड़े को दूर करने के लिये सन् ६६४ ई० में 'हिटबी' में एक सभा हुई, जिसका प्रधान नार्थम्ब्रिया का राजा ओसवी (Oswy) था। इस सभा ने पोप के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

केलाव सेमुअल-एच

अमेरिका के एक सुप्रसिद्ध ईसाई-धर्म-प्रचारक जिनका जन्म सन् १८३९ में और मृत्यु सन् १८९९ में हुई।

अमेरिका के प्रेस बेटेरियन बोर्ड ने उन्हें धर्म-प्रचार के लिए सन् १८६४ में भारतवर्ष भेजा था। सन् १८७६ तक वे भारतवर्ष में रहे। उसके बाद देश वापस लौटने पर सन् १८७७ में इन्होंने पीटर्सबर्ग में प्रेस बेटेरियन चर्च के और उसके बाद टोरेण्टो में प्रेस बेटेरियन चर्च के पेस्टर का पद ग्रहण किया।

सन् १८९२ में ये फिर भारतवर्ष में आये। यहाँ पर बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट का हिन्दी-अनुवाद तैयार करने के लिए निर्मित समिति के ये सदस्य बना कर भेजे गये थे। यहीं पर इन्होंने हिन्दी के सुप्रसिद्ध व्याकरण 'ग्रामर ऑफ दि हिन्दी लैंग्वेज' को तैयार करके प्रकाशित किया। हिन्दी-व्याकरण के क्षेत्र में यह कार्य बड़ा महत्व-पूर्ण था।

इसके अतिरिक्त इनके 'दि लाइट ऑफ एशिया' और 'दि लाइट ऑफ दि वर्ल्ड'—ये दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए।

केलविन विलियम-टामसन

एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक जिनका जन्म सन् १८२४ में और मृत्यु सन् १९०७ में हुई।

'केलविन' अपना अध्ययन समाप्त करके सन् १८४६ में ग्लासगो युनिवर्सिटी में नेचरल फिलासोफी के प्रोफेसर हो गये। जीवन भर इसी स्थान पर रह करके इन्होंने विज्ञान के महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये। इन्होंने अपने अनुसन्धानों में 'केल्विन-ताप' 'डिनेमिक थ्योरी (उष्णता का गति-सिद्धान्त) थर्मो डिनेमिक्स (ऊष्मा की गति) का विवेचन किया। समुद्र की गहराई नापने के लिए और समुद्री-यात्रा को निरापद बनाने के लिए भी इन्होंने कई उपयोगी आविष्कार किये। इनकी महान वैज्ञानिक सेवाओं के उपलक्ष में इन्हें 'नाइट' की उपाधि प्रदान की गयी और सन् १८६० में ये 'रॉयल सोसायटी' के सभापति बनाये गये।

सन् १९०७ में ८३ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई और इनकी स्मृति में 'ग्लासगो' में इनकी एक पत्थर की मूर्ति लगाई गयी।

केवेंडिश-हेनरी

फ्रान्स के एक वायुमण्डलीय रसायन शास्त्री जिनका जन्म सन् १७३१ में और मृत्यु सन् १८१० में हुई।

हेनरी केवेंडिश सुप्रसिद्ध रसायन शास्त्री एवं प्रकृति तत्वज्ञ लार्ड चार्ल्स केवेंडिश के पुत्र थे। इनका जन्म दक्षिणी फ्रान्स में हुआ था। सन् १७६० में वे लन्दन की रायल सोसाइटी में सम्मिलित हो गये। उन्होंने अनुसन्धान और वैज्ञानिक अनुशीलन की प्रवृत्ति अपने पिता से उत्तराधिकार में पाई थी। उनके पिता लार्ड चार्ल्स एक शौकिया ऋतु-विज्ञानी थे। जिनका तापमान सम्बन्धी अध्ययन इतना अधिक ठीक था कि वर्षों के बाद के परीक्षणों में भी उसे आधार माना गया।

हेनरी केवेंडिश को वायु-मण्डलीय रसायन का जनक कहा जाता है। उन्होंने एक गुब्बारे में हाइड्रोजन को भर कर उसे तौल कर प्रदर्शित कर दिया कि वह श्वसनयोग्य वातावरण की अपेक्षा ११ गुनी हल्की होती है। उनकी सर्वाधिक महत्व की उपलब्धियों में जल और नाइट्रिक एसिड के योगों का पता लगाना भी एक प्रमुख उपलब्धि थी।

सन् १७८४ में उन्होंने लिखा था कि मेरे परीक्षणों से प्रदर्शित होता है कि आक्सीजन तथा हाइड्रोजन के रासायनिक संयोग से जल की उत्पत्ति होती है। बशर्ते कि वहाँ पर नाइट्रोजन न हो। यदि वहाँ नाइट्रोजन हो तो जल की जगह नाइट्रिक एसिड का निर्माण होता है।

उन्होंने विद्युत्-ताप और भूमि के घनत्व के विषय में भी कुछ परीक्षण किये और बतलाया कि भूमि का घनत्व जल की अपेक्षा ५.५ गुना होता है।

वे अपने समकालीन रसायन-शास्त्री सर 'हम्फ्रीडेवी' 'जोसेफ प्रिस्टली' और 'एन्तोने लेवोसिये' के समान ही तर्क शक्ति और अन्वेषण-शक्ति के धनी थे। इन सभी विज्ञान-वेत्ताओं ने १९ वीं और २० शताब्दी में हुई रसायन सम्बन्धी प्रगति में उल्लेखनीय भाग लिया था।

केशरी-राजवंश

उड़ीसा का एक प्रसिद्ध राजवंश, जिसका शासनकाल ८वीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक रहा।

केशरी-राजवंश के राजा लोग शिव के उपासक थे। इसलिए इन्होंने अशोक के द्वारा प्रचलित की गयी बुद्ध पूजा के बदले शिव की पूजा स्थापित की। उन्होंने ८वीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक राज्य किया।

अभी तक कुछ इतिहासकारों का मत था कि चूँकि केशरी-राजाओं के अब तक कोई शिला लेख नहीं पाये गये हैं, इसलिए उनका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। पर 'कटक गजेटिअर' के अनुसार कुछ समय पूर्व 'उद्योत केसरी' नामक राजा के दो लेख प्राप्त हुए हैं। एक तो खण्डगिरि की पहाड़ियों की किसी गुफा में मिला है और दूसरा भुवनेश्वर वाले ब्रह्मेश्वर के मन्दिर में। इन शिलालेखों से केसरी-वंश के राजाओं का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

एम० सिल्वन लेभी नामक इतिहासकार ने यह बताया है कि एक बौद्धसूत्र के जापानी अनुवाद में उसके अनुवादक एक बौद्ध-सन्यासी ने लिखा है कि—"वह ईसवी सन् ८९६ में उत्कल के राजा परम माहेश्वर महाराज शुभ केशरी की ओर से जापान के बादशाह के पास आया था।"

केशरी-राजाओं में ललातेन्दु केशरी एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ, जिसने ६वीं सदी में भुवनेश्वर के सुप्रसिद्ध शिव मन्दिर का निर्माण करवाया।

इन केशरी-राजाओं ने भुवनेश्वर में और भी देवालय बनवाये, जिनका वर्णन 'कटक-गजेटियर में दिया हुआ है। ये देवालय तत्कालीन उत्कृष्ट शिल्प कला तथा केशरी-राजाओं के ऐश्वर्य के साक्षी हैं।

केशरीसिंह बारहट

राजस्थान में प्रारंभिक युग के एक क्रान्तिकारी। जिनका जन्म सन् १८७२ में शाहपुरा रियासत के एक छोटे से ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम कृष्ण सिंह बारहट था।

कृष्ण सिंह बारहट उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह और महाराणा फतेहसिंह के विश्वास पात्र सलाहकार थे। लेकिन कुछ राजनैतिक कारणों से भारत सरकार ने कृष्ण सिंह को महाराणा फतेह सिंह से पृथक् कर दिया। तब केशरी सिंह अपने पिता के स्थान पर महाराणा के यहाँ काम करने लगे।

ठाकुर केशरी सिंह का ससुराल कोटा में था। उस समय कोटा के महाराव उम्मेदसिंह के पास एक ऐसे सलाहकार की जरूरत थी, जो उन्हें जवानी में गलत रास्ते पर जाने से रोके। तब महाराव उम्मेदसिंह ने अपने पास रखने के लिए ठाकुर केशरी सिंह को महाराणा उदयपुर से माँग लिया।

जब ठाकुर केशरीसिंह कोटा आने लगे तो वे अपनी जगह पर प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजीकृष्ण वर्मा को महाराणा के सलाहकार के रूप में नियुक्त कर आये।

श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उदयपुर पहुँचते ही वहाँ का सारा काम भलीभाँति संभाल लिया, मगर महाराणा फतेह सिंह की विरोधी पार्टी के कारण श्यामजी कृष्ण वर्मा को भी उदयपुर छोड़ना पड़ा।

इस सारे घटनाचक्र से ठाकुर केशरीसिंह को भली प्रकार मालूम हो गया कि अंग्रेज शासक कितने खतरनाक होते हैं। इसी समय से ठा० केशरी सिंह के हृदय में अंग्रेजों के खिलाफ क्रान्ति की भावना उठी और उन्होंने समय निकाल कर लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, अरविन्द घोष इत्यादि क्रान्तिकारी पुरुषों से सम्पर्क करना प्रारम्भ किया और कांग्रेस की बैठकों में भाग लेना शुरू किया।

ठा० केशरी सिंह ने भारत की वर्तमान दशा को देख कर यह निर्णय कर लिया कि जब सारे भारत में एक ही साथ क्रान्ति होगी तभी इस अंग्रेजी सरकार का मुकाबला किया जा सकेगा। इसके लिये इन्होंने तमाम राजपूत राजाओं, जागीरदारों और सेनाधिकारियों से सम्पर्क करना प्रारंभ किया। शुरू-शुरू में इन लोगों ने इस क्रान्ति में शामिल होने से इनकार किया, मगर इतना जरूर कहा कि अगर एक दम सारे भारत में ऐसी स्थिति पैदा हो जाय कि अंग्रेजों को यहाँ से भागना पड़े तो बाद में शान्ति की व्यवस्था हम सँभाल लेंगे।

सन् १६१२ के खतम होते ही ठा० केशरी सिंह भ्रमण पर निकल गये। राजपूताने में इनके साथी खरवा के राव गोपाल सिंह, जयपुर के अर्जुन लाल सेठी, और ब्यावर के दामोदरदास राठी थे। ठा० केशरी सिंह ने गाँव-गाँव में घूम कर चन्दा इकट्ठा करना और क्रान्ति के योग्य व्यक्तियों को ढूँढ़ना प्रारंभ किया।

अर्जुन लाल सेठी से मिलने के बाद इन्होंने अपने तेजस्वी पुत्र प्रताप सिंह को अर्जुन लाल सेठी के पास रख दिया। इस तेजस्वी पुत्र ने अपने पिता के पहले ही छोटी सी उम्र में भारत माता की वेदी पर अपना बलिदान कर दिया।

इसी समय पहली 'जर्मन-वार' शुरू हो गई और ये लोग क्रान्ति के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। मगर इसी बीच अंग्रेज गवर्नमेंट का गुप्तचर-विभाग सतर्क हो उठा। ठा० केशरी सिंह पर, सी० आई० डी० विभाग की नजर पहले से ही गड़ी हुई थी। क्योंकि इन्होंने उससे बहुत

पहले लार्ड 'कर्जन' के देहली दरबार में जाते समय महाराणा उदयपुर को 'चेतावनी रा चूटक्या' नामक १३ राजस्थानी दोहे लिख भेजे थे। इन दोहों को पढ़ कर महाराणा का स्वाभिमान जाग उठा और वे दिल्ली पहुँच कर भी दिल्ली दरबार में न गये और अपनी स्पेशल को लौटा कर उदयपुर वापस आ गये।

इसी प्रकार की कई घटनाएँ और थीं जिनके कारण सन् १९१८ में इन्दोर का एस० पी० वारंट लेकर ठा० केशरी सिंह को गिरफ्तार करने शाहपुरा आया और वहाँ उन्हें गिरफ्तार करके मऊ के फौजी पहरे में बन्द कर दिया। ठा० केसरी सिंह को ३ साल के पश्चात् मुकद्दमा चलाने के लिए कोटा लाया गया। उस समय कोटे में विशन लाल कौल नामक जज थे। उन्होंने भारत सरकार के पुलिस के अफसरों से बातचीत में बतला दिया कि केशरी सिंह पर केवल राजनैतिक मुकद्दमा ही चल सकेगा। दूसरे मामले साबित नहीं हो सकेंगे और उस दशा में उन्हें छोड़ना पड़ेगा। तब सरकार ने विशनलाल कौल को छुट्टी देकर रवाना किया और श्रीराम भार्गव नामक मीर मुंशी को न्याय की कुर्सी पर बैठाया।

भारत-सरकार के सी० आई० डी० डिपार्टमेंट के सर्वोच्च आफिसर सर चार्ल्स क्लीवलैंड के द्वारा अथक परिश्रम करने पर भी जब राजनैतिक मामलों के साबित करने का प्रमाण नहीं मिला तो कुछ वर्ष पूर्व हुए जोधपुर में 'प्यारेराम साधु' की हत्या का मर्डर केस इन पर लगाया गया और इनके साथ शान्तभानु लहरी, हीरालाल जालोरी, लक्ष्मीलाल कायस्थ और रामकरण को भी गिरफ्तार किया गया। इनमें से लक्ष्मीलाल कायस्थ और रामकरण को सरकारी गवाह बना दिया गया।

इस मुकदमे की चर्चा सारे भारतवर्ष में हुई और सारे देश के 'पायोनियर' 'टाइम्स' इत्यादि अनेक पत्रों के संवाददाता अदालत में इस 'केस' की रिपोर्ट लेने के लिए आते रहे। इस केस में ठाकुर केसरी सिंह को २० साल की सजा, शान्त भानु लहरी को २० साल के कालेपानी की सजा और हीरालाल जालोरी को ७ साल की सजा हुई। मगर फैसले में जज को लिखना पड़ा कि—"केशरी सिंह एक आला दिमाग के आदमी हैं। इन्होंने प्यारेराम साधु का मारा जाना साबित नहीं होने दिया और मरने की तारीख के बाद के प्यारेराम के हाथ के लिखे हुए कश्मीर के तार और पत्र को बरामद करा दिये। इसलिए हम इन्हें आखिरी सजा न देते हुए २० साल की सजा देते हैं।"

थोड़े दिन कोटा जेल में रखकर सरकार ने ठाकुर केशरी सिंह को हजारीबाग जेल में भेज दिया। कुछ समय पश्चात् इस जेल में मि० 'मीक' नामक एक अंग्रेज जेलर बन कर आये। उन्होंने पोलिटिकल विभाग से कोशिश करवाकर प्रथम महायुद्ध की विजय के उपलक्ष में सन् १९१९ में ठाकुर केशरी सिंह का जेल से रिहा करवा दिया।

इसी बीच शाहपुरा नरेश ने इनकी सारी जागीर, रहने का मकान और खड़ी फसल तक जप्त करके अपने राज्य में मिला लिया। जेल से छूटते ही मिस्टर मीक से ५० रुपये उधार लेकर वे किसी प्रकार कोटा आये।

सन् १९२० में सेठ जमनालाल बजाज ने इनसे राजपूताने में राजा और रईसों की मनमानी को रोकने के लिए 'राजस्थान केशरी' नामका पत्र निकालने की बातचीत की। और वर्धा से श्री अर्जुन लाल सेठी, विजय सिंह 'पथिक' और रामनारायण चौधरी इत्यादि के साथ ये पत्र में काम करने लगे। मगर गान्धी जी की अहिंसा नीति से मतभेद होने के कारण और लगातार सी०आई०डी० के द्वारा पीछा किये जाने की वजह से इनके जीवन में निराशा का सञ्चार हो गया। जिससे ये राजनीति से उदासीन होकर शान्ति पूर्ण जीवन बिताने लगे और अन्त में सन् १९४१ में टाइफाइड की बीमारी से ठाकुर केशरी सिंह का देहान्त हो गया।

केशरिया-नाथ

राजस्थान के उदयपुर नामक शहर से ३५ मील की दूरी पर अवस्थित जैनियों का एक महान् और सुप्रसिद्ध तीर्थ। जिसमें जैनियों के पहले तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की काले संग मूसा पत्थर की बनी हुई बड़ी सुन्दर मूर्त्ति अवस्थित है।

केशरियानाथ या ऋषभदेव जैनियों का बड़ा मशहूर तीर्थ है। जहाँ पर प्रतिवर्ष हजारों यात्री तीर्थयात्रा करने आते हैं और केशरिया नाथ पर ढेरों केशर चढ़ाकर उनकी पूजा करते हैं।

जैनियों की मान्यताओं के अनुसार यह मूर्ति अत्यन्त चमत्कारिक और मनुष्य की मनोकामना को पूर्ण करने वाली है। इसलिए हजारों भक्तलोग अपनी-अपनी मनोकामना के अनुसार मनौती करते हैं और मनोकामना पूर्ण होने पर यहाँ आकर मनौती के अनुसार केशर चढ़ाते हैं। यहाँ पर जितनी अधिक केशर चढ़ती है, उतनी कदाचित् संसार के किसी धर्म स्थान में न चढ़ती होगी।

इसी केशर के कारण यह तीर्थ 'केशिरियानाथ' के नाम से प्रसिद्ध है। जिन लोगों को यहाँ की मनौती से सन्तान हो जाती है, उनमें से बहुत से उस सन्तान के बराबर केशर तौल कर भगवान को चढ़ाते हैं। इसी प्रकार मुकदमों में जीतने वाले, भयंकर बीमारियों से मुक्त होने वाले, व्यापार में पैसा कमाने वाले, परीक्षा में पास होने वाले सभी लोग अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार तोलों से लेकर सेरों तक केशर यहाँ पर भगवान को अर्पित करते हैं।

जैनियों के अतिरिक्त यहाँ के पहाड़ों में बसनेवाले कोल-भील जाति के आदिवासी लोग भी इस तीर्थ को बड़ी श्रद्धा और भक्ति की नजर से देखते हैं। वे लोग ऋषभ देव की प्रतिमा को 'काला बाबा' के नाम से पुकारते हैं। उनकी मनौतियाँ मानते हैं और वहाँ आकर भक्ति भावना से उनका दर्शन करते हैं।

केशवदास

हिन्दी के एक प्रसिद्ध पुराने कवि, जिनका जन्म सन् १५५५ में और मृत्यु सन् १६१७ के आस-पास हुई।

ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में यह रहते थे। इनके पिता का नाम पं० काशीनाथ था।

केशव दास की रचनाओं में इस समय ७ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, नरसिंह देव चरित्र, विज्ञान गीता और जहाँगीर-यश-चन्द्रिका।

केशवदास किस कोटि के कवि थे, इसके सम्बन्ध में साहित्य के आलोचकों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग उन्हें एक महाकवि की कोटि में रखते हैं, कुछ लोग उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कह कर उनका तिरस्कार करते हैं और कुछ लोग उनको संस्कृत साहित्य का एक भद्दा अनुकरण करने वाला असफल कवि मानते हैं।

प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि—

"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनको वह सहृदयता और भावुकता नहीं मिली थी जो एक कवि में होनी चाहिये। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने साहित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिये, वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने संस्कृत-काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं, पर उन उक्तियों को भली भाँति से व्यक्त करने में उनकी भाषा समर्थ नहीं हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राञ्जल और ऊबड़-खाबड़ हो गयी है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है। मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। रामचन्द्रिका में प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, अनर्घ राघव, कादम्बरी और नैषध की बहुत सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया है जो कहीं कहीं अत्यन्त विकृत हो गया है।"

'केशव ने दो प्रबन्ध काव्य लिखे हैं। एक वीरसिंह देव चरित्र और दूसरा रामचन्द्रिका। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें वीरसिंह देव का चरित्र तो थोड़ा है। दान, लोभ आदि के संवाद भरे पड़े हैं।"

"रामचन्द्रिका अवश्य प्रसिद्ध ग्रन्थ है, यह एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य होती हैं। पहला सम्बन्ध-निर्वाह, दूसरी कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और तीसरी दृश्यों की स्थानगत विशेषता।"

"इन तीनों ही गुणों के निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। इसीसे उनकी रामचन्द्रिका अलग-अलग लिखे

वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता हुआ प्रवाह कहीं भी नजर नहीं आता।"

"सारांश यह कि प्रबन्ध काव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी और न शक्ति ही। परम्परा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के वर्णन ही वे अलंकारों की भरमार के साथ करना जानते थे। इसी से बहुत से वर्णन यों ही बिना अवसर का विचार करते हुए भरते गये हैं... 'रामचन्द्रिका' के लम्बे-चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाट-बाट, नगरों की सजावट, और राज मार्गों की चहल-पहल की ओर विशेष रूप से जाता था।"

"केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है—उनकी अलंकारिक चमत्कार प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत-व्यञ्जना के लिये जगह बचती है और न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिये। पददोष और वाक्य दोष तो जगह-जगह बिना प्रयास के मिल सकते हैं।"

"रामचन्द्रिका में सब से अधिक सफलता हुई है, संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाव पेच भी प्रभावपूर्ण हैं। उनका रावण-अंगद संवाद तुलसी के रावण-अंगद-संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है। रामचन्द्रिका और रसिक-प्रिया—दोनों का रचना-काल कवि ने विक्रम संवत् १६५८ लिखा है।"

"रसिक-प्रिया की रचना प्रौढ़ है। उदाहरणों में चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है। और पद-विन्यास भी अच्छे हैं।"

आचार्य शुक्ल की केशवदास के सम्बन्ध में आलोचना बड़ी युक्ति-युक्त और तर्क-संगत है। हिन्दी-साहित्य में एक युग ऐसा आया था, जब कठिनता ही काव्य का सबसे अच्छा गुण माना जाता था और उसी युग में सम्भव है कि केशवदास के ग्रंथों का विशेष आदर हुआ हो और उन्हें महाकवि की श्रेणी में रख दिया गया हो, मगर आज के युग में जब कि सरलता, प्रवाह, माधुर्य और ओज गुणों की कसौटी पर ही काव्यों की परीक्षा होती है, उस स्थिति में सूर, तुलसी और बिहारी के समान महाकवियों की कोटि में केशवदास को रखना युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। फिर भी केशवदास एक रसिक हृदय के व्यक्ति थे और उनकी रचनाओं ने हिन्दी काव्य के क्षेत्र को विस्तृत किया।

केशवदास की कविता के कुछ अन्य नमूने—

केशव केसनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहि।
चन्द्रमुखी मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहि॥

× × ×

कैटभ सों नरकासुर सों,
पल में मधु सों मुरसों निज मारयो।
लोक चतुर्दश-रक्षक "केशव"
पूरन वेद-पुरान विचारयो।
श्री कमला-कुच-कुंकुम-मण्डन-
पंडित देव, अदेव निहारयो।
सो कर माँगन पै बलि पै,
करतारहु ने कर तार पसारयो॥

केशवचन्द्र सेन

बंगाल के ब्राह्म-समाज के एक मशहूर आचार्य जिनका जन्म सन् १८३८ ई० में और मृत्यु सन् १८८४ ई० में हुई।

चौबीस परगने के अन्तर्गत गंगा-तीर पर 'गरिफा' नामक गाँव के विख्यात सेन-वंश में 'केशवचन्द्रसेन' का जन्म हुआ था। इनके पितामह रामकमल सेन पहले १० रुपये महीने की कंपोजिटरी करते थे, पर बाद में बढ़ते हुए बंगाल-बैंक के दीवान और उसके बाद 'एशियाटिक सोसायटी' के सेक्रेटरी हो गये।

इन्हीं रामकमल सेन के द्वितीय पुत्र प्यारी-मोहन सेन के यहाँ केशवचन्द्र सेन का जन्म हुआ।

लड़कपन से ही केशवचन्द्र सेन के अन्तर्गत धर्म-प्रेम, आत्माभिमान, गम्भीरता तथा एकान्तवास की प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो गयीं तथा साहित्य, इतिहास और दर्शन-शास्त्र में इनका अध्ययन बढ़ने लगा। धर्म के वास्तविक तत्व की खोज के लिये इन्होंने अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया। इस सिलसिले में इन्होंने एक पादरी से

बाइबिल का अध्ययन भी शुरू किया। तब लोगों ने प्रचार किया कि इन्होंने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया है। मगर बाइबिल का अध्ययन केशवचन्द्र सेन ने केवल जिज्ञासा से किया था, ईसाई-धर्म ग्रहण करने के लिये नहीं।

सन् १८५७ में इन्होंने निर्भीकतापूर्वक धर्म की चर्चा करने और हिन्दू-धर्म के मौलिक तत्वों की खोज निकालने के लिये 'गुडविल फ्रेटरनिटी' और विज्ञान तथा साहित्य की आलोचना के लिये 'ब्रिटिश-इंडियन सोसायटी' नामक दो संस्थाओं की स्थापना की। उसके बाद इन्होंने 'इंडियन मिरर' नामक एक पत्र भी प्रकाशित करना प्रारंभ किया।

इन्हीं दिनों नवीनकृष्ण बन्द्योपाध्याय, राजनारायण बसु और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पर्क से इनकी श्रद्धा ब्रह्म-समाज की ओर झुक गयी। ब्रह्म-समाज के नेता भी इनकी विद्वत्ता और उत्कृष्ट भाषण-कला से बहुत प्रभावित थे। फलस्वरूप इसी वर्ष सन् १८५७ में केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म-समाज को ग्रहण कर लिया।

ब्रह्म-समाज में दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने संपूर्ण शक्ति से ब्रह्म-समाज का संगठन करना प्रारंभ किया तथा ब्रह्मचर्य, निरामिष भोजन, मादक द्रव्य का परित्याग इत्यादि कई कठोर नियमों की ब्रह्म-समाजियों के लिये व्यवस्था की।

ब्रह्म-समाज में दीक्षित होजाने के कारण इनके परिवार वाले इनके बहुत खिलाफ हो गये। जिसके कारण इन्हें अपना घर छोड़ना पड़ा और एक ३०) रुपये मासिक की साधारण नौकरी स्वीकार करनी पड़ी।

इन्होंने 'ब्राह्मधर्मेर-अनुष्ठान' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसके अनुसार कितने ही ब्राह्मणों को यज्ञोपवीत त्याग करना पड़ा। इन्होंने अपनी संगत-सभा से 'धर्म-साधन' और 'वामा-बोधिनी' नाम की दो पत्रिकाएँ भी निकालीं।

केशवचन्द्र सेन के यत्न से लोगों का ब्राह्म-धर्म की तरफ अधिक आकर्षण हुआ, जिसके कारण ईसाई-पादरियों का धर्म-प्रचार बहुत कुछ रुक गया।

सन् १८६२ ई० की १३ अप्रैल को केशवचन्द्र कलकत्ता ब्रह्म-समाज के आचार्य बनाए गये और इन्हें 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित किया गया।

उसके पश्चात् केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म-समाज का प्रचार करने के लिये भारत के सभी प्रान्तों और इंग्लैंड का भी दौरा किया। इंग्लैंड में मैक्समूलर, जॉन स्टुअर्ट मिल, स्टेनली, ग्लैडस्टन इत्यादि सुप्रसिद्ध विद्वानों ने इनका भाव-भीना सत्कार किया। वहाँ पर ब्रह्म-समाज के आदर्शों पर इनके कई भाषण हुए। इनकी धारा-प्रवाही वक्तृता को लोग मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे।

सन् १८६५ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ के साथ गंभीर मतभेद हो जाने के कारण, इन्हें आदि ब्रह्म-समाज को छोड़ना पड़ा और सन् १८६६ में इन्होंने भारतवर्षीय ब्रह्म-समाज के नाम से एक नई संस्था की स्थापना की। विलायत से लौटने के पश्चात् इन्होंने 'भारत-संस्कार-सभा' के नाम से भी एक संस्था की स्थापना की। इस सभा के द्वारा सुलभ साहित्य-प्रचार, श्रम जीवियों की शिक्षा, स्त्री-विद्यालय की प्रतिष्ठा, मद्यपान-निवारण आदि कार्य किये जाने लगे।

सन् १८७२ ई० में इन्होंने 'भारत-आश्रम' की प्रतिष्ठा की और युवकों के लिये एक 'ब्रह्म-निकेतन' नामक संस्था की भी स्थापना की। सन् १८७६ ई० में इन्होंने चन्दा माँग करके 'अल्बर्ट हाल' का निर्माण करवाया।

सन् १८७७ की ६ठीं मार्च को इन्होंने अपनी कन्या का विवाह कूच-विहार के राजा नृपेन्द्रनारायण के साथ कर दिया। इस विवाह से इनकी बड़ी निन्दा हुई। क्योंकि नृपेन्द्रनारायण कट्टर सनातन-धर्मी थे। लोग कहने लगे कि रुपये के लालच में पड़कर केशवचन्द्र सेन ने धर्म को चौपट कर दिया।

उसके बाद इन्होंने अपने धर्म का नाम 'नव विधान' रखा। विलायत से लौटने पर केशवचन्द्र सेन जितने दिन तक जिये, केवल धर्म-प्रचार का कार्य ही करते रहे। यह ढोल और करतार लिए घर-घर धर्म-गीत गाते फिरते थे। कोई इन्हें आचार्य और कोई-कोई इन्हें अवतार समझता था। इनका मत किसी धर्म की निन्दा न करना और सबका सार ले लेना था।

इसमें सन्देह नहीं कि केशवचन्द्र सेन बंगाल के असाधारण मेधावी और अवतारिक शक्ति से सम्पन्न पुरुष

थे। ईसाई-धर्म के प्रचारकों के साथ संघर्ष कर इन्होंने ईसाई-धर्म के प्रचार को रोक कर अपने धर्म-प्रचार में सफलता पाई।

ई० सन् १८८४ की ८ जनवरी को केवल ४६ वर्ष की उम्र में इस महान् पुरुष का देहान्त हो गया।

केशवदास राठौर

मध्य भारत की सीतामऊ नामक रियासत के संस्थापक, जिनका समय ईसा की १७वीं सदी के अन्त में था।

यह वह समय था, जब मालवा के मध्य भाग में बहुत शीघ्रता के साथ निरन्तर परिवर्तन हो रहे थे। सन् १६५८ ई० में औरंगजेब के विरुद्ध 'धरमत' के युद्ध में रतनसिंह राठौर के मारे जाने के बाद भी उसके पुत्र रामसिंह तथा रामसिंह के वंशजों का रतलाम की जमींदारी पर अधिकार बना रहा, किन्तु सन् १६६५ में शाही अप्रसन्नता के फलस्वरूप इस राज्य का अस्तित्व मिट गया।

रामसिंह का दूसरा पुत्र केशवदास इस समय 'रतलाम' का अधिपति था। वह शाही-सेना के साथ दक्षिण में सेवा कर रहा था। इधर रतलाम में केशवदास के कर्मचारियों ने इस प्रदेश के अमीन-ई-जिजिया को मार डाला। ज्योंही सम्राट् को इस हत्या की सूचना मिली उसने नाराज होकर रतलाम की जागीरी जब्त कर ली और केशवदास का मनसब भी घटा दिया। फिर भी केशवदास दक्षिण में शाही-सेवा करता ही रहा।

तब सम्राट् ने फिर प्रसन्न होकर, जो जमीन पहले दी जा चुकी थी, उसके सिवाय सन् १७०१ ई० में केशवदास को तितरोद परगने की जागीरी एवं जमींदारी भी दी। पुराने कागजों से ऐसा मालूम होता है कि इसके पहले सम्भवतः नाहरगढ़ का परगना भी केशवदास को जागीर में मिल चुका था।

इस प्रकार ३१ अक्टूबर सन् १७०१ को शाही-फरमान के द्वारा सीतामऊ-राज्य की नींव पड़ी।

सन् १७१४ ई० में जब सम्राट् फर्रुखशिअर ने राजा केशवदास को 'आलोट' का परगना भी जागीर में दे दिया, तब इस राज्य का विस्तार और अधिक हो गया।

केशव-सुत दामले

मराठी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म सन् १८६६ में और मृत्यु सन् १६०५ में हुई।

मराठी-साहित्य के अन्तर्गत सन् १८०८ से लेकर सन् १८८० तक का समय क्रान्तिकारी सुधारों का समय है। इस समय में मराठी-साहित्य के अन्तर्गत युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। इसी युग में ताँत्या गोडबोले, कृष्णशास्त्री, विष्णु बुवा राजवाड़े आदि ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं और अनुवादों से मराठी-साहित्य को समृद्ध किया।

इसी युग में मराठी गद्य के पिता विष्णुशास्त्री चिपलूणकर हुए। जिन्होंने अपनी निबन्ध-माला के द्वारा मराठी के गद्य-साहित्य में एक युगान्तर कर दिया। इसी युग में आगरकर और तिलक ने समाज-सुधार और राजनीति के अन्दर मराठी-साहित्य को गौरवान्वित किया और इसी युग में हरिनारायण आप्टे ने मराठी के उपन्यास-साहित्य को यथार्थवादी और कलात्मक रूप देकर उसको जीवनोपयोगी और सुन्दर बना दिया।

मराठी-साहित्य में जिस प्रकार निबन्ध के क्षेत्र में चिपलूणकर, सामाजिक साहित्य के क्षेत्र में आगरकर, राजनैतिक साहित्य के क्षेत्र में तिलक और उपन्यास के क्षेत्र में हरिनारायण आप्टे का नाम अमर है, उसी प्रकार कविता के क्षेत्र में केशवसुत दामले का नाम भी मराठी-साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाला है। अपनी मनोहर रचनाओं के द्वारा उन्होंने मराठी-साहित्य में सामाजिक जागृति की लहरों को फैलाया। इन्होंने अपनी तूतारी, स्फूर्ति, गोफण, मूर्ति-भञ्जन इत्यादि ओजपूर्ण कविताओं के द्वारा सामाजिक समता, सामाजिक बन्धुता और स्वतंत्रता का जयघोष किया।

छन्दों के अन्दर भी इन्होंने वर्णिक छन्दों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों को अपनाकर कविता में चली आने वाली रूढ़िवादिता का अन्त किया।

मराठी काव्य-क्षेत्र की इतनी बड़ी सेवा करके यह महाकवि केवल २६ वर्ष की आयु में सन् १६०५ में स्वर्गवासी हो गये।

केशवराय पाटन

राजस्थान के बूँदी जिले की एक तहसील और जनपद, जो चम्बल के उत्तर तट पर कोटानगर से १२ मील की दूरी पर बसा हुआ है।

यह स्थान भारत के प्राचीन जनपदों में से एक है। ऐसा कहा जाता है कि हस्तिनापुर के नगर की स्थापना करने वाले भरतवंशी 'राजा हस्ति' के भतीजे राजा रन्तिदेव ने इस शहर को बसाया इसीसे पहले इस स्थान का नाम रन्तिदेव-पाटन था। राजा रन्तिदेव महिष्मती (आधुनिक महेश्वर) के राजा थे।

इस स्थान के मन्दिरों में से दो शिला-लेख प्राप्त हुए हैं जिनके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि ये सन् ३५ और सन् ९३ से सम्बन्धित हैं।

इसके बहुत समय पश्चात् ऐसा कहा जाता है कि 'परशु' नामक किसी व्यक्ति ने जम्बू-मार्गेश्वर नामक एक शिव-मन्दिर बनाया था। धीरे-धीरे यह मन्दिर गिर गया, तब सत्रहवीं सदी में रावराजा छत्रसाल ने इसका जीर्णोद्धार किया और उन्होंने ही केशवराय का भी एक विशाल मन्दिर बनवा दिया। इसी मन्दिर के कारण यह नगर 'केशवराय-पाटन' के नाम से मशहूर हुआ। केशवराय मन्दिर में विष्णु की एक मूर्ति है, जहाँ प्रतिवर्ष भक्तजन पूजा करने के लिये आया करते हैं।

केसरी

मराठी-भाषा का एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्र। जो लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से १ जनवरी सन् १८८१ ई० से पूना से निकलना प्रारंभ हुआ।

उस समय मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्य-सम्राट् विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ६ वर्षों से निबन्ध-माला नामक पत्रिका निकाल रहे थे। इन्होंने एक न्यु इंगलिश स्कूल की स्थापना भी कर रखी थी। इस स्कूल में संस्कृत-इंग्लिश और इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी के लेखक वामन शिवराम आप्टे और उत्साही सम्पादक माधवराव नामजोशी भी अध्यापन का कार्य करते थे।

एक दिन किसी श्राद्ध-तिथि पर तिलक, आगरकर इत्यादि मित्रों की मण्डली जब भोजनार्थ इकट्ठी हुई तो उन लोगों ने १ जनवरी सन् १८८१ ई० से अंग्रेजी भाषा में 'मराठा' और मराठी भाषा में 'केसरी' नामक पत्र निकालने का निश्चय किया।

मगर पत्र छपने के लिये प्रेस की क्या व्यवस्था हो, यह समस्या बड़ी जटिल थी। प्रेस खड़ा करने के लिए पूँजी चाहिये और पूँजी इन में किसी के पास थी नहीं। उस समय एक प्रेस केशव बल्लाल साठे के यहाँ २४०० रुपये में रेहन रखा हुआ था। तब इन सब लोगों ने साठे को चौबीस सौ रुपये का एक 'हैंडनोट' लिख कर, उस पर दस्तखत करके किश्तों से रुपये चुकाने की शर्त पर प्रेस खरीद लिया।

प्रेस को उठा कर शनिवार पेठ में लाने के लिये कुलियों और मजदूरों की प्रतीक्षा न करके ये सब लोग अपने कन्धों पर प्रेस का सारा सामान उठा लाये। इसीसे लोकमान्य तिलक कभी-कभी अभिमान पूर्वक कहा करते थे कि "हमने इन कन्धों पर आर्य-भूषण प्रेस के टाइप की पेटियाँ ढोई हैं।"

इस प्रकार आर्य भूषण प्रेस से अंग्रेजी में 'मराठा' और मराठी में 'केसरी' पत्र के प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। केसरी का पहला अंक ३ जनवरी सन् १८८१ ई० को निकला। इसमें सब लोगों के लिखने के विषय बँटे हुए थे। साहित्यिक लेख चिपलूणकर; इतिहास, अर्थशास्त्र तथा सामाजिक विषयों पर आगरकर और धर्म-शास्त्र तथा कानून पर लोकमान्य तिलक लिखा करते थे।

कुछ समय बाद कोल्हापुर के दीवान 'बरवे' के विषय में एक कथित अपमानजनक लेख लिखने के कारण तिलक और आगरकर को ३॥ महीने तक बम्बई के डोंगरी जेल में रहना पड़ा। जेल से वापस आने पर अक्टूबर सन् १८८७ में सामाजिक विषयों पर आगरकर और तिलक में मतभेद हो जाने से आगरकर इन दोनों पत्रों से अलग हो गये और आर्यभूषण प्रेस, केसरी और मराठा लोकमान्य तिलक के हाथ में आ गये।

लोकमान्य तिलक के हाथ में आने के बाद 'केसरी'

का प्रचार बहुत बढ़ा। भारत के राष्ट्रवादी और देश भक्तों के लिये पढ़ने की उत्कृष्ट सामग्री इसी पत्र में बहुत अधिक मिलती थी और देश के राजनीतिक विकास का प्रतिविम्ब इस पत्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता था।

सन् १८९७ में 'केसरी' में लिखे एक लेख के कारण लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मामला चला। इसमें उन्हें १॥ वर्ष की सख्त सजा हुई, मगर उनकी 'ओरायन' नामक पुस्तक को देखकर प्रोफेसर 'मैक्समूलर' बड़े प्रभावित हुये थे, और उन्होंने रानी विक्टोरिया से प्रार्थना करके उनकी सजा १२ महीने में ही पूरी करवा दी। जेल की इसी अवधि में लोकमान्य तिलक ने 'आर्कटिक होम्स इन दि वेदाज्' नामक एक वृहद्-ग्रन्थ की अंग्रेजी में रचना की।

'केसरी' के इस मामले से सारे भारतवर्ष में बड़ी हलचल मच गयी थी। बंगाल में तिलक के बचाव के लिये एक कमेटी बनी थी और इसने बैरिस्टर 'प्यु' को पैरवी के लिये बंबई भेजा था और मुकद्दमे के खर्च के लिये ४० हजार रुपयों का चन्दा भी हुआ था।

सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक पर एक दूसरा राजद्रोह का मुकदमा चला और इसमें लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष की काले-पानी की सजा हुई। इस सजा की अवधि में उन्होंने "गीता रहस्य" नामक वृहद् ग्रन्थ की मराठी में रचना की।

केसरी पत्र के सम्पादन में लोकमान्य तिलक ने नरसिंह चिन्तामणि केलकर का हमेशा सहयोग प्राप्त किया। केलकर ने अपनी आत्म-कहानी में इस संयोग को ईश्वर का वरदान कहा है। क्योंकि इस पद पर कार्य करते हुए, लिखने और पढ़ने की उनकी उत्कट इच्छा पूरी होने की सम्भावना अनायास उपस्थित हुई। लोकमान्य तिलक के साथ, उनकी अनुपस्थिति में और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी केलकर बराबर केसरी और मराठा-पत्र का सम्पादन करते रहे। तिलक ने दोनों पत्रो के ट्रस्ट में इनको ट्रस्टी भी बनाया।

इस प्रकार 'केसरी' पत्र का इतिहास देश के राजनैतिक इतिहास के साथ-साथ समानान्तर गति से चलता रहा। देश के राजनैतिक विकास में इस पत्र का सक्रिय सहयोग रहा।

केसवालन

ब्रिटेन के अन्तर्गत, प्राचीन युग में, टेम्स-नदी के उत्तरी प्रान्त का शासक 'केसवालन'। जो रोम के महान् शासक जूलियस- सीजर का समकालीन था।

जूलियस-सीजर ने ईसा से ५४ वर्ष पूर्व इंग्लैंड पर दूसरी बार चढ़ाई की। इस बार उसके साथ ८०० जल-यान, ३० हजार पैदल और २ हजार सवार थे। ब्रिटन लोग इस बार समुद्र तट पर इकट्ठे नहीं हुए, किन्तु देश के भीतर जंगलों में छिप गये और ज्योंही 'सीजर' आगे बढ़ा, उस पर अचानक टूट पड़े।

उसके बाद वे केसवालन को अपना मुखिया बनाकर वे रोमन लोगों से लड़ने फिर आ गये। केसवालन ने ३० हजार रोमनों का बड़ी वीरता से सामना किया, पर अन्त को हार गया। सीजर कैंट होता हुआ वेरूलम् तक पहुँचा, जिसे आज कल सेंट-एल्बन्स कहते हैं।

मगर इसी समय सीजर को गॉल (फ्रांस) में विप्लव होने का सन्देश मिला। इसलिए जल्दी से केसवालन के साथ वह सन्धि कर के पुनः गॉल देश को लौट गया।

केसरीसिंह

मालवे की भूतपूर्व रियासत 'रतलाम' का शासक। जो सन् १७१८ तक विद्यमान था।

इस समय रतलाम राज्य में बड़ा भयङ्कर गृह-युद्ध चल रहा था। छत्रसाल राठौर के पश्चात् उसके दो पुत्र केसरीसिंह और प्रतापसिंह तथा एक पौत्र बैरीसाल के बीच में रतलाम का राज्य—तीन बराबर हिस्सों में बांट दिया गया। बैरीसाल की एक बहिन आमेर के राजा जयसिंह को ब्याही थी। अतएव छत्रसाल की मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही बैरीसाल मालवा छोड़ कर अपनी बहन के पास आमेर चला गया। तब केसरीसिंह और

प्रतापसिंह इन दोनों भाइयों में वैरीसाल के हिस्से के लिये झगड़ा प्रारम्भ हुआ। केसरीसिंह बड़ा था इसलिए वही वैरीसाल के हिस्से को दबाकर बैठ गया। तब प्रताप सिंह ने केसरीसिंह को मार डाला और स्वयं रतलाम के तीनों हिस्से का मालिक बन बैठा।

केसरीसिंह का बड़ा लड़का मानसिंह इस समय देहली दरबार में था और उसका छोटा लड़का जयसिंह रतलाम में ही था। जब प्रताप सिंह ने रतलाम पर अधिकार कर लिया तब जयसिंह वहाँ से भागा और माण्डू से अपनी मदद पर शाही सेना लाया और अपने कुछ रिश्तेदारों को साथ लेकर रतलाम पर चढ़ाई की। इस लड़ाई में प्रताप सिंह मारा गया और विजयी सेना के साथ जयसिंह ने रतलाम में प्रवेश किया। मान सिंह भी दिल्ली से लौट आया। अब दोनों भाइयों में केसरी सिंह का हिस्सा मान सिंह को और प्रताप सिंह का हिस्सा सैलाना राज्य जय सिंह को मिला। इस प्रकार मालवे में सैलाना राज्य की नींव सन् १७१८-१६ में पड़ी।

केसरलिंग-हरमान

जर्मनी के एक अध्यात्मवादी प्रसिद्ध विद्वान्, जिनका जन्म सन् १८८० ई० में हुआ।

'केसरलिंग' उन विचारकों में से थे जो प्राचीन सिद्धान्तों का नवीन मूल्यांकन करना चाहते हैं और प्राचीन सभ्यता की बुनियाद के ऊपर नवीन सभ्यता का निर्माण करना चाहते हैं। उन्होंने अपने जीवन में मानव-समाज के अन्तर्गत गंभीर विचारों के प्रति निष्ठा पैदा करने और मनुष्य के जीवन को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया।

सन् १६२२ में उन्होंने 'दोर्मस्तात' में एक ज्ञानपीठ की स्थापना की। यही ज्ञानपीठ उनके उद्देश्य और गौरव का स्मारक बना।

जर्मन-राष्ट्र के सैनिकवाद को केसरलिंग के विचार पसन्द नहीं थे, इसलिए कुछ समय के लिए वे जर्मन नागरिकता से भी वञ्चित कर दिये गये।

केसिनो

मोनाको राज्य का जुआ-घर

फ्रान्स के सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे से सुन्दर राज्य मोनाको का प्रसिद्ध जुआ-घर।

फ्रान्स के द्वारा संरक्षित छोटा सा राज्य 'मोनाको' यूरोप में रात्रिलीला का एक प्रसिद्ध केन्द्र है। जुआ घर, नाइट क्लब, नाच घर, बार, रेस्टरां और होटलों से यह हमेशा सुशोभित रहता है। यूरोप के बड़े-बड़े रईस, मंत्री, लेखक और कलाकार यहाँ की रंगीन-रात्रियों का आनन्द लेने के लिये यहाँ पर आते रहते हैं। इस नन्हें से राज्य का क्षेत्रफल सिर्फ ३८८ एकड़ और यहाँ की जन-संख्या २०४२२ है।

'केसिनो' इस राज्य का एक प्रसिद्ध जुआ-घर है। जो इस राज्य के एक हिस्से "मोण्टे-कार्लो" में बना हुआ है। इस जुआघर में हमारे देश की तरह कौड़ी, पांसा या ताश के पत्तों से जुआ नहीं खेला जाता। यहाँ पर अधिकांश जुआ स्वचालित या दूसरे प्रकार के यंत्रों से खेला जाता है। इन यंत्रों में सब से प्रमुख एक यंत्र होता है जिसे 'स्लाट मशीन' कहते हैं। इस मशीन में एक सिक्का डाल कर किसी विशेष नम्बर पर लीवर दबा देने से वह मशीन चलती है और बदले में या तो कई सिक्के उगल देती है या डाले हुए सिक्के को ही हजम कर जाती है। इस खेल में लाखों की रकम देखते-देखते एक जेब से दूसरी जेब में चली जाती है।

यह जुआ एक विशेष प्रकार की टेबिल पर खेला जाता है। इस टेबिल पर खिलाड़ियों और संचालक के स्थान निर्धारित रहते हैं। खेल प्लास्टिक या लकड़ी के टुकड़ों और कम्पास की तरह एक डिस्क से होता है। इन खेलों में नगद पैसे का लेन देन नहीं होता। जीते हुये टुकड़ों को बाद में बैंक में भुना लिया जाता है। ये प्राइवेट बैंक भी जुआड़ियों की सुविधा के लिये विशेषरूप से चलाये जाते हैं।

जिस प्रकार भारतवर्ष में जुए का खेल अनैतिक और गैर-कानूनी माना जाता है, इस प्रकार मोण्टेकार्लो

में नहीं माना जाता। वहाँ पर यह सार्वजनिक रूप से निःसंकोच होकर खेला जाता है। विन्स्टन 'चर्चिल' के समान प्रधान मंत्री के स्तर के व्यक्ति, पिकासो के समान चित्रकार, समरसेट के समान कहानीकार तथा अनेक उद्योगपति भी केसिनो के जुआघर में अपने मनोरंजन के लिये तथा भाग्य अजमाने के लिये एकत्रित होते रहे हैं।

क्रेनमर-टॉमस

सुप्रसिद्ध केंटरबरी-चर्च का धर्माचार्य, जिसका धर्म-संस्कार सन् १४२३ में हुआ और मृत्यु सन् १५५६ में हुई।

इंग्लैंड में यह समय ट्यूडर-वंश के शासक 'अष्टम हेनरी' का था। इस समय यूरोप भर में प्रसिद्ध ईसाई-धर्म सुधारक 'लूथर' का मत चारों ओर फैल रहा था।

इंग्लैंड में भी बहुत से लोग लूथर के धार्मिक विचारों से सहमत थे। क्रेनमर भी उसके धर्म के सुधारों से प्रभावित था। वह पोप की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध था और ईसाई-धर्म-ग्रंथों का देशी भाषाओं में अनुवाद करने के पक्ष में था।

इसी समय इंग्लैंड के इतिहास में एक ऐसी घटना हो गयी, जिससे टॉमस क्रेनमर का नाम बहुत जल्दी आगे आ गया। बात यह हुई कि अष्टम हेनरी ने अपने बड़े भाई 'आर्थर' की विधवा 'केथेराइन' से विवाह कर लिया था। उससे उसको कई सन्तानें भी हुई थीं, जिसमें एक कन्या 'मेरी' जीवित बची थी। इन्हीं दिनों राजा हेनरी एक दूसरी रूपवती स्त्री 'एनीबोलिन' पर मोहित हो गया। अब केथेराइन ही उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। क्योंकि उसके रहते हुए वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था। तब उसने पोप से प्रार्थना की कि वह केथेराइन का 'तलाक' मंजूर कर ले। मगर पोप ने उस प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। मगर हेनरी तो 'एनीबोलन' से विवाह करने के लिए इतना मतवाला हो रहा था कि उसने पार्लमेंट से 'ऐक्ट ऑफ अपील्स' नामक एक नियम पास कराकर यह निश्चित किया कि देश के धार्मिक विषयों का निर्णय भी देश के बड़े पादरियों के द्वारा इंग्लैंड में ही कराया जायगा। इसके बाद उसने केथेराइन के तलाक का मामला कैंटरबरी-चर्च के धर्माधिकारी टॉमस-क्रेनमर के पास भेज दिया। टॉमस क्रेनमर ने इस पर यह मत दिया कि बड़े भाई की विधवा के साथ विवाह धर्म-ग्रंथों की दृष्टि से अवैध है और इस मामले पर इंग्लैंड का धर्म-न्यायालय निर्णय दे सकता है। इसमें पोप के निर्णय की आवश्यकता नहीं।

इसके बाद क्रेनमर ने राजा हेनरी के कहने से इस विषय पर ईसाई-धर्मशास्त्रों, धर्माचार्यों और धर्म-सभाओं के उद्धरणों के साथ, एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखकर राजा के पास भेज दिया। इस पर राजा ने सन् १५३३ में उसे इंग्लैंड का प्रधान धर्माधिकारी बना दिया।

यह पद ग्रहण करते ही टॉमस क्रेनमर ने यार्क और कैंटरबरी की धर्म-परिषदों का आयोजन करके हेनरी और केथेराइन के तलाक का निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार हेनरी ने तत्काल कैथोरिन को तलाक देकर एनीबोलेन से अपना विवाह कर लिया। उसके बाद राजा हेनरी ने क्रेनमर की सलाह से 'ऐक्ट ऑफ सुप्रीमेसी' पास करवा कर यह निर्धारित कर दिया कि "अब से इंग्लैंड के राजा तथा रानी ही अंग्रेजी-चर्च के मुख्य अधिष्ठाता और सर्वप्रधान आचार्य होंगे।"

अब टॉमस क्रेनमर ने राजा हेनरी से ईसाई धर्म-ग्रन्थों का देशी भाषाओं में अनुवाद करने की आज्ञा प्राप्त कर ली और उसने स्वयं बाइबिल का अंग्रेजी अनुवाद करके सन् १५४० में उसे प्रकाशित करा दिया।

राजा अष्टम हेनरी की मृत्यु के बाद उसका अधिकारी 'छठा एडवर्ड' हुआ। एडवर्ड छठे के समय में टॉमस क्रेनमर ने ईसाई-धर्म की दो नवीन प्रार्थना-पुस्तकें तथा धर्म-व्यवस्था सम्बन्धी 'थर्टीट्ट आर्टिकल्स' को तैयार करके उन्हें कानून के द्वारा मंजूर करवाने में सफलता प्राप्त की।

एडवर्ड छठे के पश्चात् रानी केथेराइन की लड़की 'मेरी ट्यूडर' इंग्लैंड की गद्दी पर आई। यह कट्टर रोमन-कैथोलिक थी और प्रोटेस्टेंट लोगों के प्रति इसके मन में घृणा के भाव थे। टॉमस क्रेनमर से तो यह विशेष रूप से जली हुई थी। क्योंकि उसी ने उसकी माता-केथेराइन और अष्टम हेनरी के तलाक को धर्मविहित बतलाया था

और इसी ने 'मेरी' को उत्तराधिकार से वंचित करने वाली छठे एडवर्ड की वसीयत का समर्थन किया था।

गद्दी पर आते ही 'रानी मेरी' ने पोप का फिर से आधिपत्य स्थापित करने के लिए स्पेन के राजा दूसरे 'फिलिप्स' से विवाह कर लिया और उसके पश्चात् पार्लमेंट से पोप के आधिपत्य को फिर से प्रारंभ करवा दिया। क्रेनमर की चलाई हुई प्रार्थना-पुस्तकों और धर्म-नियमों को उसने खत्म कर दिया। टॉमस क्रेनमर को भी उसने 'आर्क विशप' पद से पदच्युत करके उस पर धर्म-विद्रोह का जुर्म लगाकर जीवित जला देने की आज्ञा दी।

इस प्रकार उसकी आज्ञा से सन् १५५६ में टॉमस-क्रेनमर जीवित जला दिया गया।

मगर इन हत्याओं से रोमन-कैथोलिक मत की जड़ मजबूत नहीं हुई। मेरी-ट्यूडर के मरते ही सन् १५५६ में 'रानी एलिजाबेथ' के शासन-काल में इंग्लैंड फिर से प्रोटेस्टैंट-धर्म का अनुयायी हो गया।

क्रीमियाँ का युद्ध

१६ वीं सदी के मध्य में रूस के साथ टर्की, इंग्लैंड और फ्रांस का होने वाला एक ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण युद्ध, जो जुलाई सन् १८५३ से प्रारंभ होकर सितम्बर सन् १८५५ तक चला।

इस युद्ध का प्रारंभ तुर्क-साम्राज्य के अन्तर्गत पेलिस्टाइन में स्थित 'जेरूसलेम' तथा 'वेथेलहेम' के ईसाई तीर्थ-स्थानों को पुनः लेटिन साधुओं के अधिकार में देने के प्रश्न पर हुआ।

सन् १५३५ की एक सन्धि के अनुसार टर्की के सुल्तान, ने पवित्र रोमन ईसाई तीर्थ-स्थानों की साल-सँभाल फ्रांस के संरक्षण में फ्रेंच-कैथोलिक पादरियों को सौंप दी थी। इसी प्रकार टर्की में स्थित ग्रीक-चर्च के धर्म-स्थान रूस के जार के संरक्षण में दे दिये गये थे, मगर फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति के समय में फ्रांस की उपेक्षा के कारण धीरे-धीरे लेटिन-धर्म स्थानों पर भी ग्रीक-चर्च के साधुओं का अधिकार हो गया था।

सन् १८५० में नेपोलियन तृतीय ने लेटिन-चर्च के अधिकार वापस फ्रांस के निरीक्षण में देने के लिए टर्की के सुल्तान को एक पत्र लिखा। सन १८५२ में उसने अपनी माँग को फिर दुहराई। इस पर कुछ हीलाहवाला करने के बाद सुल्तान ने नेपोलियन तृतीय की मांग को मंजूर कर लिया।

पर इस बात से रूस का जार 'निकोलस' बड़ा रुष्ट हुआ। उसने ग्रीक-चर्च का समर्थन किया और उसके अधिकार उसे वापिस देने के लिए सुल्तान को लिखा। सन् १८५३ में प्रिंस-मेंशीकॉफ नामक व्यक्ति को अपना विशेष दूत नियुक्त कर जार ने कुस्तुन्तनियाँ भेजा और ग्रीक-चर्च के समस्त अनुयायियों पर जार के संरक्षण की मांग की।

इस समय जार निकोलस की नीयत टर्की के साम्राज्य को नष्ट करके उसके टुकड़ों को इंग्लैंड, फ्रांस, आस्ट्रिया और रूस के बीच में बाँट लेने की थी, मगर इंग्लैंड टर्की के अस्तित्व की रक्षा करना चाहता था।

प्रिंस-मेंशिकाफ की माँग पर सुलतान ने ग्रीक-चर्च के सम्बन्ध में रूस की माँगी हुई रियायतें तो दे दीं, पर रूस के संरक्षण की माँग को अस्वीकार कर दिया।

इससे रुष्ट होकर के रूस की सेनाएँ जुलाई सन् १८५३ में 'प्रूथ' नदी को पार कर तुर्की-साम्राज्य में घुस गयीं और उन्होंने मोल्डेविया और वालेशिया प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

इंग्लैंड, फ्रांस और आस्ट्रिया, इस स्थिति को बड़े ध्यान पूर्वक देख रहे थे। रूसी-सेना के द्वारा प्रूथ-नदी पार किये जाने की सूचना के साथ ही इंग्लैंड और फ्रांस का सम्मिलित-बेड़ा बेसिका की खाड़ी को रवाना किया जा चुका था और इंग्लैंड का विदेश-मंत्री 'पामर्स्टन' तो रूस के विरुद्ध इस बेड़े को काले सागर तक में भेजने को तैयार था।

फिर भी राजनैतिक समाधान के लिए इंग्लैंड, फ्रांस, आस्ट्रिया तथा प्रशिया के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन जुलाई सन् १८५३ में 'वीएना' के अन्दर हुआ। इस सम्मेलन ने रूस और टर्की-दोनों को एक-एक पत्र भेजकर ईसाई मत के संरक्षण से सम्बन्धित 'केनार्डजी' तथा 'एड्रियानोपोलकी सन्धियों की भाषा एवं उनके भावों को स्वीकार करने का अनुरोध किया।

रूस का पहले से दावा था कि इन सन्धियों के अनुसार ईसाइयों के संरक्षण का अधिकार उसीका था। और इस पत्र का यही आशय समझ कर उसने उसे स्वीकार कर लिया, परन्तु वास्तव में पत्र की भाषा सन्दिग्ध थी। टर्की में अंग्रेज राजदूत 'स्ट्रेटफोर्ड रेडक्लिफ' ने सुल्तान से पत्र का आशय स्पष्ट करवाने का आग्रह किया और उसके प्रभाव में उसने 'संरक्षण' के साथ 'सुल्तान द्वारा' शब्द जोड़ कर पत्र को स्वीकार कर लिया। मगर रूस ने इस संशोधन को स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

इस तरह से तनातनी बढ़ती गयी। एक ओर इंग्लैंड और फ्रांस का सम्मिलित बेड़ा टर्की को सहायता देने के लिए 'डार्डेनलीज' के जल-संयोजक में घुस गया। दूसरी ओर रूस के बेड़े ने 'साइनोप' के निकट टर्की के बेड़े पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया। इस पर जनवरी सन् १८५४ के आरंभ में इंग्लैंड तथा फ्रांस का सम्मिलित बेड़ा काले सागर में प्रवेश कर गया और इसके दो महीने बाद फ्रान्स तथा इंग्लैंड ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

रूसी सेनाओं ने २३ मार्च को 'वालेशिया' से हटकर 'डेन्यूब' नदी को पार किया और 'सिलिस्ट्रिया' का घेरा डाला, परन्तु तुर्की-सेनाओं ने बड़ी दृढ़ता से उनका मुकाबला किया और रूसी-सेनाएँ सिलिस्ट्रिया को न ले सकीं। इसके कुछ समय पश्चात् फ्रेंच और अंग्रेजी सेनाएँ तुर्की-सेना की सहायता के लिए 'वारना' में उतरीं और आगे बढ़ने लगीं। इससे रूस की स्थिति कमजोर हो गयी।

इसी समय आस्ट्रिया ने रूस से मोल्डेविया तथा वालेशिया से अपनी सेना हटाने की माँग की। ऐसी स्थिति में दबकर ये दोनों प्रदेश रूस ने खाली कर दिये। रूसी-सेनाओं के यहाँ से हटते ही आस्ट्रिया ने टर्की से बातचीत कर अपनी सेना वहाँ पर भेज दी।

इस प्रकार जब इंग्लैंड और फ्रांस का पलड़ा भारी हो गया तो इंग्लैंड और फ्रांस ने अपनी सेनाएँ 'क्रीमिया' प्रायद्वीप में 'सेवेस्टोपोल' पर अधिकार करने को भेज दीं। १४ सितंबर को ये सेनाएँ यूपोटोरिया में पहुँचीं और २० सितम्बर को 'आल्मा' में रूसी सेना को हराया, मगर रूसी जेनरल 'टोडलबेन' ने सेवेस्टोपोल के गढ़ में घुसकर गढ़ की रक्षा की पूरी तैयारी कर ली और फ्रेंच तथा अंग्रेजी सेनाओं ने गढ़ के ऊपर घेरा डाल दिया। मगर इतने ही में जाड़ा बढ़ गया, जिससे अंग्रेज और फ्रेंच-सेनाओं को रसद, बीमारी और सर्दी के कारण बड़ी परेशानी होने लगी। टोडलबेन शत्रुओं के आक्रमण का मुकाबला करता हुआ गढ़ की रक्षा करता रहा।

इसी समय समुद्र में एक भयंकर तूफान उठा, जिससे 'बेलाक्लावा' के बन्दरगाह में अंग्रेजों के सामान ढोने वाले कई जहाज डूब गये। जाड़े भर अंग्रेज और फ्रेंच-सेनाएँ भयंकर कष्ट उठाती रहीं। रसद का पहुँचना बन्द हो गया, घायलों और बीमारों की देख-रेख का कोई प्रबन्ध न था, उनके लिए खाने-पीने, कपड़े, दवाई और बिस्तर की कोई व्यवस्था न थी। इसी दशा में हैजा फैल गया और असंख्य लोग बे-मौत मरने लगे।

मगर इसी समय लार्ड 'एबरडीन' की जगह पर पामर्स्टन इंग्लैंड का प्रधान मंत्री बना और उसने सारी व्यवस्था में सुधार किया। उसने इंग्लैंड से फ्लोरेंस नाइटिंगेल नामक महिला स्वयंसेवकों के दल को युद्ध-क्षेत्र में भेजकर बीमारों और घायलों की सेवा का प्रबन्ध किया।

इसके कुछ समय के पश्चात् जनवरी सन् १८५५ में सार्डिनियाँ के राजा द्वितीय विक्टर इमेन्युएल ने भी रूस से युद्ध छेड़कर १८ हजार सैनिक अंग्रेज और फ्रेंच सेनाओं की सहायता के लिए भेज दिये।

मार्च सन् १८५५ में जार निकोलस की मृत्यु हो गयी और उसकी जगह द्वितीय अलेक्झेंडर 'जार' बना। वह सन्धि करना चाहता था, मगर फ्रेंच और अंग्रेजी सेना सेविस्टोपोल पर अधिकार करने पर तुली हुई थीं। जून में अंग्रेजी सेना ने 'रीडना' पर और फ्रेंच सेना ने 'मेलेकाफ़' पर आक्रमण किया, परन्तु रूसियों ने दोनों ही आक्रमणों को विफल कर दिया, पर अन्त में रूसियों के लिए सेविस्टोपोल की रक्षा करनी असंभव हो गया और १० सितंबर सन् १८५५ को रूसियों ने अपनी बारूद में आग लगा कर गढ़ को छोड़ दिया।

इसके बाद पेरिस में सन्धि-सम्मेलन हुआ और निम्न-लिखित शर्तों के साथ उस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए—

(१) टर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई-प्रजा के विशेषाधिकारों की पुष्टि की और रूस सहित सभी सत्ताओं ने सुल्तान तथा उसकी प्रजा के बीच 'हस्तक्षेप' करने का अधिकार छोड़ दिया।

(२) टर्की यूरोपीय राज्य-समाज में सम्मिलित कर लिया गया और सभी सत्ताओं ने उसे उसके साम्राज्य की स्वतंत्रता की गारंटी दी।

(३) मोल्डेविया तथा वालेशिया पर से रूस का संरक्षण समाप्त कर दिया गया। इन प्रदेशों पर टर्की की प्रभुता बनी रही।

(४) सर्विया की स्वतंत्रता को भी इसी प्रकार की गारंटी दी गयी।

(५) डेन्यूब नदी में सभी देशों के जहाजों का यातायात खुला हो गया और 'बेसरेबियन' का प्रदेश मोल्डेविया को देकर रूस को डेन्यूब नदी के किनारे से हटना पड़ा।

(६) 'कार्स' प्रदेश टर्की को तथा क्रीमियाँ रूस को वापस मिल गया।

(७) कालासागर तटस्थ बना दिया गया। उसमें किसी भी देश के लड़ाई के जहाजों का आना-जाना निषिद्ध ठहराया गया और उसके तट पर शस्त्रागारों के निर्माण का निषेध कर दिया गया।

इस प्रकार क्रीमिया के युद्ध ने टर्की के डूबते हुए अस्तित्व को एक बार फिर से जीवित कर दिया। उसकी स्वतंत्रता और उसके साम्राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय गारंटी मिल गयी।

क्लेरेंडन

इंग्लैंड के राजा 'चार्ल्स प्रथम' का परामर्शदाता और 'चार्ल्स द्वितीय' का प्रधानमंत्री जिसका जन्म सन् १६०६ में और मृत्यु सन् १६७४ में हुई।

उस समय इंग्लैंड की राजगद्दी पर 'स्टुवर्ट-राजवंश' का राजा 'प्रथम चार्ल्स' शासन कर रहा था। इसके शासन-काल में राजा और पार्लमेंट के बीच का झगड़ा, अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। फ्रांस के नरेश १३वें लुई की बहिन से शादी करके उसने प्रोटेस्टेंट-अंग्रेजों को भी नाराज कर लिया था।

इन सब झगड़ों से पार्लमेंट और उसके बीच के मतभेद तीव्र होते जा रहे थे। चार्ल्स पहले दो पार्लमेंटों को तोड़ चुका था। इसलिये मार्च सन् १६२८ में तीसरी पार्लमेंट की बैठक हुई और उसने 'पिटीशन ऑफ राइट्स' नामक अधिकार-पत्र पेश कर दिया। इस अधिकार पर राजा ने बेमन से दस्तखत तो कर दिये मगर उनका पालन करने की उसने विशेष परवाह नहीं की।

उसके बाद राजा चार्ल्स ने पार्लमेंट का फिर से निर्वाचन करवा कर ३ नवंबर सन् १६४० को दीर्घ पार्लमेंट की बैठक बुलाई। यह 'दीर्घ पार्लमेंट' इंग्लैंड की सब से प्रसिद्ध पार्लमेंट गिनी जाती है। इस पार्लमेंट की बैठक दस महीने तक चली। इस पार्लमेंट में जहाँ जॉन पिम्, हैम्पडन तथा क्रॉमवेल ने राजा का घोर विरोध किया, वहाँ 'क्लेरेंडन' ने राजा का समर्थन किया और इसी से वह सन् १६४१ से राजा का गुप्त परामर्शदाता भी हो गया और राजा की ओर से दिये जाने वाले बयान और उत्तर वही तैयार करता था। एक ओर उसने राजा को अवैध कार्य छोड़ने का परामर्श दिया और दूसरी ओर 'कामन्स सभा' में उसने राजा के पक्ष में दल भी संगठित करना प्रारंभ किया।

सन् १६४३ ई० में राजा चार्ल्स ने क्लेरेंडन को 'प्रिवीकौंसिल' का सदस्य और कोष का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया और उसे 'नाइट' की उपाधि प्रदान की।

इसके पश्चात् जब क्लेरेंडन ने राजा चार्ल्स प्रथम को बचाने में अपने को असमर्थ पाया तो वह युवराज चार्ल्स के साथ इंग्लैंड के पश्चिमी प्रदेश में चला गया। उसके बाद वह बराबर युवराज के साथ रहा और जब तक इंग्लैंड में राजतंत्र की फिर से घोषणा नहीं हो गयी, तब तक वह हॉलैंड में युवराज का प्रधान मंत्री रहा।

सन् १६६० ई० में जब इंग्लैंड में राज-तंत्र की पुनः स्थापना का अवसर आया, तब चार्ल्स द्वितीय ने हॉलैंड के 'ब्रेडा' नामक नगर से जो घोषणा (Declaration of

Breda) प्रकाशित की थी, उसका मसविदा क्लेरेंडन ने ही तैयार किया था।

सन् १६६० में जब युवराज, चार्ल्स द्वितीय के नाम से इंग्लैंड का राजा बना, तब उसने क्लेरेंडन को अपने प्रधान-मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया—'अर्ल' की सम्मानीय पदवी प्रदान की, 'ऑक्सफोर्ड' युनिवर्सिटी का चांसलर नियुक्त किया और उसकी पुत्री का विवाह अपने छोटे भाई 'जेम्स' के साथ कर दिया।

क्लेरेंडन इंग्लैंड की राजमान्य 'ऐंग्लीकन' धर्म-प्रणाली का कट्टर समर्थक था। इस प्रणाली के समर्थन के लिये उसने कुछ कानून बनाये जो 'क्लेरेंडन-कोड' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

क्लेरेण्डन-कोड

मई सन् १६६१ में क्लेरेण्डन राजा का प्रधान मंत्री बन चुका था और उसके प्रयत्न से एक नई पार्लमेंट का निर्वाचन हुआ। यह पार्लमेंट 'कैवेलियर' पार्लमेंट के नाम से प्रसिद्ध है। कैवेलियर शब्द राजपक्ष वालों के लिए प्रयुक्त होता था और इस पार्लमेंट में इसी पक्ष का बहुमत था। इस पार्लमेंट ने ईसाई धर्म के प्युरिटन मत को दबाने के लिए चार राजनियम स्वीकृत किये। ये नियम क्लैरेण्डनकोड के नाम से प्रसिद्ध हैं। (१) कारपोरेशन एक्ट, (Corporation Act) इस एक्ट के अनुसार सिर्फ अँगरेजी चर्च की रीतियों को मानने वाले लोग ही शासन सभा के सदस्य हो सकते थे, (२) एक्ट ऑफ़ यूनिफ़ार्मिटी (Act of Uniformity) इस कानून के द्वारा सब पादरियों के लिए अंगरेजी चर्च की प्रार्थना पुस्तक का व्यवहार करना अनिवार्य घोषित कर दिया ग ा। जिस पादरी ने इस नियम को नहीं माना वह निकाल बाहर किया गया। २४ अगस्त सन् १६६२ को इस प्रकार करीब २००० पादरी निकाले गये, (३) कान्वेण्टिकल ऐक्ट (Conventicle Act) इस कानून के अनुसार अंग्रेजी चर्च के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बी पांच से अधिक एकत्र होकर प्रार्थना नहीं कर सकते थे। (४) फ़ाइव माइल एक्ट (Five mile Act) इस ऐक्ट के अनुसार निकाले हुए पादरी न तो किसी विद्यालय में अध्यापक हो सकते थे न किसी बड़े नगर के चारों ओर पाँच मील की सीमा में आ सकते थे।

इन कानूनों के फलस्वरूप प्यूरिटनदल वाले चर्च से प्रथक् करदिये गये और वे नान कनफ़रमिस्ट्स (Non-conformists) नाम से पुकारे जाने लगे।

इसी समय सन् १६६४ ई० में इंग्लैंड का हालैंड के साथ फिर युद्ध छिड़ गया। पार्लमेंट ने जो रुपया चार्ल्स को लड़ाई के लिये दिया था, वह उसने विषय-भोग में उड़ा दिया। डच लोगों के जहाज टेम्स-नदी के मुहाने में घुस आये। उन्होंने ३ अंग्रेजी जहाजों को जला दिया और 'टेम्स' नदी को घेर लिया। अन्त में चार्ल्स द्वितीय को सन् १६६७ में 'ब्रेडा' में हालैंड वालों से एक अपमानपूर्ण सन्धि करनी पड़ी।

ये सब बातें पार्लमेंट को बहुत बुरी लगीं और चूँकि राज्य का प्रधान मंत्री क्लेरेंडन था। इसलिये सारे राज्य में उसकी बहुत बड़ी बदनामी हुई यह देखकर राजा ने उसको प्रधान मंत्री पद से हटा दिया और उसी वर्ष उस पर विश्वासघात और भ्रष्टाचार का मुकदमा चलाया गया। तब वह वहाँ से भाग कर फ्रांस चला गया। फ्रांस में उसने इंग्लैंड के राजा और पार्लमेंट के संघर्ष को 'विद्रोह के इतिहास' के नाम से लिखा।

सन् १६७४ में क्लेरेंडन की 'रूवा' नगर में मृत्यु हो गयी।

क्लेरेंडन की जगह इंग्लैंड में क्लिफर्ड, आर्लिंग्टन, बकिंघम, एश्ले तथा लॉडरडेल इन ५ मंत्रियों का सम्मिलित मंत्रि-मंडल बनाया गया जो केबल 'मंत्रि-मंडल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

क्लेरेंडन जॉर्ज-विलियम

एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ, जिनका जन्म सन् १८०० में और मृत्यु सन् १८७० में हुई।

सन् १८३८ में 'क्लेरेंडन' को 'अर्ल' की सम्मानित उपाधि प्राप्त हुई और उसके साथ ही उन्हें ब्रिटेन में कई ऊँचे पदों पर काम करने को मिला।

इनके जीवन-काल में इनके द्वारा तीन कार्य ऐसे सम्पन्न हुये, जिनकी वजह से ये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमञ्च पर एक सफल राजनीतिज्ञ के रूप में प्रमाणित हुए।

(१) सन् १८३३ में ये स्पेन की राजधानी 'मैड्रिड' में ब्रिटिश-प्रतिनिधि के रूप में गये। उस समय मैड्रिड में स्पेन के राजसिंहासन के उत्तराधिकार का प्रश्न बड़ी तेजी से चल रहा था। क्लेरेंडन ने इस सम्बन्ध में 'ईजाबेला द्वितीय' के उत्तराधिकार का समर्थन कर अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया।

(२) क्लेरेंडन को दूसरी सफलता क्रीमिया-युद्ध (सन् १८५३) के समय में मिली। जब कि पेरिस के सन्धि-सम्मेलन में इन्होंने अपने व्यक्तित्व से आस्ट्रिया, फ्रांस और इटली, इत्यादि सभी राष्ट्रों को अनुकूल करके उस सम्मेलन को सफल बनाया।

(३) इसी प्रकार आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ तथा श्लेस्विग-होलस्टीन-प्रश्न को सुलझाने में भी उन्होंने अपनी बुद्धिमानी का काफी परिचय दिया।

इस प्रकार इंग्लैंड के इस राजनीतिज्ञ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया जिसके व्यक्तित्व ने 'बिस्मार्क' के समान महान् राजनीतिज्ञ को भी प्रभावित किया।

क्लेमांसो

फ्रांस देश के एक प्रसिद्ध प्रधान मंत्री और प्रशासक, जिनका जन्म सन् १८४१ में और मृत्यु सन् १९२९ में हुई।

शुरू-शुरू में जॉर्ज 'क्लेमांसो' एक चिकित्सक के रूप में पेरिस में आये। मगर थोड़े समय के पश्चात् इन्होंने चिकित्सक का व्यवसाय छोड़ कर राजनीति और पत्र-कारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १८६० से सन् १९०२ ई० तक इनके जीवन में कई उतार-चढ़ाव आये, जिनकी वजह से राजनीति के क्षेत्र में इनका अच्छा नाम हो गया। सन् १९०२ में ये फ्रांस की 'सीनेट' के सदस्य चुने गये और उसके पश्चात् इन्होंने फ्रांस के गृहमंत्री और प्रधानमंत्री के पद पर सन् १९०६ से सन् १९०९ तक काम किया।

प्रथम महायुद्ध के समय जब फ्रांस की स्थिति बहुत खराब हो गयी, तब उसकी स्थिति का सुधार करने के लिये, फ्रांस की जनता ने सन् १९१७ में इन्हें फिर फ्रांस के प्रधान मंत्री के आसन पर प्रतिष्ठित किया। सन् १९१७ से सन् १९२० तक ७६ वर्ष की उम्र में, फ्रांस के पुन-संगठन का साहसपूर्ण कार्य इन्होंने सम्पन्न किया। इससे इनका बड़ा नाम हो गया और युद्ध के पश्चात् जब 'वर्साई' का सन्धि-सम्मेलन हुआ, तब वे उसके सभापति बनाये गये।

इस सम्मेलन में प्रेसिडेंट विल्सन, लॉयड जॉर्ज और क्लेमेंसो—तीनों ही व्यक्ति प्रमुख थे। क्लेमांसो अपने राष्ट्र की ओर से कह रहे थे कि—"जर्मनी को इतना कमजोर कर दिया जाय कि वह सन् १९१४ की तरह फिर फ्रांस पर आक्रमण करने के योग्य न रह जाय।'

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर जर्मनी के साथ सन्धि की शर्तें बनाई गयीं, जो करीब ढाई सौ तीन सौ पृष्ठों में लिखी गयी थीं।

इन सन्धि-शर्तों के अनुसार जर्मनी का "अल्सेस लारेन" प्रान्त फ्रांस को दिया गया। पोजेन और प्रशिया का अधिकांश भाग पोलैंड-प्रजातंत्र को दिला दिये गये। इसी प्रकार अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के सभी जर्मन-उपनिवेशों को ब्रिटेन, फ्रांस और जापान ने बांट लिए। इस सन्धि के द्वारा यह भी तय किया गया कि जर्मनी की सैनिक संख्या कभी एक लाख से अधिक न हो। उसके युद्धपोत घटाकर केवल १२ कर दिये गये।

ये सब धाराएँ जर्मन-सैनिकवाद के खतरे को हमेशा के लिए दूर करने के लिए बनाई गयी थीं। इस प्रकार अपने 'मिशन' में पूर्ण सफलता प्राप्त करके क्लेमांसो पेरिस आये।

इसके बाद ८० वर्ष की आयु में इन्होंने राजनैतिक जीवन से सन्यास ग्रहण कर लिया और सन् १९२९ में उनकी मृत्यु हो गयी।

क्लेमांसो ने अपने ख्याल से जर्मन-सैनिकवाद को बिल्कुल समाप्त कर दिया था। फिर भी बहुत शीघ्र समय ने यह बतला दिया कि उनका ख्याल गलत था। केवल १५ वर्ष की अवधि में ही जर्मन-सैनिकवाद ने वह भयंकर रूप धारण किया कि जिसे देख कर सारी दुनियाँ आश्चर्य-चकित हो गयी और दूसरी लड़ाई शुरू होते ही उसने फ्रांस को ऐसी टक्कर लगाई जैसी टक्कर फ्रांस ने अपने इतिहास में कभी नहीं खाई थी।

क्लेरो

फ्रांस के एक सुप्रसिद्ध गणित शास्त्री, जिनका जन्म सन् १७१३ में और मृत्यु सन् १७६५ में हुई।

गणित-शास्त्र के क्षेत्र में 'क्लेरो' को ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा प्राप्त हुई थी। जिसके कारण बचपन से ही ये इस विषय में दिलचस्पी लेने लगे थे। केवल १६ वर्ष की उम्र में इन्होंने गणित-शास्त्र पर एक महत्वपूर्ण रचना की। इनकी प्रतिभा को देखकर फ्रांस की 'एकेडेमी दि साइंसेज' ने इनको अपना सदस्य बना दिया। उसके पश्चात् ये इंग्लैंड की 'रायल सोसाइटी' के भी 'फेलो' चुन लिए गये। इन्होंने गुरुत्वाकर्षण, खगोल-विद्या तथा गणित सम्बन्धी कई विषयों पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये।

केंटरबरी-टेल्स

इंग्लैंड के प्रथम महाकवि 'चासर' द्वारा रची हुई कहानियों का सुप्रसिद्ध संग्रह जो अंग्रेजी में 'केंटरबरी टेल्स' नाम से मशहूर है।

इन कहानियों का प्रारंभ महाकवि 'चासर' ने 'केंटरबरी चर्च' में 'टामस बेकेट' की समाधि पर पूजा के लिए जाने वाले ३० यात्रियों के मुँह से करवाया है। केंटरबरी में एकत्रित इन ३० यात्रियों में से हरेक यात्री चार-चार कहानी कहता है। इस प्रकार १२० कहानियों में यह पुस्तक पूर्ण होती है।

इन यात्रियों के मुँह से तत्कालीन ब्रिटिश समाज के सभी प्रकार के वर्गों का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ किया है।

इन कहानियों में इस महाकवि ने हास्य और व्यंग्य के साथ-साथ उस समय के लोक-जीवन का सजीव चित्र-चित्रण किया है।

केंटरबरी टेल्स अंग्रेजी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

कैकुबाद

दिल्ली का एक मुसलमान बादशाह जो गयासुद्दीन बलबन का पौत्र और नासिरुद्दीन का पुत्र था। इसका शासन काल सन् १२८६ से सन् १२८८ तक रहा।

गयासुद्दीन बलबन की मृत्यु सन् १२८६ में हुई। उस समय गयासुद्दीन का पुत्र नासिरुद्दीन बङ्गाल का सूबेदार था। वह बलबन की मृत्यु के समय उपस्थित न था। तब गया सुद्दीन मरते समय मुहम्मद के पुत्र खुसरू को राज्य पर अभिषिक्त कर गया। खुसरू के पिता से राज्य के सेनापति नाराज थे। इसलिए उनके डर से खुसरू को राज्य छोड़कर मुलतान भागना पड़ा और 'कैकुबाद' दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी उम्र केवल १८ वर्ष की थी।

कुछ समय पश्चात् ही सत्ता के मद में आकर कैकुबाद विलासी और ऐय्याश हो गया। नाजिम-उद्-दीन नामक एक राज-कर्मचारी उसके मुँह लगा हुआ था। राजा की ऐसी खराब हालत को देखकर उसने कैकुबाद को हटा कर स्वयं गद्दी पर बैठना चाहा।

इस काम के लिए सब से पहले उसने खुसरो की हत्या करवायी और फिर गुप्त रूप से अपने विरोधी सभी राज कर्मचारियों को मरवाने लगा। उसने कैकुबाद के सामने मुगल सेना के विश्वासघात की बातें बनाकर मुगल सेनापतियों को जेल में डलवा दिया।

यह बात जब कैकुबाद के पिता नासिर को बङ्गाल में मालूम हुई तो वह बड़ा दुःखी हुआ और एक सेना लेकर दिल्ली पहुँचा। जब कैकुबाद को यह बात मालूम हुई तो वह भी सेना लेकर बाप से लड़ने पहुँचा। मगर अन्त में नासिर के प्रयत्न से बिना लड़े ही बाप-बेटों में संधि हो गई।

इसके बाद बाप की सलाह से कैकुबाद ने विष-प्रयोग के द्वारा निजाम उद्दीन को खतम किया। मगर उसके कुछ समय बाद ही उसको लकवा हो गया और जलालुद्दीन खिलजी उसको मारकर सन् १२८८ दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठ गया।

कैक्स्टन विलियम

इंग्लैण्ड में सबसे पहले प्रिंटिङ्ग-प्रेस का स्थापक और मुद्रक। जिसका जन्म सन् १४२२ में और मृत्यु सन् १४९१ में हुई।

कैक्स्टन ने सन् १४७० में सबसे पहला प्रिंटिंग प्रेस ब्रगेस नामक स्थान पर लगाया और वहीं से अपनी अनूदित पुस्तक "रिकाल ऑफ़ दी हिस्ट्री ऑफ़ ट्राय" को प्रकाशित किया। सन् १४७६ में इन्होंने इंग्लैंड में अपना प्रेस लगाया और यहीं से इन्होंने अपना मुद्रण और प्रकाशन कार्य्य प्रारम्भ किया। यहां से इन्होंने "इंडल्जेंस" नामक पहला प्रकाशन सन् १४७६ में किया।

कैक्स्टन मुद्रक और प्रकाशक के साथ स्वयं एक अच्छे लेखक और अनुवादक थे। उन्होंने कई पुस्तकों का फ्रेञ्च भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद कर उनको प्रकाशित करके इंग्लैंड में एक नवीन युग का सूत्रपात किया।

कैंडी

लंका का एक प्रमुख सांस्कृतिक नगर जो कोलम्बो से ७५ मील उत्तर-पूर्व एक अत्यन्त सुन्दर झील के किनारे बसा हुआ है।

कैंडी में बहुत से हिन्दू और बौद्ध-मन्दिर बने हुए हैं जिसमें 'दालदा-मालीगावा' का बौद्ध मन्दिर सारे संसार में प्रसिद्ध है। इस मन्दिर में भगवान बुद्ध का एक दांत भी रखा हुआ है।

यह नगर लंका की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का द्योतक है। चाय का उद्योग इस नगर का प्रमुख उद्योग है।

कैथेराइन द्वितीय

(रूस की सम्राज्ञी)

रूस के जार 'पीटर तृतीय' की पत्नी जो अपने नालायक पति को मरवा कर सन् १७६२ में रूस के सिंहासन पर बैठी।

कैथेराइन द्वितीय का पूरा परिचय एकातेरीना द्वितीय के नाम से इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में पृष्ठ ५७० पर देखें।

कैथेराइन

(इंग्लैण्ड की महारानी)

इंग्लैंड के राजा अष्टम हेनरी की रानी। अष्टम हेनरी का शासन काल सन् १५०९ से सन् १५४७ तक था।

'कैथेराइन' इंग्लैण्ड के राजा अष्टम हेनरी के बड़े भाई 'आर्थर' की पत्नी थी मगर आर्थर की मृत्यु होने के पश्चात् अष्टम हेनरी ने उससे विवाह कर लिया था। हेनरी से उसको कई सन्तानें भी हुईं, जिनमें से केवल एक 'मेरी' नाम की कन्या ही बची जो आगे चल कर इंग्लैण्ड की रानी बनी।

कुछ वर्षों के पश्चात् हेनरी ने 'एनीबोलन' नामक एक सुन्दरी स्त्री को देखा और उससे उसका प्रेम हो गया। मगर राजवंश की परम्परा के अनुसार एक स्त्री के रहते वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था। इसलिये उसने कैथेराइन को तलाक देने के लिये पोप से प्रार्थना की, मगर पोप ने इस तलाक को अस्वीकार कर दिया।

तब हेनरी ने एक कानून पार्लमेंट से पास करवाकर कंटरबरी-चर्च के पादरी टामस-क्रेनमर से तलाक की व्यवस्था लेकर कैथेराइन को तलाक दे दिया और एनीबोलन से विवाह कर लिया। प्रसिद्ध महारानी एलिजाबेथ एनीबोलन की ही लड़की थी।

कुछ समय बाद हेनरी एनी-बोलन से भी नाराज हो गया और उसको भी उसने फाँसी दिलवा दी।

कैथेराइन ब्रेश्कोवस्की

रूस की एक सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी महिला, जिनका जन्म सन् १८४४ में रूस के "शर्नीगोव" ग्राम में और मृत्यु सन् १९३४ में प्रेग में हुई।

कैथेराइन में बचपन से ही गरीबों के प्रति सहानुभूति के भाव पैदा हो गये थे। उसकी मां उसे बाइबिल की कहानियाँ सुनाया करती थी। इससे कैथेराइन पर धर्म और परोपकार के संस्कार मजबूती से जम गये। एक दिन वह अपना पहनने का नया कोट किसी अधनङ्गे भिखारी को दे आई। जब उसकी माने उसे गुस्से में भर कर इस बात के लिये डांटा तो उसने कहा—"मां! नाराज क्यों होती हो, तुम्हींने तो हमें बाइबिल में दिखाया था कि अगर तुम्हारे पास दो कोट हों तो उनमे से एक किसी जरूरत मन्द को दे दो।"

आठ वर्ष की उम्र में अपनी बाल-बुद्धि से भी वह इसी प्रकार गरीबों के हित की बातें सोचती रहती थीं। कहती थी—"माँ! मैं कैलीफोर्निया जाऊँगी। वहाँ से बहुत सा सोने का ढेर खोद कर रूस में लाऊँगी। फिर इतनी बड़ी जमीन खरीदूँगी जो आकाश से भी बड़ी होगी और जिसमें सभी मुसीबत के मारे-अभागे व्यक्ति सुख से रह सकेंगे।"

विश्व के अगणित पीड़ितों की कल्याण-साधना के लिये कैथेराइन का दिल सदैव मचलता रहता था। एक सम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी उनमें विद्रोही भावनाएँ और पूँजीवादी समाज व्यवस्था को उलट-पुलट कर देने की बलवती आकांक्षा विद्यमान थी। रूसो और वाल्टेयर की रचनाओं का उनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

इसी बीच कैथेराइन का सम्पर्क अराजकवाद के आचार्य महान् क्रान्तिकारी प्रिन्स क्रोपाट्किन से हुआ। प्रिन्स क्रोपाट्किन के विद्रोही विचारो और जोशीले शब्दों का कैथेरीन पर भारी असर पड़ा और उनके जीवन ने एक नया मोड़ ग्रहण किया। उन्होंने त्रस्त मानवता का उद्धार करने के लिये अपना जीवन अर्पित करने का संकल्प किया।

उन्होंने इस कार्य में आने के लिए अपने पति को भी आह्वान किया। मगर उनके हीला-हवाला करने पर यह अकेले ही अपने पथ पर निकल पड़ी। इस समय वे गर्भवती थीं। अतः प्रसव काल तक अपनी बहन के यहाँ ठहरीं और बच्चा हो जाने के पश्चात् उस बच्चे को अपने भाई और भाभी की गोद में छोड़ कर अपने गन्तव्य की ओर निकल पड़ीं।

सन् १८७४ की भीषण गर्मी में कैथेरीन अपने दो सहयोगियों के साथ नकली पासपोर्ट बनवाकर रवाना हुई और अपने साथियों के साथ शरकास नगर में उतरी और वहाँ से गाँव-गाँव, शहर-शहर पैदलयात्रा करके अपने विचारों का प्रचार करती रहीं। गाँवों की ऊँची, नीची और दलदली जमीन में चलने से उनके पांव सुन्न हो जाते थे। मगर वह साहस नहीं छोड़ती थी। ग्रामवासियों के रहन सहन की भयङ्कर दशा, उनके कच्चे मकानों की अन्धेरी कोठरियाँ, इन कोठरियों में मकड़ी के जाले, कीड़े झींगुर और चूहों के बिल देखकर उन लोगों की हीन दशा पर उसका हृदय आर्त्तनाद कर उठता था।

मगर सबसे बड़ा आश्चर्य तो उसे वहाँ रहने वाले लोगों की मानसिक स्थिति पर होता था जो इन कोठरियों की तरह ही अन्धकार से परिपूर्ण थी, उनकी मन स्थिति का वर्णन करते हुए वह लिखती है—

"जैसी ही वे मनहूस अन्धेरी कोठरियाँ थीं, वैसे ही उनके मस्तिष्क भी अन्धकारपूर्ण थे। पूँजीवादी विकृतियों ने उन्हें सांस्कृतिक चेतना-शून्य और जीवन-हीन अमानवीय व्यापारों ने उनके सम्पूर्ण जीवन रस को सोखकर उन्हें मानवता की महान् उपलब्धियों से वंचित कर दिया था।"

कैथेरीन ने उनमें चेतना जगाने का प्रयास किया। कृषकों, मजदूरों और चिन्ताग्रस्त मानवों के समूह में वे भाषण देतीं, शिक्षाप्रद रोचक कहानियाँ सुनातीं। उनके द्वारा सहे हुए क्लेशों, दुःखों और अपमानों की तिलमिला देनेवाली कहानियाँ सुनातीं। जिनका उन पर बिजली की तरह असर होता था।

कैथेरीन के इस प्रचार से सरकार तिलमिला उठी और उसने उनको पकड़कर एक काल-कोठरी में डाल

दिया। और उसके बाद शीघ्र ही उन्हें साइबीरिया भेजने का दण्ड दिया गया।

कई दिनों की कष्टदायक लम्बी यात्रा तय कर लेने के बाद कैथेरिन कारा की खानों में पहुँचाई गयीं। वहाँ से उन्हें साइबेरिया के बर्फीले नगर बारगुजिन को जाना था। एक हजार मील लम्बे, दुरूह पथ को पैदल ही पार करना था। उन्होंने लिखा है कि—"सभी कैदी शीत से ठिठुर रहे थे। कोई भी किसीसे बात न करता था। बर्फ से ढँके विस्तृत मैदान की नीरवता हवा की सनसनाहट से ही भंग होती थी। 'बरगुजिन' में निर्वासित कैदियों के मृत शरीर इधर-उधर बर्फ पर पड़े हुए दिखाई दे रहे थे।"

सन् १८९६ में साइबेरिया से छूट कर ये रूस आयी। और यहाँ फिर क्रान्तिकारी दल में शरीक हो गयी और छद्मवेश में काम करना शुरू कर दिया।

उन्हीं दिनों वह भ्रमण करने के उद्देश्य से अमेरिका गयीं। वहाँ पर हजारों मनुष्यों की भीड़ इस क्रान्तिकारी नारी को देखने के लिए उमड़ पड़ी। उनकी वाणी जैसे आग उगलती थी। उनके मित्रों ने उनसे कुछ दिनों तक अमेरिका में रहने का अनुरोध किया। किन्तु वे अधिक दिनों तक वहाँ न रुक कर रूस आ गयीं। रूस आने पर वे फिर पकड़ ली गयीं। इस बार उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड मिला, और वे साइबेरिया भेज दी गयीं। वहाँ पर उन्हें जानबूझ कर अत्यधिक बर्फीले स्थानों पर रखा जाता था जिससे उनका जीवन शीघ्र समाप्त हो जाय।

मगर ज्यों-ज्यों कठिन विपत्तियों से वे निकलती जाती थीं, त्यों-त्यों उनके शरीर का निखार बढ़ता जाता था और ७० वर्ष की इस उम्र में भी उनके चेहरे का तेज बराबर बना हुआ था। सरकारी अफ़सर उनके धैर्य और साहस पर दंग हो जाते थे। ऐसा ज्ञात होता था कि जैसे पार्थिव शक्ति इस नारी को मार सकने में समर्थ नहीं है। उनका कुछ ऐसा निराला व्यक्तित्व था जो अनेकानेक कष्टों को सहकर भी विचलित नहीं हुआ।

६ जासूस उनका निरीक्षण करने पर तैनात थे, पर इतने कड़े प्रतिबन्ध में भी उन्होंने छिप कर भागने की तैयारी करली और थोड़े ही समय में बहुत दूर निकल गयीं। पर सीमा पर पहुँचते ही उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया। और इस बार उन्हें उत्तरी बर्फिस्तान में भेज दिया गया, जहाँ जीने की आशा व्यर्थ थी।

मगर इसी समय समाचार आया कि रूस में जारशाही का खातमा हो गया और रूस स्वतन्त्र हो गया। इसी सिलसिले में सब कैदियों को छोड़ दिया गया।

कैथेराइन का रूस की आजादी का स्वप्न पूरा हो चुका था। जिससे उनको बड़ा हर्ष था, मगर बोल्शेविक सरकार से मतभेद हो जाने के कारण वे फिर जैकोस्लाविया में निर्वासित कर दी गयी। वहाँ से वे 'प्रेग' चली गयीं और ७६ वर्ष की वृद्धावस्था में भी इस कर्मठ महिला ने गरीब बालकों के लिए स्कूल खोल दिया। अपने जीवन के अवशिष्ट १४ वर्षों तक वे अविकसित कोमल मस्तिष्कों में नवचेतना भरने का प्रयास करती रहीं। वे कहती थीं—"एक महान युग दृष्टिपथ में है। मैं अपने अन्तर्चक्षुओं से उसे देख रही हूँ। एक ऐसा युग, जिसमें समस्त देश, राष्ट्र और जातियाँ समस्त भेद-भाव मिटाकर एक हो जायँगी।'

कैनाडा

उत्तरी अमेरिका महाद्वीप में एक विशाल ब्रिटिश 'डोमिनियन'। जिसका क्षेत्रफल ३८,५१,१५३ वर्गमील है। इसमें ३५,५६,९६० वर्गमील भूमिक्षेत्र और २,०१२५३ वर्गमील जलक्षेत्र है। यहां की जनसंख्या १,६४,२०००० (सन् १९५७ की गणना से) है। इसमें ४८ प्रतिशत ब्रिटिश, ३१ प्रतिशत फ्रेञ्च, ४ प्रतिशत जर्मन और १७ प्रतिशत अन्य लोग हैं। यहां की राजधानी 'ओटावा', यहां की मुख्य मुद्रा 'कैनेडियन डॉलर' और यहां के प्रधान धर्म, रोमन-कैथोलिक और प्रोटेस्टण्ट हैं।

कैनाडा की सीमा उत्तर में उत्तरी ध्रुव को छूती है। दक्षिण में संयुक्त राज्य अमेरिका की उत्तरी सीमा से लगी हुई है। पश्चिम में इसकी सीमा प्रशान्त महासागर से और पूर्व में अन्ध-महासागर से लगी हुई है।

ऐतिहासिक परिचय

कैनाडा की खोज सबसे पहले 'नार्स' जाति के लोगों के द्वारा ईसा की १० वीं शताब्दी में हुई—ऐसा समझा जाता

है। ये लोग इसके पूर्वतट पर अपने छोटे-छोटे उपनिवेश बनाकर वसे हुए थे।

मगर १६ वीं शताब्दी में 'कार्टियर' नामक व्यक्ति ने 'सेंट लारेंस' की घाटी को खोज निकाला। तब से यूरोपियन लोगों ने यहाँ पर बसना शुरू किया। इनमें ज्यादा तर लोग फ्रांस के थे।

सन् १७६० में यह प्रदेश ग्रेट-ब्रिटेन के हाथ में आ गया। सन् १७६१ में पश्चिमी कैनाडा, जिसमें अंग्रेज रहते थे और पूर्वी कैनाडा, जिसमें फ्रेंच लोग रहते थे, अलग-अलग कर दिये गये। सन् १८३७ में उन प्रान्तों ने जिनमें फ्रेंच भाषा बोली जाती थी, विद्रोह किया। क्योंकि वे ब्रिटिश-शासन से सन्तुष्ट नहीं थे। अंग्रेजी-सेना ने विद्रोह का दमन कर दिया, पर उसके बाद सन् १८४० में दोनों प्रान्तों को एक कर उनको स्वराज्य दे दिया गया। उस समय से कैनाडा का राज्य शान्तिभाव से पश्चिम की ओर बढ़ता चला जा रहा है।

कैनाडा के अतिरिक्त उत्तरी अमेरिका में और भी ब्रिटिश-उपनिवेश थे। जो सन् १८६७ में मिलाकर 'डोमीनियन ऑफ कैनाडा' के नाम से संगठित कर दिये गये। इन में नोवास्कोशिया, न्यू ब्रांजविक, प्रिंस एडवर्ड द्वीप, ब्रिटिश कोलंबिया, एल्बर्टा, मेनीटोबा, न्यु फाउण्ड-लैंड, ऑटेरियो, क्वीवेक, सेस्केचेवान, नार्थ-वेस्टर्न टेरीटरी और य्यूकन टेरीटरी सम्मिलित हैं।

इन प्रान्तों में प्रत्येक प्रान्त में अलग-अलग पार्लमेंट है, परन्तु ये अपने प्रतिनिधि केन्द्रीय पार्लमेंट ओटावा में भी भेजते हैं।

कैनाडा का शासन

कैनाडा 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' का एक स्वशासन प्राप्त 'डोमिनियन' है। रानी की तरफ से यहाँ का वैधानिक शासक गवर्नर-जेनरल के नाम से रहता है। इसको ब्रिटिश गवर्नमेंट, कैनेडियन-गवर्नमेंट की सलाह से नामजद करती है। इसका ओहदा बड़ा होने पर भी इसके अधिकार बहुत सीमित होते हैं। गवर्नर-जनरल कैनाडा के प्रधान मंत्री और कैबिनेट को अपनी सलाह मात्र दे सकता है।

गवर्नर-जनरल के अधिकार में १० प्रान्तीय गवर्नर होते हैं, जो ब्रिटेन की सम्राज्ञी का प्रतिनिधित्व करते हैं, मगर जिनकी नियुक्ति गवर्नर जेनरल के द्वारा होती है। इनके अधिकार भी उसी प्रकार सीमित रहते हैं।

सर्वाधिकार-सम्पन्न संस्था-यहाँ की पार्लमेंट, कैबिनेट और प्रधान मंत्री होते हैं।

यहाँ की पार्लमेंट में दो हाउस होते हैं। पहला सीनेट, जिसमें १०२ मेम्बर होते हैं और जो जीवन भर के लिए नियुक्त किये जाते हैं और दूसरा हाउस ऑफ कामन्स, जिसमें २६५ मेम्बर होते हैं। जो हर पाँच वर्ष में बालिग मताधिकार के द्वारा चुने जाते हैं। हाउस ऑफ कामन्स में बहुमत पार्टी अपना नेता चुनती है, जो वहाँ का प्रधान मंत्री होता है। कोई भी कानून दोनों सभाओं में स्वीकृत होने के पश्चात् गवर्नर-जनरल से मंजूर हो जाने पर अमल में आता है।

राजनैतिक पार्टियाँ

और-और देशों की तरह यहाँ पर भी कई राजनैतिक पार्टियाँ हैं, जिनमें लिबरल पार्टी, प्रोग्रेसिव कंजरवेटिव पार्टी और को-आपरेटिव कामन वेल्थ फेडरेशन—ये तीन पार्टियाँ उल्लेखनीय हैं। इन तीनों पार्टियों में जो पार्टी बहुमत में आ जाती है, वह शासन करती है। शेष विरोधी पार्टियों का काम करती हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य

कैनाडा-डोमीनियन बड़ी-बड़ी विशाल झीलों, नदियों और पर्वत-श्रेणियों के प्राकृतिक सौन्दर्य से शोभायमान है। इन झीलों में लेक सुपिरिअर (Lake Superiar) लेक मीचीगन (Lake Michigan) लेक हूरोन (Lake Huron) लेक एरी (Lake Erie) लेक ओंटारियो (Lake Ontario) ये सब बड़ी-बड़ी झीलें हैं। यहाँ की प्रसिद्ध नदियों में एथेबेस्का (Athebasca) मेकेंजी (Mackengie) पीस (Peace) ओटावा (Otawa) सेगुनी (Sagtunay) सेवरन (Severn) अल्बानी (Albany) नोटावे (Nottaway) कोलम्बिया (Columbia) इत्यादि नदियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ नदियाँ अटलांटिक समुद्र में, कुछ पैसेफिक सागर में और कुछ हडसन की खाड़ी में गिरती हैं।

खनिज द्रव्य

कैनेडा में खनिज-द्रव्य भी बहुतायत से पैदा होते हैं। इन खनिज द्रव्यों में कोयला, सोना, चांदी, प्लेटिनम, निकल, ताँबा, शीशा और पेट्रोलियम प्रधान हैं। निकल की धातु की उत्पत्ति के लिए कैनाडा सारी दुनिया में अपना प्रधान स्थान रखता है। युरेनियम की उत्पत्ति भी यहाँ पर बहुत अधिक होती है और इस सम्बन्ध में इसका वेल्जियन-काँगो के बाद दुनियाँ में दूसरा नंबर है।

इसके अतिरिक्त कनाडा में एल्युमीनियम से सम्बन्ध रखने वाली कच्ची धातुएँ भी बहुत बड़े परिमाण में पैदा होती हैं और इन सब धातुओं का यहाँ से निर्यात होता है।

सन् १९५८ में यहाँ का खनिज-उत्पादन २ अरब १२ करोड़ २० लाख डालर मूल्य का हुआ था।

खेती-बारी

खनिज-सम्पदा के साथ-साथ यहाँ की भूमि भी अत्यन्त उर्वरा और फलप्रदा है। यहाँ की भूमि में गेहूँ, जौ, जयी, सब प्रकार के फल-वृक्ष, तम्बाकू, सोयाबीन, शकरकन्द, मीठे फलों के वृक्ष—जिनके फलों से शर्बत बनाया जाता है—बहुत मात्रा में पैदा होते हैं।

इस डोमीनियन में करीब १७॥ करोड़ एकड़ भूमि में खेती होती है। यहाँ के कृषकों की वार्षिक आय करीब पाँच सौ करोड़ डालर अनुमान की जाती है। यहाँ की गवर्नमेंट इन किसानों की सुविधा और सम्पन्नता के लिए पूरा-पूरा ध्यान रखती है। यहाँ पर 'कैनाडियन-ह्वीट-बोर्ड' बना हुआ है, जो यहाँ से सब प्रकार के अन्न का निर्यात करने में माध्यम का काम करता है।

खेती और उद्योगों की सुविधा के लिये कैनाडा में जल-विद्युत्-शक्ति का जाल बिछा हुआ है। सन १९०० में इस देश में जहाँ केवल १ लाख ७३ हजार हॉर्स-पावर की विद्युत्-शक्ति पैदा होती थी, वहाँ सन् १९५८ में यह विद्युत्-शक्ति २ करोड़ ३५ लाख ५० हजार हॉर्स-पावर पर पहुँच गयी है और अब तो वहाँ पर परमाणु-शक्ति के द्वारा भी विद्युत्-शक्ति के उत्पन्न करने के प्रयत्न बड़ी तेजी से चल रहे हैं।

कृषि की उन्नति के लिए कैनाडा के प्रत्येक प्रान्त में 'कृषि-अनुसन्धान-केन्द्र' बने हुए हैं। ये केन्द्र कृषकों को कृषि-सम्बन्धी नये-नये अनुसन्धानों से परिचित कराते रहते हैं। कैनाडा में कृषि के लिए यंत्र-कला का भी बहुत उपयोग होता है।

सन् १९५८ में इस देश में प्रायः ५ लाख ट्रेक्टर तथा १॥ लाख अनाज काटने तथा साफ करने वाली मशीनें काम में लगी थीं। कृषि की तरह पशुपालन और डेयरी-उद्योग में भी यह देश बहुत आगे बढ़ा हुआ है और दूध, दही, मक्खन का उत्पादन भी यहाँ काफी मात्रा में होता है। पशुओं को खिलाने के लिए यहाँ पर घास की खेती की जाती है।

खेती और खनिज-सम्पदा के साथ औद्योगिक-क्षेत्र में भी कैनाडा सारे संसार में, अमेरिका, युनाइटेड किंग्डम और पश्चिमी जर्मनी के पश्चात् चौथे नम्बर का देश माना जाता है। यहाँ पर कागज, अखबारी कागज, लुग्दी, लकड़ी के सामान, तथा वायुयान, रेलें और मोटर बनाने के उद्योग, अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। इस देश की एक तिहाई जनता, यहाँ के ३७ हजार कारखानों में काम करती है। इन कारखानों से उसे ४ अरब ६० करोड़ डालर की प्रतिवर्ष आय होती है।

यातायात की सुविधा के लिये सन् १८८५ ई० में यहाँ पर "कैनेडियन पैसेफिक रेलवे", की स्थापना की गयी जो अटलांटिक सागर के किनारे-किनारे हेलीफाक्स से प्रशान्त सागर के किनारे, वानकोवर तक चली गयी है।

कैनेडा के प्रसिद्ध नगर

कैनेडा के प्रसिद्ध नगरों में 'ओटावा' सबसे प्रसिद्ध नगर है, जो कैनेडा-राज्य की राजधानी है। यह नगर बड़ा सुन्दर और आधुनिक नगर-कला की दृष्टि से निर्मित किया गया है। कागज और सीमेंट का यह एक प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है। इसके अतिरिक्त 'मॉंट्रियल' यहाँ का एक प्रमुख बन्दरगाह है। 'टोरांटो' इस देश का एक प्रधान औद्योगिक केन्द्र है। 'वीनीपेग' इस देश का सबसे बड़ा ग्रेन-मार्केट है। 'हेमिल्टन' इस्पात और लोहे के उत्पादन का सबसे बड़ा केन्द्र है 'एडमोंटन' पेट्रोलियम और उससे बनने वाली दूसरी चीजों का उत्पादन-केन्द्र है। 'क्विबेक'

एक बहुत बड़ा बन्दरगाह है और 'विंडसर' अपने मोटर-उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है।

कैनाडियन साहित्य

कैनाडा का साहित्य साधारणतः दो भागों में विभक्त है। इंग्लिश कैनेडियन साहित्य और फ्रेञ्च कैनेडियन साहित्य। इंग्लिश कैनेडियन साहित्य में निम्नलिखित साहित्यकार विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं।

हेनरी एलाइन—ईसा की अठारहवीं सदी के मध्य में हुआ। कैनेडियन साहित्य का प्रथम साहित्यकार होने की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। इसकी 'लाइफ जर्नल्स' नामक रचना उल्लेखनीय है।

टॉमस हेली बर्टन—यह अपनी हास्य रस प्रधान कृतियों के लिये विशेष प्रसिद्ध है। इसका समय सन् १७९६ से १८६५ तक था।

जोजेफ हो—यह एक सफल कवि और पत्रकार था। इसके लिखे हुए यात्रा विवरण अधिक प्रसिद्ध हैं। इसका समय सन् १८०४ से १८७३ तक था।

जॉन रिचर्डसन—उन्नीसवीं सदी का प्रमुख कवि और उपन्यासकार समझा जाता है। इसका समय सन् १७९६ से १८५२ तक था।

रेल्फ कॉनर—बीसवीं शताब्दी का प्रसिद्ध उपन्यास लेखक। जिसके "ब्लेकरॉक" और "दी स्काय पायलेट" उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए।

एफ० पी० ग्रोव—बीसवीं सदी का प्रसिद्ध यथार्थ वादी उपन्यासकार। जिसकी 'ओवर प्रेअरसी टेल्स' नामक रचना विशेष लोकप्रिय हुई।

आइगर गोर्जेको—इनकी "दी फाल ऑफ दी टाइटन" रचना ने अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति प्राप्त की।

इसी प्रकार फ्रेञ्च साहित्यकारों में 'एतियाँ पारें" "आर्थर-वेरीज' "फिलिप ओवे दी गैस्प" 'जा शारबोनो" "एस० डी० गार्मान' 'हेवसागन" इत्यादि साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

—

कैनिंग जॉर्ज

इंग्लैंड का एक सुप्रसिद्ध विदेश मंत्री और राजनीतिज्ञ। जिसका जन्म सन् १७७० में और मृत्यु सन् १८२७ में हुई।

सन् १७९३ ई० में जार्ज कैनिंग इंग्लैण्ड की पार्लमेंट का सदस्य चुना गया और उसने इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री विलियम पिट के सहायक रूप में काम करना प्रारम्भ किया।

विलियम-पिट की मृत्यु (१८०६) के कुछ समय पश्चात् जार्ज कैनिंग इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री हुए। लार्ड कैनिंग का विदेश मंत्री काल इंग्लैण्ड के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। जिस समय यह विदेश मन्त्री हुये करीब उसी समय यूरोप में पराजित रूस के जार के साथ नैपोलियन की एक संधि हुई, जो टिलसिट की संधि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी संधि के साथ इन दोनों की एक गुप्त संधि भी हुई, जिसमें तय किया गया कि "या तो इंग्लैण्ड को संधि करने तथा समुद्र पर अपनी प्रधानता के दावे को छोड़ने को मजबूर किया जाय और यदि वह न माने तो जार और नैपोलियन दोनों मिलकर डेनमार्क, स्वीडन तथा पुर्तगाल पर इंग्लैण्ड से व्यापार बन्द करने के लिए दबाव डालें"

ज्योंही इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री जार्ज-कैनिंग को यह खबर मिली, उसने बड़ी फुर्ती से एक अंग्रेज जहाजी बेड़ा कोपेन हेगेन भेजकर डेनमार्क की सरकार से कहलाया कि वह अपना जहाजी बेड़ा इंग्लैण्डके हवाले कर दे। क्योंकि उसके फ्रांस पहुँचजाने का डर है। जब डेनमार्क की सरकार ने अपना बेड़ा देनेसे इन्कार कर दिया तो सितम्बर सन् १८०७ में ब्रिटिश बेड़ा डेनमार्क के समस्त बेड़े को छीनकर इंग्लैण्ड ले गया।

तब नैपोलियनने इंग्लैण्डको डेनमार्क का जवाब पोर्तगाल में देना प्रारम्भ किया। उसने स्पेन की सेना के साथ अपनी सेना भेज कर पोर्त्तगाल पर आक्रमण करदिया और वहाँ पर अपना अधिकार कर लिया। मगर अँगरेज लोग सतर्क थे। उनके बेड़े का एक भाग वहा से थोड़ी दूर पर था। उस बेड़े के संरक्षण में पोर्त्तगाल का राजा अपने परिवार सहित अपना बेड़ा लेकर भाग गया और ब्राजील पहुँच गया।

मगर इसी समय नैपोलियन ने स्पेन के अन्दर अपनी सेनाएँ भेजकर वहाँके राजा चतुर्थ चार्ल्स और उसके लड़के फर्डिनण्ड से स्पेन की राजगद्दी से त्यागपत्र लिखवा लिया और उसने स्पेनकी राजगद्दी पर अपने भाई जोजेफ़ को बिठादिया। नैपोलियन के सारे जीवन में यह बहुत बड़ी राजनैतिक भूल थी। जिसने स्पेन के राष्ट्र गौरव को एक दम जगाकर एक बड़ी विपत्ति मोल लेली।

स्पेन की जनता नैपोलियन की इस स्वेच्छाचारिता को सहन न कर सकी। उसका राष्ट्रगौरव जाग उठा और अपने सब मतभेदों को भूलकर वह नैपोलियन के विरुद्ध संगठित रूप में प्रकट हुई। फलतः स्पेन की सेनाओं के साथ नैपोलियन की सेना का संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसमें पहली लड़ाई में ही नैपोलियन को उसके जीवन की पहली पराजय का सामना करना पड़ा।

इधर प्रान्तीय समितियों की प्रार्थना पर इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री जॉन कैनिंग ने नैपोलियन पर पीछे से आक्रमण करने के लिए आर्थर वेलेजली के सेनापतित्व में अंग्रेजी सेना अगस्त सन् १८०८ में भेज दी।

जिस दिन आर्थर वेलेजली पोर्तगाल के तट पर उतरा, उसी दिन नैपोलियनका भाई जोजेफ स्पेनकी राजगद्दी छोड़कर भाग निकला।

इन घटनाओं से इङ्गलैण्ड के विदेश मंत्री कैनिंग की बड़ी कीर्ति हुई।

इसके पश्चात् सन् १८२२ में जार्ज कैनिंग फिर इंग्लैण्ड का विदेशमंत्री बना।

जब कैनिंग दूसरी बार विदेश मंत्री बना, उस समय यूरोप में निरंकुश राजाओं की धूम हो गई थी और इन राजाओं के खिलाफ बड़ा असन्तोष फैला हुआ था। जर्मनी और स्पेन की प्रजा राजतंत्र को हटाकर प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहती थी। तब लोकमत की इन प्रवृत्तियों को दबाने के लिए रूस के जार तथा आस्ट्रिया, प्रशिया, फ्रान्स, स्पेन और नेपल्स के बूर्बावंशी राजाओं ने "होली एलायन्स" के नाम से एक संघ बनाया।

मगर इङ्गलैंड के विदेश मंत्री कैनिंग ने दूसरे देशों की प्रजा के अधिकारों की रक्षा में सहायता दी। स्पेन के उदार दलको बचाना दुष्कर था क्योंकि वह सन् १८२३ के पहले ही पददलित हो गया था। पर पुर्तगाल वाले बच गये। स्पेन के वे उपनिवेश जो अमेरिका में थे और जिन पर मातृदेश की ओर से अत्याचार होता था स्वतंत्र कर दिये गये। जिससे इंग्लैण्ड को उन उपनिवेशों के साथ स्वतंत्र व्यापार करने की सुविधा मिल गई। यूनानी लोगों ने टर्की के सुलतान के विरुद्ध विद्रोह किया था कैनिंग ने उनकी भी सहायता की। बहुत से अंग्रेज यूनान की सेना में भरती हो गये और यूनान स्वतंत्र हो गया।

इस प्रकार जार्ज कैनिंग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नवीन दुनियाँ की नींव डालने वाला माना जाता है। ऐसी दुनिया जो पुरानी दुनिया के दबाव से बहुत तेजी के साथ मुक्त हो रही थी।

विदेश मंत्री के पश्चात् कुछ समय के लिए कैनिंग इंगलैण्ड का प्रधान मंत्री भी रहा मगर उसके बाद शीघ्र ही सन् १८२७ में उसकी मृत्यु हो गई।

कैनिंग लार्ड

भारत के प्रथम वाइसराय जिनका जन्म सन् १८१२ ई० में और मृत्यु सन् १८६३ में हुई। ये इंग्लैण्ड के विदेशमंत्री जॉर्ज कैनिंग के पुत्र थे।

सन् १८५६ के फरवरी मास में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अन्तिम गवर्नर जनरल के रूप में इन्होंने कलकत्ते में अपना कार्य-भार ग्रहण किया।

इन्हीं के समय में भारतवर्ष का सुप्रसिद्ध सिपाही-विद्रोह सन् १८५७ ई० में हुआ। जब चारों ओर सिपाहियों का गदर फूट रहा था, उस समयमें भी लार्ड कैनिंग ने बड़ी सन्तुलित बुद्धिसे कामलिया। इस कारण यहाँ के गोरे अंग्रेज उनसे बड़े नाराज हुए और सन् १८५७ ई० के अन्तिम भाग में रानी विक्टोरिया को उन्होंने एक पत्र भेजा—जिसमें लिखा था कि—"लार्ड कैनिंग की दुर्बलता और निर्बुद्धि से ही इस देश की यह दुरवस्था हुई है। इसलिए आप इन्हें वापस बुला लें।" इंग्लैण्ड के अखबारोंने भी गोरे लोगों के स्वर में स्वर मिला कर इनके खिलाफ लेख लिखे और इनका नाम लोगों ने क्लीमेंसी (करुणामय) कैनिंग रख दिया।

इस प्रकार के आरोपों का जवाब देते हुए लार्ड कैनिंग ने विलायत के लार्ड 'ग्रिनविल' को एक पत्र भेजा था, जिसमें लिखा था कि—"एक बार भारत का मानचित्र देखिये! समग्र बंगाल में विद्रोह से पूर्व जो सेना थी, अभी भी उससे ज्यादा नहीं है। कुल २३ हजार सेना होने से हमें देशी लोगों के अनुग्रह पर रह कर चलना पड़ता है। वे आज भी अंग्रेज भक्त हैं और उनको ऐसे ही बनाये रखना हमारा कर्तव्य है। भगवान् न करे कि हमारे बल का ह्रास हो, पर वैसा होने पर हमें इन देशी लोगों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। किन्तु उन पर अमानुषिक अत्याचार करने से या उनको गालियाँ देने से क्या वे राजभक्त रह सकेंगे। मेरा विशेष अनुरोध है कि आप इस भावना के निवारण की चेष्टा करें! अपनी राजनीति से मैं पीछे न हटूँगा। क्रोध के वशीभूत होकर कोई कार्य न करूँगा। मैं न्याय-विचार करूँगा। उसमें जितनी कठिनाइयाँ आयेंगी उनका मैं मुकाबला करूँगा। परन्तु जब तक भारत का शासन मेरे ऊपर है, तब तक क्रोध और अविवेक से कोई काम न होने पायेगा।"

'मेरी नीति है कि जहाँ विद्रोह पैदा होगा, वहाँ निष्ठुर भाव से उसका दमन किया जायगा, मगर विद्रोहियों के शासित हो जाने के पश्चात् शान्त भाव से उनका न्याय-विचार होगा। क्रोध के आवेश में दल-के-दल लोगों को न फाँसी दी जावेगी, न जलाया जावेगा और न जाति का कोई भेद-भाव रक्खा जावेगा।"

इसी प्रकार जब अंग्रेज-सेनापतियों के द्वारा बलवाइयों पर भयंकर अत्याचार होने लगे, तब उनकी शिकायतों को सुनकर बंगाल के छोटे लाट 'हॉलीडे' ने इनसे कहा कि—"इन अमानुषिक अत्याचारों की कहानियों को आप अखबारोंमें प्रकाशित करवा दीजिये, जिससे आपकी निन्दा करने वालों का मुँह बन्द हो जायगा।'

पर लार्ड कैनिंग ने इसके उत्तर में भी सन्तुलित भाव से कहा कि—"हमारी चाहे जितनी ही निन्दा क्यों न हो, किन्तु अंग्रेज-जाति पर कलंक आवे, ऐसी बात फैलाना अनुचित है। मैंने प्रबन्ध करदिया है जिससे भविष्य में ऐसी घटनाएँ न हों।"

इससे पता चलता है कि हरएक बात का निर्णय करते समय लार्ड कैनिंग का मस्तिष्क कितना सन्तुलित रहता था। इसीसे लोगों ने 'कैनिंग दि जस्ट' की पदवी से इन्हें विभूषित किया था।

सन् १८५८ ई० में भारत का राज्य 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के हाथसे निकाल कर इंग्लैण्डकी रानी के अधीन करने के प्रस्ताव पर तर्क-वितर्क होने लगे, मगर सन् १८५८ की दूसरी अगस्त को भारत का राज्य महारानी के आधीन कर देनेका प्रस्ताव पास हो गया। इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट में 'भारत-सचिव' नाम के एक स्वतन्त्र मंत्री की नियुक्ति हुई और उनके नीचे भारतमें एक 'वाइसराय' नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी और इसके लिये एक घोषणा-पत्र भारत को भेजा गया।

सन् १८५८ के अक्टूबर मास में यह घोषणा-पत्र लार्ड कैनिंग के पास पहुँचा। साथ ही महारानी का एक पत्र भी आया, जिसके अनुसार लार्ड कैनिंग भारत के प्रथम वाइसराय घोषित किये गये। पहली नवंबर को यह घोषणा-पत्र भारत की सारी भाषाओं में अनुवादित कर के बाँटा गया और इसकी खुशी में अंग्रेजों का वध करने वाले अपराधियों को छोड़ कर शेष सब विद्रोहियों को क्षमादान दिया गया।

विद्रोह दमन में अपरिमित द्रव्य खर्च होजाने से राज्य का सारा खजाना खाली हो गया था। इसके लिये भी लार्ड कैनिंगको बड़ी चिन्ता हुई। तब इंग्लैण्ड से 'जेम्स विल्सन' और 'बर्टल फ्रियर' नामक दो अर्थविशेषज्ञ कैनिंग की सहायता के लिये भारत आये। यहाँ पर 'इनकम टैक्स' आदि लगा कर तथा कुछ खर्चों को कम कर के आय और व्यय का सन्तुलन कायम कर दिया गया।

विद्रोह का पूर्ण रूप से दमन होने के पश्चात् लार्ड कैनिंग ने अयोध्या, कानपुर, दिल्ली, अम्बाला, पेशावर इत्यादि कई स्थानों में दरबार किये और जिन लोगों ने विद्रोह के समय में सहायताएँ पहुँचाई थीं, उन्हें पुरस्कार और पदवियाँ प्रदान कीं। देशी राजाओं को सन्तान न होने की हालत में 'दत्तक' ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की। इस अनुमति के मिल जाने से देशी-राजाओं का विश्वास अंग्रेजी शासन पर काफी बढ़ गया।

इसी समय विहार में नीलवाले गोरों के साथ वहाँ की प्रजा का संघर्ष चला। शस्त्र-कानून के सम्बन्ध में गोरेलोगों में पहले से आन्दोलन चल रहा था। इन सब बातों की यथोचित व्यवस्था कर के लार्ड कैनिंग ने दूसरी बार युक्त-प्रदेश का दौरा किया।

सन् १८६१ के नवंबर मास में इनकी पत्नी लेडी कैनिंग का देहान्त हो गया। जिसके दुःख से अत्यन्त व्यथित होकर इन्होंने अपने पद से स्तीफा देकर विलायत की यात्रा की। वहाँ सन् १८६२ ई० में लार्ड कैनिंग का देहान्त हो गया।

लार्ड कैनिंग के शासन-काल में शिक्षा का सुधार, अदालतों का सुधार, सैनिक सुधार, सड़कें, नहरें और रेलवे लाइन की व्यवस्था, इत्यादि अनेक प्रकार के सुधार कार्य हुए। इन्हीं के शासन-काल में भारतवर्ष ने 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अत्याचार-पूर्ण युग से निकल कर शान्ति और व्यवस्था के नये युग में प्रवेश किया।

कैनेडी द्वीप समूह

अटलांटिक महासागर में उत्तर पश्चिमी अफ्रीका के समुद्र तट से कुछ दूरी पर स्थित स्पेन साम्राज्य के द्वीप समूह।

ज्वालामुखियों के विस्फोट से समुद्र में जो कई नये द्वीप बन जाते हैं कैनेडी द्वीप समूह भी उन्हीं में से एक है।

इन द्वीपों के प्रशासकीय दृष्टि से दो हिस्से हैं। एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी हिस्से की राजधानी सांताक्रुज और पूरवी हिस्से को राजधानी 'ला-पालमा' है। ये इस क्षेत्र के सर्व प्रधान नगर और बन्दरगाह भी हैं।

कैनेडी द्वीप समूह का एक सबसे छोटा टापू 'गोमेरा' है। इस द्वीप की आबादी तीस हजार है। यहाँ एक विलक्षण भाषा बोली जाती है। जिसका संसार के किसी भाषा वर्ग से दूर और निकट का कोई सम्बन्ध नहीं है। गोमेरावासी मुँहसे सीटी बजाकर मील भर दूर बैठे व्यक्तियों से बातें कर लेते हैं। सीटी बजाने की कला को उन्होंने इतना विकासित कर लिया है कि वे उसके द्वारा संकेत ही नहीं निश्चित सूचनाएँ भी भेज सकते हैं।

डॉ० बरमाऊ नामक एक डॉक्टर, जो वहाँ पर गये थे लिखते हैं—जब मैं गोमेरापार करने के लिए निकला तो मुझे चारों ओर से सीटी बजाने की आवाज सुनाई दी। इन सीटियों के लय और स्वर में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें थीं। इन सीटियों द्वारा मेरे पथ प्रदर्शक और द्वीपवासियों के बीच मेरे नाम, पेशा वगैरह के सम्बन्ध में बातचीत चल रही थी। मेरे मना करने पर भी मेरे पथ प्रदर्शक ने बता दिया कि मैं डॉक्टर हूँ। उनकी यह भाषा कितनी स्पष्ट है इसका पता मुझे तब चला जब रास्ते में अनेक रोगी मेरी प्रतीक्षा करते हुए मिले।

—(हिन्दी नवनीत—जुलाई १९६४)

कैनीजारो

इटली का एक सुप्रसिद्ध रसायन-शास्त्री जिसका जन्म सन् १८२६ में और मृत्यु सन् १९१० में हुई।

कैनीजारो सुप्रसिद्ध रसायन-शास्त्री होने के साथ-साथ एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भी था। योरोप में होने वाली सन् १८४८ की प्रसिद्ध क्रान्तियों के समय 'सिसली' की क्रान्ति में भाग लेने के कारण इसको फाँसी की सजा दी गयी थी, मगर किसी प्रकार यह वहाँ से भाग कर पेरिस चला आया और यहाँ पर उसने अपने अनुसन्धान कार्यों को शुरू किया। इसके बाद यह 'जिनेवा' में रसायन शास्त्र का और उसके पश्चात् 'पालेमो' में कार्बन-रसायन का प्रोफेसर नियुक्त हुआ।

इसके रसायन-शास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान बहुत महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं। इटाली में यह १९वीं सदी का सबसे उत्कृष्ट रसायन-शास्त्री माना जाता है।

कैबिनेट

एक विशिष्ट प्रकार की पार्लमेण्टरी शासन-पद्धति जिसका विकास सबसे पहले इंग्लैण्ड में हुआ और उसके पश्चात् अपनी उपयोगिता के कारण यह संसार के अनेक देशों में फैल गई।

सन् १६४९ में इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम के मृत्युदण्ड के पश्चात् क्रामवेल के सैनिक शासन में

इंग्लैण्ड की जनता अत्यन्त त्रस्त हो गई। फलतः ग्यारह वर्षों के पश्चात् उसने फिर से चार्ल्स द्वितीय को इंग्लैण्ड के सिंहासन पर बिठाकर, फिर से किसी रूप में राज्य-तंत्र को प्रारम्भ किया। इस घटना को इंग्लैण्ड के इतिहास में "रेस्टोरेशन" (Restoretion) कहा जाता है और यह सन् १६६० में हुई।

चार्ल्स द्वितीय ने प्रधान मंत्री क्लेरेण्डन के पतन के पश्चात्, गोपनीय कार्य्यों को गुप्त रखने और उनको शीघ्र निपटाने तथा पार्लमेण्ट में अपना पक्ष मजबूत रखने के लिए पांच मंत्रियों का एक मन्त्रि-मण्डल बनाया जो "कैबल" मंत्रि-मण्डल के नाम से प्रसिद्ध है। इन मंत्रियों के नाम "क्लिफर्ड" "आर्लिंगटन" "बकिंघम" "ऐश्ले" और "लाडरडेल" था। "कैबल" फ्रेञ्च-भाषा के शब्द 'Cabale" और इंग्लिश शब्द "Club" से बना है जिसका अर्थ "विशेष प्रकार की मण्डली" होता है। वैसे इन पांचो मंत्रियों के नामका पहला अक्षर जोड़ने पर भी Cabal शब्द बनता है। पांचो मंत्रियो का यह समुदाय राजा से एक बन्द "केबिन" में गुप्त परामर्श करने के लिए मिलता था। इसी समय से इङ्गलैण्ड में "केबिनेट" शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, ऐसा समझा जाता है।

केबिनेट-प्रणाली का और अधिक विकास विलियम ऑरेञ्ज' के समय में हुआ। शुरू-शुरू में विलियम सब लोगों को सन्तुष्ट रखने के लिए ह्विग और टोरी दोनों दलों से अपने मंत्री चुना करता था। पर धीरे-धीरे उसे मालूम होने लगा कि 'ह्विग" और "टोरी" अपने मतभेदों के कारण कभी मिलकर काम नहीं कर सकते। तब उसने अपनी केबिनेट में बहुमत वाले एक ही दल से अपने मंत्री चुनने की प्रणाली कायम की। यह प्रणाली बड़ी सफल रही और आगे जाकर हमेशा के लिए प्रचलित हो गई। वर्तमान समय में इसी प्रणाली से इंग्लैण्ड का शासन चल रहा है और इस प्रणाली को पार्टी गवर्नमेंट (Party Government) कहा जाता है।

मगर केबिनेट शासन-प्रणाली को वर्तमानरूप इंग्लैण्ड के राजा जार्ज प्रथम के समय में मंत्री "वाल-पोल" के समय में मिला।

'वालपोल' इंग्लैण्ड का प्रथम प्रधान मंत्री माना जाता है। अब तक मंत्रिमण्डल के प्रधान स्वयं राजा होते थे। परन्तु जार्ज प्रथम जर्मन होने के कारण अंग्रेजी भाषा बिलकुल नहीं समझता था। इसलिये धीरे-धीरे उसने मंत्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेना छोड़ दिया। ऐसी अवस्था में मंत्रियों में से ही एक व्यक्ति प्रधानमंत्री बनाया गया और यह पद सबसे पहले 'वालपोल" को प्राप्त हुआ। इस परिवर्तन का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि राजा का मंत्रि मण्डल पर बिलकुल दबाव न रहा और प्रधान मंत्री ही सब तरह से मंत्रि मण्डल का नेता होने लगा। वालपोल ने उन मंत्रियों को जो इस नीति के विरोधी थे त्याग पत्र देने पर मजबूर किया और धीरे-धीरे यह प्रथा चल गई। मंत्रिमण्डल के मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार पूर्ण रूपसे प्रधानमंत्री को प्राप्त हो गया तभी से इंग्लैण्ड की कैबिनेट का वर्तमान रूप प्रकट हुआ।

वालपोल को इस कार्य में बहुत से विरोधियों का भी मुकाबिला करना पड़ा। इस विरोध को दबाने के लिये उसको विरोधी सदस्यों को पद का या धन का प्रलोभन भी देना पड़ता था। अन्त में सन् १७४२ में हाउस ऑफ कॉमन्स में बहुमत न रहनेसे उसके मंत्रि मण्डल का पतन हो गया और तभी से यह परम्परा कायम हो गई कि जिस मंत्रि-मण्डल का हाऊस ऑफ कॉमन्स में बहुमत न रहे उसको त्याग-पत्र दे देना चाहिये।

वालपोल के पतन के पश्चात् राजा तृतीय जार्ज के समय में केबिनेट की यह परम्परा फिर ढीली हो गई। और राजा ने अपनी योग्यता के बल पर फिर शासन के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। इसके बाद केबिनेट शासन प्रणाली का सुव्यवस्थित विकास महारानी विक्टोरिया के शासन काल में हुआ। तब से यह शासन-प्रणाली अत्यन्त सफलता के साथ इंग्लैण्ड का विकास कर रही है और इसकी सफलता को देखकर संसार के कई देशों ने इसका अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया।

सबसे बड़ी विशेषता इसमें यह है कि यह सुनियोजित शासन-प्रणाली कानून के द्वारा कभी नहीं बनी। सन् १९३७ के पहले इंग्लैण्ड की पार्लमेंट के किसी भी ऐक्ट में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

कैबिनेट शासन प्रणाली का सिद्धान्त

कैबिनेट शासन प्रणाली में जनमत "हाऊस ऑफ कॉमन्स" के द्वारा सरकार पर अपना नियंत्रण रखता है और हाउस ऑफ कॉमन्स अपने बहुमत के द्वारा "कैबिनेट" पर नियंत्रण करता है। "हाऊस ऑफ कॉमन्स" के बहुमत का नेता ही कैबिनेट का प्रधान मंत्री होता है और प्रधान मंत्री को ही यह अधिकार होता है कि वह अपने मंत्रि-मण्डल के अन्य मंत्रियों का चुनाव करें। हाऊस ऑफ कॉमन्स में अपना बहुमत खोदेने पर, या किसी प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त न कर सकने पर सारे मंत्रिमण्डल को इस्तीफा देना अनिवार्य होजाता है। कभी ऐसा अवसर भी आता है कि हाऊस ऑफ कॉमन्स में बहुमत बना रहने पर भी राष्ट्र में यदि मंत्री मण्डल स्पष्ट रूप से अपनी लोक प्रियता खोबैठे और उसके विरुद्ध लोकमत में प्रबल आन्दोलन खड़ा हो जाय तो उस हालत में सम्राट् को यह अधिकार रहता है कि वह अपने अधिकार से उस मंत्रिमण्डल को बरख्वास्त कर नया मंत्रिमण्डल कायम करें।

कैबिनेट, शासनके महत्त्वपूर्ण मामलों में वैदेशिक नीति, सुरक्षा नीति, अर्थ नीति इत्यादि नीतियों के सिद्धान्त की निर्धारण करती है, मगर उन नीतियों को क्रियात्मक रूप सरकार का सचिवालय देता है। इस प्रकार राजा, कैबिनेट और सचिवालय ये तीनों ही मिल कर सरकार का रूप ग्रहण करते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में कैबिनेट शासन-पद्धति राष्ट्रपति शासन पद्धति से किसी प्रकार श्रेष्ठ समझी जाती है क्योंकि इस पद्धति का पार्लमेंट से अधिक निकट सम्बन्ध रहता है। मंत्रिमण्डल का कोई भी मंत्री पार्लमेंट का सदस्य हुये बिना मंत्री नहीं बन सकता। यदि कभी आवश्यकता पड़ने पर बना भी लिया जाय तो एक निश्चित अवधि के भीतर उसे चुनाव लड़ कर पार्लमेंट का सदस्य बनना पड़ता है।

प्रधान मंत्री का चुनाव हमेशा 'सम्राट्' या वैधानिक अधिकारी के द्वारा किया जाता है। फिर भी वैधानिक अधिकारी उसी व्यक्ति को प्रधान चुनने के लिए बाध्य रहता है जो पार्लमेंट में बहुमत-दल का माना हुआ नेता होता है। मगर कभी-कभी ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है, जब लोअर हाउस में कोई एक दल बहुमत में नहीं होता तब सम्राट् को एक दलकी अपेक्षा मिली जुली सरकार बनाने को बाध्य होना पड़ता है। फिर भी उसको यह ख्याल रखना पड़ता है कि मनोनीत व्यक्ति ऐसा होना चाहिये कि वह लोअर हाउस का बहुमत प्राप्त कर सके।

सन् १९३१ में इसी प्रकार इंग्लैण्ड के सम्राट् ने मजदूर-दल के 'मैक-डोनल्ड' को प्रधान मंत्री मनोनीत किया था, जबकि स्वयं मजदूर-दल ने उनके नेतृत्व को अस्वीकार कर दिया था। तब सम्राट् ने कंजरवेटिव और लिबरल दल के नेताओं से व्यक्तिगत अपील करके, उनका सहयोग प्राप्त किया था।

फ्रांस के अन्तर्गत कैबिनेट-प्रणाली को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। भूत-काल में वहाँ पर किसी भी कैबिनेट का औसत-जीवन ६ महीने से अधिक नहीं रहा। तब सन् १९५८ में वहाँ के प्रधान मंत्री 'दीगाल' का चुनाव असाधारण परिस्थिति में हुआ, जिसके कारण वहाँ नया संविधान लागू करना पड़ा।

पाकिस्तान में भी कैबिनेट-प्रणाली सफल नहीं हुई। सन् १९४७ से १९५८ ई० तक वहाँ अनेकों मंत्रि-मण्डल बने और बिगड़ गये। शासन में स्थायित्व बिल्कुल नहीं आने के कारण वहाँ राज्य-व्यवस्था में अत्यन्त शिथिलता पैदा होगयी और सारे देश में अत्याचार और अनैतिकता का दौर-दौरा हो गया। तब सन् १९५८ में वहाँ फौजी-क्रान्ति हुई, जिसने मंत्रि मण्डल को बरखास्त कर दिया और सारे शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। तब से वहाँ का शासन सैनिक-नेता सदर अयूब ही चला रहे हैं।

भारतवर्ष में पं० जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में सन् १९५२ में कैबिनेट, शासन-प्रणाली की स्थापना हुई। यहाँ के वैधानिक अधिकारी केन्द्र में राष्ट्रपति और प्रान्तों में 'राज्यपाल' होते हैं। मगर शासन के व्यापक अधिकार प्रधानमंत्री, कैबिनेट और पार्लमेंट को प्राप्त रहते हैं। देश के लिये नवीन पद्धति होनेसे अभीतक यह प्रणाली पूर्ण रूप से संगठित नहीं होने पायी है। राष्ट्र के हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को ज्यादा महत्व-

देने से सत्ता के लिये निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। केन्द्र की अपेक्षा राज्यों में यह संघर्ष बहुत अधिक है। जिससे शासन में अनुशासन और दृढ़ता नहीं आने पाती। विरोधी दलों से इस शासन में इतना नुकसान नहीं होता, जितना शासक दल की पारस्परिक फूट से होता है। फिरभी यदि ईमानदारी और राष्ट्र के हित को मद्देनजर रखकर काम किया जाय तो यहाँ पर यह प्रणाली सफल हो सकती है—ऐसी सम्भावना है।

कैम्पबेल बेनरमेन

इंग्लैंड में लिबरल दल का प्रधान मंत्री, जो सन् १६०५ से सन् १६०८ तक इंग्लैंड का प्रधान मंत्री रहा।

युनियनिस्ट दल के 'बालफोर' मंत्रिमंडल के इस्तीफा दे देने के पश्चात् लिबरल दल, जो पिछले १२ वर्ष से शक्तिहीन हो रहा था, पुनः शक्तिशाली हो गया और सन् १६०५ में लिबरल दल का नेता 'कैम्पबेल बेनरमेन' (Campbell Banirman) प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ।

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लार्ड लॉयड जॉर्ज और एसक्विथ जैसे प्रभावशाली लोग उसके सहकारी थे।

सन् १६०८ में इसका स्वास्थ्य खराब हो जाने से इसको अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ा और इसके स्थान पर 'एसक्विथ' इंग्लैंड का प्रधान मंत्री बनाया गया।

कैयट

पातञ्जलि के व्याकरण-भाष्य पर 'प्रदीप' नामक प्रसिद्ध टीका के रचनाकार, जो कश्मीर के निवासी थे और जिनका समय ईसा से १०वीं सदी से १२वीं सदी के बीच किसी समय माना जाता है।

'कैयट' के पिता का नाम 'जैयट' उपाध्याय था। प्रारंभ से ही लक्ष्मी की अकृपा के कारण उनका जीवन दरिद्रावस्था में व्यतीत हुआ। फिर भी इनके जीवन का प्रधान व्रत 'महाभाष्य' और 'व्याकरण' का पठन-पाठन था। महाभाष्य के सम्बन्ध में उनका ज्ञान इतना पारदर्शी था कि स्वयं 'वररुचि' भी जिन स्थानों पर सन्देह का कुण्डल लगा गये थे, वे स्थान भी बिना पुस्तक देखे छात्रों को समझा देते थे।

कश्मीर की किम्वदन्ती के अनुसार एक बार दक्षिण के पण्डित कृष्ण भट्ट कश्मीर में उनसे मिलने गये। वहाँ उन्होंने देखा कि कैयट एक साधारण नौकर की तरह शारीरिक श्रम का कार्य भी कर रहे हैं और साथ ही छात्रों को भाष्य का अर्थ भी समझाते जाते हैं। दरिद्रता के साथ अगाध पाण्डित्य का यह मेल देखकर कृष्ण भट्ट आश्चर्य-चकित हो गये। वहाँ से कश्मीर-नरेश के निकट जा कर कैयट की जीविका के लिए एक गाँव की जागीर का परवाना और कुछ धान्य-संग्रह करके वे वापस कैयट के पास आये। किन्तु महान् तेजस्वी कैयट ने भिक्षा में मिली हुई इन वस्तुओं को लेने से स्पष्ट इनकार कर दिया और जन्मभूमि को छोड़कर वे पैदल-पैदल चलकर काशी चले आये। काशी की पण्डित सभा के शास्त्रार्थ में उन्होंने अनेक पंडितों को हराया और यहीं के पंडितों के अनुरोध से उन्होंने महाभाष्य पर प्रदीप टीका की रचना की।

'प्रदीप' टीका में कैयट ने 'भर्तृहरि' के वाक्यप्र-दीप और हरि-सेतु और काशिका-वृत्ति को उद्धृत किया है। कैयट के पश्चात् माधवाचार्य ने 'सर्व-दर्शन संग्रह' में और 'मल्लिनाथ ने 'रघुवंश' की टीका में कैयट के मत को उद्धृत किया है। इससे कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि कैयट ईसा की १०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय विद्यमान थे।

कैरोलिना

इंग्लैंड के राजा चतुर्थ-जॉर्ज की रानी। चतुर्थ जॉर्ज का समय सन् १८२० से सन् १८३० तक रहा।

ऐसा समझा जाता है कि महारानी कैरोलाइन का आचरण ठीक नहीं था और बहुत दिनों से वे अपने पति से अलग रहती थी। 'तृतीय जॉर्ज' की मृत्यु के पश्चात् उसने घोषणा की कि मैं इंग्लैंड में आकर अपने पति के साथ राजगद्दी पर बैठूँगी। इससे राजा बहुत क्रुद्ध होगया और उसने अपने मंत्रियों को बाध्य किया कि वे पार्लमेंट के द्वारा उसे

तलाक देने में सहायता करें। मंत्रियों को बुरा तो बहुत लगा। क्योंकि चतुर्थ जॉर्ज स्वयं बड़ा दुराचारी था। परन्तु उन्होंने राजा की आज्ञा मान ली। पार्लमेंट की ओर से जाँच की गयी। 'ह्विग' लोगों ने और लन्दन की जनता ने रानी का साथ दिया। जाँच का परिणाम यह निकला कि रानी का अधिक दोष नहीं है और २० नवंबर सन् १८२० को तलाक का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया।

कैरो

विश्व का सुप्रसिद्ध प्रकाण्ड ज्योतिषी और सामुद्रिक शास्त्री। जिसका जन्म आयरलैण्ड में सन् १८६६ में और मृत्यु सन् १९३६ में अमेरिका के सिनेमा क्षेत्र हालीउड में हुई।

कैरो का वास्तविक नाम जान ई० वार्नर था और वह बचपन में ही अपनी माता के साथ लन्दन चला आया था। आर्थिक कठिनाई के कारण उसकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था न हो सकी। फिर भी कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उसने अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया।

ज्योतिष और हस्त रेखा विज्ञान की ओर उसकी जन्म जात रुचि थी और जब उसे पता लगा कि इस विद्या का भारतवर्ष में बहुत विकास हुआ है तो उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए उसने केवल १७ वर्ष की अवस्था में सन् १८८३ में अत्यन्त साधन हीन स्थिति में अंग्रेजों के एक दल के साथ भारत वर्ष की यात्रा की। ज्ञान की खोज में भटकने का उसमें उत्साह था। यहाँ आने पर उसे मालूम हुआ कि मद्रास और दक्षिण भारत में ऐसे-ऐसे ज्योतिषी हैं जो सामुद्रिक शास्त्र के दूसरे विधाता हैं। उनकी खोज में कलकत्ते से चल कर वह उज्जैन, पूना, कर्नाटक और मद्रास में बहुत दिनों तक भटकता रहा। अन्त में आठ वर्ष की सतत साधना के पश्चात् उसका मनोरथ पूर्ण हुआ और उसने सामुद्रिक शास्त्र का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर समस्त संसार में अपना रेकार्ड स्थापित कर दिया।

आठ वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् सन् १८९१ में कैरो भारतवर्ष से वापस इंग्लैण्ड गया। थोड़े ही समय में लन्दन में उसे अपनी विद्या के प्रदर्शन का एक अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। लन्दन की "ईस्ट एण्ड स्ट्रीट" में एक हत्या हो गई। पुलिस हत्यारे को न पकड़ सकने के कारण बड़ी परेशान थी। संयोग वश एक दिन कैरो उधर से निकला और वहाँ की एक दीवार पर किसी व्यक्ति के हाथ का निशान देखकर उसने बतलाया कि यह किसी हत्यारे के हाथ का निशान है। जिसने अपने किसी घनिष्ठ सम्बन्धी की हत्या की है। पुलिस ने जब उस हस्तचिह्न से जांच प्रारम्भ की तो हत्यारे का पता चल गया जिसने अपने सगे बाप की हत्या की थी।

इस घटना से कैरो के हस्त रेखा का ज्ञान की ख्याति सारे यूरोप में फैल गई और वहाँ पर सैकड़ों व्यक्तियों के हाथ देख कर उसने उनके जीवन वृत्तान्त को बतलाया।

सन् १८९३ में कैरो अमेरिका गया। उसके सामुद्रिक ज्ञान की कीर्ति उसके आने के पहले ही अमेरिका में फैल चुकी थी। फिर भी अनेकों बुद्धिवादी लोग ऐसे ज्ञान की सत्यता में सन्देह करते थे। अतः उसकी वास्तविकता जानने के लिये अमेरिका के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र "न्यूयार्क वर्ल्ड" ने एक परम सुन्दरी और बुद्धिवादी महिला रिपोर्टर* को कैरो के ज्ञान को वास्तविकता की जांच करने के लिये भेजा और उसे समझा दिया कि जिस प्रकार भी सम्भव हो वह उसके सामुद्रिक ज्ञान की सत्यता के धरातल को खोजे।

वह महिला एक दिन सवेरे ही अपना श्रृंगार करके कैरो से भेंट करने के लिये उसके निवास स्थान पर पहुँची। उसने देखा कि कैरो का निवास स्थान अगुरू और धूप की सुगन्ध से महक रहा है और एक स्वस्थ और सुन्दर नवयुवक दरवाजे पर खड़ा है। महिला ने पहुँचते ही कैरो को स्पष्ट बतला दिया कि वह न्यूयार्क वर्ल्ड के रिपोर्टर की हैसियत से कैरो के ज्ञान की जानकारी लेने को आई है। यदि आपका

* कुछ लोगों के मत से संवाद दाताओं के एक दल को।

ज्ञान वास्तविक प्रमाणित हुआ तो हमारा यह प्रसिद्ध पत्र बिना किसी फीस के आपका प्रचार करेगा। मगर यदि आप मेरे प्रश्नों का सही उत्तर न दे सके तो आपको तुरन्त अमेरिका छोड़ कर चला जाना होगा।

कैरो ने उसकी चुनौती को स्वीकार कर लिया। तब उस महिला ने अपने बैग से कई विभिन्न व्यक्तियों के हस्तचित्र निकाले। इन हस्तचित्रों को न्यूयार्क वर्ल्ड ने ऐसे लोगों से प्राप्त किये थे जिनसे कैरो का किसी भी प्रकार का कोई परिचय नहीं था। महिला ने वे चित्र कैरो की ओर बढ़ा कर पूछा कि क्या आप इन हस्त-चित्र वाले लोगों के सम्बन्ध में कुछ बतला सकेंगे?

पहला चित्र हाथ में लेकर उसे ध्यानपूर्वक देखते हुए कैरो ने बतलाया कि 'यह चित्र किसी आयरिश पहलवान का है। जो स्वभाव से शान्त किन्तु घूसेबाजी में प्रवीण है। और धीरे धीरे पेशेवर बनता जा रहा है।' कैरो की बात सुनकर महिलाको बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि वास्तव में वह चित्र सुप्रसिद्ध आयरिश मुक्केबाज 'रिचर्ड क्रोकर' का था।

दूसरा चित्र देखकर कैरो ने बतलाया कि 'यह चित्र ऐसी महिला का है जो अत्यधिक धन सम्पन्न होने पर भी पति प्रेम से वंचित है।' वास्तव में वह हस्त चित्र 'लिलियन रसेल' नामक एक महिला का था जो धनी तो थी मगर कई शादियाँ करके भी दाम्पत्यसुख नहीं प्राप्त कर सकी थी।

तीसरे चित्र के लिए कैरो ने बतलाया कि यह चित्र किसी ललित कला के जानकार या संगीतज्ञ का हस्तचित्र है जिसे कुछ ख्याति भी प्राप्त हो चुकी है।' वास्तव में वह हस्त चित्र 'डेकोवेन' नामक एक संगीतज्ञ का था जिसकी पुस्तक 'राबिन-हुड' संगीतज्ञों में काफी प्रचारित हो चुकी थी।

चौथे चित्र को देख कर कैरो ने कहा कि 'अगर यह व्यक्ति आपका मित्र है तो तुरन्त आप इसकी जमानत का प्रबन्ध करें। क्योंकि यह भयङ्कर हत्यारा अत्यधिक विश्वास और लापरवाही के कारण आजकल में ही पकड़ा जाने वाला है। कारावास में पागल होकर यह बुरी मौत मर जावेगा।''

कैरो की इन भविष्य वाणियों को देख कर वह महिला आश्चर्य चकित हो गई। क्योंकि यह चौथा चित्र न्यूयार्क के प्रसिद्ध डॉक्टर 'हेनरीमेयर' का था जो इन्स्युरेन्स कम्पनियों को धोखा देकर बीमा वाले लोगों को जहर देकर मार डालता था। आगे जाकर वह एक पागल खाने में भयङ्कर यंत्रणाओं को सहन करते हुये मरा।

महिला रिपोर्टर को कैरो के सामुद्रिक ज्ञान पर पूरा विश्वास हो गया और न्यूयार्क वर्ल्ड ने अपने अगले रविवासरीय अंक में कैरो के ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की पूरी प्रशंसा करते हुये एक लम्बा लेख लिखा। जिससे सारे अमेरिका में कैरो की कीर्ति का डंका बजा गया।

अब विभिन्न देशों में कैरो को निमंत्रित किया जाने लगा। और सब दूर उसके सामुद्रिक ज्ञान की बड़ी प्रतिष्ठा हुई, इस प्रकार करीब चालीस वर्षों तक वह सारे संसार का भ्रमण करता रहा।

इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' के लेखक आस्कर वाइल्ड का हाथ देख कर उसने बताया कि 'तुम अगले कुछ ही वर्षों में समाज की घृणा का भाव सिर पर लाद कर जेल की यात्रा करोगे और निर्वासित होकर कही विदेश में तुम्हारी मृत्यु होगी।'

कैरो की इस भविष्य वाणी से आस्कर वाइल्ड हँस पड़ा और उसने कहा कि 'क्या इस प्रकार डरा कर तुम मुझसे कोई रकम लेना चाहते हो।'

मगर इस भविष्यवाणी के तीन वर्ष बाद ही अप्राकृतिक व्यभिचार के आरोप में आस्कर वाइल्ड पकड़ा गया। उसे सजा हुई। जेल से छूटने के बाद वह फ्रान्स भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

सन् १८९७ में रूसी सम्राट् जारनिकोलस ने अपने महल में कैरो को आमंत्रित किया। उस समय इस सम्राट् का सितारा इतने उरूज पर था कि उसके सम्बन्ध में किसी दुःखद भविष्य वाणी की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जब कैरो जार के महल में पहुँचा तब जार ने उससे भेंट नहीं की। बल्कि गुप्त रूप से एक व्यक्ति के द्वारा अपना हस्तचित्र कैरो के पास भेज दिया। जिससे वह अनुमान न कर सके कि यह किसका हस्त चित्र है। कैरो ने वह हस्त चित्र देख कर उसके पीछे लिखा दिया कि—'यह हस्त चित्र जिस व्यक्ति का है वह जीवन भर युद्ध

और मृत्यु की आशंका से ग्रस्त रहेगा और आज से २० वर्ष बाद अपने समस्त अधिकारों से हाथ धोकर वह ऐसी रोमांचकारी मृत्यु का शिकार होगा जैसी इतिहास में यदा कदा ही होती है।"

कहना न होगा कि ठीक बीस वर्ष बाद सन् १६१७ में जार-वंश के निर्ममता पूर्ण वंश-नाश के द्वारा यह भविष्य-वाणी सही हुई।

इसी प्रकार सम्राट् सप्तम एडवर्ड, महारानी विक्टोरिया, अष्टमएडवर्ड, एनी बीसेण्ट, स्वामी विवेकानन्द, मोती लाल नेहरू, कर्नल ऑर्थर, लार्ड किचनर इत्यादि अनेक लोगों के सम्बन्ध में उसकी भविष्य-वाणियाँ से सत्य सिद्ध हुईं।

सन् १६२७ में उसने 'विश्व का भविष्य' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें भारतीय गृह-युद्ध, देश का विभाजन, शरणार्थी-समस्या और सम्प्रदायिक दंगों का स्पष्ट उल्लेख किया था।

इतना प्रकाण्ड सामुद्रिक होते हुए भी 'कैरो' का व्यक्तिगत जीवन लोगों के लिए बड़ा रहस्यमय बना रहा। समाज के एक वर्ग में वह संदिग्ध और षड्यंत्री समझा जाता था। ऐसे लोगों ने उस को धूर्त और पाखण्डी सिद्ध करने के लिये अनेक प्रयत्न किये, मगर उसके सामुद्रिक-ज्ञान पर इन प्रयत्नों से कोई आँच नहीं आई। कई सम्भ्रान्त लोगों की हस्त रेखाएँ देख कर उसने उनके जीवन के कई गुप्त रहस्यों को प्रकट कर दिया। इससे बड़ी हलचल मची और लन्दन की पुलिस ने उसकी भविष्य-वाणियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इन्हीं आरोपों में वह कई देशों से निर्वासित भी किया गया।

इन सब घटनाओं से परेशान होकर उसने सामुद्रिक-विद्या का व्यवसाय छोड़ कर, शेम्पैन-शराब बनाने का एक कारखाना पेरिस में खोल दिया। इसके बाद उसने 'अमेरिकन रजिस्टर' नामक एक पत्र निकाल कर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। उसके बाद उसने एक निजी बैंक की स्थापना की। इस व्यवसाय में किसी व्यापारी का रुपया हड़प जाने के आरोप में उसे एक वर्ष की सजा भी हुई।

सजा से छूटने पर उसने फिर सामुद्रिक-ज्ञान का काम प्रारम्भ किया। अन्त में सन् १६३६ में होलीउड में उसकी मृत्यु हो गई।

अनेक गुणावगुणों के होने पर भी इस बारे में कोई सन्देह नहीं कि कैरो की टक्कर का सामुद्रिक इन कई शताब्दियों में संसार में नहीं हुआ। उसके निकाले हुये सिद्धान्त सामुद्रिक-विद्या के इतिहास में आज भी प्रमाणभूत माने जाते हैं। सामुद्रिक विद्या के अन्दर उसने एक युगान्तर कर दिया। इसकी रचनाओं में 'लैंग्वेज ऑफ दी हैण्ड' 'बुक ऑफ नम्बर्स' 'हेन वेयर यू बॉर्न' 'गाइड टू दी हैण्ड' 'यू एण्ड युवर हैण्ड' इत्यादि रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

कैरो प्रतापसिंह

पूर्वी पञ्जाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री। जिनका व्यक्तित्व १० वर्ष से अधिक समय तक पञ्जाब के राजनैतिक क्षितिज पर निर्विवाद रूप से छाया रहा।

श्री प्रतापसिंह कैरो का जन्म अमृतसर जिले के 'कैरो' नामक गाँव में सन् १६०१ में हुआ था। खालसा-कालेज से बी० ए० करने के बाद वे उच्च शिक्षा के लिये अमेरिका चले गये। वहाँ पर 'मिशीगन-युनिवर्सिटी' से उन्होंने एम० ए० की डिग्री ली। उनके राजनैतिक जीवन का आरंभ अमेरिका से हुआ, जब उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के लिये अमेरिका में स्थापित गदर-पार्टी में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू किया।

सन् १६२६ में कैरो प्रतापसिंह कांग्रेस में शामिल हो गये। उन्होंने 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन-तथा 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भी भाग लिया और ५ वर्ष जेल में गुजारे।

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् श्री प्रतापसिंह कैरो, डा० गोपीचन्द भार्गव और भीमसेन सच्चर की मिनिस्ट्री के बाद पञ्जाब के मुख्य मंत्री बनाए गये।

जिस समय प्रताप सिंह कैरो की मिनिस्ट्री का निर्माण हुआ, उस समय पञ्जाब की स्थिति बड़ी विस्फोटक हो रही थी। मास्टर तारा सिंह का स्वतंत्र पञ्जाब-सूबा आन्दो-

लन बड़े जोरों से चल रहा था और पञ्जाब की स्थिति दिन-दिन अराजकता की ओर बढ़ती जा रही थी। प्रताप सिंह कैरो ने अपने सुदृढ़ व्यक्तित्व और दूरदर्शी राजनैतिक सूझ-बूझ से इस आन्दोलन का सामना किया और इस आन्दोलन के दो प्रभावशाली स्तंभ मास्टर तारा सिंह और सन्त फतेहसिंह में गहरी फूट डलवा कर इस आन्दोलन को छिन्न-भिन्न कर दिया।

सन् १९६२ में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय भी सरदार प्रताप सिंह कैरो का पार्ट बहुत महत्वपूर्ण रहा। चीनी आक्रमण का मुकाबला करने के लिये उन्होंने पञ्जाब से काफी मात्रा में धन और सैनिक तैयार कर के दिये।

इस प्रकार प्रताप सिंह कैरो ने अपने दृढ़ व्यक्तित्व से पञ्जाब में एक सुस्थिर और प्रभावशाली शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

इन सब बातों के बावजूद भी प्रताप सिंह कैरो में कुछ ऐसी चीजें विद्यमान थीं जो उनकी लोक-प्रियता को स्थिर न रख सकीं। उन पर भ्रष्टाचार और भाई-भतीजा वाद के कई संगीन आरोप लगाये गये। जिसके कारण सारे देश में उनकी बदनामी हुई और भारत-सरकार को उनके आरोपों की जांच करने के लिये 'दास-आयोग' की स्थापना करनी पड़ी। दास-आयोग की रिपोर्ट कई मामलों में उनके खिलाफ गयी, जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १९६४ में उनको मुख्य मंत्री-पद से इस्तीफा देना पड़ा और उसके कुछ ही महीने के पश्चात् दिल्ली से वापस लौटते हुये सन् १९६५ के प्रारंभ में मोटर में ही उनकी हत्या कर दी गयी।

कैलिडोनियाँ

ग्रेट-ब्रिटेन के स्कॉट-लैंड देश का पुराना नाम। सन् ८४३ तक यह देश इसी नाम से प्रसिद्ध था।

जब इंग्लिश-जाति ने ब्रिटेन को जीता, उसी समय स्कॉट लोग 'कैलिडोनियाँ' के पश्चिमी भाग में आ गये और वहां उन्होंने 'डेलरियाडा' नामक राज्य-स्थापित किया। परन्तु कैलिडोनियाँ के शेष भाग पर 'पिक्ट' नामक कैल्टिक-शाखा ही राज्य करती थी।

इस प्रकार ईसवी सन् ६०० के करीब कैलिडोनियाँ के ४ भाग थे। और चारों एक दूसरे से स्वतंत्र थे। पश्चिमी दक्षिणी भाग 'गेलीवे' कहलाता था, उत्तर-पश्चिमी भाग 'डेलरियाडा' कहलाता था और उत्तर-पूर्वी भाग जो 'पिक्ट-लैंड' के नाम से प्रसिद्ध था—ये तीनों केल्ट-जाति की स्कॉट और पिक्ट-शाखाओं के आधीन थे। चौथा दक्षिण-पूर्वी भाग, जो 'लोथियन' कहलाता था—इंग्लिश-जाति के अधिकार में था।

थोड़े दिनों में 'नार्थम्ब्रिया' के इंग्लिश राजा 'एडविन' ने अपने राज्य का विस्तार कर 'फोर्थ' नदी पर एक दुर्ग बनाया, जिसका नाम एडिनबर्ग (Edin-bergh) रखा गया। सन् ६७० ई० के करीब स्कॉट और पिक्ट-जाति के राजा भी 'नार्थम्ब्रिया' के अधीन हो गये। मगर जब नार्थम्ब्रिया वालों ने इन लोगों की स्वाधीनता छीनना चाही तो लड़ाई हो गयी और इस लड़ाई में सन् ६८५ ई० में नार्थम्ब्रिया का राजा 'ईगफ्रिथ' मारा गया और कैलिडोनिया बिल्कुल स्वतंत्र हो गया।

सन् ८०० ई० के करीब उत्तर और पूर्व की ओर से नारवे की जंगली जातियों ने, और दक्षिण से इंग्लैंड की छोटी-छोटी रियासतों ने मिलकर कैलीडोनियाँ पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। तब इन लोगों को भी अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये संगठित होना पड़ा और सन् ८४३ में पिक्ट-वंश के राजा 'केनिथ' को पिक्ट और स्कॉट दोनों जातियों ने अपना राजा बना दिया। उसी समय से 'कैलीडोनियाँ' का नाम 'स्कॉटलैंड' पड़ गया।

उसके बाद इंग्लैण्ड के राजाओं ने स्कॉटलैंड पर विजय प्राप्त करने की कई बार कोशिश की, मगर स्कॉटलैंड कभी इंग्लैण्ड के वश में नहीं आया।

अन्त में सन् १६०३ ई० में जब स्कॉटलैण्ड का राजा जेम्स इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा, तभी से ये दोनों देश एक हो गये और स्कॉटलैंड, इंग्लैंड और आयरलैंड तीनों देश मिलकर 'ग्रेट-ब्रिटेन' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कैलास

हिन्दू और जैन-जाति का एक सुप्रसिद्ध एवं पूजनीय तीर्थ, जिसका वर्णन हिन्दू तथा जैन-पुराणों में कई स्थानों पर किया गया है।

मत्स्यपुराण के अनुसार 'कैलास' नाना रत्नमय-शिखरों से युक्त हिमगिरि-पर्वत के पृष्ठभाग पर अवस्थित है। यह शिवजी का परम पवित्र निवास-स्थान है। इसके दक्षिण में एलाश्रम, उत्तर में सौगन्धिक पर्वत, दक्षिण-पूर्व में शिवगिरि, पश्चिमोत्तर में ककुद्मान और पश्चिम में अरुण नामक पर्वत अवस्थित है।

'कैलाश'-पर्वत के पाददेश में शीतल जल से परिपूर्ण 'मन्दोद' नामक एक सरोवर है। प्रसन्न सलिला भागीरथी उसी सरोवर से प्रवाहित हुई है। इसके तीर पर मनोरम एक नन्दन-वन है, जहाँ यक्षाधिपति कुबेर यक्षों और अप्सराओं के साथ विहार करते रहते हैं।

जैन-साहित्य के उत्तरपुराण के अनुसार प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव का निर्वाण इसी पर्वत पर हुआ था। उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत ने भूत, भविष्य और वर्तमान के चौबीस-चौबीस तीर्थंकरों के ७२ सुवर्णमय जैन-मन्दिर यहाँ पर बनवाये थे। यह जैनियों का प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र है।

स्कन्द-पुराण के काशी-खण्ड में तथा हरिवंश-पुराण में, कैलास की उत्पत्ति विष्णु के नाभि-पद्म से बतलायी गयी है।

भगवान् शंकर का दिव्यधाम कैलास या भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि कैलास—वही कैलास है जिसे आजकल माना जाता है या कोई दूसरा है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये आज कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

वर्तमान में जिसको कैलास माना जाता है—वह तिब्बत में मानसरोवर के निकट और कश्मीर-राज्य के उत्तर-पूर्व में अवस्थित है। यह राक्षसतल या रावणहृद से ५० मील दूर पड़ता है। इस पर्वत से सिन्धु, सतलज और ब्रह्मपुत्रा नामकी नदियाँ निकली हैं।

मानसरोवर-कैलास-यात्रा

हिमालय की पार्वतीय यात्राओं में मानसरोवर-कैलास की यात्रा सबसे कठिन है। इस यात्रा में यात्री को प्रायः तीन सप्ताह तक तिब्बत में रहना पड़ता है। केवल एक यही यात्रा है जिसमें यात्री हिमालय-पर्वत को पार करता है। इस यात्रा में यात्री को समुद्र-स्तर से १२ हजार फीट या उससे भी ऊपर जाना पड़ता है। इसलिए यात्री के साथ यदि 'आक्सीजन मास्क' हो तो हवा में आक्सीजन की कमी से होने वाले श्वास कष्ट से वह बच जाता है।

वैसे मानसरोवर-कैलास पहुँचने के लिए भारत से अनेक दुर्गम मार्ग जाते हैं, मगर आसानी से जाने वाला मार्ग काठगोदाम स्टेशन से मोटर बस द्वारा अल्मोड़ा जाकर फिर पैदल-यात्रा करते हुए ऊटा, जयन्ती तथा कुंगरी-विंगरी घाटियों को पार करके कैलास पहुँचा जा सकता है।

दूसरा मार्ग उत्तर रेलवे के ऋषिकेश स्टेशन से मोटर बस द्वारा जोशी-मठ जाकर पैदल-यात्रा करते हुए, नीती की घाटी को पार करके पहुँच जाता है। इन दोनों ही मार्गों में यात्री को भारतीय सीमा का जो अन्तिम बाजार मिलता है—वहाँ तक उसे ठहरने का स्थान तथा भोजन का सामान सुविधापूर्वक मिलते रहते हैं। वहाँ तक उसे किसी मार्ग-दर्शक की भी आवश्यकता नहीं होती।

भारतीय सीमा के समाप्त होने पर वहाँ से तिब्बती-भाषा का जानकार एक मार्ग-दर्शक साथ लेना आवश्यक होता है। क्योंकि तिब्बत में कोई अंग्रेजी या हिन्दी जानने वाला मिलना कठिन है। खाने-पीने का सामान तथा किराये का तम्बू भी यहीं से लेना चाहिये। तिब्बत में दाल नहीं पकेगी—कोई शाक नहीं मिलेगा नमक को छोड़कर कोई मसाला नहीं मिलेगा। इसलिए सारा सामान भारतीय सीमा से ही लेना चाहिये।

मानसरोवर-कैलास यात्रा में जब आप तिब्बत की सीमा पर पहुँचेंगे तब कम्युनिस्ट चीन के सैनिक आपकी तलाशी लेंगे। पूजा-पाठ की पुस्तकों के अतिरिक्त पुस्तक, समाचार-पत्र, दूरबीन, कैमरा, बन्दूक, पिस्तौल आदि कोई भी वस्तु साथ नहीं ले जाने देते। अतः यदि

यात्री के पास कोई ऐसी सामग्री हो तो उसे भारतीय सीमा में ही छोड़ देनी चाहिये।

मानसरोवर-कैलास की यात्रा में लगभग डेढ़-दो महीने का समय लगता है। लगभग ४॥ सौ मील पैदल या घोड़े पर चलना पड़ता है। अपना भोजन स्वयं बनावे और मार्ग-दर्शक भारतीय सीमा से ले-ले तो यात्रा चार-पाँच सौ रुपये के खर्च से हो जाती है।

बालक, वृद्ध, श्वाँस-रोगी, हृदय-रोगी और मोटे शरीर वाले को यह यात्रा नहीं करनी चाहिये।

मान-सरोवर

पूरे हिमालय को पार करके तिब्बती-पठार में ३० मील जाने पर पर्वतों से घिरे हुए दो महान सरोवर मिलते हैं। उनमें से एक राक्षस-ताल और दूसरा मान-सरोवर है।

राक्षसताल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि किसी समय राक्षसराज रावण ने यहीं पर खड़े २ भगवान् शंकर की आराधना की थी। दूसरा सुप्रसिद्ध मानसरोवर है। उसका जल अत्यन्त सुन्दर और नीलममणि की तरह है। मानसरोवर ५१ शक्तिपीठों में से एक पीठ है। पौराणिक परम्परा के अनुसार सती की दाहिनी हथेली इसी में गिरी थी।

मानसरोवर में हंस बहुत रहते हैं, जिनमें राजहंस भी हैं और सामान्य हंस भी।

मानसरोवर से कैलास लगभग २० मील दूर है। भारतीयों की तरह तिब्बत के लोगों में भी कैलास के प्रति बहुत श्रद्धा है। अनेक तिब्बती श्रद्धालु पूरे कैलास की ३२ मील की परिक्रमा दण्डवत् प्रणिपात करते हुए पूरी करते हैं।

पूरे कैलास की आकृति एक विराट् शिवलिंग जैसी है जो मानो पर्वतों से बने हुए एक षोड़श-दल कमल के ऊपर रखा है। शिव-लिंगाकार कैलास-पर्वत आसपास के समस्त शिखरों से ऊँचा है। वह ठोस काले पत्थर का है और सदा दुग्धोज्वल बर्फ से ढँका रहता है। कैलाश के शिखर की ऊँचाई समुद्र-स्तल से १६ हजार फीट ऊँची समझो जाती है। कैलास की परिक्रमा ३२ मील की है जिसे यात्री प्रायः तीन दिन में पूरी करता है।

कैलीफोर्नियाँ

संयुक्त-राज्य अमेरिका का दूसरे नंबर का सबसे बड़ाराज्य, जिसका क्षेत्रफल १ लाख ५८ हजार ६९३ वर्ग मील और जन-संख्या १०५८६२२३ है।

'कैलीफोर्निया' में सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा तथा तेल विशेष रूप में प्राप्त होते हैं। फलों का उत्पादन भी यहाँ बड़े परिमाण पर होता है। सिनेमा-फिल्में, रसायन, टैक्स-टाइल-उद्योग और मशीन-उद्योग यहाँ पर बड़े परिमाण में पाये जाते हैं।

कैवर्त

भारतवर्ष में नौका चलाने वाली और मछली पकड़ने वाली जाति, जिसको केवट या मल्लाह भी कहते हैं।

केवट-जाति का इतिहास बहुत प्राचीन है। ब्रह्म वैवर्त-पुराण, बृहत् व्यास-संहिता, शुक्ल-यजुर्वेद, मनु-संहिता इत्यादि अनेक पुराण ग्रन्थों में इस जाति का विवेचन आया है।

रामायण में रामचन्द्र के वनवास के समय नदी पार कराने वाले भक्त केवट की कथा तो रामायण के साथ आज घर-घर में पढ़ी जाती है—

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे राजिव-नैन, निरखि जानकी लखन तब॥

महाभारत काल में सुप्रसिद्ध वेदव्यास की माता सत्यवती को केवट-कन्या और मत्स्यगन्धा बतलाया गया है। महर्षि पाराशर के सम्बन्ध से इसी के गर्भ से महर्षि वेदव्यास की उत्पत्ति हुई थी। उसके बाद महाराज शान्तनु ने इसी धीवर-कन्या से विवाह करके इसको अपनी राज-महिषी बनाया था और इसी के गर्भ से उत्पन्न चित्रांगद और विचित्र वीर्य राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे।

केवट जाति दो प्रकार की होती है। एक हालिक और दूसरी जालिक। हल चलाकर जीविका-निर्वाह करने वाले हालिक और मछली मारने वाले जालिक कहलाते हैं। हालिक केवट अपने को जालिक केवटों से ऊँचे मानते हैं।

रामायण, महाभारत और प्राचीन धर्म-ग्रन्थों से मालूम होता है कि प्राचीन काल में धीवर या जालिक-केवट ही विद्यमान थे। हालिक-केवटों का नाम प्राचीन ग्रन्थों में

नहीं पाया जाता। ऐसा अनुमान होता है कि पुरानी केवट जाति में से कुछ लोग खेती-बारी का काम करने लगे और वे ही हालिक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वर्तमान में 'हालिक' और 'जालिक' केवटों में कोई सामाजिक सम्बन्ध नहीं है। और इन दोनों की सामाजिक स्थिति में भी बहुत भिन्नता है।

सन् १८५१ की लोक-गणना के समय हालिक-कैवर्त समिति ने मर्दुमशुमारी के अधिकारी के पास एक आवेदन पत्र भेजा था जिसमें महाभारत के अश्वमेध पर्व का हवाला देते हुए लिखा था कि—"अर्जुन ने दक्षिण-समुद्र के तीर रहनेवाले जिन माहिष्कों से युद्ध किया था। वे ही वर्तमान हालिक केवटों के आदि पुरुष थे।"

बंगाल के इतिहास में कई प्रसंग ऐसे आये हैं, जिनमें हालिक केवट-जाति के लोगों ने अपने राज्य भी स्थापित किये थे। गौड़-राज्य में जब आदि शूर का अभ्युदय नहीं हुआ था, उससे पहले हालिक लोग इस अञ्चल में राज्य करते थे। इनमें भी तमलुक, मेनागढ़ और बैताल के राजवंश सबसे अधिक प्राचीन हैं।

उड़ीसा के कमिश्नर की रिपोर्ट से मालूम पड़ता है कि तमलुक का केवट राजवंश ४८ पीढ़ी तक स्वाधीन रहा। इस राज्य का अन्तिम राजा सन् १६५४ ई० में सिंहासन से उतारा गया।

हालिक केवट आदि, मध्य और अन्त्य—तीन भागों में विभक्त है। इनके गोत्रों में शांडिल्य, काश्यप, वात्स्य, सावर्ण्य, भारद्वाज, मौद्गल्य, पलाशार, नागेश्वर, विलास, वशिष्ठ, व्यास और आलम्यान प्रसिद्ध हैं। ये सभी गोत्र भारतीय ऋषियों के नाम पर रखे हुए हैं।

बंगाल में हालिक केवटों की विवाह-प्रथा उच्च श्रेणी के हिन्दुओं से मिलती-जुलती है।

जालिक-केवट भारतवर्ष में विशेषकर नदियों के किनारे बसते हैं। ये लोग नौका चलाने, मछली पकड़ने और खेती करने का धन्धा करते हैं। इनमें भी कई गोत्र और श्रेणियाँ हैं।

(वसु-विश्वकोष)

कैसर विलियम द्वितीय

जर्मनी का सुप्रसिद्ध सम्राट्, जिसके शासन-काल में प्रथम विश्व-व्यापी युद्ध का प्रारंभ हुआ। इसका जन्म सन् १८५६ में और मृत्यु सन् १६४२ में हुई।

जिस समय 'कैसर विलियम' का जन्म हुआ, उस समय यूरोप में, प्रशिया के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'बिस्मार्क' की राजनीति, इतिहास के एक नवीन अध्याय की रचना कर रही थी। बिस्मार्क जर्मनी से आस्ट्रिया के प्रभाव को हटा कर प्रशिया की अध्यक्षता में एक अखिल जर्मन-साम्राज्य के निर्माण की योजना बना रहा था। उसका राजनैतिक मस्तिष्क बड़ा विलक्षण था। वह जनशक्ति की अपेक्षा सैनिक-शक्ति पर अधिक विश्वास करता था।

सन् १८६६ में उसने आस्ट्रिया पर आक्रमण करके आस्ट्रिया को पराजित कर दिया और 'प्राग' की सन्धि के अनुसार जर्मनी से उसका सम्बन्ध तोड़ दिया। इसके पश्चात् सन् १८७० में 'सीडान' की रणभूमि में फ्रांस को पराजित कर उसे 'फ्रेंकफोर्ट' की सन्धि करने के लिये मजबूर कर दिया।

बिस्मार्क की कूटनीति और लड़ाइयों ने आस्ट्रिया और फ्रेंच-साम्राज्य को कमजोर करके एक नवीन और सुदृढ़ जर्मन-साम्राज्य का निर्माण कर दिया। १८ जनवरी सन् १८७१ को समस्त जर्मनी की एकता घोषित की गयी और राजा विलियम को प्रथम जर्मन सम्राट् के रूप में सिंहासन पर आसीन किया गया।

सन् १८८२ में सारे यूरोप में जर्मनी का प्रभाव बढ़ाने के आशय से बिस्मार्क ने जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का एक त्रिविध-संघ (Triple Allience) कायम किया और अपनी जल-सेना और स्थल-सेना की बहुत वृद्धि कर ली। तभी से जर्मन-राष्ट्र विश्व विजय के सपने देखने लगा।

इसी नव निर्मित और सुसंगठित जर्मन-राष्ट्र की गद्दी पर सन् १८८८ में २६ वर्ष की अवस्था में विलियम द्वितीय बैठा। तीन साल के पश्चात् वह कैसर-विलियम द्वितीय की उपाधि धारण कर जर्मनी का सम्राट् बन गया। तभी से 'कैसर' जर्मन सम्राटों की उपाधि हो गयी।

कैसर विलियम द्वितीय अत्यन्त महत्वाकाँक्षी, तेजस्वी और सैनिक प्रवृत्ति का आदमी था। जन्म से ही उसका बायाँ हाथ न होते हुये भी उसको कठिन सैनिक-शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी थी।

गद्दी पर बैठने के कुछ ही समय पश्चात्, प्रधान मंत्री विस्मार्क से मतभेद हो जाने के कारण, सन् १८६० में उसने विस्मार्क को बरखास्त कर दिया। लेकिन विस्मार्क के द्वारा स्थापित की हुई जल और थल की महान् शक्ति के बल पर वह जर्मन-राष्ट्र को संसार की सर्वोपरि सत्ता के रूप में बनाने का स्वप्न बराबर देखता रहा।

यूरोपीय इतिहास में सन् १८७१ से सन् १९१४ तक का समय "सशस्त्र शान्ति का" काल कहा जाता है। इस काल में यूरोप में कोई युद्ध नहीं हुआ। पर सभी राष्ट्र एक बड़े युद्ध की आशंका से आशंकित थे। सारा यूरोप एक बारूदखाने की तरह हो रहा था, जिसमें सिर्फ एक चिनगारी पड़ने की देर थी।

इसी समय २८ जून सन् १९१४ को आस्ट्रिया के युवराज 'फर्डिनैंड' की बासनियां की राजधानी 'सेराजेओ' में किसी ने हत्या कर दी। इसके ४८ घंटे बाद ही आस्ट्रिया ने सर्विया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। और जर्मनी को उस युद्ध में शामिल होना पड़ा।

उसके बाद जल और स्थल दोनों ही क्षेत्रों में जर्मनी की प्रचण्ड सेनाओं ने 'मित्र-राष्ट्रों को पराजित करना शुरू किया। कैसर विलियम ने बड़ी बहादुरी से इस युद्ध का सञ्चालन किया। उसके सेनापति 'लूडेनडोर्फ तथा हिंडेन बर्ग' ने अपनी युद्ध-कला से सारे संसार को चकित कर दिया। जर्मनी की जल-सेना ने सैकड़ों अंग्रेजी जहाजों को समुद्र में डुबो दिया और उसके हवाई-जहाजों ने शत्रु के नगरों पर बम बरसाना शुरू किया। लेकिन उसके पश्चात् ही सन् १९१७ में अमेरिका के द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने पर और लायडजॉर्ज के इंग्लैंड के प्रधान मंत्री के पद पर आजाने के कारण युद्ध का पासा पलट गया और जर्मनी की जीत, हार में बदलने लगी और सन् १९१८ में यह महायुद्ध जर्मनी की हार के साथ समाप्त हुआ।

इस युद्ध की पराजय के पश्चात् ही जर्मनी की जनता सम्राट् कैसर-विलियम के विरुद्ध हो गयी और 'कैसर' को—जिसे कुछ ही समय पहले जर्मन-जाति अवतार की तरह पूजती थी और जो एक बहुत बड़े साम्राज्य के स्वामी होने का सुख-स्वप्न देख रहा था—अपने देश से भागना पड़ा और परिवार सहित उसे 'हालैंड' में शरण लेनी पड़ी। जहाँ सन् १९४२ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

कैंसर

मानव शरीर में होनेवाला एक अत्यन्त घातक और प्राणनाशक फोड़ा, जिसका प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र में 'कर्कट' के नाम से उल्लेख किया गया है।

आधुनिक युग में सभ्यता के विकास के साथ-साथ सारे विश्व में 'कैंसर' के रोग की वृद्धि होती जा रही है। 'विश्व-स्वास्थ्य-संगठन' की रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष ५० लाख से अधिक आदमी इस महारोग से पीड़ित होते हैं और संसार में प्रति वर्ष २० लाख लोग 'कैंसर' की व्याधि से मरते हैं।

कैंसर का यह रोग शरीर के भीतरी या बाहरी किसी भी हिस्से में हो सकता है। त्वचा, जीभ, गला, फुपफुस, भोजन-नलिका, आमाशय, गुदा, स्तन, गर्भाशय-ग्रीवा, पुरुष-ग्रन्थि इत्यादि शरीर के सभी भागों में यह रोग प्रकट होता है।

कैंसर का निदान—अनुभवी चिकित्सक ५० प्रतिशत रोगियों का निदान तो साधारण दृष्टि से देखकर तथा ठोंक बजाकर ही कर सकता है। २५ प्रतिशत रोगियों का निदान साधारण यन्त्रों द्वारा निश्चित हो जाता है, मगर २५ प्रतिशत रोगी प्रारम्भिक अवस्था के ऐसे होते हैं, जिनके निदान में बड़ी कठिनाई होती है और जिनके लिए कई प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग करना पड़ता है।

कैंसर के रोग की एक विशेषता यह है कि काफी समय तक यह रोग बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये बढ़ता रहता है। इसमें रोगी का ध्यान रोग की ओर आकृष्ट नहीं होने पाता और जब रोगी का ध्यान उस ओर आकृष्ट होने

लगता है तबतक यह रोग असाध्य अवस्था में पहुँच जाता है।

वैसे तो यह रोग बच्चों से लेकर बुड्ढों तक सभी अवस्था के मनुष्यों में पाया जाता है। मगर विशेषतः अधेड़ या वृद्ध लोगों में ४० वर्ष की अवस्था के बाद सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। कैंसर की उत्पत्ति के क्या कारण हैं, इस विषय में अभी चिकित्साविज्ञान निश्चित मत पर नहीं पहुँचा है। फिर भी गले का कैंसर अधिक सिगरेट-बीड़ीपीने से होता है—यह बात इस विषय की जाँच करने पर मालूम हुई है। गले के कैंसर के अधिकांश रोगी ऐसे व्यक्ति निकले जो अत्यधिक धूमपान करते थे।

कैंसर के रोग की विधिवत् या सुनिश्चित चिकित्सा अभीतक मानव जाति के हाथ नहीं लग पायी है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इस समस्या के समाधान के लिए लगातार और अनवरत श्रम कर रहा है। फिर भी अभी तक उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-स्वास्थ्य-संगठन इस दिशा में पूर्ण नियोजित एवं व्यवस्थित रूप से विभिन्न देशों में कैंसर के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य करवा रहा है।

जुलाई सन् १९६२ में 'मास्को' में जो ८ वाँ अन्तर्राष्ट्रीय कैंसर-सम्मेलन हुआ था, उसमें किये गये विचार-विनिमय के निष्कर्षों से यह आशा होने लगी है कि निकट भविष्य में ही शायद कैंसर की समस्या का समाधान हो सकेगा।

'युनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस' के अनुसार अमेरिकी जनता हर साल १० करोड़ डालर कैंसर के अनुसन्धान और उपचार पर खर्च करती है। फिर भी इस रोग की रोक-थाम नहीं हो पा रही है।

भारतवर्ष में भी आगरा के सरोजिनी नायडू मेडिकल कालेज में मुखके कैंसर तथा गर्भाशयग्रीवा के कैंसर पर कुछ वर्षों से अनुसन्धान कार्य चलरहा है। सन् १९५७ में नार्वे की राजधानी 'ओसलो' में विश्व-स्वास्थ्य-संघ के द्वारा आयोजित कैंसर सम्बन्धी गोष्ठी में एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय किया गया था कि मुख के कैंसर-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्व केन्द्रकी स्थापनाकी जाय। और यह स्थापना भारत में आगरा मेडिकल कालेज के पैथालॉजी विभाग के अध्यक्ष डा० प्रेमनाथ वाही के निर्देशन में की जाय।

डा० वाही ने गर्भाशय-ग्रीवा के कैंसर के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं और मास्को के आठवें अन्तराष्ट्रीय कैंसर-सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने अपना 'गर्भाशय ग्रीवा का कैंसर' नामक निबन्ध पढ़ा था। इस निबन्ध ने संसार भर के कैंसर-चिकित्सकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कया था।

भारत के लिए तो 'डा० वाही' का यह अनुसन्धान कार्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। क्योंकि कैंसर से पीड़ित भारतीय महिलाओं में लगभग ३० प्रतिशत को गर्भाशय-ग्रीवा का कैंसर होता है।

कैंसर-रोग की चिकित्सा में अभीतक एक्स-रे, रेडियम तथा रेडियो-आइस-टोपों के द्वारा विशेष रूप से चिकित्सा की जाती है। एक्स-रे, रेडियम अथवा आइस्टोपों से निकली हुई किरणों में यह गुण है कि उचित मात्रा में इनके प्रयोग से कैन्सर कोशिकाओं की या तो मृत्यु हो जाती है या उनका विभाजन रुक जाता है। इससे यह रोग या तो सर्वदा के लिए मिट जाता है या काफी समय के लिए दब जाता है। सभी वर्ग की कैंसर-कोशिकाओं पर इन रश्मियों का प्रभाव समान रूप में नहीं होता। जिन कोशिकाओं पर इन रश्मियों का नाशकारी प्रभाव अधिक मात्रा में होता है, उन्हीं पर यह चिकित्सा अधिक फलदायक होती है। मगर कई प्रकार के कैंसर ऐसे होते हैं, जिन पर इन रश्मियों का बिलकुल प्रभाव नहीं होता और कई स्थानों पर यह अपना उल्टा प्रभाव भी दिखलाती हैं। इसलिए इन रश्मियों के प्रयोग करने में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है।

हाल ही में कुछ समय पूर्व भारत में पैदा होनेवाले एक पौधे में कैंसर नाशक गुण मिलने से चिकित्सा-विज्ञान का ध्यान इस पौधे की ओर आकृष्ट हुआ है। इस पौधे को हिन्दी में 'बारहमासी' मराठी में 'सदाफूल' बंगाली में 'नयनतारा' और वनस्पति-विज्ञान में 'विंका रोजिया' (Vinca-Rosea) कहते हैं। यह पौधा अभीतक मधु-प्रमेह या मूत्र सम्बन्धी रोगों में प्रयोग किया जाता रहा है।

सन् १९५५ में इस पौधे का विश्लेषण करके इसमें से 'ल्युको पेनिक' नामक एक तत्व प्राप्त किया गया। यह 'ल्युको पेनिक' तत्व कैंसर-चिकित्सा में अधिक उपयोगी पाया गया।

अमेरिका में विशेष अनुसन्धान करके मालूम किया गया कि यह पौधा सभी प्रकार के 'ट्यूमर' तथा 'कैंसर' में विशेष फायदा करता है। अमेरिका में इस पौधे से निकाले गये तत्व वी० एल० वी० का कई प्रकार के कैंसर रोगों में काफी प्रयोग हो रहा है। इसके अतिरिक्त विदेशों में इस पौधे में 'ल्युरोक्रिस्टीन' तथा 'ल्युरोसाइडिन' नामक दो चार तत्वों का पता भी लगाया गया है जो कैंसर की चिकित्सा में काम आते हैं।

इन्हीं कारणों से संसार के कैंसर-चिकित्सकों का ध्यान इस पौधे की ओर आकर्षित हुआ है और कैंसर की विभिन्न अवस्था में इसका प्रयोग किया जा रहा है।

भारतवर्ष में भी कैंसर-चिकित्सा की आशा में पूना के 'पिम्परी' नामक स्थान में इस पौधे पर अनुसन्धान कार्य हो रहे हैं। बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य स्थानों में स्थित कैंसर अनुसन्धान-केन्द्रों में भी इस पौधे पर अनुसन्धान हो रहे हैं।

कुछ ही समय पूर्व "ब्रिटिश इन्फार्मेशन सर्विस' ने घोषणा की है कि इस पौधे के फूल से एक रासायनिक तत्व की प्राप्ति हुई है। इस तत्व को 'रक्त-कैंसर' (ल्युकोमियाँ) तथा 'हाजकिन' की बीमारी पर सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है। 'ट्यूमर' के उपचार में इससे ३ दिन के अन्दर ही प्रायः अच्छे परिणाम देखने को मिले हैं। 'ल्युकोमिया' की चिकित्सा करते समय रक्त में श्वेत कणों की संख्या में इस पौधे के प्रयोग से ७ दिनो के अन्दर ही तेजी से कमी होती देखी गयी है। स्मरण रहे कि ल्युकोमिया रोग कैंसर-उपचार में एक बहुत बड़ी समस्या रही है। जिसमें बहुत समय तक शल्य-उपचार और रेडियो-उपचार सफल नहीं होपाये थे। इस सुपरिचित पौधे से कैंसर जैसे भयंकर रोग पर लाभदायक गुण मिल जाने से इस रोग के सम्बन्ध में एक नयी आशा का सञ्चार होता है।*

कोइलो-क्लेडिया

स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय का दरबारी भित्ति-चित्रकार। जिसका जन्म सन् १६३० में और मृत्यु सन् १६९३ में हुई। स्पेन का यह अन्तिम महान् भित्ति-चित्रकार माना जाता है।

कोइरी

उत्तर प्रदेश, बिहार और छोटा नागपुर क्षेत्र में पाई जाने वाली एक कृषिजीवी जाति।

कोइरी लोग अपने आपको क्षत्रियवंशी बतलाते हैं। पादरी शेरिंग नामक इतिहासकार ने अपने Tribes and Castes नामक ग्रन्थ में कोइरी जाति का उद्भव कछवाहा राजपूतों से बतलाया है। कोइरियों में १४० गोत्र बतलाये जाते हैं। जिनमें सूर्यवंशी, बैसवार, कनौजिया, दाँजी, बनाफर, भदौरिया, शात्रवंशी और कछवाहा उल्लेखनीय हैं।

क्रैको युनिवर्सिटी

योरोप की अत्यन्त प्राचीन और दूसरे नम्बर की यूनिवर्सिटी, जिसकी स्थापना पोलैण्ड के 'क्रैको' नामक प्राचीन शहर में सन् १३६४ में हुई। क्रैको पोलैण्ड का एक बहुत प्राचीन नगर है। इस नगर के चारों ओर ७ उपनगर है।

इसी नगर में सन् १३६४ में 'जगेलानियन यूनिवर्सिटी' के नाम से इस यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई, जो इस समय क्रैको यूनिवर्सिटी के नाम से प्रसिद्ध है।

---

* 'कादम्बिनी' जनवरी सन् १९६५ ई०

कोंकण

भारतवर्ष के दक्षिणी भाग का एक प्रदेश, जो अरब-सागर और पश्चिमीघाट पर्वत श्रेणियों के बीच में बसा हुआ है।

यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही काफी प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल में कोंकण की स्थिति एक विस्तृत जनपद के समान थी। सह्याद्रिखण्ड के अनुसार केरल, तुलम्ब, सौराष्ट्र, कोंकण, करहाट, कर्नाट और बर्बर—इन ७ प्रदेशों का नाम 'कोंकण' था। इसे सप्तकोंकण भी कहा जाता है।

कोंकण-प्रदेश पश्चिमघाट से क्रमशः ढालू होकर समुद्र की तरफ चला गया है। इसके भीतर से कई छोटी-छोटी नदियाँ निकल कर समुद्र में जा गिरी हैं। इस प्रदेश में कई बन्दरगाह हैं। इन बन्दरगाहों से मिस्र और यूनान के व्यापारी प्राचीन काल में व्यापार करते थे।

कोंकण का ऐश्वर्य शिलाहार-राजाओं के शासन के समय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। शिलाहार-राजाओं का शासन लगभग ईसवी सन् ८०० से १३०० तक दक्षिणी भारत में रहा।

शिलाहार-वंश की दो शाखाएँ थीं। एक शाखा की राजधानी 'ठाणा' में थी और कोंकण का उत्तरी प्रदेश कुलाबा-जिला, रत्नागिरि का चिपलूण प्रदेश और घाटों के ऊपर का पर्वतीय प्रदेश इनके राज्य के अन्तर्गत था।

उस समय के शिला-लेखों के अनुसार इस विभाग के कोंकण-देश में १४०० से अधिक गांव लगते थे। इस वंश का राजा 'अपराजित प्रथम' अपने को 'कोंकण-चक्रवर्ती' लिखता था। यह राजा पहले राष्ट्रकूटों का माण्डलिक था और इसका समय सन् ९९३ के आस पास था।

इसके पश्चात् 'अपराजित द्वितीय' के समय में इस राजवंश की और कोंकण की कीर्ति और भी बढ़ गयी। पूर्व राजाओं के समान यह भी अपने को 'कोंकण-चक्रवर्ती' लिखता था।

इसी वंश में सन् ११५५ ई० के करीब 'मल्लिकार्जुन' नामक राजा हुआ। इस मल्लिकार्जुन पर गुजरात के राजा कुमारपाल चालुक्य ने आक्रमण किया। पहली लड़ाई में 'बलसाड़' के पास कुमारपाल का सेनापति 'अम्बड़' पराजित हुआ, मगर दूसरी बार अम्बड़ ने फिर तैयारी कर उस पर आक्रमण किया और उसने मल्लिकार्जुन को लड़ाई में हरा कर मार डाला।

मल्लिकार्जुन का पुत्र 'अपरादित्य द्वितीय' इस वंश का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ राजा था। अपने शिलालेखों में में अपने लिए इसने महाराजाधिराज और कोंकण चक्रवर्ती का विरुद लगाया है। इसने स्वतंत्रतापूर्वक कोंकण के बहुत बड़े हिस्से पर राज्य किया। राजा होने के साथ-साथ राजा अपरादित्य स्वयं भी बड़ा विद्वान था। याज्ञवल्क्य स्मृति पर उसने प्रसिद्ध 'अपरार्क टीका' लिखी है। यह ग्रन्थ अब भी हिन्दू धर्मशास्त्र में प्रमाणिक माना जाता है।

अपरादित्य के बाद भी कोंकण बहुत दिनों तक स्वतंत्र रहा। सौ साल के बाद सुप्रसिद्ध यात्री 'मार्कोपोलो' यहाँ पर आया था। उसने भी कोंकण का एक स्वतंत्र राज्य की तरह उल्लेख किया है और उसके वैभव की तथा उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा की है।

शिलाहार-वंश की दूसरी शाखा की राजधानी कोल्हापुर में थी। यह राजवंश राष्ट्रकूटों का माण्डलिक था। यह राजवंश कोंकण के दक्षिणी हिस्से पर राज्य करता था। इस वंश में 'गण्डरादित्य' एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ। इस गण्डरादित्य ने प्रयाग में एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया था। मिरज प्रान्त में इसने एक बड़ा भारी तालाब बनवाया था और उसके किनारे पर 'जिनेन्द्र देव' 'बुद्ध' तथा 'शिव' के मन्दिर बनवाये थे। इस राजवंश के राजा जैन-धर्म का बड़ा सम्मान करते थे। इसलिए जिस प्रकार कुमारपाल के समय गुजरात में जैन-धर्म का प्रचार हुआ, उसी प्रकार इनके समय में महाराष्ट्र के अन्दर जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ। इस वंश का अन्तिम राजा 'भोजदेव' था, जिसके समय के कई शिला लेख प्राप्त हुए हैं। इसका समय सन् ११७९ से लगाकर १२०५ ई० तक समझा जाता है।

शिलाहार-वंश का पतन हो जाने के पश्चात् कोंकण का यह प्रदेश विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत हुआ।

कोंकण के उत्तरी और दक्षिणी दोनों भाग विजयनगर साम्राज्य में सम्मिलित थे।

इसके बाद कोंकण पर "अंगिरिया" नामक किसी राजवंश का अधिकार था। इस राजवंश के लोग समुद्र में डाके डाल कर जहाजों को लूटा करते थे। सन् १७५६ में लार्ड क्लाइव और वटसन ने आक्रमण करके इस वंश को समाप्त कर दिया।

उसके बाद इस राज्य का बहुत-सा हिस्सा 'पेशवा' के अधिकार में रहा।

सन् १८१८ में यह स्थान अंग्रेजों के अधिकार में आया। उन्होंने इस स्थान को उत्तर और दक्षिण—दो भागों में बाँट दिया। उत्तर भाग में पहाड़ों पर बहुत से किले बने हुए थे। इनमें वेसिन, आर्नाला, केलवो, महीम, सिरिगम, तेरापुर, ऊमर गाँव उल्लेखनीय हैं। गम्भीरगढ़, भूपतिगढ़, पूरूमुल आदि कई स्थानों के क़िले अंग्रेजों ने बेकार समझकर तोड़ दिये।

अंग्रेजों के शासन में कनाडा, रत्नागिरि, कोलाबा और थाना विभाग भी कोंकण प्रदेश में सम्मिलित किये गये। गोवा के स्वाधीन होने के पश्चात् गोवा भी इसी प्रदेश में सम्मिलित किया गया।

कोंकण का प्रदेश पहाड़, नदी नाले इत्यादि प्राकृतिक सौन्दर्य्य से परिपूर्ण एक सुरम्य प्रदेश है। यह प्रदेश बहुत उपजाऊ है। यहाँ पर सब प्रकार के अन्न और नारियल प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं।

कोंकणी भाषा -

कोंकण प्रदेश की अपनी एक स्वतन्त्र भाषा और साहित्य भी है। यह भाषा यद्यपि मराठी भाषा से अधिक मिलती हुई है फिर भी इसमें कन्नड़ भाषा और तुलू भाषा के शब्द बहुतायत से मिल गये हैं। इससे कई लोग इसे कन्नड़ भाषा की उपभाषा मानते हैं। कई लोगों के मत से यह भाषा आर्य्य और द्राविड़ भाषा के मिश्रण से बनी हुई एक स्वतन्त्र भाषा है। गोवा से ऊपि नामक स्थान के उत्तर तक असली कोंकणी भाषा का प्रचार है। कोंकणी भाषा नागरी, रोमन और कन्नड़ तीन लिपियों में लिखी जाती है।

कोंकणी भाषा का अपना एक समृद्ध साहित्य भी है इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थ भी है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने इस भाषा की उन्नति में बहुत सहयोग दिया। फ़ादर स्टीफेन नामक धर्माचार्य्य ने कोंकणी भाषा का व्याकरण लिख कर उसे एक व्यवस्थित रूप दिया।

कोंकणस्थ ब्राह्मण

कोंकण से निकले हुए ब्राह्मणों को कोंकणस्थ या "चित पावन" नाम से सम्बोधित किया जाता है। प्राचीन परम्पराओं के अनुसार भार्गव परशुराम ने आर्यावर्त्त से १४ ब्राह्मण परिवारों को लाकर इस प्रदेश में बसाया था। उन्हीं में से एक परिवार के वंशज अपने को चित-पावन ब्राह्मण मानते हैं।

कोंकणस्थ ब्राह्मणों में कुछ लोग ऋग्वेद की शाकल शाखा से सम्बन्धित हैं और कुछ कृष्ण यजुर्वेदी हैं। ऋग्वेदी आश्वलायन सूत्र और कृष्ण यजुर्वेदी हिरण्यकेशी सूत्र के अनुसार आचार-व्यवहार करते हैं। इस जाति में अत्रि, काश्यप, कौण्डिन्य, कौशिक, गर्ग, जामदग्न्य, नित्यन्जन, भारद्वाज, वत्स, बाभ्रव्य, वसिष्ठ इत्यादि ऋषियों के नाम पर गोत्र लगते हैं। अभ्यङ्कर, आगासी, आठवले, बापट, भागवत, भावे, चितले, दामले, डुगले, गाडगिल, गर्दे, जोशी, कर्वे, कुपठे, लेले, मोड़क, पटवर्द्धन, फड़के, रानडे, गोखले इत्यादि इनमें अनेकों उपाधियाँ होती हैं।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शासक 'पेशवा' इसी जाति के थे। उनके अभ्युदय के साथ-साथ इस जाति का भी बहुत अभ्युदय हुआ और जहाँ-जहाँ मराठों के राज्य का विस्तार हुआ वहाँ सब दूर राजकार्य्य और शासनकार्य्य में इस जाति के लोगों का प्राधान्य हुआ। होलकर राज्य, सिंधिया राज्य, भोंसले राज्य इत्यादि सभी क्षेत्रों में राज्य शासन में इनका प्राधान्य रहा।

अंग्रेजी-राज्य की स्थापना के पश्चात्, शिक्षा और सभ्यता के क्षेत्र में इस जाति ने बहुत उन्नति की। तिलक, गोखले, रानडे इत्यादि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, शिक्षा-शास्त्रियों और दार्शनिकों को उत्पन्न करने का श्रेय इस जाति को है।

कोंगाल्व-राजवंश

दक्षिण भारत का एक माण्डलिक राजवंश जिसका समय ई० सन् ८८० से ई० सन् १११५ के लगभग समझा जाता है।

इस वंश के राजा, कुर्ग के उत्तर और हासन जिले के दक्षिण में स्थित 'कोंगलनाद' प्रान्त के शासक थे। सन् ८८० ई० में गंग-राजवंश के राजकुमार 'एयरप्प' ने इस प्रान्त में इस वंश के एक व्यक्ति को शासक बनाकर नियुक्त किया था। मगर इस वंश का वास्तविक अभ्युदय सन् १००४ से हुआ। जब सम्राट् 'राजराज चोल' ने इस वंश के 'पञ्चव महाराय' को उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर 'क्षत्रिय-शिखामणि कोंगाल्व' का विरुद और मालव्य प्रदेश दिया।

इस राजवंश में आगे चल कर राजेन्द्र कोंगाल्व दुद्द मल रस, युद्ध मल रस, इत्यादि कई और भी राजा हुये। इस कोंगाल्व-राजवंश के राजा जैन-धर्म पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। राजेन्द्र कोंगाल्व अदटरादित्य ने मुल्लरू में अदटरादित्य नामक एक 'जैनमन्दिर' का निर्माण, सन् १०५८ में कराया था। कोंगाल्व राज 'युद्ध मल्लरस' ने भी सन् ११०० ई० में एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।

सन् १११५ ई० के लगभग 'वीर कोंगाल्वदेव' ने 'सत्यवाक्य' नामक जैन-मन्दिर का निर्माण करवा कर उसके लिये एक गाँव दान में दिया था। चोल-राजवंश के पतन के बाद कोंगाल्व-नरेश होयसल-राजवंश के अधीन हो गये।

कोच (रावर्ट कोच)

संसार का एक महान् जीवाणु-शास्त्री जिसका जन्म सन् १८४३ में जर्मनी के एक छोटे से कस्बे में हुआ। और मृत्यु सन् १९१० में हुई।

गोटिङ्गन के विश्व-विद्यालय में 'रावर्ट-कोच' ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। इसी सिलसिले में उन्हें जीवाणु-शास्त्र के अध्ययन का अवसर मिला।

'कोच' ने सबसे पहले एनथ्रेक्स (Anthrax) नामक बीमारी के कीटाणुओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। यह एक ऐसी बीमारी है, जिसका संक्रमण भेड़ों के द्वारा मनुष्यों पर होता है।

सन् १८७६ में रावर्ट कोच ने खून के सीरम तथा तथा गाय की आँखों के द्रव पदार्थ से एक विशुद्ध कोटि का रोगजनक जीवाणु तैयार किया। इस जीवाणु को अलग करने के बाद उन्होंने एन्थ्रेक्स बीमारी को निरोध करने वाले 'टीके' की घोषणा कर दी।

इसके बाद उन्होंने क्षय और हैजे के जीवाणुओं का पता लगाया। इस प्रणाली ने संक्रमण एवं संक्रामक रोगों के वैज्ञानिक अध्ययन में एक नवीन दृष्टिकोण पैदा कर दिया। क्षय के जीवाणु को पृथक करने की सफलता ने 'कोच' को सब दूर प्रसिद्ध कर दिया।

सन् १८८३ में वे हैजे के कारणों का अध्ययन करने एशिया गये। इस यात्रा में उन्होंने हैजे के कीटाणु को पृथक करने में सफलता प्राप्त की। और हैजे के टीके का आविष्कार किया। सन् १८९० में क्षय के जीवाणुओं की रोक थाम के लिये 'ट्यूबर-क्युलिन' (Tubarculin) नामक सत्व का आविष्कार किया। मगर इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

इसके पश्चात् उन्होंने गिल्टीदार 'प्लेग' 'अति निद्रा रोग' और 'मलेरिया' पर भी अपने अन्वेषण किये। सन् १९०५ में उनको संसार का सुप्रसिद्ध 'नोबुल प्राइज' प्राप्त हुआ। हैजे के टीके का आविष्कार कर इस महान् वैज्ञानिक ने इस बीमारी पर विजय प्राप्त की।

कोच

बंगाल के उत्तर-पूर्व प्रदेश में रहने वाली एक जाति, जो वैदिक युग में पणि, पौराणिक युग में पणीकवच, तंत्र में कवाच और पाश्चात्य-जगत् में फिनिशियन (Phenician) नाम से परिचित है।

बंगाल के उत्तर-पूर्व प्रदेश में कोच लोग रहते हैं। पाश्चात्य इतिहासकार इस जाति की गणना अनार्य-जाति में करते हैं। कितनों ही के मतानुसार इस जाति में मंगोलियन रक्त मिल गया है।

इसी जाति के नाम पर 'कूच विहार' राज्य का नाम करण हुआ है।

इस जाति के लोग आजकल अपने को कोच नहीं बतलाते। यह अपना परिचय राजवंशी या भंग क्षत्रिय करके देते हैं। इनकी एक श्रेणी ऐसी है, जो अपने का राजा दशरथ का वंशज बतलाती है। इस जाति में कई श्रेणियाँ भी हैं, जिनमें शिव-वंशी श्रेणी श्रेष्ठ मानी जाती है। इनका आचार-व्यवहार बंगाली हिन्दुओं की भाँति है। इस जाति की सभी श्रेणियों का काश्यप-गोत्र होता है*।

कोचानोवस्की

(Jan Kochanowski)

पोलेण्ड का एक प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म सन् १५३० में और मृत्यु सन् १५८४ में हुई।

उस समय सारे यूरोप में रेनेंसा या पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ होरहा था। कोचानेवास्की की शिक्षा इटली में होने के कारण उस पर इस युग का प्रभाव पड़ रहा था। इसीलिए उसकी कविताओं में नवीन भावनाओं का समावेश हो रहा था। उसने ग्रीक परम्परा में एक मौलिक ट्रेजिडी या दुःखान्त नाटक की रचना की। उसकी यह ट्रेजिडी समस्त पुनर्जागरण के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। वह रेनेंसा युग का एक महान् कलाकार माना जाता है। पोलेण्ड के साहित्य पर उसकी रचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा।

कोचीन

अरब सागर पर स्थित केरल राज्य का एक सुप्रसिद्ध बन्दरगाह। जो अंग्रेजी राज्य के समय में एक देशी राज्य के रूप में अवस्थित था।

ईसा की नौवी सदी में जब केरल, त्रावणकोर और मलाबार केरल राज्य के अन्तर्गत थे। उस समय चेरूम परूमल नामक राजा इस सारे प्रदेश का शासन कर्ता था। कोचीन का राजवंश इसी राजा का वंशज था।

भारतवर्ष में सबसे पहले जब पोर्त्तगीज लोगों ने प्रवेश किया उस समय कालीकट के जमोरिन राजा और कोचीन राज्य में प्रतिद्वन्दिता चलती रहती थी।

सन् १५०० ई० की २४ दिसम्बर को पिड्रो-अलबुर्ज-दि-काबराला ने आकर कालीकट के राजा जमोरिन से बात कर कालीकट में पोर्त्तगीज कोठी की स्थापना की। मगर उनके जाने के बाद ही जमोरिन ने उस कोठी का नाश कर उसमें रहने वाले पोर्त्तगीजो का संहार कर दिया।

यह खबर पुर्तगाल पहुँचने पर वहाँ से वास्कोडिगामा सन् १५०२ में २० जहाजों के साथ कालीकट आ पहुँचे और कालीकट को घेर लिया और उस पर गोला बारी करने लगे, मगर फिर भी कालीकट के जमोरिन ने आत्म-समर्पण नहीं किया।

तब वास्कोडिगामा ने कोचीन के राजा को भय बताकर कोचीन की खाड़ी के मुहाने पर पोर्तगीज-कोठी बनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी कोठी से यहाँ पर यूरोपीय अधिकार का सूत्रपात हुआ और सन् १५०३ की दूसरी सितम्बर को अलबुकर्क पोर्तगीज कोठी का अधिपति बनकर यहाँ आया। और उसने कोचीन की कोठी में पुर्तगाली सेना रखने का अधिकार प्राप्त किया। वास्कोडिगामा के बाद पुर्तगाली अधिपति हेनरी मेञ्जेज कोचीन से पुर्तगाली राजधानी उठा कर गोआ ले गये। इस प्रकार कोचीन बन्दरगाह और नगर का निर्माण पुर्तगालियों के द्वारा हुआ।

सन् १६६३ में डच लोगों ने पुर्तगालियों को हराकर कोचीन पर अधिकार कर लिया। डचों के शासन काल में कोचीन नगर और बन्दरगाह की काफी उन्नति हुई।

सन् १७७६ में मैसूर के राजा हैदर अली ने इस प्रदेश को अपने अधिकार में कर कोचीन नरेश को अपने मित्र की तरह राजसिंहासन पर बिठाया।

सन् १७९१ में टीपू सुल्तान के भय से कोचीन के राजा ने अंगरेजों से सहायता की प्रार्थना की। उस समय लार्ड वेलेस्ली गवर्नर जनरल थे। उन्होंने एक लाख रुपया वार्षिक राज-कर ठहरा कर कोचीन को मित्र-राज्य की तरह

---

* Sosial History of Kamrup, by N. Vasu.

माना। सन् १७६६ में अंग्रेजों ने कोचीन पर फिर आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया। और फिर कुछ शर्तों के साथ यहाँ कोचीन राजवंश को प्रतिष्ठित किया। इस राजवंश में रविवर्मा, रामवर्मा (१८८१) केरल वर्मा (१८८८) और राम सिंह वर्मा (१८९५) इत्यादि राजा हुए। इनके समय में कोचीन की राजधानी एर्नाकुलम रही। अब यह क्षेत्र केरल राज्य में मिला लिया गया है।

कोजिमो
(Kojimo)

जापानी साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। इस ग्रन्थ की रचना सन् १३६६ में किसी जापानी पुरोहित के द्वारा की गई ऐसा माना जाता है। इसमें सन् ११९२ से १३६८ के बीच जापान की अराजकतापूर्ण स्थिति और सामन्ती सरकार (शोगुनशाही) के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इसकी भाषा बड़ी सरल और चीनी भाषा मिश्रित है। इसी ग्रन्थ से जापानी साहित्य में आधुनिक शैली का प्रारम्भ होता है।

कोटा

राजस्थान का एक सुप्रसिद्ध नगर। अंगरेजी-राज्य के समय की एक प्रसिद्ध रियासत जिसका निर्माण ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ।

कोटा-राज्य के उत्तर में जयपुर, पूर्व में ग्वालियर राज्य और टोंक, पश्चिम में बून्दी और दक्षिण-पश्चिम में रामपुरा, भानपुरा और झालावाड है।

सन् १३४२ ई० में राव देवसिंह ने किसी-किसी के मत से रामसिंह ने मीणा लोगों से बून्द उपत्यका को जीतकर बून्दी नामक शहर की स्थापना की। चूँकि यह राजवंश हाड़ा राजपूतों का था इसलिए उन्हीं के नाम पर यह सारा प्रान्त "हाड़ौती" के नाम से प्रसिद्ध हुआ)।

राव देवसिंह के पुत्र समरसिंह और समर सिंह के तीसरे पुत्र जैतसिंह हुए। एक बार जैतसिंह आधुनिक कोटा नगर के समीपवर्ती 'कैथून' नामक स्थानपर गये। इस स्थान के आसपास उस समय "कोटिया" नामक भीलों की बस्ती थी। इन कोटिया भीलों को हराकर उन्होंने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और कोटा शहर की स्थापना की। जैतसिंह ने अपनी विजय की स्मृति में पत्थर की एक विशाल हस्ती-मूर्त्ति को स्थापित किया। वह मूर्ति कोटा के समीप "चार झोपड़ा" नामक स्थान पर अभी विद्यमान है।

जैतसिंह के पुत्र सुरजनदेव ने कोटानगर के चारों-ओर एक मजबूत दुर्ग का निर्माण करवाया। सुरजनदेव के पुत्र धीरदेव ने १२ बड़े-बड़े तालाबों का निर्माण करवाया। इनमें "किशोर सागर" नामक तालाब प्रधान है। इस प्रकार कोटानगर मजबूत प्राचीरों और विशाल जलाशयों का एक सुन्दर नगर बन गया।

धीरसिंह के पुत्र मण्डूल और उनके पुत्र भोनङ्ग हुए। भोनङ्ग के समय में कुछ पठान लोगों ने आक्रमण कर इनको वहाँ से भगा दिया। तब भोनङ्ग ने कैथून में जाकर आश्रय लिया। बाद में भोनङ्ग की रानी की व्यवहार-कुशलता से कोटा-राज्य का उद्धार हुआ।

भोनङ्ग के पश्चात् उनके पुत्र डूंगरसिंह राजा हुए। इनके समय में सन् १५३३-३४ में बून्दी के राव सूरजमल ने कोटा पर आक्रमण कर उसको बून्दी-राज्य में मिला लिया।

इसके पश्चात् सन् १६२५ में बून्दी के राव रत्नसिंह के पुत्र माधौसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर सम्राट् जहांगीर ने उनको कोटा-राज्य की सनद पुरस्कार में दी। इस सनद में आसपास के ३६० गाँवों का अधिकार दिया गया था। तब से कोटा राज्य बून्दी से बिलकुल स्वतन्त्र हो गया। माधौसिंह ही वर्तमान कोटा रियासत के प्रथम नरेश समझे जाते हैं। और इसी समय से हाड़ौती राज्य कोटा और बून्दी के दो विभागों में बँट गया।

राव माधौसिंह

राव माधौसिंह ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। इनके समय में कोटा राज्य की सीमा का बहुत विस्तार हुआ। गौण्ड जाति के द्वारा अधिकृत मांगरोल, राठौर राजपूतों का नाहरगढ़, चम्बलतट पर वर्ना सुलतान पुर और दक्षिण

में गागरोन और घाटोली भी उस समय इस राज्य में मिल गये थे। इस प्रकार कोटा राज्य की सीमा एक ओर बून्दी से और दूसरी ओर मालवे से जा मिली। सन् १६५७ में राव माधौसिंह का देहान्त हो गया।

राव माधौसिंह के पश्चात् राव मुकुन्द सिंह कोटा की गद्दी पर आये। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने शाहजादा दारा का पक्ष लिया और उसी की ओर से लड़ते हुए ये उज्जैन में मारे गये।

मुकुन्द सिंह के पश्चात् राव जगत सिंह कोटा की गद्दी पर आये। इन्होंने बारह वर्ष राज्य किया। इनका सारा राज्यकाल बादशाह की तरफ से दक्षिण में लड़ते हुए बीता। इनकी मृत्यु सन् १६७० में हुई।

राव जगतसिंह के पश्चात् प्रेमसिंह, किशोरसिंह और रामसिंह कोटा की गद्दी पर बैठे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने शाहजादा आजम का पक्ष लिया और उसी की ओर से लड़ते हुए सन् १७०७ में जजुवा की लड़ाई में मारे गये।

रामसिंह के पुत्र भीमसिंह इस राजवंश में बड़े चतुर, बुद्धिमान और राजनीतिज्ञ हुए। इनके समय में सम्राट् फर्रुखसियर और सैय्यद-बन्धुओं के बीच में रस्साकशी चल रही थी। राव भीमसिंह ने सैय्यद-बन्धुओं का पलड़ा भारी देखकर एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह उन्हीं का पक्ष लिया।

राव भीमसिंह

सैय्यद-बन्धुओं ने राव भीमसिंह को पंचहजारी का मन्सब दिया। इसी समय इन्होंने जयपुर की सहायता से बून्दी राज्य के कई जिले तथा भील लोगों के कई प्रदेश छीन कर कोटा राज्य में मिला लिये। सन् १७११ मे सैयद बन्धुओं की तरफ से दक्षिण के सूबेदार आसफ़खां के साथ लड़ते हुए इनकी मृत्यु हो गई। इन्हीं के समय में कोटा की गिनती प्रथम श्रेणी के राज्यों में होना प्रारम्भ हुई और यहाँ के राजाओं को उदयपुर के महाराणा की तरफ से 'महाराव' का खिताब प्राप्त हुआ।

सन् १७२४ में कोटा राज्य की गद्दी पर महाराज दुर्जनसाल बैठे। इन्होंने दिल्ली के बादशाह महम्मदशाह पर प्रभाव डाल कर कोटा राज्य की सीमा में कोई भी गौहत्या न कर सके इस आशय की एक सनद ले ली।

सन् १७४४ में आमेर के राजा ईश्वरीसिंह ने सूरजमल जाट और मराठों की सहायता से कोटानगर पर आक्रमण किया। मगर कोटा की सेना ने सेनापति हिम्मतसिंह के नेतृत्व में बड़ी वीरता से लड़ाई कर इस संगठित आक्रमण को बेकार कर दिया और बाजीराव पेशवा को संधि-सूत्र में बांध लिया। उस समय पेशवा ने इनको नाहरगढ़ का किला भेंट किया। राव दुर्जनसाल ने बून्दी के साथ भी अपने सम्बन्ध सुधार लिये। सन् १७५७ में इनकी मृत्यु हुई।

जालिम सिंह

इसी समय कोटा के राजकीय क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण, साहसी और राजनैतिक व्यक्ति ने प्रवेश किया। यह व्यक्ति बढ़वाण-राज्य के वंशज जालिमसिंह थे। उस समय कोटा की गद्दी पर राव दुर्जनसाल के पुत्र राव छत्रसाल विद्यमान थे। उन्होंने जालिमसिंह को अपना दीवान और सलाहकार बनाया। इसी समय सन् १७६१ में आमेर-नरेश माधोसिंह एक बहुत बड़ी सेना लेकर कोटा पर चढ़ आये। मगर जालिम सिंह ने अपनी गहरी रणकुशलता से केवल पांच हजार सेना से बतवारा की लड़ाई में उन्हें परास्त कर दिया। मगर जयपुर वाले बार-बार कोटा पर आक्रमण करते ही रहे। एक बार जब जयपूर का आक्रमण कोटा पर हो रहा था, उसी समय मल्हारराव होल्कर पानीपत की लड़ाई से लौटते हुए कोटा के पास ही ठहरे थे। दोनों पक्षों ने उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया मगर वे किसी भी तरफ मिलने को राजी नहीं हुए। तब एकाएक जालिम सिंह मल्हार राव के कानो पर यह खबर पहुँचा दी कि जयपुर वाले अपनी छावनी को ज्यों की त्यों खाली छोड़कर भाग गये हैं, आप चाहें तो उसे लूट सकते हैं। इधर जयपुर वालों के पास ऐसी खबर पहुँचायी कि मल्हरराव छावनी को लूटने आ रहे हैं यह खबर सुनते ही जयपुर की सेना छावनी को वैसो ही छोड़ भाग निकली।

सन् १७६३ में राव छत्रसाल का देहान्त हो गया। इनके पश्चात् उनके पुत्र राव गुमानसिंह गद्दी पर बैठे।

जालिमसिंह से नाराज होकर इन्होंने उन्हें बरखास्त कर दिया। तब जालिमसिंह उदयपुर के महाराणा अरसी जी के पास चले गये। महाराणा ने इनको 'राजराणा' की पदवी प्रदान की। मगर उसके कुछ समय बाद वहां के पारस्परिक झगड़ों के कारण जालिम सिंह को वापस कोटा आना पड़ा।

इस बार राव गुमानसिंह ने उनके सब कसूर माफकर दीवान के पद पर प्रतिष्ठित किया। इस समय राजपूताने में मराठों के आक्रमण का खतरा बढ़ता जा रहा था और कोटा नरेश उनका सामना करने में बिलकुल असमर्थ थे। जालिम सिंह ने मराठों को समझा बुझाकर ६००००) देकर बिदा कर दिया। उसके कुछ ही समय पश्चात् राव गुमान सिंह का सन् १७७१ में स्वर्गवास हो गया और वे अपने १० वर्ष के बालक पुत्र उम्मेदसिंह को जालिम सिंह के संरक्षण में छोड़ गये।

राव गुमानसिंह की मृत्यु के बाद कोटे की गद्दी पर राव उम्मेदसिंह आये। इस समय राज्य की वास्तविक बागडोर दीवान जालिम सिंह के हाथ में आ गयी। जालिम सिंह बड़े प्रतिभाशाली और अधिकार-प्रिय व्यक्ति थे। अपने ध्येय को पूरा करने में अच्छे बुरे चाहे जैसे कार्यों को कर डालने में तनिक भी नहीं हिचकते थे। कई बार उन्होंने किसानों पर भयंकर कर लगाये। विधवाओं और भीख मांगने वालों पर भी उन्होंने कर लगा दिये। फिर भी ४५ वर्ष तक इन्होंने बड़ी सफलता के साथ राजकाज चलाया। इनके शासन के समय में किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि वह कोटे की ओर उँगली उठा कर देख सके।

क्रान्ति के एक ऐसे काल में जब कि समस्त राजपूताना लूट-खसोट के कारण त्राहि-त्राहि कर रहा था, उस समय भी कोटा अपनी उन्नति के पूर्ण शिखर पर आरूढ़ था। दीवान जालिमसिंह ने बूँदी वालों से इन्द्रगढ़, बलवान और अन्तर्देह नामक परगने छीन लिये। यह सब दीवान जालिमसिंह की कुशाग्रबुद्धि का ही फल था कि उन्हें हर काम में सफलता मिलती थी।

ईसवी सन् १८१७ में अंग्रेजों ने पिंडारियों का दमन करने का निश्चय किया। इस कार्य में सबसे पहले दीवान जालिम सिंह ने अंग्रेजों की सहायता करना स्वीकार किया। इसी वर्ष २६ दिसम्बर को कोटा राज्य के साथ अंग्रेजों की एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटिश गवर्नमेंट ने कोटा के राजा को सदा के लिए 'मित्र-राज्य' के समान मान लिया और उन्हें वंशानुक्रम से शासन की पूर्ण क्षमता और दीवानी-फौजदारी के सारे अधिकार प्रदान कर दिये। साथ ही कोटा राज्य का सब कारबार जालिम सिंह और उनके वंशजों के हाथ में रखा गया। होलकर सरकार की ओर से मिले हुए चार परगने जालिम सिंह को उनके निज के उपयोग के लिए दे दिये गये।

महाराव उम्मेदसिंह का स्वर्गवास सन् १८२० में हो गया। उनके बाद उनके पुत्र किशोर सिंह कोटे की गद्दी पर बैठे। महाराव किशोर सिंह के साथ जालिम सिंह की बिलकुल नहीं पटी। उन्होंने सन् १८२१ में ६ हजार फौज के साथ दीवान जालिमसिंह की सेना पर आक्रमण कर दिया, मगर जालिमसिंह की सेना ने महाराव की सेना को हरा दिया। महाराव किशोरसिंह को हार कर नाथद्वारे जाना पड़ा और उनके भाई पृथ्वीसिंह इस लड़ाई में मारे गये।

उसके कुछ समय पश्चात् महाराज किशोरसिंह की जालिम सिंह से सन्धि हो गयी और उन्होंने कोटा वापस आकर पुनः राज्य भार सँभाल लिया। सन् १८२४ में में राजस्थान के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ राज्यराणा जालिम सिंह की ८६ वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गयी और उसके ४ वर्ष बाद ही महाराज किशोर सिंह की मृत्यु हुई।

महाराव किशोरसिंह के बाद उनके भतीजे रामसिंह उनकी गद्दी पर बैठे। उधर जालिमसिंह के पौत्र मदन-सिंह कोटा के प्रधानमन्त्री के स्थान पर आये। मगर इन दोनों की आपस में न बनी और सन् १८६४ में ऐसी स्थिति आ गयी कि दोनों में लड़ाई छिड़ जाय। तब ब्रिटिश सरकार ने बीच में पड़कर कोटा-राज्य को पूर्ण शासन-क्षमता प्रदान की और जालिमसिंह के वंशजों के लिए नये झालावाड़ राज्य का निर्माण कर उसे जालिम सिंह के वंशजों के शासन में दे दिया। इसी समय से

कोटा और झालावाड़—दोनों राज्य अलग-अलग स्वतन्त्र हो गये।

सन् १८६६ में महाराव रामसिंह की मृत्यु हो गयी और महाराज छत्रसाल द्वितीय कोटे की गद्दी पर आये। इन्हीं के समय में भारत-सरकार ने सर फैज-अली खाँ को कोटा राज्य का प्रधान मन्त्री बनाया। इन्होंने कोटा-राज्य के अन्दर बहुत सुधार किये और इस सारे राज्य को ८ निजामतों में बाँट दिया।

सन् १८७६ में महाराव छत्रसाल का देहान्त हो गया और महाराज उम्मेद सिंह द्वितीय गद्दी पर आये। इनके समय मे कोटा-राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। शिक्षा, कृषि और सभी क्षेत्रों में उनके काल में कोटा में आशातीत उन्नति हुई।

महाराज उम्मेद सिंह द्वितीय के पश्चात् महाराव भीमसिंह कोटा की गद्दी पर आये। इनके नाम से कोटा में एक विशाल अस्पताल का निर्माण हुआ, जो आज भी राजस्थान के प्रसिद्ध अस्पतालों में से एक है। महाराव भीम सिंह के समय में ही स्वाधीन भारत के राजस्थान राज्य में अन्य राज्यों की भाँति कोटा-राज्य का भी विलीनीकरण हुआ।

विलीनीकरण के पश्चात् राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया के शासन काल में कोटा शहर की अभूतपूर्व उन्नति हुई। चम्बल नदी पर स्थान-स्थान पर बाँध बँधवा कर उनसे नहरें कटवा कर कोटे के आस-पास की भूमि को शस्य-श्यामला बना दिया गया। औद्योगिक क्षेत्र में तो कोटा सारे राजस्थान प्रान्त का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र हो गया। मुख्य मन्त्री सुखाड़िया ने बाहर के उद्योगपतियों को तरह-तरह की सुविधाएँ और प्रोत्साहन देकर कोटा में अपने उद्योग स्थापित करने को तैयार किया। जिसके फलस्वरूप बहुत थोड़े समय में बाहर के उद्योगपतियों ने नाना प्रकार के उद्योग स्थापित कर इस नगरी को चमका दिया। हाल में ही वहाँ पर १६ करोड़ की पूँजी से एक कृत्रिम खादों का विशाल कारखाना कलकत्ते के सुप्रसिद्ध उद्योगपति बी० एल० जालान के तत्वावधान में खोला जा रहा है।

इसके पहले कानपुर के जे० के० प्रतिष्ठान, और देहली के डी० सी० एम० उद्योग के कारखाने बाकायदा चालू हो चुके हैं। जिस तीव्रता से कोटा की औद्योगिक उन्नति हो रही है, उससे साफ दिखलाई पड़ रहा कि थोड़े ही समय में यह क्षेत्र 'राजस्थान का कानपुर' बन जायगा।

राजस्थान के सबसे पिछड़े राज्य को श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने अपने मन्त्रित्व-काल में जितनी तेजी से आगे ला दिया है, वह स्वाधीन भारत के इतिहास में एक दर्शनीय उदाहरण है। शिक्षा के क्षेत्र में उदयपुर राजस्थान का आक्सफर्ड, औद्योगिक क्षेत्र में कोटा राजस्थान का कानपुर और राजधानी के क्षेत्र में जयपुर राजस्थान का पेरिस बन गया है।

कोणार्क

उड़ीसा-राज्य में जगन्नाथपुरी से २१ मील की दूरी पर चन्द्रभागा नदी के किनारे पर स्थित प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर। जिसका पुनर्निमाण गंग-वंश के राजा नरसिंहदेव ने कराया। नरसिंह देव का समय सन् १२३८ से सन् १२६४ तक रहा।

कोणार्क के सूर्य-मन्दिर का वर्णन प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों में भी बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इन परम्पराओं के अनुसार श्रीकृष्ण के पुत्र 'साम्ब' ने अपने कुष्ट रोग के निवारण के लिये इस मित्र-वन में आकर सूर्य-देव की तपस्या की। कुछ समय कठोर तपस्या करने के पश्चात् सूर्य-देव ने 'साम्ब' को स्वप्न में दर्शन दिया। दूसरे दिन सवेरे साम्ब चन्द्रभागा नदी में स्नान करने गये, वहाँ उन्हें जल के मध्य कमल पत्र पर सूर्य की एक द्वादशी मूर्ति दिखलाई पड़ी। साम्ब ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर उस प्रतिमा को मित्र-वन में ले जाकर यथा विधान स्थापित किया। इस मूर्ति की पूजा के लिये साम्ब ने शाक-द्वीप जाकर वहाँ से १८ वेद् पाठी ब्राह्मणों को लाकर यहाँ पर बसाया। इन्हीं ब्राह्मणों के वंशज बहुत समय तक इस मूर्ति की पूजा करते रहे।

उसके पश्चात् गंग-वंश के उत्कल-राज नरसिंहदेव ने इस स्थान पर इस विशाल-मन्दिर का निर्माण कराया। यद्यपि यह मन्दिर इस समय एक ध्वंसावशेष के रूप में रह गया है, फिर भी जितना शेष है, उसकी स्थापत्यकला को देख कर आज के कलाकार और शिल्पी चकित हो जाते हैं और इसके प्राचीन शिल्प नैपुण्य की सबका मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

ईसा की १६वीं शताब्दी में आइन-ए-अकबरी के लेखक अबुल-फजल ने लिखा है कि—

'जगन्नाथ के पास ही सूर्य का मन्दिर है। इस मन्दिर को बनाने में उड़ीसा-राज्य की १२ वर्षों की सारी आमदनी खर्च हुई थी। ऐसा कौन है जो इस बड़ी इमारत को देखकर चौंक न उठेगा। इसके चारों ओर की दीवाल १५० हाथ ऊँची और १६ हाथ मोटी है। बड़े दरवाजे के सामने काले पत्थर का एक ५० हाथ ऊँचा खंभा है। इसकी ६ सीढ़ियाँ चढ़ने से ऊपर खुदे सूरज और सितारे दीख पड़ते हैं। मन्दिर की दीवारों पर चारों ओर बहुत सी जातियों के देवताओं की मूर्तियाँ हैं। इस बड़े मन्दिर के पास दूसरे भी २८ मन्दिर हैं। लोग कहते हैं कि सभी मन्दिरों में अनहोनी बातें हुआ करती हैं।'

आईन-ए-अकबरी में तीन सौ वर्ष पहले जो बातें लिखी गयी थीं, वे सब नष्ट हो चुकी हैं। सिर्फ प्रधान मन्दिर के कुछ हिस्से अभी तक बाकी हैं। वृद्ध लोगों का कथन है कि पहले इस मन्दिर की चोटी पर 'कुम्भर पाथर' नामक चुम्बकीय शक्ति से युक्त, एक बहुत बड़ा पत्थर लगा हुआ था, जिसकी चुम्बकीय शक्ति से समुद्र में चलने वाले जहाज और नौकाएँ इससे टकराकर ध्वस्त हो जाते थे।

बाद में एक मुसलमान आक्रमणकारी इस मन्दिर को तोड़कर उस पत्थर को निकाल ले गया। उसके पीछे यहाँ के पंडे भी इस पुण्यभूमि को छोड़ कर देवमूर्ति को उठाकर जगन्नाथपुरी चले गये। वहाँ के सूर्य-मन्दिर में उक्त प्रतिमा स्थापित है। उसके बाद मराठों ने इस मन्दिर की दीवारों को तोड़ कर उसका साज-सामान भी क्षेत्र में कई मन्दिर बनाने के लिए ले गये।

सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी जो कुछ बचा है, वह हिन्दू-शिल्पियों के लिए एकान्त आदर और गौरव की चीज है। यहाँ की निर्मित मूर्तियों में जीवन का वास्तविक आभास देखने को मिलता है। क्या मानव, क्या पशु! सभी के अंग-प्रत्यंग का वास्तविक चित्रण यहाँ पर देखने को मिलता है। राजा, चक्रवर्ती से लेकर भिक्षु पर्यन्त सबकी अवस्था, सबका हावभाव, आचार-व्यवहार जिस कौशल से यहाँ पर अंकित हुआ है, उससे पुराने हिन्दू-शिल्पियों की असाधारण कारीगरी का पता चलता है।

साम्ब-पुराण के ४१ वें अध्याय में साम्ब के द्वारा सूर्य-प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के समय नाना जाति के मानव, देव, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, दिग्पाल इत्यादि के आगमन की कथा लिखी है। इस मन्दिर में उन सभी की मूर्तियाँ खोदी हुई दीख पड़ती हैं।

इस मन्दिर की कल्पना सूर्यदेव के रथ के रूप में की गयी है। इस रथ में १२ जोड़े विशाल पहिये लगे हुये हैं। और इसे ७ शक्तिशाली घोड़े खींच रहे हैं। जितनी सुन्दर कल्पना है, उतनी ही भव्य रचना है। इस मन्दिर के प्रधान तीन अंग हैं। देउल, जगमोहन और नाट्य मण्डप ये तीनों एक ही अक्ष पर है। नाटमण्डप नाना अलंकरणों और मूर्तियों से विभूषित और ऊँची जगती पर अधिष्ठित है। नाट मण्डप के बाद जगमोहन और देउल एक ही जगती पर अधिष्ठित और एक दूसरे से सम्बन्वित हैं।

'कोणार्क' के इस सूर्य-मन्दिर में स्त्री-पुरुषों की काम-वासना से सम्बन्वित मूर्तियों की भरमार है। संग्रहालयों में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ संग्रहित हैं।

यह सूर्य-मन्दिर अपनी कला के लिये सर्वश्रेष्ठ मन्दिर माना जाता है। एक सरकारी 'म्युजियम' यहाँ बना हुआ है जिसमें मन्दिर की मूर्तियों के अनेक अंश संग्रहीत हैं।

किसी समय यह स्थान सौर-सम्प्रदाय का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इसके पास में चन्द्रभागा नदी है। यहाँ माघ शुक्ला सप्तमी का स्नान अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है।

कोणेश्वर-मन्दिर

लंका का एक सुप्रसिद्ध मन्दिर, जिसके सम्बन्ध में किम्वदन्ती है कि वहाँ पर रावण ने शिव की तपस्या की थी, यह मन्दिर त्रिकुमाली नामक लंका के समुद्रतटीय नगर में बना हुआ है।

लंका की पौराणिक परम्परा के अनुसार रावण अपनी माँ के साथ इस मन्दिर में शिव की आराधना करने के लिए आता था। एक बार बीमार होने के कारण रावण की माता मन्दिर में दर्शनो को नही आ सकी तब रावण ने उस मन्दिर को ही उसकी नींव समेत वहाँ से उठाकर अपनी राजधानी कल्याणी ले जाने का निश्चय किया और उसने उसकी नींव को दो भागो में विभाजित कर दिया। अभी भी उस मन्दिर में वे निशान मौजूद हैं। जिन्हे "रावण का कटाव" कहा जाता है।

उसके बाद यह मन्दिर कई शताब्दियों तक हिन्द महासागर की तलहटी में डूबा रहा। सिर्फ उसकी दन्त कथाएँ लोगों की जबान पर रह गई।

ईसा से पूर्व तेरहवी शताब्दी में "कुलकारण्डन" नामक चोलवंश के एक राजा ने प्राचीन दन्तकथाओं के आधार पर प्राचीन मन्दिर के स्थान पर एक नवीन कोणेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया। ईसा की छठी शताब्दी में विजय नामक एक दूसरे शासक ने इस मन्दिर का पुनरुद्धार किया।

सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाल वालो का 'लंका' पर अधिकार हो गया और उन्होंने सन् १६२४ में इस मन्दिर का विध्वंसकर वहाँ पर "फ्रेडरिकफ्रोर्ट" नामक किला बनवा डाला।

इस मन्दिर का विध्वंस करते समय पुर्तगालियों को एक प्राचीन शिलालेख मिला था। जिसे उन्होंने 'फ्रेडरिकफोर्ट' के मुख्य द्वार पर लगा दिया था। शिलालेख में भविष्यवाणी की तौर पर लिखा था कि "फ्रांक नामक एक जाति इस पगोडा को नष्ट कर देगी और उसके बाद इस द्वीप में कोई ऐसा राज्य नहीं होगा जो इसका पुनर्निमाण करावे।"

इस मन्दिर के विध्वंस के साथ ही लंका में पुर्तगाली सत्ता का पतन प्रारम्भ हो गया और छः वर्ष पश्चात् पुर्तगाली सेना के लंकावासी सैनिको ने विद्रोह करके २६०० पुर्तगाली सैनिकों को मार डाला।

सन् १७६५ में लंका अंग्रेजों को अधिकार में आई और अपनी धर्म निरपेक्ष नीति के अनुसार उन्होंने लंका वालों को कोणेश्वर मन्दिर के स्थान पर पूजा पाठ करने की अनुमति देदी।

लंका की स्वाधीनता के उपरान्त ३ जनवरी १९५० के दिन इस मन्दिर के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव पास हुआ। और मन्दिर में शिवलिंग की स्थापना के हेतु वाराणसी से शिवलिंग लाने का निश्चय किया गया। मगर इसी समय त्रिकुमाली नगरपालिका के कुछ कर्मचारियों को एक कुँआ खोदते समय सोम स्कन्द शिव, पार्वती और चन्द्रशेखर की तीन काँसे की मूर्तियाँ मिल गई। ऐसा समझा जाता है मन्दिर के विध्वंस के समय वहाँ के पुजारियों ने इन मूर्त्तियों को छिपाकर जमीन में गाड़ दिया था।

सन् १९५० में इन मूर्त्तियों का श्रीलङ्का में भारी जुलूस निकाला गया—उत्सव मनाया गया। और सन् १९६३ की तीन अप्रैल को जब कोणेश्वर का नवीन मन्दिर बनकर तैयार हो गया तब उस मन्दिर में ये मूर्त्तियाँ स्थापित कर दी गई।

कोदण्ड—काव्य

धारानगरी के सुप्रसिद्ध परमार राजा 'भोज' द्वारा लिखित एक काव्य, जिसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और जिसमें कुछ अपभ्रंश का भी मेल है।

राजा भोज (सन् १०१० से १०५५ ई०) के सम्बन्ध में यह बात सर्वसम्मत है कि वह सरस्वती का उपासक, विद्वानों का आश्रय दाता और स्वयं एक भारी विद्वान था। उदयपुर की प्रशस्ति से यह बात स्पष्ट साबित हो जाती है। राजा भोज ने अपने कुछ काव्य, शिलाखण्डों पर भी उत्कीर्ण करवाये थे। इनमें "अवनिकूर्मशतम्" "खड्ग-वध" और 'कोदण्ड-काव्य' धार के सरस्वती-सदन तथा पुरातत्व-संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

उत्कीर्ण काव्यों के सम्बन्ध में नवम्बर १९०३ में यह मालूम हुआ कि कमला मौला मसजिद (भोजशाला) की प्रमुख मेहराब की दीवाल में कुछ खुदे हुए शिलालेख लगे हुए हैं। धारराज्य के भूतपूर्व इतिहासकार पं० काशीनाथ लेले ने लार्ड कर्जन से सलाह लेकर लेखों को निकलवाया। निकालने पर पता लगा कि उन शिलाखण्डों पर अत्यन्त सुन्दर देवनागरी लिपि में कुछ ग्रंथ खुदे हुए हैं।

पुरातत्व-संग्रहालय धार में संरक्षित नं० ३-५ और ११ के शिलालेख यद्यपि अपूर्ण हैं पर पुरातत्व की दृष्टि से वे बहुमूल्य हैं। प्रस्तर पर अङ्कित इन ग्रन्थों के छाया-चित्र सबसे पहले आर्कियालाजी-डिपार्टमेंट के राय साहब दयाराम साहनी के द्वारा तैय्यार किये गये।

इनमें से बहुचर्चित इस कोदण्डकाव्य की भाषा अपभ्रंश मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत है! इस काव्य के अन्त में "इतिश्री महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव विरचित कोदण्ड......" इससे साफ जाहिर है कि यह काव्य राजा-भोज ने बनाया था। यह सारा कोदण्ड—काव्य तीन शिलाओं पर खुदा हुआ है। जिसमें पहले और दूसरे शिलालेख में बत्तीस और तीसरे में ४४ पंक्तियां इस समय प्राप्त हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काव्य का विशेष महत्व है। इसमें नागपुर तथा उदयपुर प्रशस्तियों में प्राप्त सूचना का समर्थन होता है।

भोज के उत्तराधिकारी परमार उदयादित्य, अर्जुन-वर्म्मन तथा नर वर्म्मन के लेखों में प्राप्त मान्यताओं की पुष्टि भी इससे होती है। इससे यह भी पता चलता है कि राजा भोज अलङ्कार, वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। उसे संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। धार में संरक्षित "कोदण्य-काव्य" से सम्बन्धित शिलाफलका जहाँ भारतीय पुरातत्व की अनमोल निधि है, वहाँ साहित्य तथा लिपिमाला के इतिहास की भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

कोनार्स्कीस्टानिस्ला

(Stanislaw Konarski)

पौलेण्ड का प्रसिद्ध साहित्यकार और विचारक जिसका जन्म सन् १७०० में और मृत्यु सन् १७७३ में हुई।

सत्रहवीं सदी में अनवरत लड़ाइयों से पोलिश-साहित्य और संस्कृति में जो गिरावट की भावना आ गई थी, कोनार्स्की-स्टानिस्ला ने उसको फिर से नया जीवन दान दिया। इटली और फ्रान्स से शिक्षा प्राप्तकर स्वदेश वापस लौटने के पश्चात् उसने अपने देश का पुनर्संङ्गठन करना प्रारम्भ किया। उसने कई नवीन स्कूलों की स्थापनाकर उनमें विज्ञान की पढ़ाई प्रारम्भ की। सफल शासन पर एक व्यवहारिक ग्रंथ लिखकर उसने पौलेण्ड की राजनीति पर भी अपना प्रभाव डाला। उसके शिक्षा सम्बन्धी और राजनैतिक विचारों का वहाँ पर बड़ा सम्मान और प्रचार हुआ।

कोपरनिकस

(Nicholas Copernicas)

पौलेण्ड का एक प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री जिसका जन्म सन् १४७३ में और मृत्यु सन् १५४३ में हुई।

यूरोप के ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में 'निकोलस कोपरनिकास' का नाम बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है वह आधुनिक ज्योतिषशास्त्र की नींव डालने वाला माना जाता है। उसकी रचनाएँ लैटिन भाषा में है।

क्नोसस की भूलभुलैया

क्रीट द्वीप की खुदाई में निकली हुई राजा 'मिनोस' के समय की एक विचित्र 'भूलभुलैया'। ग्रीक पुराणों के अन्दर जिसकी कहानियाँ कही गई हैं, उसी ने इस खुदाई में प्रकट होकर ऐतिहासिक रूप ग्रहण कर लिया है।

ग्रीक पुराणों में इसकी कहानी परम्परा इस प्रकार है—

क्रीट की प्राचीन राजधानी 'क्नोसस' में बहुत प्राचीन-काल में राजा मिनोस राज्य करता था। उसकी रानी को एक बार किसी दिव्यवृषभ के साथ कामसंसर्ग करने की दुर्दमनीय प्रवृत्ति पैदा हुई। राजा मिनोस ने रानी की इस अप्राकृतिक वासना को देख कर उसका त्याग कर दिया। तब रानी ने ग्रीस के महान् शिल्पी दिदेलस से अपनी इस इच्छापूर्ति में सहायता माँगी। दिदेलस ने कौशल से दिव्य-वृषभ के साथ रानी का अभिसार सम्भव बना दिया।

इस अप्राकृतिक समागम से रानी को एक ऐसा पुत्र हुआ जिसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा बैल का था। इसका नाम मिनोतर रक्खा गया। तब राजा मिनोस ने दिदेलस शिल्पी को बहका कर, यह भूलभुलैया का ऐसा चक्करदार महल बनवाया कि जिसमें मनुष्य घुस तो जाता था मगर उसमें से निकल नहीं पाता था। वह एक कमरे से दूसरे कमरे में चक्कर लगाता मगर असली रास्ता उसे कभी नहीं मिल पाता था। इस भवन का नाम ही इस कारण 'लेबीरिन्थ' या भूलभुलैया पड़ गया था। जब तक दिदेलस इस भवन के निर्माण में लगा रहा तब तक मिनोस ने उसको कुछ नहीं कहा, हालांकि उससे प्रतिशोध लेने की भावना उसके अन्दर पूर्ण रूप से जागृत थी।

भूलभुलैया तैयार होने पर राजा मिनोस ने मिनोतर को उसमें कैद कर दिया और अब वह दिदेलस से बदला लेने की सोचने लगा। 'दिदेलस' इसके लिये पहले ही से तैयार था। उसने पहले ही ऐसे पंखों का निर्माण कर रक्खा था जिन्हें लगा कर वह आकाश में उड़ सकता था। राजा मिनोस की भावना समझते ही वह पंख लगा कर उड़ गया और एथेन्स में जा पहुँचा।

इसी काल में एथेन्स के राजा ईजियस ने मिनोस के पुत्र आण्ड्रोजियस को, यूनानी खेलों में उसकी स्पर्द्धा न कर सकने के कारण, हत्या कर दी। इस हत्या का बदला लेने के लिए राजा मिनोस ने एथेन्स पर चढ़ाई कर दी। इस लड़ाई के परिणाम स्वरूप जो सन्धि हुई, उसमें एथेन्स के राजा ने हर नवें वर्ष सात सुन्दर नवयुवतियाँ और सात सुन्दर नवयुवक 'मिनोतर' की बलि देने के लिए राजा मिनोस के यहाँ भेजना स्वीकार किया।

ये युवक और युवतियाँ मिनोतर के पास उस भूल-भुलैया में छोड़ दिये जाते। मिनोतर जानता था कि यहाँ से निकलना उनके लिए असम्भव है। इसलिए वह निश्चिन्त होकर उनके पीछे-पीछे फिरता। फिर उनसे अपनी कामवासना शान्त करता और उसके बाद उन्हें एक एक कर मार कर खा जाता था।

जब बलिदान की तीसरी टोली जाने लगी, तब हमेशा के लिए इस क्रूर हत्या से मुक्ति पाने की आशा से एथेन्स के राजा ईजियस का पुत्र थीसियस भी इस टोली में शामिल हो गया।

थीसियस दीखने में अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक नौजवान था। जब यह टोली राजा मिनोस के यहाँ पहुँची तो मिनोस की जवान और सुन्दर लड़की 'आरियाद्नी' थीसियस के रूप को देखते ही उस पर मोहित हो गई और उसने मिनोतर को मारने के लिये थीसियस को जादू की एक तलवार दी और चक्करदार भूलभुलैया से निकलने के लिए ऊन का एक गोला दिया। जिसका एक सिरा थीसियस ने और दूसरा सिरा उस लड़की ने अपनी बांह पर बांध लिया।

थीसियस भूलभुलैया के कमरों में चक्कर खाता हुआ मिनोतर के पास पहुँचा और वहाँ जादू की तलवार से मिनोतर को मारकर, उस ऊन के धागे के सहारे बाहर निकल आया और अपने साथियों के साथ मिनोस की राजकुमारी को भी लेकर वहाँ से भाग कर एथेन्स चला गया।

ग्रीक पुराणों की यह कहानी तथा होमर के महाकाव्य ईलियड की ट्राय विध्वंस की कहानी, इस खुदाई के पहले तक कल्पना प्रसूत और असम्भव कहानियाँ समझी जाती थीं। मगर जब श्लीमान के द्वारा की गई खुदाई में सारा ट्राय नगर और आर्थर इवान्स के द्वारा की गई खुदाई में मिनोस की यह चक्करदार भूलभुलैया प्रत्यक्ष रूप में सामने आ गई तो इतिहासकारों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

केवल शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों के आधार पर इतिहास रचना करनेवाले इतिहासकार पुराणों में वर्णित इन कहानियों को कल्पना प्रसूत कह कर मजाक उड़ाते हैं, मगर जब इन कहानियों में वर्णित घटनाएँ अचानक इस प्रकार प्रत्यक्ष हो जाती हैं तब वे आश्चर्य चकित होने के सिवा कुछ नहीं कर सकते।

भारतीय पुराणों में भी ऐसी हजारों कथाएँ हैं जिनके स्मृति चिन्ह सारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से बराबर चले आ रहे हैं। ऐसी ठोस आधारवाली घटनाओं को भी केवल सन् संवत् या कालमापन न होने के कारण अभी तक इतिहास के क्षेत्र से बाहर रखा जा रहा है।

मगर इस प्रकार की घटनाओं से यह निश्चित मालूम होता है कि वह समय जरूर आवेगा जब ये घटनाएँ निश्चित इतिहास का रूप धारण करेंगी और हमारे सभी पौराणिक पुरुष ऐतिहासिक पुरुषों के रूप में बदल जावेंगे।

कोपर-विलियम
(William-Cowper)

इंग्लैंड का एक प्रसिद्ध साहित्यकार और कवि, जिसका जन्म सन् १७०२ में और मृत्यु सन् १८३४ में हुई।

'कोपर विलियम' उन कवियों में से एक था, जिन्होंने इंग्लैंड के अन्तर्गत उस समय बढ़ती हुई धनी और कंगाल वर्ग की भावनाओं का मानवीय दृष्टिकोण से चित्रण किया है। 'जान गिल्विन' नामक उसकी रचना में देहाती जीवन का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। उसके लेटर्स अंग्रेजी साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है।

कोपेनहेगेन

यूरोप में डेनमार्क—राज्य की राजधानी और प्रसिद्ध बन्दरगाह। तेरहवी शताब्दी के पूर्व यह स्थान एक छोटे गाँव के रूप में मछली पकड़ने का केन्द्र था। सन् १२५४ में राजा क्रिस्टोफर तृतीय ने यहाँ पर अपनी राजधानी को स्थापित किया। तभी से इस स्थान ने एक सुन्दर नगर के रूप में विकास करना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् सोलहवीं सदी में राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने और अठारहवीं सदी में फ्रेडरिक पंचम ने इस नगर को कई विशाल अट्टालिकाओं से सुशोभित किया।

कोपेनहेगेन की रॉयल-लायब्रेरी यूरोप की प्रमुख और विशाल लायब्रेरियों में से एक है। इसमें करीब पन्द्रह लाख पुस्तकों का संग्रह है। एक विशाल विश्वविद्यालय और कई अनुसन्धान-संस्थाओं के कारण यह शहर यूरोप का एक प्रधान शिक्षण केन्द्र बन गया है।

कोप्ट

मध्यकालीन मिस्र में ईसाई-धर्म का अनुकरण करने वाला जन-समूह, जिसके कुछ अवशिष्ट खानदान अब भी मिस्र में पाये जाते हैं।

'कोप्ट' शब्द अरबी के 'कुत' शब्द का अपभ्रन्श है जिसका अर्थ मिस्र का रहने वाला होता है।

मिस्र में ईसाई-धर्म का प्रचार ईसा की तीसरी शताब्दी से माना जाता है। कोप्ट जाति का पहला ईसाई सन्त 'एन्थोनी', सन् २७० में हुआ तथा इसके कुछ समय पश्चात् इसी जाति का 'पेकोनियस' भी हुआ। जिसने मिस्र में ईसाई मत का प्रचलन शुरू किया। ईसाई धर्म के प्रचार से मिश्र की जनता में दो दल हो गये। साधारण जनता का दल 'मोनोफ़ाइस्टीस' कहलाने लगा अर राज वर्गी तथा सामन्तवर्गी लोगों का दल 'मेल्काइटीस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'मोनोफ़ाइस्टीस' दल वास्तविक मिस्र की जनता का प्रतिनिधित्व करता था, और यही दल 'कोप्ट' कहलाता था। 'मेल्काइटीस' दल में अधिकतर विदेशी जातियों के लोग थे। मिस्र के इन दोनों दलों में हमेशा संघर्ष होता था और इस संघर्ष में मेल्काइटीस लोग 'कोप्टों' पर भयंकर अत्याचार करते थे।

इन अत्याचारों से अपने-आपको बचाने के लिए 'कोप्त' लोगों ने अरब के मुसलमान आक्रमणकारियों को अपने यहाँ बुलाने का प्रयास किया।

ईसा की ७ वीं शताब्दी में, खलीफा उमर के शासन-काल में, जब मिस्र पर मुसलमानों का शासन हो गया, उस समय बहुत से कोप्तों ने 'इस्लाम' को अंगीकार कर लिया। मगर जिन लोगों ने इस्लाम को अंगीकार नहीं किया, उन पर मुसलमान शासकों ने भयंकर अत्याचार किया। ईसा की ८ वीं शताब्दी में मिस्र के बहुत से 'गिर्जा-घर' विध्वंस कर दिये गये तथा ईसाई कोप्तों पर भारी कर लगाये गये। उन्हें काली पगड़ी के साथ अपमानजनक वस्त्र पहनने को बाध्य किया गया। ये अत्याचार १४ वीं शताब्दी तक जारी रहे। तब तंग आकर बहुत से कोप्त लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया।

फिर भी कुछ संख्या इनकी ऐसी बची, जिन्होंने अपनी जातीय शुद्धता को बनाये रखा और इनमें से कुछ लोग मुसलमानी शासन काल में और अंग्रेजी शासन काल में भी ऊँचे पदों पर बने रहे। अब भी उत्तरी मिस्र में बहुत से कोप्त, धनी-जमींदार, साहुकार और कृषकों के रूप विद्यमान हैं।

कोप्ट जाति के लोग बड़े गणितज्ञ, लेखक और वास्तुकला के विशेषज्ञ होते थे। इनके द्वारा मिस्र में कई मठ चट्टानों को काटकर बनाये गये सिकन्दरिया का मार्क का गिर्जाघर' तथा उत्तरी मिस्र के 'लाल मठ' में इनकी वास्तुकला के वास्तविक दर्शन होते हैं। मिस्र के प्राचीन प्रार्थना-गृहों में कोप्ट लोगों के द्वारा काँच की पच्चीकारी का बड़ा सुन्दर काम होता था। मगर ऐसे सब गिर्जाघर मुसलमान आक्रमणकारियों के द्वारा नष्ट कर दिये गये।

'कोप्ट' लोगों की अपनी भाषा भी है जो 'काप्टिक लैंग्वेज' कहलाती है। इस भाषा का समूचा साहित्य धार्मिक है, जो विशेषकर ग्रीक-भाषा से अनुवादित है। इस भाषा में वाइविल के 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'न्यु टेस्टामेंट' के अनुवाद ईसा की ५ वीं शताब्दी से पहले ही तैयार हो चुके थे। मिस्र पर अरबों की विजय के पश्चात् अरबी-भाषा ने इस भाषा को समाप्त कर दिया।

कोब्डेन

(रिचर्ड-कोब्डेन)

इंग्लैंड में मुक्त-व्यापार का समर्थन करनेवाला एक प्रभावशाली संगठनकर्ता, वक्ता और राजनीतिज्ञ, जिसका जन्म सन् १८०२ में और मृत्यु सन् १८६२ में हुई।

जिस समय 'कोब्डेन' क्षेत्र में आया, उस समय इंग्लैंड में अन्न का व्यापार मुक्त-व्यापार नहीं था। उस पर चुंगी लगती थी, जिससे जनता को महँगे भाव में अन्न खरीदना पड़ता था। जनता इस नियन्त्रण के बड़े विरोध में थी।

'कोब्डेन' भी मुक्त-व्यापार का बड़ा पक्षपाती था और इंग्लैंड के अन्न नियन्त्रण-कानून को रद्द करवाने के लिए उसने 'जॉन ब्राइट' से मिलकर सन् १८३८ में अन्न-कानून-विरोधी-संस्था (Ante-Corn Law-League) स्थापित की। इस संस्था के संगठन में उसने आश्चर्य-जनक संगठन-शक्ति का परिचय दिया।

मुक्त-व्यापार के समर्थन में उसने कई छोटे-छोटे लेख भी लिखे। उसने इंग्लैंड के किसानों में आत्मविश्वास उत्पन्न करके उन्हें मुक्तव्यापार के पक्ष में कर लिया। 'कोब्डेन' धाराप्रवाही वक्ता भी था। उसके भाषणों में निर्भीकता, तर्क और भावनाओं का सम्मिश्रण होता था।

अगस्त सन् १८४१ में 'मेल्बर्न' का मन्त्रिमण्डल समाप्त होने पर 'टोरी' दल के सर 'राबर्ट पील' इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री बने। इसके ४ वर्ष पश्चात् सन् १८४५ में में आयर्लैंड में आलुओं का भयंकर अकाल पड़ा। सरकारी सहायता पहुँचने के पहले ही हजारों आदमी भूख के मारे मर गये। यह विपत्ति देखकर कोब्डेन ने राबर्ट-पील को बतलाया कि जब से बाहर से आनेवाले अन्न पर से चुंगी न हटायी जायगी, तबतक अन्न सस्ता न होगा और दुर्भिक्ष के समय सहस्रों मनुष्य इसी प्रकार मरा करेंगे।

कोब्डेन का तर्क राबर्ट-पील की समझ में आ गया और उन्होंने सन् १८४६ में पार्लमेंट में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका आशय यह था कि सन् १८४६ से सन् १८४९ तक अन्न की चुङ्गी कम कर दी जाय और सन् १८४९ से उसको बिलकुल उठा दिया जाय।

इस प्रस्ताव का ह्विग-पार्टी ने बहुत जोरदार समर्थन किया और १६ मई सन् १८४६ को यह प्रस्ताव पास हो गया। मगर उसी दिन से कंजरवेटिव-दल के दो टुकड़े हो गये। पील पर विश्वासघात का आरोप लगाया गया, जिससे उसे अपना पदत्याग करना पड़ा और उसके बाद ३० वर्ष तक कोई कंजरवेटिव-नेता मन्त्री का पद न पा सका।

इस प्रकार कोब्डेन ने अपने आन्दोलन के बल से इंग्लैंड में अन्न का मुक्त व्यापार कायम करवा दिया।

कोमती

दक्षिण भारत की एक व्यवसायी जाति, जो विशेष कर कर्नाटक और तेलंगाना प्रान्त में पायी जाती है। यह अपने आप को वैश्य कहते हैं और अपनी कुलदेवी 'कणिका' को मानते हैं। कणिका के अलावा 'बालाजी' 'नगरेश्वर' 'नरसोबा' 'राजेश्वर' और 'वीरभद्र' को भी ये लोग अपना कुल देवता समझते हैं।

इस जाति के लोग अधिकांश रूप में व्यवसाय करते हैं। इनकी साज सज्जा दक्षिणात्य ब्राह्मणों जैसी होती है। कोमतियों के प्रधान गुरु शंकराचार्य और कुलगुरु भास्कराचार्य माने जाते हैं।

कोमागोटा-मारू

सन् १९१५ में प्रथम महायुद्ध के समय, भारत के प्रवासी क्रान्तिकारी लोगों के द्वारा भारत में क्रान्ति करने के उद्देश्य से चार मास के लिये किराये पर लिया हुआ जापानी जहाज 'कोमागोटामारू'।

प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने पर विदेशों में बसे हुये भारतीय क्रान्तिकारी भारतवर्ष में अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध एक जबर्दस्त सशस्त्र-क्रान्ति करने का प्रयत्न कर रहे थे। इनमें लाला हरदयाल प्रमुख थे।

एक दिन अमरीका में जर्मन-दूतावास के मुख्य अधिकारी फील्डमार्शल 'बर्नहार्डी' ने लाला हरदयाल से कहा कि—"मिस्टर हरदयाल! आपकी गदर-पार्टी के लिए ऐसा सुवर्ण-सुयोग फिर कब आवेगा? इस समय भारत से ढाई लाख सेना फ्रांस के मैदान में जा चुकी है। केवल कुछ हजार सैनिक वहाँ रह गये हैं। ऐसे समय में आपका मनोरथ आसानी से पूरा हो सकता है। जर्मनी आपकी पूरी मदद करने को तैयार है।"

इस प्रेरणा से उत्साहित होकर लाला हरदयाल ने अमरीका स्थित स्वतंत्रता-प्रेमी लोगों का एक सम्मेलन बुलाया और बड़ी धूमधाम से 'रानी लक्ष्मीबाई-दिवस' मनाया। इस अवसर पर करीब दस हजार व्यक्तियों ने शपथ ली कि 'अंगरेजों को भारत से निकाल कर छोड़ेंगे। चाहे इसके लिए प्राणों की बाजी ही क्यों न लगाना पड़े।'

इसी समय कनाडा के अन्दर सिक्ख मजदूरों और कनाडियन मजदूरों के बीच मजदूरी के प्रश्न पर गहरा मतभेद हो गया। कनाडियन मजदूरों के आन्दोलन के कारण कनाडा की सरकार को भारतीय मजदूरों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। इससे सिक्ख लोग बड़े उत्तेजित हो गये और उन्होंने इसे भारतवर्ष का अपमान समझा।

सिक्खों के इस असन्तोष को क्रान्तिकारी लोगों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध मोड़ दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप 'हांगकांग' में कई दिनों के विचार-विमर्श के बाद तय हुआ कि एक जहाज किराये पर लेकर कनाडा चला जाय और वहाँ जबर्दस्ती घुसने का प्रयत्न किया जाय। 'बाबा गुरुदत्तसिंह' नामक मलाया के एक पंजाबी ठेकेदार ने इस कार्य में धन की सहायता की और इन लोगों ने एक जापानी कम्पनी के 'कोमागोटामारू' नामक जहाज को किराये पर लेकर यात्रा प्रारम्भ की। एक महीने में जहाज 'वैंकूवर' पहुँचा और वहाँ तीन महीने खड़ा रहा, मगर इन लोगों को कनाडा में प्रवेश करने की आज्ञा न मिली।

तब क्रान्तिकारियों ने इन लोगों में यह भावना पैदा कर दी कि यह सब करणी अंग्रेजों की है। जो पग-पग पर भारतीय लोगों का अपमान करना चाहते हैं, अतः सम्मान-पूर्ण जीवन बिताने के लिये पहले देश को आजाद करना जरूरी है।

इसी समय अमरीका के 'सेनफ्रांसिस्को' नगर में भारतीयों की एक विराट् सभा हुई। इस सभा में दस हजार व्यक्ति भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से देश चलने को तैयार हुए। बाबा गुरुदत्तसिंह को भी इस आशय का तार भेजा गया। संसार भर के भारतीय प्रवासियों को रण-निमंत्रण दिया गया कि वे भारत को स्वतंत्र कराने के इस आयोजन में सम्मिलित हों। यह निमंत्रण 'गदर' अखबार द्वारा दिया गया जो उस समय गुप्तरूप से संसार के सब देशों में वितरित होता था।

इस प्रकार सब लोग कोमागोटामारू जहाज के द्वारा भारत की ओर चले। रास्ते में जापान से इन लोगों ने भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र और युद्ध विषयक दुर्लभ नक्शे भी प्राप्त किये। पं० परमानन्द ये नक्शे भारत ले जाने में

भी सफल हुये। सशस्त्रक्रान्ति की पूर्ण योजना भाई परमानन्द, करतारसिंह, रासबिहारी बोस और शचीन्द्र नाथ सान्याल ने मिलकर बनाई। अंग्रेजों से सत्ता छीनने की तारीख २१ फरवरी १६१५ निश्चित की गई, मगर दुर्भाग्य से इसके दो दिन पूर्व ही एक विश्वासघाती यात्री ने सारी योजना सरकार को बतला दी। सरकार ने देश में और कोमागोटामारू के सभी विद्रोहियों को गिरफ्तार कर लिया और करीब ३०० विद्रोही मौत के घाट उतार दिये गये।

इस प्रकार 'कोमागोटामारू' की वह योजना असफल हुई और देश को ३२ वर्ष तक और अंग्रेजी-साम्राज्यवाद के पंजे में रहना पड़ा।

कोमिटा सेंचुरीआटा

ई० पू० छठी सदी में प्राचीन रोम के अन्दर राजा सर्वियस के द्वारा स्थापित पैट्रिशियन (कुलीन) लोगों की एक राज्य सभा।

राजा सर्वियस ने पैट्रीशियन लोगों को सम्पत्ति के मान से छः विभागों और १६३ उपविभागों में बाँट दिया। इन सब विभागों का नाम सेंचरीज दिया गया और सब सेंचरीज की सम्मिलित संस्था का नाम "कोमिटा सेंचुरीआटा" या 'राष्ट्रीय सभा' रखा गया।

यह राष्ट्रीय सभा समय-समय पर काम्पस मार्शियस नामक मैदान में हुआ करती थी। राज-कर्मचारियों का चुनाव करना, सीनेट के बनाये हुए नियमों को स्वीकार करना तथा युद्ध या सुलह करने के सम्बन्ध में निर्णय करना आदि अधिकार इस सभा को प्राप्त थे। रोमन लोगों के नियम में इस सभा को सर्वोत्तम न्यायालय भी माना गया था। इस प्रकार राष्ट्रीय सभा में बैठने का अधिकार मिल जाने से प्लेबियन लोगों को कुछ सन्तोष हो गया था।

यह व्यवस्था इङ्गलैण्ड की 'हाउस ऑफ कॉमन्स' (कोमिटा-ट्रिब्यूटा) और हाउस ऑफ लार्ड्स (कोमिटा सेंचुरीआटा) की व्यवस्था का एक प्रकार से पूर्व रूप थी।

कोमीशिया-ट्रिब्यूटा

प्राचीन रोम में ई० पूर्व छठी शताब्दी में राजा 'सर्वियस' के द्वारा स्थापित प्लेबियन (जनसाधारण) लोगों की एक राज्य-सभा।

इस समय तक रोम-राज्य में प्लेबियन लोगों के व्यवस्थित विभाग नहीं किये गये थे। राजा सर्वियस ने नगर में और नगर के बाहर रहने वाले प्लेबियन लोगों को तीस भागों में बाँट दिया और हर एक विभाग के लिए एक 'ट्रिब्यून' या मुखिया नियुक्त किया गया। कर वसूल करने का काम ट्रिब्यून के जिम्मे किया गया। प्रत्येक विभाग को सरकार के लिए एक नियत संख्या में सैनिक भी तैयार करके देने पड़ते थे।

ये तीसों विभाग "कोमिटा-ट्रिब्यूटा" नामक संस्था से सम्बन्धित थे। जब इस संस्था की बैठक होती थी तब उसी के द्वारा ट्रिब्यूनों का चुनाव भी होता था और इसी समय प्रत्येक विभाग अपने घरू-झगड़ों के निपटारे के लिए तीन-तीन न्यायाधीशों का चुनाव भी करता था।

कोयम्बटूर

मदरास प्रदेश के दक्षिणी भाग का एक बड़ा जिला तथा एक प्रसिद्ध औद्योगिक नगर। यह जिला मदरास नगर के दक्षिण पश्चिम में नीलगिरि पहाड़ की दक्षिणी ढाल पर बसा हुआ है।

प्राचीन परम्पराओं के अनुसार पञ्चपाण्डव वनवास-काल के समय में कुछ समय तक कोयम्बरद्दूर के जंगल में रहे थे। इसके अन्तर्गत धारापुर नामक स्थान का परिचय प्राचीन विराटपुर के नाम से दिया जाता है और कहा जाता है कि धारापुर में ही पञ्च पाण्डवों ने एक वर्ष का अज्ञातवास किया था, मगर यह बात युक्तियुक्त मालूम नहीं होती। क्योंकि विराटदेश यहाँ पर नहीं था।

यह जिला प्राचीन काल में चेर और केरल राजाओं के अधिकार में रहा। सन् १०८० में बल्लाल-वंशी राजा विनयादित्य ने इस पर अधिकार किया। सन् १३४८ ई० में यह क्षेत्र विजयनगर के राजा हरिहर के अधिकार में आया। उसके पश्चात् सन् १५६५ में मदुरा-शासन के

अधिकार में हुआ। सन् १६२३ से सन् १६७२ ई० के बीच मैसूर-नरेश 'चिक्कदेव' के शासन में यह जिला आया। सन् १६६६ ई० में कोयम्बटूर अंग्रेजी-शासन में आया।

कोयम्बटूर शहर से चार मील की दूरी पर हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ 'चिदम्बर' स्थित है। चिदम्बर का मूल मन्दिर किसी चेर नरेश ने बनवाया था।

आजकल कोयम्बटूर शहर दक्षिण भारत का एक बहुत बड़ा औद्योगिक क्षेत्र बन गया है। इसीसे यह क्षेत्र दक्षिणी भारत का मैञ्चेस्टर कहलाता है। यहाँ कपड़ा बनाने की लगभग ५० मिलें हैं, जिनमें ५५ हजार मजदूर काम करते हैं। इसके अतिरिक्त चीनी, सीमेंट और लोहे के भी छोटे छोटे उद्योग यहां पर हैं।

कोयम्बटूर की कृषि-अनुसन्धान-शाला बड़ी प्रसिद्ध है। इसमें गन्ने की कुछ विशिष्ट जातियाँ तैयार की गयी है। जो कोयम्बटूर ईख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस बीज से पैदावार भी अच्छी होती है और इस ईख में चीनी भी अच्छी बैठती है।

कोयला

जलाने के काम में आनेवाला एक सुप्रसिद्ध खनिज-पदार्थ, जो संसार के अनेक स्थानों में खदानों से प्राप्त किया जाता है। लकड़ी के अंगारों को बुझाने के बाद बचे हुए अंश को भी 'कोयला' कहते हैं, मगर लकड़ी के कोयले का कोई औद्योगिक महत्व नहीं है।

इतिहास

पत्थर के कोयले के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि मानव समाज ने कब से इसको उपयोग में लाना शुरू किया। कुछ इतिहासकारों के मत से ईसा के ८क हजार वर्ष पूर्व, कुछ देशों में पत्थर के कोयले का ज्ञान लोगों को हो गया था।

ईसवीं सन् से ३०० वर्ष पूर्व यूनान के 'थिओफ्रेटस' (Theophratus) नामक व्यक्ति ने पत्थर के कोयले को काम में लेना शुरू करके इसकी उपयोगिता लोगों को बतलाई थी।

इसके बाद कोयले के सम्बन्ध में दूसरा ऐतिहासिक प्रमाण तब मिलता है, जब रोमन लोगों ने ब्रिटेन पर आक्रमण किया। उस समय ब्रिटेन में खानों से कोयला निकाला जाता था। पर अभी तक कोयले को औद्योगिक दृष्टि से कोई महत्व प्राप्त नहीं हुआ था।

सन् १२३६ ई० में सबसे पहले ब्रिटेन में 'खान' से कोयला निकालने का 'लायसेंस' दिया गया। ब्रिटेन वाले पत्थर के कोयले को समुद्र का कोयला (Sea-Coal) कहते थे। कुछ समय बाद ही खानों से कोयला निकालने का काम आरंभ कर दिया गया और काम जोरों से चल पड़ा।

सन् १३२५ ई० में ब्रिटेन ने प्रथम बार निर्यात के रूप में अपना कोयला फ्रांस में भेजा। फिर कोयले की माँग बढ़ी और कुछ ही समय में यह व्यापार ब्रिटेन के प्रधान व्यापारों में माना जाने लगा। इंग्लैंड का 'न्यु कोसम' नामक बन्दरगाह पत्थर के कोयले के निर्यात का प्रधान केन्द्र बन गया और इसी बन्दर से फ्रांस, जर्मनी और हालैंड को कोयला भेजा जाने लगा।

१३ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी में कोयले के की खदानों का काम प्रारम्भ किया गया और १६ वीं सदी में फ्रांस ने भी इस उद्योग की ओर ध्यान दिया।

इस प्रकार यूरोप में खनिज-कोयले के व्यापार ने अच्छी उन्नति की और फलतः यूरोप के सभी देश इस कोयले के व्यापार में दिलचस्पी लेने लगे।

भारत में कोयले का उद्योग

भारत में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समय में सन् १७७४ ई० में मिस्टर एस० जी० हीटली और मिस्टर जॉन-समर को कोयले की खदानें खोजने के लिए 'लाइसेंस' दिये गये। मि० जी० हीटली ने बंगाल के बीरभूमि जिले में और झरिया जिले के अन्दर कोयले की खदानें खोज निकालीं। सन् १७७७ ई० में झरिया जिले में मेसर्स जॉन-समर एँड हीटली की कोयले की खदानें काम करने लगीं और उसके पास लोहे की खदानों से लोहा भी निकलता था।

इस प्रकार दोनों ही प्रति सहायक पदार्थों की उन्नति एक साथ ही प्रारम्भ हुई। सन् १८१४ में गवर्नर-जनरल

लार्ड 'वेलेस्ली' ने यहाँ के पत्थर के कोयले की वैज्ञानिक जाँच करवायी। विद्वान् विशेषज्ञ मिस्टर रूबर्ट जॉन्स ने सन् १८१५ ई० में अपनी परीक्षा की रिपोर्ट प्रकाशित कर भारत के कोयले के पक्ष में अपनी अनुकूल सम्मति प्रकट की।

इसके पश्चात् कलकत्ते के व्यापारी साहस-पूर्वक इस उद्योग में घुसे और सन् १८३६ ई० में इन खदानों से ३६ हजार टन कोयला निकाला गया। सन् १८४५ ई० में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने अपनी रेलवे लाइन भी इसी कोयला क्षेत्र से निकाल कर, इस खान के समीप ही, रेलवे स्टेशन भी बना दिया। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १८५८ ई० से इस उद्योग ने बड़ी तेजी से उन्नति करना प्रारम्भ किया। जो नीचे अंकों से स्पष्ट है।

सन् १८५८ ई०—१६३, ४६३ टन
सन् १८६८ ई०—४,५६,४०३ टन
सन् १८७८ ई० –६,२५,४६४ टन
सन् १८६८ ई० - ४६,०८,१६६ टन
सन् १६०८ ई०—६७,८३,२५० टन

सन् १८८५ ई० में जहाँ कोयले की कुल खानें ६१ थीं, वहाँ सन् १६०६ में इनकी संख्या ३०७ हो गयी। और सन् १६५४-५५ में कोयले का उत्पादन ३ करोड़ ६० लाख टन हो गया।

भारत में पत्थर के कोयले के प्रधान केन्द्र

भारत में निकलने वाले पत्थर के कोयले का ६७॥ प्रतिशत भाग ऐसी पद्धति की खानों से निकलता है, जिनके कोयले को 'गोंडवाना सिस्टम' का कोयला कहते हैं। भारत के प्रधान कोयला क्षेत्र में रानीगंज और झरिया—दो क्षेत्र सबसे अधिक ख्याति प्राप्त हैं। भारत में उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कोयले का ७० प्रतिशत से अधिक भाग इन्हीं दो क्षेत्रों से प्राप्त होता है। इनमें से रानीगंज की खानों में सबसे पहले कोयला निकालने का काम सन् १८२० ई० में प्रारंभ हुआ।

इसी प्रकार हैदराबाद राज्य के सिंगरेरी स्थान में भी कोयले की बड़ी खदानें हैं। यहाँ कोयला निकालने का काम सन् १८८७ ई० में प्रारंभ हुआ।

रानीगंज के कोयला क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग ४२२ वर्गमील है। झरिया कोयला क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग १७५ वर्गमील में है।

इसके अतिरिक्त बिहार में रामगढ़ कोयला क्षेत्र ३० वर्गमील के क्षेत्र में, दक्षिणी कर्णपुर कोयला क्षेत्र ७५ वर्गमील के विस्तार में और उत्तरी कर्णपुरा-कोयला क्षेत्र ४७५ वर्गमील के विस्तार में है।

उड़ीसा-राज्य में तालचीर कोयला क्षेत्र ७०० मील वर्गमील के विस्तार में बताया जाता है। बंबई-राज्य में वर्धा-घाटी कोयला क्षेत्र १६०० वर्गमील के विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त बरोरा कोयला क्षेत्र, बाँदर-कोयला-क्षेत्र, राजुर-कोयला-क्षेत्र इत्यादि कोयला क्षेत्र भी बंबई-राज्य में स्थित है।

मध्यप्रदेश के कोयला क्षेत्र तीन भागों में विभाजित हैं। (१) दक्षिण छत्तीसगढ़ बेसिन के कोयला-क्षेत्र (२) मध्य भारत तथा सरगूजा के कोयला क्षेत्र और (३) सतपुड़ा कोयला क्षेत्र। इनमें मध्यभारत का सोहागपुर कोयला क्षेत्र सबसे विशाल है। यह १२०० वर्ग मील के विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है।

देश के स्वाधीन होने के पश्चात् हमारे देश में कोयले के उद्योग का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। अब हमारे यहाँ ६० लाख टन से अधिक इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य पूरा करने के लिए चार बड़े-बड़े विशाल इस्पात के कारखाने खुल गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस्पात का उत्पादन करने के लिये कोयले की विशाल मात्रा में आवश्यकता होती है। इसके लिये कोयले की खदानों का यंत्रीकरण करना नितान्त आवश्यक है। मगर यंत्रीकरण में पूँजी का अभाव ही सब से बड़ी बाधा है। इसके अतिरिक्त एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में माल ढोने के लिये रेलों की समुचित व्यवस्था भी बहुत आवश्यक है। अभी तक जितना कोयला हमारे यहाँ उत्पन्न होता है, उसको ढोने में ही हमारी रेलें पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में दिन प्रतिदिन बढ़ने वाले कोयले के उत्पादन को कंट्रोल करने के लिये रेलों की विशेष व्यवस्था होना आवश्यक है।

—

क्योटो

जापान की प्राचीन राजधानी और वर्तमान काल में एक बड़ा वैभव पूर्ण नगर।

आठवीं शताब्दी में जापान के अन्तर्गत शासन की सत्ता फूजीवारा वंश के हाथ में थी। इस वंश में 'काका-तोमी' नामक व्यक्ति ने अपने कार्यों से जापास के इतिहास में बड़ा नाम कमाया। इसी ने सन् ७६४ में जापान की राजधानी 'क्योटो' में स्थापित की जो बराबर ग्यारह शताब्दियों तक वहाँ बनी रही।

सन् ११६२ में दाइम्यो वंश के योरीतोमा नामक व्यक्ति ने क्योटो के विलासितापूर्ण जीवन से घबराकर 'कामाकुरा' नामक स्थान पर अपनी सैनिक राजधानी बनाई जो डेढ़ सौ वर्षों तक रही। फिर भी वास्तविक राजधानी का गौरव क्योटो को ही प्राप्त रहा।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में सम्राट 'मुन्शीहितो' के समय में जापान की राजधानी 'क्योटो' से हटाकर टोकियो में स्थापित की गयी। फिर भी अभीतक क्योटो शहर जापान के पश्चिमी प्रदेश की राजधानी के रूप में बना हुआ है।

जापान के अन्तर्गत अपनी विशाल अट्टालिकाओं और कलापूर्ण जीवन के लिए क्योटो आज भी प्रसिद्ध है। यहाँ पर एक विश्वविद्यालय और आर्ट म्यूजियम भी बना हुआ है। बौद्धधर्म का जापान में यह सबसे बड़ा केन्द्र है।

क्योनोबू

जापान में रंगमंचीय चित्रकारों को परम्परा को प्रारंभ करनेवाला एक सुप्रसिद्ध चित्रकार, जिसका जन्म सन् १६६४ में और मृत्यु सन् १७२६ में हुई।

क्यो नागा

जापानी रंगमंच का चित्रकार, जिसका जन्म सन् १७५२ में और मृत्यु सन् १८१५ में हुई।

'क्योनागा' रंगमंच के चित्रकारों में अद्वितीय माना जाता है। उसके चित्रों में रंगों का चुनाव अत्यन्त सुरुचि-पूर्ण होता है।

कोरिया

सुदूर पूर्वी एशिया में स्थित एक छोटा प्रायद्वीपीय देश, जो पूर्व में जापानसागर और दक्षिण-पश्चिम में पीले सागर से घिरा हुआ है।

चीन में चाऊ-राजवंश के द्वारा शैंग राजवंश के समाप्त कर दिये जाने पर, शैंग वंश का एक राजपुरुष कित्-जे अपने ५ हजार सैनिकों के साथ चीन-देश को हमेशा के लिए छोड़कर चल निकला और पूर्व दिशा में जाकर उसने 'कोरिया' या 'चोसेन' नामक देश को बसाया। चोसेन का अर्थ 'उगते हुए सूर्य का देश' होता है।

इस प्रकार ईसा से ११ शताब्दी पूर्व 'कित-जे' के द्वारा कोरिया देश का इतिहास प्रारम्भ हुआ। कित-जे के पूर्व ऐसा कहा जाता है कि 'कोर-यो' नामक किसी जाति का इस देश में शासन था।

कित-जे के साथ ही इस देश में चीनी-कला कौशल, भवन-निर्माण-कला, कृषि और रेशम की कारीगरी यहाँ पर आ गयी। कित-जे के वंश ने कोरिया पर करीब ६ सौ वर्षों तक राज्य किया

बौद्ध-धर्म का प्रचार

सूदूर पूर्व में कोरिया बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। ईसा की चौथी सदी के प्रारम्भ में बौद्धधर्म से इस देश का परिचय हुआ। उन दिनों कोरिया प्रायद्वीप के तीन भाग थे। उत्तर में कोग्यू, दक्षिण पश्चिम में पाक-चे, और दक्षिण पूर्व में सिला।

सबसे पहले कोग्यू में एक चीनी बौद्ध भिक्षु के द्वारा सन् ३७२ ई० में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसके बारह वर्ष बाद सन् ३८४ ई० में मध्य एशिया के भिक्षु मारा-नन्द के द्वारा के बौद्धधर्म पाक-चे में पहुँचा और उसके बाद सिला में इसका प्रचार हुआ।

इस काल में कई प्रसिद्ध विद्वान बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिए चीन पहुँचे। इनमें फासियान शाखा के युआन-सो (सन् ६१३-६८३ ई०) और होउआ-येन शाखा के युआन-हिआओ (सन् ६१७-६७० ई०) और यी-सिआङ्ग (६२५-७०२) के नाम विशेष प्रसिद्ध

ग्यारहवीं सदी में कोरिया के अन्तर्गत बौद्ध धर्म अपनी चरम सत्ता पर था। यह कोरिया में वांग राजवंश का समय था।

ग्यारहवीं सदी के बाद बौद्ध धर्म जो कि अब तक सिला राजवंश से सम्बन्धित राज्य वर्ग का धर्म था अब सर्वसाधारण का धर्म बन गया। पुचाओ नामक भिक्षु ने कोरिया में बौद्ध-धर्म की ज़ेन शाखा का प्रचार प्रारम्भ किया। जो कि बाद के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण योग देने वाला सिद्ध हुआ।

इसके पश्चात् चोसेन राजवंश ने कन्फ्यूशस धर्म को राज्य धर्म की तरह स्वीकार कर लिया। तब से बौद्ध धर्म का राज्य धर्म की तरह अस्तित्व नहीं रहा। फिर भी जन समाज में वह बराबर फूलता रहा।

आधुनिक कोरिया का बौद्धधर्म वस्तुतः जेन बौद्ध धर्म है। अमिताभ बुद्ध या मैत्रेय बोधिसत्व के विश्वास से यह धर्म अतिरंजित है।

ईसा की १६वीं शताब्दी में कोरिया में 'कैथोलिक' ईसाई-धर्म ने प्रवेश किया, मगर कोरिया की जनता ने उसका विरोध किया। और उसके कुछ ही समय पश्चात् चीन के सम्राट् 'कांग-ही' ने एक घोषणा करके ईसाई-धर्म के प्रचार पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये। जिससे कोरिया में भी कुछ समय के लिये ईसाई धर्म का प्रचार रुक गया। मगर उसके बाद ईसाई-धर्म का यहाँ पर फिर प्रवेश हुआ और १८वीं शताब्दी के बाद वहाँ उसका काफी विस्तार हुआ।

इस देश के ऊपर बाहरी-शक्तियों के द्वारा बार-बार आक्रमण होते रहे। इन आक्रमणों के कारण इस देश ने काफी समय तक अपने आपको संसार से अलग कर लिया और इसीसे इतिहास में यह हर्मिट किंगडम (Hermit Kingdom) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कई शताब्दियों तक यह देश चीन का एक संरक्षित राज्य समझा जाता था। सन् १८८२ ई० में जापान ने एक छोटे से बहाने को लेकर कोरिया पर हमला कर दिया और कोरिया को जापानी व्यापार के लिये अपना बन्दरगाह खोल देना पड़ा।

२२ अगस्त सन् १६१० ई० को जापान ने इस सम्पूर्ण देश को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया।

दूसरे महायुद्ध में जापान के आत्म-समर्पण करने के पश्चात् 'याल्टा-सन्धि' के अनुसार इस देश को उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया के रूप में विभाजित कर दिया गया। तब से दक्षिण कोरिया पश्चिमी राज्यों के प्रभाव में तथा उत्तरी कोरिया कम्युनिस्ट देशों के प्रभाव में हैं।

कुछ समय बाद उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के बीच में लड़ाई छिड़ गयी, जिसमें दक्षिणी कोरिया का पक्ष अमेरिका ने और उत्तरी कोरिया का पक्ष चीन ने लिया। काफी नर-संहार के बाद दोनों देशों में सन्धि हुई।

कोरिया की जनता विशेष रूप से कृषि पर ही आधारित है। उत्तरी कोरिया में खनिज पादार्थ भी काफी मात्रा में पैदा होते हैं। इनमें कोयला, लोहा और सोना प्रधान हैं।

कोरियाई-साहित्य

कोरिया की भाषा चीनी-भाषा की तरह संसार की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। यह 'अल्टाइक-कुल' की भाषा है। पहले यह भाषा चीनी भाषा से काफी प्रभावित थी। मगर सन् १४४६ में कोरिया के राजा 'सेजोंग' ने कोरिया की भाषा और लिपि को चीनी भाषा और लिपि से पृथक घोषित कर दिया। इसी राजा के समय में कोरियाई-भाषा के लिये 'हारगुल-लिपि' का आविष्कार हुआ। जिसमें १४ व्यञ्जन और ११ स्वर स्वीकार किये गये।

कोरिया का प्राचीन साहित्य भी चीनी साहित्य की तरह बौद्ध-धर्म और कन्फ्यूशस धर्म के नीति-शास्त्र, आचार-शस्त्र और धार्मिक कर्म-काण्डों से भरा हुआ है।

राजा सेजोंग के समय से १६वीं शताब्दी तक इस साहित्य की क्रमागत उन्नति होती रही। सन् १४७८ ई० में कोरियाई-भाषा-साहित्य का संकलन करने के लिये २३ विद्वानों की एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने पाँच सौ लेखकों की रचनाओं का एक संग्रह 'तोंगमुन' नाम से तैयार किया। इसी युग में इतिहास, चिकित्सा और खेती-बारी पर भी पुस्तकें लिखी गयीं।

१६वीं शताब्दी में ईसाई-मिशनरियों के प्रचार से कोरिया के लेखकों ने पश्चिमी शैली को विशेष रूप से अपनाया। और 'ई-इन रिक' 'ई-क्वान-सू' 'किंक्रीरित' इत्यादि प्रसिद्ध लेखकों ने अपने श्रेष्ठ उपन्यासों से कोरियाई-साहित्य को समृद्ध किया। इसी प्रकार कविता, निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में भी कोरिया के प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी रचनाओं से कोरियाई-साहित्य में एक नवीन युग की स्थापना की।

कोरेतोमी

जापान का एक प्रसिद्ध चित्रकार और डिजाइनर जिसका जन्म सन् १६५८ में और मृत्यु सन् १७१६ में हुई।

कोरेतोमी प्रकृति का कुशल चित्रकार था। वह पक्षियों और फूलों के चित्रों की रचना इस खूबी से करता था कि देखकर लोग दङ्ग रह जाते थे। जापानी चित्रकला के इतिहास में कोरेतोमी का एक प्रमुख स्थान है।

कोरोलेंको

रूसी भाषा का एक प्रसिद्ध कहानीकार और उपन्यास लेखक। जिसका जन्म सन् १८५३ में और मृत्यु सन् १६२१ में हुई।

कोरोलेंको प्रगतिवादी साहित्य का उपन्यास लेखक था। किसानों की करुण दशा को देखकर उसका हृदय आर्तनाद करता था। इसलिए उसकी रचनाओं में और उसके स्वभाव में क्रांतिकारी विचारों का समावेश था। अपने इन्हीं विचारों के प्रचार के कारण सन् १८७६ में वह पकड़ा गया और उसे साइबीरिया निर्वासित कर दिया गया। सन् १८८५ में वहाँ से ये छोड़े गये मगर इन पर पुलिस की निगरानी बराबर बनी रही।

कोरोलेंको की कहानियाँ और उपन्यास रूसी साहित्य में उच्च कोटि के माने जाते हैं। इनमें रूस की तत्कालीन जनता के जीवन का वास्तविक चित्रण बड़े प्रभावशाली ढंग से किया गया है। इनकी रचनाओं को देखकर एक बार मैक्सिम गोर्की ने कहा था कि 'कोरोलेंको ने रूसी जनसाधारण के उन पहलुओं का सुन्दर चित्रण किया है जिनका उनसे पहले वाले किसी लेखक ने नहीं किया था।

कोर्ट-मार्शल

सैनिक अदालत, जिसके द्वारा सेना सम्बन्धी अनुशासन का भंग करनेवाले सैनिकों का विचार किया जाता है और अपराध सिद्ध होने पर उन्हें दण्ड दिया जाता है।

सन् १८८१ के अन्दर इंग्लैंड की पार्लमेंट ने 'आर्मी-ऐक्ट' और सन् १८६६ में 'नेवल डिसिप्लिन-एक्ट' पास किया। इसमें 'कोर्ट-मार्शल' की स्थापना का विधान बताया गया है।

भारतवर्ष के 'आर्मी-ऐक्ट' सन् १६५०, 'एअर-फोर्स-ऐक्ट' सन् १६५० और 'नेवी-एक्ट' सन् १६५७ में 'कोर्ट मार्शल' की स्थापना का विधान है।

'आर्मी-ऐक्ट' सन् १६५० के अन्तर्गत चार प्रकार के 'कोर्ट-मार्शल बताये गये हैं। (१) जनरल-कोर्ट-मार्शल, (२) डिस्ट्रिक्ट-कोर्ट-मार्शल, (३) समरी जनरल कोर्ट मार्शल और (४) समरी कोर्ट-मार्शल।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विधान में कोर्ट-मार्शल के अधिकार बहुत विस्तृत हैं। 'यूनीफार्म ऑफ मिलिटरी जस्टिस' सन् १६५० में कोर्ट मार्शल की स्थापना और उनकी श्रेणियों का विवरण दिया गया है।

देश में अराजकता की स्थिति पैदा होने, विद्रोह होने तथा भयंकर उपद्रव होने की स्थिति में कोर्ट-मार्शल को 'मार्शल ला' जारी करने का अधिकार भी रहता है। मार्शल-ला के अपराधियों के मुकद्दमे भी कोर्ट मार्शल के सामने चलते हैं। और वहीं से इनके दण्ड का विधान होता है।

कोर्ट-मार्शल के कानून साधारण कानूनों की अपेक्षा अधिक कठोर होते हैं और अपराधों का निर्णय करने में भी इस कोर्ट में उतना समय नहीं लगता, जितना कि साधारण अदालतों में लगता है। कोर्ट मार्शल के समक्ष सम्पूर्ण कार्रवाई पर 'एविडेंस-ऐक्ट' सन् १८७२ लागू होता है।

कोर्ट-मार्शल का निर्णय बहुमत से किया जाता है। अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड देने के लिए दो तिहाई मतों की आवश्यकता होती है।

—(ना० प्र० विश्वकोष)

कोर्निलोफ

रूस की बोलशेविक क्रांति के समय अस्थायी सरकार का एक प्रधान सेनापति।

जब कैरेन्सी रूस की अस्थायी सरकार का युद्ध मन्त्री था तब भी कोर्निलाफ सेनापति था। कैरेन्सी के प्रधान मन्त्री बनने पर भी वह सेनापति रहा। मगर कैरेन्सी की डुलमुल नीति उसे पसन्द नहीं थी और वह बोल्शेविक आन्दोलन को एकदम सख्ती से दबा देना चाहता था।

अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए कोर्निलाफ कैरेन्सी को अल्टिमेटम देकर अपनी सेना के साथ पेट्रोग्राड पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़ा। २५ अगस्त सन् १६१७ के दिन कोर्निलोफ मास्को में आया। वहाँ के पूँजीपतियों ने सरकारी तौर से उसका स्वागत करने का प्रबन्ध किया। मगर राज्य परिषद् वाले आने वाले खतरे को भली प्रकार समझते थे इसलिए उन्हें 'सैनिक तानाशाही' की घोषणा करने का साहस नहीं हुआ।

रूस की इस स्थिति को देखकर महायुद्ध में फँसी हुई पश्चिमी शक्तियाँ घबरा रही थीं। उन्होंने रूस में एक सुदृढ़ सरकार कायम करने के लिए कोर्निलोफ को पाँच सौ करोड़ रूबल कर्ज देने का प्रस्ताव किया। मगर अब मजबूत सरकार कायम करना कोर्निलोफ के बस की बात नहीं थी। कोर्निलोफ ने जब पेट्रोग्राड को हाथ से बाहर जाते देखा तो उसने १ सितम्बर १६१७ को रीगा को जर्मनी के हाथ में सौंप कर वहाँ से अपनी सेना पेट्रोग्राड के लिए बुला ली।

कोर्निलाफ ने कैरेन्सी से यह भी माँग की कि वह सैनिक और असैनिक सारी शक्ति उसके हाथ में सौंप दे। इस पर कैरेन्सी ने कोर्निलाफ को प्रधान सेनापति के पद से हटाने का आदेश दिया, मगर कोर्निलाफ ने उस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया और ७ सितम्बर १६१७ को उसने पेट्रोग्राड के विरुद्ध एक सेना जनरल क्रीमोफ की आधीनता में भेजी। मगर बोलशेविक लोगों की चतुराई से इस फौज की हार हुई। जनरल क्रीमोफ आत्महत्या करके मर गया और कोर्निलोफ गिरफ्तार कर लिया गया।

कोर्सिका

यूरोप के दक्षिण, भूमध्य सागर में स्थित 'कोर्सिका द्वीप' जहाँ पर 'नेपोलियन महान्' का जन्म हुआ था।

कोर्सिका द्वीप दो कारणों से इतिहास के विद्यार्थियों और विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। एक तो यह कि वह 'नेपोलियन' की जन्मभूमि है। दूसरे वहाँ पत्थर की कुछ ऐसी विलक्षण मूर्तियाँ पायी जाती हैं, जिनके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि आज से करीब ३५ सौ वर्ष पूर्व इस पहाड़ी द्वीप में सभ्यता का काफी विकास हो चुका था और यहाँ के निवासियों का आसपास के देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध था।

कोर्सिका की ये मूर्तियाँ विशाल चट्टानों में से तराशी गयी हैं। इन मूर्तियों को न बाहें हैं और न टाँगें। देखने से वे मिस्र की 'ममियों' जैसी लगती हैं। हाँ, उनके सिर तराशे हुए हैं और नाक-नक्श तीखे हैं। उनके शरीरों पर तलवारों और छुरों के चित्र बने हुए हैं।

कोर्सिका के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर 'फिलितोसा' नामक एक छोटा सा गाँव है। ज्यादातर पाषाण की मूर्तियाँ इसी स्थान पर पायी गयी हैं। सन् १८३६ में 'प्रास्पर-मेरेमी' नामक व्यक्ति ने वहाँ पर खोज का काम किया था। वहाँ उसे कई चबूतरे और स्मृति-पत्र मिले थे और एक ऐसी मूर्ति मिली थी जो रोमन भी लगती थी और अफ्रीकन भी। इन मूर्तियों में बहुत अच्छा कलात्मक सन्तुलन है। कन्धे, गर्दन, चेहरा आदि शरीर के सभी अंगों को बड़ी स्पष्टता से चित्रित किया गया है। मगर बड़े आश्चर्य की बात है कि बाहें और टाँगें किसी मूर्ति में नहीं मिलतीं।

सन् १६५६ में खुदाई का काम यहाँ पर प्रारम्भ हुआ। इस खुदाई में बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। फिलि-

तोसा और उसके निकटवर्ती स्थानों में ऐसी १५ मूर्तियाँ मिली हैं। वे चट्टानों में से उभरी सीधी खड़ी हैं। जैसे पत्थरों के भूतों की फौज हो। उन्हें पहली बार देखकर दर्शक स्तब्ध रह जाता है।

अभीतक यह ठीक निर्णय नहीं हो सका है कि ये मूर्तियाँ कब की बनाई हुई हैं। पर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यहाँ की प्राचीनतम मूर्ति कम से कम ईसा से २ हजार वर्ष पूर्व की बनी हुई है।

कोर्वी

दक्षिण भारत की एक खाना-बदोश जाति, जो विशेष कर चोरी का काम करती है। इसमें ८ श्रेणियाँ होती हैं। जिनके नाम-सनाड़ी, घंटाचोर, केकड़ी, अड़वी, कुंची, पातड़, सूड़ी और मोदी हैं।

इनमें अड़वी और केकड़ी जाति के लोग बड़े कट्टर चोर होते हैं। सनाड़ी लोग सहनाई बजाने का काम करते हैं। कुंची लोग पक्षी पकड़ते हैं और उनको बेंच कर अपना गुजारा करते हैं। पात्तड़ लोग उत्तरी अर्काट के अन्तर्गत व्यंकट गिरि में रहते हैं, नाचना-गाना ही इनका प्रमुख पेशा है। और सूड़ी श्रेणी की स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति से अपना गुजारा करती हैं। (वसु-विश्वकोष)

कोर्ट-आगस्टस (सिन्धु दुर्ग)

छत्रपति शिवाजी के द्वारा निर्माण किया हुआ एक 'जल-दुर्ग' जो अंग्रेजी-शासन काल में 'कोर्ट-आगस्टस' के नाम से विख्यात हुआ।

बम्बई से समुद्री मार्ग के द्वारा गोवा जाते समय 'मालवण' के समीप समुद्र के बीच बना हुआ एक दुर्ग दिखलाई पड़ता है। इस दुर्ग का निर्माण छत्रपति शिवाजी के द्वारा हुआ था।

छत्रपति शिवाजी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने देश की अरक्षित पश्चिमी सीमा के संकट की गम्भीरता को पहचाना और इस संकट को दूर करने के लिये उन्होंने पश्चिमी सागर-तट पर कुछ दुर्गों का निर्माण कर जल-दस्युओं का दमन किया। मालवण की सीमा के पास, सिन्धु-दुर्ग का निर्माण भी इसी योजना के अन्तर्गत हुआ।

इस स्थान पर समुद्र की गहराई की जाँच करने के बाद २५ नवंबर सन् १६६४ को समुद्र-पूजन और गणपति पूजन करने के बाद शिवाजी ने किले की आधार-शिला रखी। सिन्धु-दुर्ग में आज भी वह स्थान जहाँ शिवाजी ने गणपति-पूजन किया था 'मोरयाचा दगड़' के नाम से जाना जाता है।

गणपति-पूजन के बाद २०० लोहार, ५०० संगतराश और ३ हजार मजदूरों ने सिन्धु-दुर्ग के निर्माण का काम प्रारंभ किया।

सिन्धु-दुर्ग की नींव की मजबूती के लिये कई सौ मन शीशा गला कर उसमें डाला गया। उसीका परिणाम है कि गत ३ सौ वर्षों से लगातार समुद्र की प्रचण्ड-लहरें दुर्ग की दीवारों पर बराबर टक्कर मार रही हैं, फिर भी दुर्ग की दीवारें अभी तक विशेष रूप से क्षतिग्रस्त नहीं हुई।

एक ओर कारीगर लोग दुर्ग का निर्माण करने में व्यस्त थे, दूसरी ओर पुर्तगीज जल-दस्युओं के आक्रमण को रोकने के लिये शिवाजी की सशस्त्र-जल सेना, जल-पोतों के ऊपर दुर्ग के आस-पास घूमती रहती थीं।

सन् १६६७ में सिन्धु-दुर्ग जब बन कर तैयार हो गया। तब मराठों ने बड़े गर्व के साथ उसको 'शिव-लंका' के नाम से सम्बोधित किया। सिन्धु-दुर्ग के निर्माण में उसके निर्माता की सामयिक सूझ-बूझ और रचना-कौशल स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। किले की दीवारें काफी ऊँची हैं और उन पर ३२ बुर्ज हैं, जिन पर ३२ ध्वज एक साथ फहराया करते थे। बन्दूकें और तोपें चलाने के लिये किले की बुर्जों में छोटे-बड़े छेद किये हुए हैं। सिन्धु दुर्ग के भीतर दो मन्दिर भी बने हुए हैं। जिनमें एक भवानी माँ का और दूसरा शिवाजी का है। शिवाजी का मन्दिर ४५ फुट लंबा और २३ फुट चौड़ा है। इस मन्दिर में शिवाजी की एक मूर्ति स्थापित की हुई है। आजकल शिवाजी के जो चित्र और मूर्तियाँ दिखलाई हैं—उनसे इस मूर्ति में जरा भी साम्य नहीं है। वीरासन में बैठी हुई उस मूर्ति में दाढ़ी नहीं है। पैर में तोड़े हैं। चूड़ीदार पाजामा पहने हुए हैं। कमर में एक पटा है

और शिर पर नाविक की एक टोपी है। मन्दिर में एक तलवार भी रखी हुई है। कहा जाता है कि यह तलवार भवानी माता ने शिवाजी को अर्पित की थी।

इस दुर्ग में दो कुएँ भी हैं, जिनके नाम 'दूध-बाव' और 'दही-बाव' हैं। समुद्र के बीच में घिरे होने पर भी इन कुओं का पानी स्वादिष्ट और मीठा है।

जब तक शिवाजी जीवित रहे तब तक यह दुर्ग भारत की पश्चिमी जल-सीमा पर रात-दिन पहरा देने वाला एक सजग पहरेदार था। उस समय मराठे सरदारों के नेतृत्व में १०१ जल-पोतों का बेड़ा पोर्तुगीज और डच नामक जल-दस्युओं से देश की रक्षा करने के लिए तैयार रहता था।

मगर शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठा-शक्ति जब कमजोर होने लगी, तब इस दुर्ग की स्थिति भी खराब हो गयी और कुछ वर्षों तक यह दुर्ग जल-पोतों को लूटने वाले डाकुओं का अड्डा बना रहा। जब इन डाकुओं का उत्पात बहुत बढ़ गया, तब सन् १७६५ ई० में अंग्रेजों ने इस पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया और इसका नाम 'फोर्ट-आगस्टस' रख दिया गया।

—(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' ९ मई सन् १९६५)

कोल

भारतवर्ष में बसनेवाली आदिम जातियों में से एक जाति, जो विशेषकर विन्ध्याचल तथा कैमूर की पहाड़ियों में और छोटा नागपुर तथा सिंहभूम के अंचल में रहती है।

'कोल'-जाति का एक विभाग लड़ाका कोल कहलाता है। इन लोगों की परम्परा में कहा जाता है कि—सबसे पहले अतिबोराम और सिंहबोंगा ने जन्म लेकर सृष्टि का निर्माण किया और उन्होंने एक बालक और बालिका को बनाकर पर्वत की गुफा में छोड़ दिया। वहाँ शराब पीने से इन दोनों को कामेच्छा हुई। इस प्रथम नर-नारी से १२ पुत्र और १२ कन्याओं ने जन्म लिया।

तब सिंहबोंगा ने इन सबको एक भोज दिया। इस भोज में मांसाहार और शाकाहार के अलग-अलग पकवान बनाये गये। इनमें से पहले और दूसरे भाइयों ने बैल और महिष का मांस लिया। इन्हीं दोनों भाइयों से कोल और भूमिज जाति की उत्पत्ति हुई। शाक-भाजी खानेवाले भाइयों से ब्राह्मण और क्षत्रिय हुए। बकरे का माँस खाने वालों से शूद्र-जाति निकली और एक भाई-बहिन ने सूअर का माँस खाया। उससे सन्थाल जाति पैदा हुई।

सर 'विलियम क्रुक' ने हरिवंश-पुराण के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'ययाति' की १० वीं पीढ़ी में 'कोल' नामक एक राजा हुआ। उसी के वंशज कोल कहलाये।

कोल जाति साहसी, परिश्रमी, उत्साही और निर्भीक होती है। ये लोग बड़े सत्य-प्रिय और अभिमानी भी होते हैं। जरा-सी निन्दा सुनना भी इनको सहन नहीं होता और निन्दा करनेवाले को अवसर आते ही मार डालते हैं।

इस जाति में प्रत्येक गाँव में एक मण्डल रहता है। इस मण्डल को पल्ली कहते हैं। इस पल्ली का प्रधान चौधरी कहलाता है। इस पल्ली का प्रधान कार्य विवाह और नैतिकता सम्बन्धी मामलों का निर्णय करना होता है। कभी-कभी दो पल्लियों के बीच लड़ाई भी छिड़ जाती है। मगर ऐसे समय में यदि कोई बाहरी आततायी उन पर आक्रमण करने के लिए आता है तो तुरन्त ये लोग अपने सब मतभेदों को भूलकर आततायी का मुकाबला करने को तैयार हो जाते हैं।

इस जाति का भूत और चुड़ैलों पर बड़ा विश्वास है। किसी को कोई रोग होते ही उसे भूत का कोप या डाइन की दृष्टि का फल समझते हैं और बड़े यत्नों से उसकी शांति की जाती है। इनमें 'शोखा' नामक एक वर्ग होता है, जो भूत चुड़ैल और डाइन के झाड़ने का काम करता है। झाड़ने में एक पत्थर और तराजू का एक पलड़ा आवश्यक होता है।

जिस व्यक्ति पर डाइन का सन्देह हो जाता है, वह चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री—उसको परिवार समेत मार डालते हैं। अंग्रेजी शासन के बाद डाइनों के मारने की घटनाएँ कम हो गयी हैं।

कोल जाति में शादी के समय दहेज या पण देने की प्रथा है। कई दफे दहेज की रकम अदा न होने पर

शादियाँ रुक जाती हैं। दहेज चुक जाने पर फिर आनन्द की सीमा नहीं रहती। उस समय कन्या अपनी सहचरियों के साथ नाचते-गाते वर के घर की ओर चलती हैं और वर भी अपने निमन्त्रित युवक-युवतियों के साथ घर से बाहर निकलता है। मध्य रास्ते में वर और कन्या के दल आपस में मिल जाते हैं। फिर सब मिलकर के बगीचे में जाते हैं। वहाँ खूब धूम-धड़ाके से नाच और गाना होता है। फिर भोज, नाच, गाना और शराब का दौर चलता है। विवाह में और कोई कुलाचार या दूसरा तन्त्र-मंत्र नहीं होता। एक-एक प्याला शराब दूल्हा और दुलहिन को दी जाती है। वर अपने प्याले की शराब में से थोड़ा सा कन्या के प्याले में और कन्या अपने प्याले की शराब में थोड़ा सा वर के प्याले में टपका देती है। फिर उसको दोनों बड़े प्रेम से पीते हैं। यही विवाह का प्रधान अंग है।

कोल जाति के अधिकांश लोग हलवाहे का काम करते हैं। बहुत थोड़े परिवार ऐसे होते हैं, जिनके पास अपनी निज की भूमि होती है। बहुत से कोल जंगल को जलाकर वहाँ खेती करते हैं। पहले के समय में इन्हें एक बीघा जमीन मुफ्त में मिल जाया करती थी, जिसे ये कोल या कोलिन कहते हैं।

लड़ाका कोलों के साल भर में ७ त्यौहार होते हैं। इनका सबसे पहला और बड़ा त्यौहार 'माघ-पर्व' या 'देशौली बोंगा' होता है। इस त्यौहार पर ये लोग 'मदनोत्सव' मनाते हैं। इस उत्सव में सब लोग बड़े मस्त हो जाते हैं। पिता, माता, भाई, बहिन—कोई किसी को देखकर लज्जा नहीं करता। सभी लोग मद्यपान करके खूब अश्लील गालियाँ बोलते हैं। शाम होते ही चाँदनी रात में सब लोगों की मुट्ठी में मानो स्वर्ग आ पहुँचता है। युवक-युवतियाँ मण्डली में पहुँच कर रासक्रीड़ा किया करती हैं।

दूसरा त्यौहार चैत मास का 'पुष्पोत्सव' होता है। इस पर्व को लड़ाका कोल 'बहबोंगा' और 'मुंडारी, 'सरहुल' कहते हैं। इस त्यौहार पर सब लोग अपने-अपने घरों को फूलों से सजाते हैं और अपने शरीरों को भी फूलों से सजाकर खूब नाचते-गाते हैं।

इसी प्रकार ज्येष्ठ मास में 'डुमरिया' नामक त्यौहार आषाढ़ में 'हरियोंगा' भाद्रमास में 'जुमनामा' और उसके बाद 'कलमबोंगा' नामक त्यौहारों पर भी ये आनन्द मनाते हैं?

कोल-जाति के लोग अपना मुख्य देवता सिंहबोंगा या सूर्यदेव को मानते हैं और हिन्दुओं की तरह सूर्यदेव की पूजा करते हैं। सूर्यदेव के अतिरिक्त इनका प्रमुख देवता—बड़ादेव कहलाता है।

कोल-जाति में मृतक के शरीर को जलाने की प्रथा अधिक है। फिर भी हिन्दुओं की तरह 'चेचक' या 'हैजे' की बीमारी से मरनेवाले को जमीन में गाड़ने या नदी में बहाने का रिवाज है।

सन् १८२१ में लड़ाका-कोलों से अंग्रेजो सरकार की एक घमासान लड़ाई शुरू हुई थी, जिसमें बड़े कष्ट से अंग्रेजी-सेना ने कोलों को परास्त किया था और इनसे कर वसूल किया था।

सन् १८५७ ई० में 'कोलहान' के निकटवर्ती 'पुरहाट' के चौहान राजा की ओर से कोलों ने अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठाये थे, पर पुरहाट के राजा के हार जाने पर ये भी चुप हो गये। कोल-जाति के युद्ध-सम्बन्धी शस्त्रों में धनुष, जहर बुझाये हुए तीर, बर्छा और कुठार उल्लेखनीय हैं।

कोलचक

रूस में जार की जल-सेना का एक सेनापति, जिसका जन्म सन् १८७३ में और मृत्यु सन् १९२० में हुई।

'कोलचक' एक प्रभावशाली, मगर साथ ही प्रतिक्रियावादी सेनापति था। नवम्बर सन १९१८ में बोलशेविक क्रान्ति के समय इसने सायबेरिया तथा सुदूर पूर्व में सैनिक-शासन की स्थापना की। और स्वाधीनता के आन्दोलन को कठोरता से दबाने का प्रयत्न किया।

सन् १९१९ में इसकी सेनाएँ वोलगा-नदी पर पहुँच गयीं, जहाँ सोवियट-सेना से इसकी आखिरी लड़ाई हुई। इस लड़ाई में कजाकिस्तान के क्रान्तिकारियों ने सोवियट-सेना की सहायता करके 'कोलचक' को बुरी तरह से हरा दिया। कोलचक गिरफ्तार कर लिया गया। और बाद में गोली से उड़ा दिया गया।

कोलतुङ्ग-चोल

चोल तथा चालुक्य वंश का दक्षिण भारतीय एक प्रसिद्ध नरेश। जिसका राज्यकाल सन् १०७४ से सन् ११२३ तक रहा।

कोलतुङ्ग राजेन्द्र द्वितीय, चोल राजा अधिराजेन्द्र का भानजा चालुक्य वंश का था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह अपने मामा को मार कर सन् १०७४ में गद्दी पर बैठा। इसने चोल और पूर्व चालुक्य दोनों राज्यों को मिलाकर एक कर दिया। यह राजा भी बड़ा वीर था। इसने कलिंग देश को फिर से विजय किया। इसकी विजय यात्रा का सजीव वर्णन तामील भाषा के प्रसिद्ध महाकाव्य "कलिंगट्ट परनिद्र" में मिलता है। इस काव्य के लेखक को लतुङ्ग चोल के प्रधान राज कवि जय गोदन्न थे।

कोलतुङ्ग चोल जैन धर्म का बड़ा श्रद्धालु था। इसने राजेन्द्र चोल के द्वारा नष्ट किये हुए कई जैन मन्दिरों का उद्धार किया। इस राजा के आश्रय में कई जैन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों की रचना की। जैन धर्म के प्रति इसकी विशेष अनुरक्ति देखकर प्रसिद्ध धर्म संस्थापक रामानुजाचार्य्य इस के राज्य को छोड़ कर होयसल नरेश विट्टिवर्द्धन के यहां चले गये थे।

कोल तुंग चोल की मृत्यु सन् ११२३ में हुई।

कोलब्रुक

संस्कृत-साहित्य के महान् विद्वान्। भारतीय दर्शनशास्त्रों के प्रकाण्ड प्रवक्ता और हिन्दू-कानून के निर्माता अंग्रेज विद्वान, कोलब्रुक, जिनका जन्म सन् १७६५ में और मृत्यु सन् १८३७ में हुई।

कोलब्रुक के पिता 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के एक डायरेक्टर थे। उन्होंने १७८२ में अपने लड़के को कम्पनी के काम पर लगाकर भारतवर्ष भेजा।

यहाँ आकर कई स्थानों पर कोलब्रुक कलेक्टर या डिप्टी कलक्टर का काम करते रहे।

संस्कृत के अध्ययन के साथ-साथ इन्हें हिन्दू-रीति-रिवाजों, हिन्दू कानूनों और प्राचीन हिन्दू-जाति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का भी शौक लग गया।

सन् १७९४ में इन्होंने एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में 'साध्वी हिन्दू विधवा के कर्त्तव्य' इस विषय पर अंग्रेजी में एक लेख लिखा।

सन् १७७६ में वारेन-हेस्टिंग्ज के तत्वावधान में ६ ब्राह्मण-पण्डितो ने मिलकर हिन्दू-कानून पर 'वृहत् धर्मशास्त्र संग्रह, नामक ग्रन्थ तैयार किया था जो Code of Centoo Law नाम से अंग्रेजी में अनुवाद होकर प्रकाशित हुआ। उसके बाद जज लोग इसी ग्रन्थ के आकार पर हिन्दू-ला सम्बन्धी मामलों पर फैसला देते थे।

मगर-सर विलियम-जोन्स को यह ग्रन्थ पसन्द नहीं आया तब सरकार ने हिन्दू-धर्मशास्त्र के संकलन का भार उन्हीं को सौंपा मगर इसी बीच उनकी मृत्यु हो जाने से यह भार कोलब्रुक पर आकर पड़ा।

इसी समय पं० जगन्नाथ तर्कपंचानन ने 'विवाद-भङगार्णव' नामक ग्रन्थ की रचना की। सन् १७७९ में कोलब्रुक ने इसी ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद कर तीन खण्डों में 'Digest of Hindu Law' नाम से छाप दिया। उस समय ये मिरजापुर में कलक्टर थे। इन्होंने काशी के कई प्रधान पण्डितों के साथ विचार-विनिमय करके इस ग्रन्थ में जो टिप्पणियाँ दी हैं, उनसे इनकी अगाध विद्वत्ता का पता लगाता है। अब भी कई वकील उनके मत को उद्धृत करते हैं।

इसके पश्चात् कोलब्रुक गवर्नर-जनरल की सुप्रीम कौंसिल के मेम्बर और एशियाटिक सोसाइटी के डॉयरेक्टर भी रहे।

भारतवर्ष में रहकर इन्होंने भारतीय सभ्यता से सम्बन्धित कई विषयों पर बड़े महत्वपूर्ण लेख लिखे—इनमें कुछ इस प्रकार हैं—

1. Examination of Indian classes.
   (भारत का जातिवाद)
2. Essay on the Religion ceremonies of the Hindoos. (हिन्दू धार्मिक त्यौहारों का अध्ययन)
3. On the Sanskrit and Prakrit Languages. (संस्कृत और प्राकृत-भाषा)
4. On the Vedas or Sacred writings of the Hindoos. (वेदों पर अनुशीलन)

5. Observations on the Sect of Jains.

(जैनधर्म का अनुशीलन)

6. On the Indian and Arabian Division of the zodiac.

(भारत और अरबी राशिचक्र-विभाग)

7. On ancient monuments containing Sanskrit Inscriptions.

(संस्कृत शिला लेखों से युक्त प्राचीन कीर्ति-स्तम्भ)

इसी प्रकार संस्कृत और प्राकृत छन्द: शास्त्र, भारतीय ज्योतिष से नक्षत्रों की गति का निर्णय इत्यादि कई विषयों पर अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख लिखकर इन्होंने सारे संसार का ध्यान संस्कृत और प्राकृत-साहित्य की ओर आकर्षित किया।

भारतवर्ष से चले जाने के बाद इंग्लैंड में भी इन्होंने हिन्दू-दर्शनशास्त्र और गणित-शास्त्र पर अंग्रेजी में पुस्तकें लिखीं। कोलब्रुक की इन्हीं सेवाओं से प्रभावित होकर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित 'मैक्समूलर' ने कोलब्रुक के सम्बन्ध में एक बार कहा था।

The Founder and father of trwe Sanskrit Scholarship in Europe.

अर्थात् कोलब्रुक यूरोप में प्राकृत और संस्कृत-विद्या के प्रवर्तक और जन्मदाता थे।

कोलबर्ट

चौदहवें लुई के समय में फ्रान्स का एक प्रसिद्ध राज्याधिकारी और अर्थनीतिज्ञ। जिसका जन्म सन् १६१९ में और मृत्यु सन् १६८३ में हुई।

फ्रांस का १४ वाँ सम्राट् 'लुई' जब छोटी अवस्था में था तब राज्य की व्यवस्था 'कार्डिनल-मेजरिन' नामक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ करता था। 'कोलबर्ट' कार्डिनल मेजरिन का अत्यन्त विश्वास-पात्र व्यक्ति था।

सन् १६३१ ई० में मेजरिन की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका काम कोलबर्ट ने सँभाला। मेजरिन की मृत्यु के पश्चात् कोलबर्ट १४ वें लुई का भी कृपापात्र और विश्वासपात्र हो गया और सन् १६६५ में वह फ्रांस का 'कंट्रोलर-जनरल' बना दिया गया।

लुई ने अपने शासन-काल के प्रारम्भ में जो सुधार किये, वे इसी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कोलबर्ट के परिश्रम के परिणाम थे। कोलबर्ट को बहुत पहले से ही इस बात का पता लग गया था कि लुई के राजकर्मचारी बड़ी रकमें रिश्वत में खा जाते हैं और सरकारी धन का दुरुपयोग करते हैं। तब उसने रिश्वतखोरी और सरकारी खयानत को रोकने के लिए कानून बनवाये और ऐसे मामलों की जाँच के लिए एक अलग अदालत की स्थापना की। उस अदालत ने ऐसे जुर्मों के लिए मृत्युदण्ड की सजा रखी। इस कानून की सख्ती से हजारों लोगों ने मौत से बचने के लिए हड़प की हुई बड़ी-बड़ी रकमें वापस खजाने में जमा करवा दीं। इससे फ्रांस के खजाने की स्थिति बहुत अच्छी हो गयी।

'कोलबर्ट' ने हिसाब रखने के लिए एक नई प्रणाली का भी प्रारम्भ किया, जैसी की व्यापारियों के यहाँ बरती जाती है।

साहित्य के क्षेत्र में भी कोलबर्ट की सेवाएँ बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है। साहित्य-सेवियों को उदारतापूर्वक राजा की ओर से वृत्तियाँ दी जाती थीं। 'रीशल्ये' ने फ्रांस में जिस 'फ्रेञ्च एकाडेमी' की स्थापना की थी, उसे कोलबर्ट ने बहुत विकसित किया। किस विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए किस विशेष शब्द या शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए, इसका निश्चय कर उक्त 'एकेडेमी' ने फ्रेंच भाषा को अधिक ओजमय तथा अर्थपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। उस समय इस एकेडेमी के ४० सदस्यों में स्थान पाना फ्रांस के अन्दर बड़े गौरव का विषय समझा जाता था। विज्ञान की उन्नति के लिए 'जर्नल डेस सेवेन्ट्स' (Journal Das Savants) नामक एक मासिक पत्र भी चालू किया गया, जो अब तक चल रहा है।

नक्षत्रों की जानकारी प्राप्त करने के लिए कोलबर्ट ने पेरिस में एक वेधशाला का भी निर्माण करवाया। पेरिस के राजकीय पुस्तकालय में जहाँ १६ हजार पुस्तकें थीं, वहाँ उसने लाखों पुस्तकों का संग्रह करवाया।

फ्रांस की औद्योगिक उन्नति में भी उसने बहुत बड़ी दिलचस्पी ली। उसने कई नये उद्योगों की स्थापना

करवायी और पुराने उद्योगों को ऊँचे दर्जे का माल तैयार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कारखानों में कितने अर्ज का और किस कोटि का कपड़ा तैयार किया जाय—इस सम्बन्ध में उसने कड़े नियम बनाये। उसने मध्यकालीन व्यापारिक गुटों का पुनः संगठन किया। इससे उसने फ्रान्स के निर्यात व्यापार को भी बहुत बढ़ा दिया।

सन् १६६९ ई० में उसको फ्रांस के जहाजी बेड़े का मन्त्री बनाया गया। उस समय उसने 'रेसफ़ोर्ट' के बन्दरगाह का निर्माण करवाया। 'तूलो' के जंगी कारखाने की नींव डलवाई और फ्रांस के समुद्री बेड़े को शक्तिशाली बनाने के लिए कई नई व्यवस्थाओं को अंगीकार किया।

कोलबर्ट अनियंत्रित राजतंत्र का कट्टर पक्षपाती था। प्रजातंत्र से उसकी कोई सहानुभूति नहीं थी। फिर भी उसने क्या आर्थिक, क्या औद्योगिक, क्या साहित्यिक, क्या वैज्ञानिक और क्या सैनिक—सभी क्षेत्रों में अपने बुद्धि-कौशल से फ्रांस को नवजीवन प्रदान किया।

युरोप के इतिहास में १४ वें लुई के समय में फ्रांस की जो गौरवपूर्ण और वैभवशाली स्थिति रही, वह शायद उसके पहले कभी न रही और इस समृद्धि का बहुत कुछ श्रेय कोलबर्ट को भी है।

कोलबर्ट ने अपनी अर्थ व्यवस्था से फ्रांस के खजाने को लबालब भर दिया। मगर फ्रांस के दुर्भाग्य से लुई की सैनिक महत्वाकांक्षाओं और उसकी साम्राज्य-लिप्सा के कारण वह सारा खजाना खाली हो गया। और जब लुई की मृत्यु हुई तब फ्रांस का राज्य बहुत बुरी हालत में हो गया था। वहाँ का खजाना खाली हो चुका था। वहाँ के निवासी दुर्दशा-ग्रस्त हो रहे थे और फ्रांस की सेना, जो कुछ समय पहले युरोप में अद्वितीय थी, अब अत्यन्त शक्ति-हीन हो गयी थी।

इस प्रकार 'कोलबर्ट' के निर्मित किये हुए फ्रांस के समृद्ध राज्य को १४ वें लुई की महत्वाकांक्षाओं ने बहुत थोड़े समय में अर्थात् सन् १७१५ तक—जब कि लुई की मृत्यु हुई—बिल्कुल बरबाद कर दिया था।

कोलम्बस

(क्रिस्टोफर कोलम्बस)

अमेरिका महाद्वीप की खोज करने वाला, इटली का इतिहास-प्रसिद्ध समुद्र-यात्री, 'क्रिस्टोफर कोलम्बस' जिसका जन्म सन् १४५१ में और मृत्यु सन् १५०६ में हुई।

अपने प्रारंभिक जीवन से ही 'कोलम्बस' को समुद्र-यात्रा और नौकारोहण का बहुत अधिक शौक था। इन्हीं दिनों संसार की यात्रा करने वाले 'मार्कोपोलो' के समान यात्रियों ने उस समय की अज्ञात दुनियाँ, चीन, जापान, भारतवर्ष और अफ्रिका के बड़े मनोमोहक वर्णन जनता के सामने उपस्थित किये थे।

इस प्रकार की कथाओं को सुनकर कोलम्बस की महत्वाकांक्षा उसे नई दुनियाँ की खोज करने के लिये प्रेरित कर रही थी, मगर नई दुनियाँ की खोज के लिए विशाल साधन और धन की आवश्यकता थी। जो बिना राज्याश्रय के प्राप्त नहीं हो सकता था। कोलम्बस इस आश्रय को प्राप्त करने की प्रतीक्षा में था।

उस समय स्पेन में राजा 'फर्डिनैंड' और उसकी पत्नी 'ईजाबेला' का शासन था। इजाबेला बड़ी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और महत्वाकांक्षिणी महिला थी। कोलम्बस ने सन् १४९२ में ईजाबेला की सेवा में उपस्थित होकर अपनी समुद्र-यात्रा का प्रस्ताव रखा और उसके साथ अपनी कुछ शर्तें भी रखीं जिनमें एक शर्त यह थी कि समुद्र-यात्रा से जो भी सम्पत्ति प्राप्त होगी, उसके १०वें हिस्से का अधिकारी वह होगा।

इजाबेला ने कोलम्बस की शर्तों के अनुसार एक इकरारनामा लिखवाकर अगस्त सन् १४९२ में 'सान्ता-मारियो' 'पिंता' और 'नीना' नामक तीन जहाज कोलम्बस को सिपुर्द कर दिये। कोलम्बस ८७ नाविकों को साथ लेकर अपनी पहली महान् समुद्र-यात्रा पर निकल पड़ा। इस यात्रा में दो महीने तक उसको अनन्त समुद्र के बीच में रहना पड़ा, दो महीने तक अनन्त जलराशि के सिवा उन्हें धरती के दर्शन नहीं हुए जिससे उसके नाविकों में विद्रोह और विक्षेप की भावना फैल गयी। पर अन्त में १२ अक्टूबर सन् १४९२ में उसे धरती के दर्शन हुए और 'सानसालवेडोर' के तट पर उतर कर उसने वहाँ पर स्पेन का झण्डा गाड़ दिया।

इसके बाद आगे बढ़कर कोलम्बस ने 'क्यूबा' और 'हिस्पानियोला' की खोज की। हिस्पानियोला के तट पर उसका सान्तामार्या नामक जहाज पृथ्वी में गड़ गया, इसलिए उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस यात्रा में उसने सांतामारिया, सानसाल्केडोर, ईजावेला, लांग आइलैण्ड, क्यूबा तथा हिस्पोनियोला उपनिवेशों को ढूंढ़ निकला। इस यात्रा में कोलम्बस अटूट धन-सम्पत्ति और सोना अपने साथ लाया था। और हिस्पोनियोला स्थान पर उसने ४२ यूरोपियनों का एक उपनगर बसाया था। इस यात्रा की समाप्ति पर रानी ईजावेला ने कोलम्बस का बड़ा भव्य स्वागत किया था।

कोलम्बस की दूसरी यात्रा २५ सितम्बर सन् १४६३ में प्रारम्भ हुई। इस यात्रा में उसे मालूम हुआ कि हिस्पोनियोला स्थान पर उसने जो उपनगर बसाया था, उस नगर के सभी युरोपियनों को वहाँ के निवासियों ने मार डाला और उस उपनगर को नष्ट कर दिया।

इस घटना से कोलम्बस की प्रतिहिंसा जाग उठी और उसने वहाँ के निवासियों को पकड़ कर गुलामों का व्यापार करना प्रारंभ किया। वहाँ के लोगों को पकड़ कर जहाजों में भर कर वह अपने देश में भेजता रहा, जहाँ वे सैकड़ों की संख्या में मर जाते रहे। कोलम्बस ने इस यात्रा में 'डोमेनिका' 'पोर्टोरिका' गादालूप, अण्टिगुआ इत्यादि शान्ताकुज तथा वर्जिन द्वीपों की खोज की।

अपनी तीसरी यात्रा में उसने 'ट्रिनिडाड' और 'दक्षिणी अमेरिका' की खोज की, मगर इसी समय हिस्पानियोला में विद्रोह और क्रान्ति हो गयी। तब रानी ईजावेला ने एक नया अधिकारी हिस्पानियोला की व्यवस्था करने के लिये भेजा, जिसने कोलम्बस को गिरफ्तार कर अपने देश में भेज दिया।

इसके बाद कोलम्बस की एक चौथी यात्रा और हुई। इसमें वह 'वेस्टइंडीज' की ओर गया और वहाँ कुछ दिन ठहरा भी, मगर बीमारी के कारण उसके नाविक मरने लगे। तब वह अत्यन्त निराश स्थिति में दो वर्षों के पश्चात् अपने घर लौटा, जहाँ सन् १५०६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

कोलम्बस की खोजों ने स्पेन के उपनिवेशों की संख्या बहुत बढ़ा दी। इन उपनिवेशों के कारण १६वीं शताब्दी में अटूट धन-राशि का प्रवाह स्पेन में आने लगा। और इसके परिणाम-स्वरूप १६वीं सदी में 'स्पेन' समस्त यूरोप में प्रथम श्रेणी का महान प्रतापी राष्ट्र बन गया।

यह सब कोलम्बस का प्रताप था, मगर यह गौरव एक शताब्दी से अधिक नहीं ठहरा। इंग्लैण्ड, फ्रांस और पुर्तगाल के नाविकों ने बड़ी-बड़ी यात्राएँ करके कई देशों को खोजा और अमेरिका में भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

कोलम्ब

ट्रावनकोर राज्य के 'कुइलन' (Cuilon) ताल्लुके का एक बहुत पुराना नगर और बन्दरगाह।

'कोलम्ब' का इतिहास बहुत पुराना है। अनुमान किया जाता है कि उस अञ्चल की सुप्रसिद्ध 'कोलम्बा देवी' के नाम पर इस नगर का नाम भी कोलम्ब रखा गया था।

इसी नगर के नाम पर या इसी कोलम्बा-देवी के नाम पर सन् ८२५ ई० की २५ वीं अगस्त से ट्रावणकोर के कोलाम्ब सम्वत् नामक नये संवत का भी प्रारम्भ हुआ।† प्रसिद्ध यात्री 'टॉलेमी' के यात्रा-वर्णन से मालूम होता है कि प्राचीन काल में यहाँ पर 'सीरीयक' ईसाइयों का एक धर्म मन्दिर स्थापित हुआ था।

सन् ६६० ई० में ईसाई सन्त 'जेसूजबस' (Jesujabus) ने कोलम्ब में ही अपना शरीर त्याग किया था।

उसके पश्चात् सन् ८२३ में सीरिया के मिश्नरियों ने आकर कोलाम्ब के राजा की आज्ञा से एक गिर्जाघर बनाया था। ईसाई धर्म-प्रचारक 'सेण्ट टॉमस' ने भी कोलम्ब में एक उपासना-मन्दिर की स्थापना की थी। सन् १३१० में यहाँ के विशप 'जोर्डनस' नामक व्यक्ति थे। इसके पहले कोलम्ब में हिन्दुओं के बहुत से देवालय बने हुए थे। सन् १५०३ ई० में पुर्तगालियों ने यहाँ पर अपना एक किला बनाया था। इसके डेढ़ सौ वर्षों बाद 'डच' लोगों ने इस किले पर अपना अधिकार कर लिया।

† इतिहासकार चिन्तामणि विनायक वैद्य के मतानुसार यह सम्वत सन् ८५५ से चालू हुआ।

उसके बाद समय-समय पर यह नगर कोचीन और ट्रावंकोर की अधीनता में रहा।

ईसा की पहली शताब्दी से यह बन्दरगाह वाणिज्य-व्यवसाय के एक प्रधान केन्द्र की तरह रहा। यहाँ के व्यापारी बंगाल, बर्मा, पेगू और हिन्द महासागर के द्वीप-पुञ्ज से व्यवसाय करते थे। इस बन्दरगाह से मिर्च का आयात और निर्यात विशेष रूप से होता था।

कोलम्बन

ईसाई-धर्म का एक प्रसिद्ध सन्त, जिसने आयर्लैण्ड के बड़े-बड़े दुर्गम स्थानों में जाकर ईसाई-धर्म का प्रचार किया।

इसके बाद कोलम्बन 'आयोना' नामक टापू में आया और उसने स्कॉटलैंड के पश्चिमी भाग को ईसाई बनाया।

'कोलम्बन' के एक शिष्य 'आईडान' ने 'नार्थम्ब्रिया' में ईसाई-धर्म का प्रचार किया।

इस समय ईसाई-मत की दो शाखाएँ थीं। एक रोमन शाखा, जो रोम के पोप के अधीन थी और दूसरी केल्टिक शाखा, जिसके प्रवर्तक कोलम्बन और उनके शिष्य थे। यह केल्टिक-शाखा 'पोप' के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती थी।

इस झगड़े को दूर करने के लिए सन् ६६४ ई० में 'विटबी' में एक सभा हुई, जिसका अध्यक्ष नार्थम्ब्रिया का राजा 'ओस्वी' था। इस सभा में पोप के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया गया।

कोलम्बो

सीलोन देश की राजधानी, बन्दरगाह और व्यापारिक नगर, जिसकी स्थापना १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई—ऐसा समझा जाता है। यहाँ की जन-संख्या ४ लाख २३ हजार ४८१ है।

१६ वीं शताब्दी में पुर्तगाल के लोगों ने यहाँ पर एक किला बनवाया था और इस किले का नाम कोलम्बस के नाम पर 'कोलम्बो' रखा गया था।

१७ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १८ वीं शताब्दी के अन्त तक यह नगर हालैंड वालों के अधिकार में रहा और उसके बाद अंग्रेजों के अधिकार में आया।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अन्य देशों की तरह सीलोन भी स्वाधीन हुआ और कोलम्बो में प्रजा-तंत्रीय सरकार की स्थापना हुई।

सीलोन बौद्ध-धर्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। सम्राट् 'अशोक' की पुत्री 'संघमित्रा' ने सीलोन में आकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। कोलम्बो में बना हुआ 'कोटा-हेरा' का बौद्ध मन्दिर अभी भी बौद्ध-धर्म की कीर्ति को उद्घोषित कर रहा है।

सन् १९४२ ई० में यहाँ लंका युनिवर्सिटी की स्थापना की स्थापना हुई। लंका की प्राचीन राजधानी 'कोट्टा' यहाँ से ५ मील की दूरी पर है।

कोलम्बो-योजना

१ जुलाई सन् १९५० को राष्ट्रमण्डल के ७ परराष्ट्र मंत्रियों की एक बैठक लंका की राजधानी कोलम्बो में हुई। इस बैठक के अन्तर्गत 'कोलम्बो-योजना' नामक एक ऐसी योजना को मूर्त रूप दिया गया, जिससे दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एशिया के निवासियों का जीवन-स्तर समुन्नत बनाया जा सके।

कोलम्बो-योजना के प्रवर्तकों ने जो परामर्शदात्री समिति संगठित की थी, उसकी दो बैठकें सन् १९५० में हुईं। एक बैठक आस्ट्रेलिया के 'सिडनी' नामक स्थान में मई महीने में हुई और दूसरी सितम्बर महीने मे 'लन्दन' के अन्दर हुई। इस समिति के प्रवर्तकों के मन में विकास करने की कितनी तीव्र उत्कण्ठा थी, वह नेहरू जी के इस कथन से समझा जा सकता है, जब उन्होने कहा था कि—"यूरोप ने दो सौ वर्षों में जो कुछ प्राप्त किया है, वह हमें कुल १० वर्षों में प्राप्त कर लेना है।"

इसलिए तेजी से कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए इस समिति ने एक अन्तर्राष्ट्रीय-सहयोग-समिति को संगठित कर दिया और उसकी सहायता के लिये कोलम्बो में एक 'ब्युरो' भी कायम कर दिया। इस योजना के सदस्यों में लंका, भारत, भूटान, बर्मा, कम्बोडिया, इंडोनेशिया,

कोरियाई गणराज्य, लाओस, मलेशिया, नेपाल, थाईलैंड, अफगानिस्तान और मालदिव द्वीप हैं।

योजना के प्रारम्भ के बाद से अब तक इस योजना को करीब १५ अरब डालर की सहायता मिल चुकी है। इस सहायता में, आस्ट्रेलिया के द्वारा ५ करोड़ ३४ लाख आस्ट्रेलियाई पौंड, जापान के द्वारा ३ अरब ८० लाख येन, ब्रिटेन के द्वारा २६ करोड़ ४८ लाख पौंड, कनाडा के द्वारा ४६ करोड़ ४७ लाख डालर और अमेरिका के द्वारा १३५ करोड़ डालर सम्मिलित हैं।

अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के पूर्व यह आवश्यक था कि इन क्षेत्रों में सड़कों, रेलों, हवाई अड्डों और तार-टेलीफोन का जाल बिछा दिया जाय और बन्दरगाहों को आधुनिक रूप दिया जाय। इन्हीं सब कामों को पूरा करने में बहुत सी रकम खर्च हो चुकी है।

एक और कठिनाई इस योजना के सामने यह है कि जिन देशों की उन्नति के लिए यह योजना बनाई गई है, उन सब देशों के आकार भिन्न हैं, साधन भिन्न हैं, आर्थिक ढांचे भिन्न हैं। शासन-प्रणालियां भिन्न हैं और जीवन-शैली भी भिन्न हैं। इन सब भिन्नताओं में एक रूपता लाना बड़ा कठिन है और इसी कारण प्राप्त सहायता का उपयोग भी एक प्रकार से नहीं होने पाता।

एक और कठिनाई यह है कि कई देशों में पारस्परिक तनाव के कारण सैनिक-व्यवस्था पर अन्धाधुन्ध खर्च हो रहा है। इससे प्राप्त साधनों का उपयोग विकास कार्यों की ओर न होकर अन्य दिशा में होने लगता है और मुद्रा-स्फीति भी बहुत बढ़ जाती है। जिससे विकास-योजनाओं के मार्ग बड़ी बाधा आती है।

इन्हीं सब कठिनाइयों पर विचार करने के लिए सन् १९६५ के नवम्बर में होने वाली इस योजना की कराची की बैठक में इन कठिनाइयों पर और बढ़ती हुई जन-संख्या की समस्या पर महत्वपूर्ण विचार-विमर्श होगा।

कोलम्बिया

दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी-पश्चिमी भाग का एक सुप्रसिद्ध राज्य, जिसका क्षेत्रफल ४ लाख ३९ हजार ९९७ वर्गमील और जन-संख्या १ करोड़ ३५ लाख २२ हजार है।

कोलम्बिया-राज्य का मुख्य उत्पादन पेट्रोल, सोना, चाँदी, ताँबा, कोयला आदि खनिज द्रव्य हैं। खनिज-द्रव्यों के अतिरिक्त यहाँ की वन-सम्पदा भी बहुत महत्वपूर्ण है। १४ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि के क्षेत्र में यहाँ के जंगल फैले हुए हैं, जिनसे इस राज्य को बहुत बड़ी आमदनी होती है। इस राज्य की तीन-चौथाई जनता का जीवन-निर्वाह कृषि और पशु-पालन पर होता है।

कोलरिज

(Samuel Tayler coleridge)

वर्ड्स्वर्थ के समकालीन, अंग्रेजी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि, दार्शनिक, समालोचक और महान् वक्ता, जिनका जन्म सन् १७७२ में और मृत्यु सन् १८३४ में हुई।

गत चार सौ वर्षों में जिन साहित्यकारों ने अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध, रंगीन और विश्व-साहित्य के रूप में निर्मित किया है उनमें सेम्युएल कोलरिज का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

सैम्युएल कोलरिज सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। जब वे मंच पर खड़े होकर भाषण करते तो श्रोता लोग मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। उनकी कविताओं को पढ़ते-पढ़ते पाठक भावोद्रेक के वश होकर कल्पना जगत् में पहुँच जाता था। उनकी समालोचना भी बड़ी उत्कृष्ट और युग प्रवर्तक थी। दार्शनिक क्षेत्र में भी उनका गम्भीर चिन्तन पारदर्शी था।

कविता के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्ध कृति 'एन्शएट मैरिनर' में उन्होंने अपने कल्पनालोक का भव्य और सजीव चित्रांकन किया है। इसी प्रकार उनकी 'कुबले खाँ', 'क्रिस्टाबेल' इत्यादि रचनाएँ भी अंग्रेजी साहित्य का गौरव बढ़ाने वाली हैं।

समालोचना के क्षेत्र में उनका 'बायोग्राफिक लिटरेरिया' और लेक्चर्स आन शेक्सपीयर' बड़ी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। पहली रचना में कला की दार्शनिक ढंग से आलोचना की परम्परा कायम की गयी है और दूसरी

रचना में उन्होंने शेक्सपीयर के नाटकों की समीक्षा करके शेक्सपीयर के समालोचकों में पहला स्थान प्राप्त कर लिया है।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इन्होंने मनुष्य की तर्कशक्ति और ज्ञानशक्ति के भेद पर 'एड्स टू रिफ्लेशन' नामक रचना करके इस क्षेत्र में भी पूर्ण लब्धि प्राप्त की है।

ज्ञान के क्षेत्र में इतनी महान् प्रतिभा के धनी होने पर भी कोलरिज का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त दुखी और निराशा पूर्ण था। इसी भयंकर निराशा में इनको अफीम खाने का भयंकर व्यसन लग गया। जिससे इनका शारीरिक स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और उसी निराशा की स्थिति में सन् १८३४ में इनका देहान्त हो गया।

कोलरिज महाकवि वर्ड्सवर्थ के समकालीन और घनिष्ट मित्र थे और दोनों की कविताओं पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ा है।

कोल्हटकर (श्रीपादकृष्ण कोल्हटकर)

मराठी-साहित्य के एक सुप्रसिद्ध नाटककार और हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक, जिनका जन्म सन् १८७१ में और मृत्यु सन् १९३४ में हुई।

मराठी-साहित्य में फ्रांस के सुप्रसिद्ध नाटककार 'मौलियर' की शैली पर स्वच्छन्दतावादी नाटकों की रचना करने में कोल्हटकर ने बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की है।

सन् १८९३ ई० के करीब इनका पहला नाटक स्टेज पर अभिनीत किया गया। उसी समय से इनके नाटकों की लोक प्रियता बहुत बढ़ गयी। इनके नाटकों में हास्यरस का पुट बहुत अधिक होता था, जिसे देखनेवाले दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। इनके नाटकों में 'वधू-परीक्षा' 'मति-विकार' इत्यादि नाटक बहुत प्रसिद्ध हुये।

नाटककार के अतिरिक्त कोलटकर समालोचना के क्षेत्र में और उपन्यास लेखन के क्षेत्र में भी बहुत प्रसिद्ध थे।

सन् १९३४ में मराठी के इस महान साहित्यकार की मृत्यु हो गयी।

कोलार-गोल्डफील्ड

मैसूर-राज्य के अन्तर्गत कोलार जिले का प्रमुख नगर, जो अपनी सोने की खदानों के लिये विशेष प्रसिद्ध है।

'कोलार' का इतिहास एक बहुत प्राचीन और उथल-पुथल की घटनाओं से परिपूर्ण है। दूसरी से दसवीं शताब्दी तक कोलार जिले का समस्त पश्चिमी भाग गंग-राजवंश के अधिकार में रहा।

सन् ९९८ ई० चोल-राजवंश ने गंग-राजवंश को पराजित कर यह स्थान अपने अधिकार में कर लिया और इस जिले का नाम 'निकरिली चोल-मण्डल' रखा। सन् १११६ के करीब 'होयसल-राजवंश' ने चोल-राजवंश को मैसूर से निकाल कर बाहर किया। सन् ११५४ ई० में यह जिला होयसल नरेश-सोमेश्वर के पुत्र रामनाथ को तामिल-प्रान्त के साथ मिला। किन्तु राजा 'बल्लाल तृतीय' ने इसे फिर अपने राज्य में मिला लिया। १५वीं शताब्दी में यह जिला विजय-नगर-साम्राज्य के अधीन हो गया। ईसा की १७वीं शताब्दी में यह जिला मराठा सरदार शाहजी को जागीर के रूप में मिला। फिर ७० वर्ष तक यहाँ पर मुगलों का अधिकार रहा। उसके बाद यह हैदरअली के अधिकार में आया और फिर सन् १७९१ में इस पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। सन् १७९२ में मैसूर-राज्य से सुलह हो जाने पर यह जिला मैसूर-राज्य को वापस दे दिया गया।

इस जिले में 'मालूर' से दक्षिण 'नोन-मंगल' में जैन-मन्दिर का एक भित्तिमूल पाया गया है। इसमें चौथी और पाँचवीं शताब्दी के ताम्रपत्र, बहुत सी मूर्तियाँ, संगीत के बाजे और दूसरी चीजें भी पायी गयी हैं।

कोलार में प्राचीन नन्दीश्वर और कोल-रम्भा देवी के मन्दिर दर्शनीय हैं। ये मन्दिर ११वीं शताब्दी में चोल-राजाओं के समय में बनाये गये थे। कोलार में हैदरअली के पिता फतेह-मुहम्मद का मकबरा भी देखने योग्य है।

कोलार के बहुत बड़े क्षेत्र में सोने की खदानों का क्षेत्र फैला हुआ है। इन खदानों से काफी मात्रा में सोना प्राप्त किया जाता है। भारतवर्ष में यह सबसे बड़ा सोने का क्षेत्र है। इन खदानों पर 'मैसूर गोल्ड-माइनिंग कम्पनी' 'चैम्पियन रीफ-गोल्ड-माइन्स ऑफ, इंडिया'

'गोल्ड-माइनिंग कम्पनी लिमिटेड' और 'नन्दी-द्रुग माइन्स, लिमिटेड'—ये चार कम्पनियाँ खोदाई का काम करती हैं।

सन् १९५४ में मैसूर-खदान से ७८,२५४ औंस, चैम्पियन-खदान से ६६,६८६ औंस और नन्दी-द्रुग-खदान से ७२०७० औंस सोना प्राप्त हुआ था।

कोलाबा (कुलाबा)

महाराष्ट्र-प्रान्त के दक्षिणी भाग का एक जिला, जिसका क्षेत्रफल २७१६ वर्ग मील और जनसंख्या १० लाख ५८ हजार ८५५ है।

सन् १६६२ ई० में छत्रपति शिवाजी ने इस क्षेत्र पर अधिकार किया था। उस समय समुद्री डाकुओं की वजह से यह स्थना बड़ा आक्रान्त था। इधर से जाने वाले जहाज अक्सर लूट लिये जाते थे।

शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् इस स्थान पर अंगरिया-वंश का अधिकार हो गया। अंगरिया-वंश के द्वारा भी सामुद्रिक दस्यु-वृत्ति चलती रही। इन सामुद्रिक डाकुओं के कारण यूरोपीय जहाजों का आना इधर बहुत ही संकट पूर्ण हो गया।

तब सन् १७२२ ई० में अंग्रेजी-सेना के तीन जहाजों और पोर्तुगीज-सेना के एक दल ने आकर अंगरिया-दुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु उन सबको पराजित होकर भागना पड़ा।

सन् १८२२ ई० में रघूजी अंगरिया के साथ अंग्रेजों की एक सन्धि हुई। इस सन्धि में रघूजी ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली। और अंग्रेजों ने भी उनकी सुरक्षा का वचन दिया।

सन् १८३८ में रघूजी के मर जाने के बाद यह क्षेत्र, अंग्रेजी-राज्य में मिला लिया गया।

कोलाबा जिले की भूमि अधिक उपजाऊ है। यहाँ पर धान की खेती प्रधान रूप से होती है। यहाँ के जंगल में साखू और शीशम की लकड़ी बहुत पैदा होती है। समुद्र के किनारे पर नमक भी बहुत बनाया जाता है।

कोलायत

राजस्थान में हिन्दुओं का एक सुप्रसिद्ध तीर्थ-स्थान, जहाँ पर कपिल मुनि का मन्दिर बना हुआ है।

बीकानेर से एक रेलवे लाइन 'कोलायत' तक जाती है। यहाँ एक बहुत बड़ा सरोवर बना हुआ है। यहाँ का मुख्य मन्दिर श्रीकपिलमुनि का मन्दिर है। उसके अतिरिक्त कई और भी मन्दिर और धर्मशालाएँ हैं। कहा जाता है कि यहाँ पर कपिल मुनि का आश्रम था। इसका पुराना नाम 'कपिलायतन' है, जो पुराण-प्रसिद्ध है। कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है।

पास ही में एक 'जागीरी' नामक तालाब है। प्राचीन परम्पराओं के अनुसार यहाँ पर याज्ञवल्क्य मुनि का आश्रम था।

कोलाती

दक्षिण भारत की इन्द्रजाल और बाजीगरी करनेवाली एक जाति। जो विशेषकर पूना, सतारा, बेलगाँव, शोलापुर, अहमदनगर आदि जिलों में पायी जाती है।

इस जाति में दो श्रेणियाँ होती हैं। एक 'पोतरी कोलाती' और दूसरी 'कामं कोलाती' कहलाती है। इनकी भाषा कर्णाटकी, मराठी, गुजराती और हिन्दुस्तानी मिश्रित होती है। यह जाति विशेषकर इन्द्रजाल और बाजीगरी का काम करती है और सभी हिन्दू देवी-देवता और मुसलमानों के पीरों की पूजा करती है।

कोल्हापुर

स्वतन्त्रता के पूर्व भारतवर्ष का एक देशी-राज्य और स्वतन्त्रता के पश्चात् महाराष्ट्र प्रदेश के कोल्हापुर जिले का एक प्रमुख नगर। जिसके उत्तर-पूर्व में सतारा, दक्षिण में बेलगाँव जिला और पश्चिम में सामन्तवाड़ी और रत्नागिरि हैं। रियासतों के विलयन के पश्चात् इसको महाराष्ट्र प्रान्त में मिला लिया गया।

कोल्हापुर का इतिहास काफी प्राचीन है। पहले यह नगर 'करवीरा' के नाम से बसाया गया था। करवीरा में महालक्ष्मी का भव्य मन्दिर तथा बौद्ध-स्तूप इस स्थान की प्राचीनता को घोषित कर रहे हैं।

कोल्हापुर को विशेष महत्व उस समय प्राप्त हुआ, जब इस नगर में शिलाहार-राजवंश की राजधानी स्थापित हुई। शिलाहार-राजवंश की राजधानी पहले 'करहद' में थी। उसके बाद कोल्हापुर को इन्होंने अपनी राजधानी बनाया।

शिलाहारों का यह वंश राष्ट्रकूट-राजाओं का माण्डलिक था। दक्षिणी कोंकण को विजय करके राष्ट्रकूट-राजा 'कृष्ण प्रथम' ने एक शिलाहार को वहाँ का शासक नियुक्त किया। यह शिलाहार मराठा-क्षत्रिय थे और अपने आपको विद्याधर-वंशीय 'जीमूतवाहन' का वंशज बतलाते थे।

धीरे-धीरे ये शिलाहार-सामन्त शक्तिशाली होते गये। सन् १००७ से लगाकर सन् १००९ तक 'रट्टराज' शिलाहार यहाँ का राजा था। इसी वंश में आगे चलकर १२वीं शताब्दी में 'गण्डरादित्य' नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ।

गण्डरादित्य के पश्चात् उसका पुत्र 'विजयादित्य' राजा हुआ। इसका समय सन् ११४० से सन् ११६५ तक था। यह राजा बड़ा प्रतापी था। इसने 'कलिकाल विक्रमादित्य' का विरुद ग्रहण किया था।

विजयादित्य के उपरान्त 'भोज द्वितीय' शिलाहार राजा हुआ। इसका समय सन् ११६५ से सन् १२०५ तक था। यह राजा जैन-धर्म का परम अनुयायी था। इसने कोल्हापुर में कुछ जैन-मन्दिरों का निर्माण करवाया था।

शिलाहार राजाओं के बाद यह नगर विजयनगर साम्राज्य के शासन में आ गया। विजयनगर-साम्राज्य का पतन हो जाने के पश्चात् कुछ समय तक मुसलमानों के अधिकार में रहने के बाद यह जिला मराठों के अधिकार में आया। तब से अभी तक इस राज्य का शासन मराठों के अधिकार में चला आ रहा था।

कोल्हापुर के राजवंश की उत्पत्ति छत्रपति शिवाजी के पुत्र राजाराम से प्रारम्भ होती है। राजाराम के पौत्र 'शंभूजी' ने राजा होकर कोल्हापुर-राज्य की स्थापना की।

सन् १७६० में शंभूजी की मृत्यु हो गयी और उनकी विधवा रानी ने शिवाजी नामक एक दत्तक पुत्र को गद्दी पर बिठाकर उसके नाम से शासन करना शुरू किया। उस समय इस राज्य में जल और थल के डाकुओं का उत्पात बहुत बढ़ गया था।

तब अंग्रेज सरकार ने सन् १७६५ ई० में इन डाकुओं का दमन करने के लिए सेना भेजकर 'मालवान-दुर्ग' को छीन लिया, जो सन् १७६६ की सन्धि के बाद पुनः वापस किया गया।

इसके बाद इस राजवंश में और कई राजा हुए। सन् १८७५ में कोल्हापुर की गद्दी पर शिवाजी पंचम बैठे। सन् १८७७ ई० में इनको अंग्रेजी सरकार ने के० सी० एस आई० की उपाधि से अलंकृत किया।

सन् १८८३ में शिवाजी पंचम की मृत्यु के पश्चात् उनके दत्तक पुत्र 'यशवन्त राव' ने 'सिद्ध छत्रपति' के नाम से राज्यभार ग्रहण किया।

अंग्रेजी-राज्य की तरफ से यहाँ के राजा को १९ तोपों की सलामी मंजूर की गयी थी।

कोल्हापुर की भूमि बहुत उर्वरा है। यहाँ पर ईख, तम्बाकू, रूई, लाल मिर्च, सुपाड़ी, कहवा और इलायची की अच्छी पैदावार होती है। यहाँ के खनिज द्रव्यों में कच्चा लोहा भी निकलता है।

कोल्स्तोव

(Aleksycy Vasilyevich Kolstow)

रूसी भाषा का सुप्रसिद्ध महान् लोककवि जिसका जन्म सन् १८०८ में और मृत्यु सन् १८४२ में हुई।

कोल्स्तोव रूस के महान् कवि लेरमोन्तोव की परम्परा में उसी का समकालीन था। इस कवि ने किसानों के जीवन और उनकी दिनचर्या को बड़े सहज और सरल भाव में अकृत्रिम रूप से चित्रित किया है।

क्लोडियस

प्राचीन रोम साम्राज्य का एक प्रसिद्ध सम्राट् जिसका शासनकाल सन् ४१ ई० से सन् ५४ ई० तक रहा।

क्लोडियस रोम का एक प्रतापी सम्राट् था। इसने ब्रिटेन पर लगातार चढ़ाइयाँ करके दस वर्षों में उसके दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया। उस समय केप-

वालन का वंशज कैरेडॉक वेल्स (इंग्लैण्ड) का राजा था। उसने एक बड़ी सेना लेकर रोम की सेना पर आक्रमण किया मगर रोमकी शक्तिशाली सेना के आगे उसकी सेना पराजित हो गई और कैरेडाक की पुत्री और पत्नी को रोम की सेना ने कैद कर लिया। रोम के लोगों ने कोलचेस्टर में अपनी राजधानी बनाकर इंग्लैण्ड के पूर्वी और दक्षिणी भागों में अपना शासन स्थापित कर लिया।

क्लोरोफार्म

एलोपैथिक चिकित्सा में आविष्कृत एक मूर्च्छाकारक ईथर। जिसका आविष्कार उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ और जिससे शल्य-क्रिया या ऑपरेशन की पद्धति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया।

सन् १७९९ में प्रसिद्ध अंग्रेज रसायनशास्त्री हम्फ्रीडेवी ने नाइट्र-ऑक्साइड गैस के प्रयोग से चेतनाशून्यता लाने के कुछ प्रयोग किये और बतलाया कि इस गैस के प्रयोग से मनुष्य को चेतनाशून्य करके सफलतापूर्वक ऑपरेशन किये जा सकते हैं। फलतः आगे चलकर इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकेगा।

इसके पश्चात् डा० क्रेफर्ड लॉग ने सन् १८४२ में एक रोगी के गले के पृष्ठ भाग में हुई दो गठानों का उसे बेहोश करके सफलतापूर्वक ऑपरेशन किया।

सन् १८४६ में डा० जे० सी० कोलिन्स और विलियम मार्टन नामक एक दन्त-चिकित्सक ने मेसाचुसेट्स में क्लोरोफार्म के प्रयोग से सफलतापूर्वक ऑपरेशन किया और इस ऑपरेशन से उनका और क्लोरोफार्म का नाम संसार में हो गया।

कॉलिन्स के ऑपरेशन के बाद मूर्च्छाकारक ईथर के प्रयोग से चेतनाहीन करके ऑपरेशन करने वालों का जाल संसार भर में फैल गया। सन् १८५३ में साम्राज्ञी विक्टोरिया ने अपने चौथे पुत्र की प्रसूति ऐनेस्थोनिया के विशेषज्ञ डॉ० जॉन स्नो द्वारा क्लोरोफार्म लेकर की थी। उसके पश्चात् क्लोरोफार्म का प्रयोग सब दूर व्यापक हो गया।

कुछ वर्षों बाद यह भी पता लगा कि क्लोरोफार्म के विशेष प्रयोग से मनुष्य के मस्तिष्क में कभी-कभी कुछ विकृति पैदा हो जाती है। तब ऐसी औषधियों का भी आविष्कार हुआ जो शल्य क्रिया के विशेष अंगों को ही चेतनाशून्य करके ऑपरेशन की सुविधा कर देती है। मस्तिष्क पर उनका प्रभाव नहीं होता।

कोली

बम्बई प्रान्त के उत्तर पश्चिमी भाग में तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्से में बसने वाली एक जाति।

कोली जाति में भी और जातियों की तरह अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ प्रचलित हैं। एक परम्परा के अनुसार "वेणु राज के बाहु मन्थन से निषाद जाति की उत्पत्ति हुई थी, इसी निषाद जाति से "किरात" जाति की उत्पत्ति हुई और इसी किरात जाति से कोली जाति की परम्परा चली। एक परम्परा के अनुसार कोली जाति महर्षि वाल्मीकि के वंश में से उद्भूत है।

शोलापुर में कोलियों का निवास-कैसे हुआ इस सम्बन्ध में "मालु-तारण" नामक एक ग्रन्थ में लिखा है कि—"पैठन (प्रतिष्ठान) से राजा शालि वाहन ने अपने मंत्री रामचन्द्र उदावन्त की सलाह से चार कोली सरदारों को डिण्डिकवन में विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा था। विद्रोह दमन के पश्चात् इन कोली सरदारों को उसी स्थान पर बस जाने की अनुमति मिली। इन सरदारों के नाम अभनराव, अचत्राव, नेहेत्राव और परचन्दे था। वर्तमान शोलापुर के आसपास की कोली जाति इन्हीं चार सरदारों की वंशज है।

कुछ अन्य इतिहासकारों के मतानुसार कोली जाति कोल जाति की ही एक शाखा है।

कोली जाति में कई श्रेणियाँ हैं। जिन में महादेव कोली, पान भर कोली, धर (पशुपालक) कोली, अहीर कोली, तलपाड़ी कोली इत्यादि श्रेणियां उल्लेखनीय है।

इनमें पानी भरनेवाले या पान भर कोली अधिक प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। यह श्रेणी खानदेश, हैदराबाद, बालाघाट इन्दौर, नान्देड़, पंढरपुर इत्यादि स्थानों पर विशेष रूप से पाई जाती है। पानी भरने के अलावा इस जाति के लोग, चौकीदारी, चपरासी इत्यादि की नौकरियां भी करते हैं।

महादेव कोली पूना के दक्षिण पश्चिमी क्षेत्र में सह्याद्रि की उपत्यका में रहते हैं। इनमें चौबीस श्रेणियाँ होती है। इनकी उपाधियाँ मराठों की उपाधियों से बहुत मिलती हैं। जैसे चह्वान, दलभी, गायकवाड़, कदम, पौरव भोंसले इत्यादि।

सोन कोली पहले फौज में भरती होकर सैनिक का काम करते थे। इनमें से कई नाव चलाते और मछली मारने का काम भी करते हैं। यह श्रेणी बम्बई, थाना, कल्याण, वासिम इत्यादि स्थानों पर पाई जाती है।

गुजरात और बम्बई के कुछ क्षेत्रों में रहने वाले कोली खेती बाड़ी का काम करते हैं। पर विशेष कर इस जाति के लोग चौकीदारी, पटेली और कहीं कहीं ग्राम मुखिया का काम करते हैं। कोली लोगों के देवताओं में भवानी, हीरोबा और खण्डोबा प्रधान है। देवताओं के कोप से ये लोग बहुत डरते हैं और हर बीमारी और अन्य उपद्रवों का मूल कारण देवताओं के कोप को समझते हैं। देवताओं के कोप को शान्त करने के लिए "देव ऋषि" (ओझा) नामक लोगो से तंत्र, मंत्र और झाड़ फूंक करवाते हैं। माघ की द्वितीया को इनका प्रधान त्यौहार होता है। पंढरपुर और नासिक को ये अपना प्रधान तीर्थ मानते हैं।

कोलियों के सामाजिक झगड़े इनकी पंचायत के द्वारा तय होते हैं। इनकी विवाह प्रथा बड़ी विचित्र है।

कोसा (राज-नर्तकी)

मगध राज्य के नन्द-वंश के अन्तिम राजा 'धननन्द' के दरबार की एक सुप्रसिद्ध राजनर्तकी, जिसका समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में था।

जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में इस नर्तकी के सम्बन्ध में बहुत सा विवेचन देखने को मिलता है। जैनियों के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' और 'कल्पसूत्र' में इसका वर्णन जैनियों के महान् आचार्य 'स्थूलभद्र' की परिणीता के रूप में किया गया है।

'कोसा' राजनर्तकी सुनन्दा की पुत्री थी। नृत्यशास्त्र के अन्तर्गत इसने सुप्रसिद्ध सूचिका नृत्य को सिद्ध किया था। जिसे 'अम्बपालिका' से लेकर अबतक कोई नर्तकी सिद्ध नहीं कर सकी थी। इस नृत्य में सरसों की ढेरियाँ लगाकर उन ढेरों के बीच में सुइयाँ खड़ी की जाती थीं और प्रत्येक सुई पर एक-एक कमल का फूल रखा जाता था। इन कमल के फूलों के ऊपर नर्तकी अपना नृत्य करती थी। पूरा नृत्य कर लेने के बाद भी न तो एक सूई गिरती थी और न सरसों की एक ढेरी बिखरती थी। तभी इस नृत्य की सफलता मानी जाती थी।

सूचिका-नृत्य के अलावा और भी कई प्रकार के नृत्यों और संगीत की चरम सिद्धि 'कोसा' ने केवल १६-१७ वर्ष की उम्र में प्राप्त कर ली थी। और अब वह अपने लिए एक योग्य साथी की तलाश में थी।

महाराज 'धननन्द' के प्रधान मन्त्री 'शकटार' उस समय समस्त भारत के मूर्धन्य राजनीतिज्ञों में से एक थे। कल्पसूत्र के अनुसार सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'चाणक्य' उनके शिष्य थे। शकटार जैनधर्म के परम अनुयायी थे।

प्रधान मन्त्री शकटार के बड़े पुत्र का नाम 'स्थूलभद्र' था। बचपन से ही स्थूलभद्र के अन्दर संस्कार-वश वैराग्य भावनाओं ने अपना आसन जमा लिया था। संसार का कोई वैभव और कोई सुन्दरी उनको आकर्षित करने में असमर्थ थी। प्रधान मन्त्री अपने पुत्र स्थूलभद्र की इन भावनाओं से बड़े चिन्तित थे। उन्होंने कई बड़े बड़े घरों की रूपवती कन्याओं को बतला कर स्थूलभद्र का मन हरण करना चाहा, मगर कोई सफलता नहीं हुई।

स्थूलभद्र वैरागी होते हुए भी वीणावादन में समस्त भारत में अद्वितीय थे। उनकी वीणा को सुनकर पशु पक्षी तक मोहित हो जाते थे। एक बार नौका विहार करती हुई कोसा ने स्थूलभद्र का वीणा-वादन सुन लिया। सुनते ही वह मन्त्र-मुग्ध हो गयी और बिना जाने ही उनको अपना हृदय दे बैठी।

वसन्तोत्सव के समय मे राजा धननन्द के समक्ष वसन्त उद्यान में जिस समय कोसा का भव्य नृत्य हो रहा था, उस उत्सव में स्थूलभद्र भी विद्यमान थे। कोसा के नृत्य की कला को देखकर नृत्य के पश्चात् स्थूलभद्र उसको बधाई देने गये। कोसा को यह मालूम हो गया कि उसका मन हरण करने वाला वीणावादक-स्थूलभद्र यही है। उसने तत्काल उनको अपने घर आने का निमंत्रण दे

दिया। विधि के विधान से स्थूल-भद्र ने उसे स्वीकार कर लिया। वहाँ जाने पर कोसा के भव्य सत्कार और उसकी कला की साधना को देखकर स्थूलभद्र का हृदय उसकी ओर कुछ आकर्षित हुआ और धीरे-धीरे कई निमंत्रणों में उसने प्रेम का रूप धारण कर लिया और एक दिन उन्होंने कोसा को, उसके साथ विवाह करने का वचन दे दिया।

मगर जब यह बात महामंत्री शकटार को मालूम हुई तो वे धर्म-संकट में पड़ गये। कहाँ महामंत्री का कुल गौरव और कहाँ एक नर्तकी। जिसके पिता का कोई पता नहीं। उन्होंने स्थूलभद्र को स्पष्ट रूप से कह दिया कि पिता का उत्तराधिकार या नर्तकी से विवाह इन दोनों चीजों में से एक चीज ही तुम्हें मिल सकेगी दोनों नहीं! जिसे तुम चाहो पसन्द कर लो।

स्थूलभद्र ने प्रसन्नता पूर्वक पिता का कुल गौरव और उत्तराधिकार अपने छोटे भाई 'श्रीयक' को सौंप दिया और स्वयं कोसा के घर में चले गये।

वीर-संवत् १६४ अर्थात् ईसा से पूर्व सन् ३६३ को स्थूलभद्र कोसा के साथ गन्धर्व-विवाह द्वारा परिणय-सूत्र बँध गये।

कामकला और नृत्य तथा संगीतकला में पारङ्गत कोसा ने अपनी महान कला और कामशास्त्र के ज्ञान से, दिव्य सत्कार, सब तरह की ऋतु के अनुसार खान-पान, स्नान, उबटन, नृत्य, संगीत इत्यादि से स्थूल-भद्र के वैरागी हृदय को १२ वर्ष तक लगा तार राग-रंग में मस्त रखा।

पर अन्त में एक दिन उनकी अन्तरात्मा की तीव्र पुकार ने उनको चौकन्ना कर दिया। और वे दृढ़ निश्चय के साथ कोसा को रोती-कलपती छोड़कर सत्य की खोज में निकल पड़े और प्रसिद्ध जैनाचार्य 'सम्भूति-विजय' के पास जाकर उन्होंने जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् स्थूल भद्र अपनी साधना से, अपने ज्ञान से और अपनी तपस्या से सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये। अपने प्रवचनों द्वारा उन्होंने जैन-धर्म के सूक्ष्म तत्वों की विवेचना की। जब वे सब प्रकार से योग्य सिद्ध हो गये तो आचार्य संभूतिविजय ने अन्तिम परीक्षा के रूप में स्थूलभद्र को एक चातुर्मास कोसा के घर पर बिताने का आदेश दिया।

स्थूलभद्र निःशंकभाव से कोसा के घर पर गये और उन्होंने उसके उद्यान में एक चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा माँगी। कोसा को तो मुह माँगी मुराद मिल गयी। उसने उनको एक सुसज्जित चित्र शाला में ठहराया। चातुर्मास भर कोसा ने अपने हाव-भाव से, पुरानी स्मृतियों को जगा कर, तरह-तरह के नृत्य और संगीत के द्वारा स्थूल भद्र का मन डिगाने की कोशिश की, मगर स्थूल भद्र का हृदय तो वज्र हो चुका था, उस पर कोई असर नहीं हुआ और अत्यन्त स्वस्थ चित्त से अपना चातुर्मास पूर्ण कर के वापस वे अपने गुरु के पास गये।

जब आचार्य सम्भूति विजय ने उनकी साधना से सन्तुष्ट होकर उनको आचार्य पद देने का प्रस्ताव किया तो सम्भूति विजय के बड़े शिष्य को बड़ा दुःख हुआ, क्योंकि आचार्य-पद पर वास्तविक अधिकार उन्हीं का था। उन्होंने जब आचार्य से इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा जिस प्रकार स्थूलभद्र 'कोसा' के यहाँ एक चातुर्मास कर आये हैं, उसी प्रकार तुम भी निर्लेप रूप में एक चातुर्मास कर आओ तो यह पद तुम्हें मिल सकता है।

तब अगले चातुर्मास में वह साधु भी 'कोसा' के यहाँ चातुर्मास करने गया। कोसा ने उसका भी भव्य सत्कार किया। मगर कुछ ही दिनों में वह कोसा के प्रति कामासक्त हो गया और आचार्य बनने की धुन छोड़ कर वह कोसा से प्रेम-याचना करने लगा। कोसाने कहा कि नैपाल देश में बहुत बढ़िया रत्न कम्बल होते हैं, उनमें से एक रत्नकम्बल लाकर मुझे दो तो मैं तुमसे प्रेम कर सकती हूँ।

कोसा के इस कथन को सुन वह कामासक्त साधु भरी बरसात में रत्न कम्बल लेने नैपाल को चला और दर-दर की ठोकरें खाते वहाँ पहुँचा और बड़ी कठिनाई से एक कम्बल लेकर वापस कोसा के यहाँ आया। कोसा ने वह रत्न-कम्बल देखकर कहा कि जैसा परिश्रम तुमने यह रत्न-कम्बल लाने में किया है, वैसा ही यदि 'जिनेन्द्रदेव' के चरणों में करते तो तुम्हारा उद्धार हो जाता। ऐसे रत्न-कम्बल तो मेरे यहाँ पैर पोंछने के काम में आते हैं। यह कह कर उसने पैर पोंछने का वैसा ही रत्न कम्बल दिखला दिया।

तब वह साधु अत्यन्त लज्जित होकर वहाँ से वापस चला गया और उसके बाद 'कोसा' ने भी जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली और उस समय की महान् साध्वियों में उसकी गणना हुई।

कोहेनूर

संसार प्रसिद्ध हीरा, जो कोहेनूर के नाम से प्रसिद्ध है। जिसने कई महान् नरेशों के मुकुट को सुशोभित किया और जिसके पीछे एक इतिहास छिपा हुआ है।

कोहेनूर की सबसे पहले किस स्थान से उत्पत्ति हुई और सबसे पहले यह किस राजा के पास पहुँचा यह जानने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन किंवदन्तियों के अनुसार यह हीरा हजारों वर्ष पहले मछलीपट्टन के समीप गोदावरी के गर्भ से प्रकट हुआ था और बाद में यह अङ्गराज कर्ण के पास रहा। उसके पश्चात् कई स्थानों पर होते हुए यह उज्जैन के महा प्रतापी राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचा। मगर इन सब बातों के लिये कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

मुसलमानी इतिहास ग्रन्थों से मालूम होत है कि पहले यह हीरा मालवे के किसी हिन्दू राजा के पास था। उसके बाद जब मालवे पर मुसलमानी सुलतानों का अधिकार हुआ तब यह मालवे के सुलतान के पास पहुँचा। उसके बाद यह किसी प्रकार बाबर के पुत्र हुमायूँ के पास गया। उसके बाद कोहनूर बहुत समय तक मुगलराज्यों के राज-मुकुट की शोभा बढ़ाता रहा। सम्राट् औरंगजेब इस रत्न को बड़े यत्न से रखता था।

मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह के समय में जब प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ तब कोहेनूर मुहम्मदशाह के पास से नादिरशाह के पास गया। ऐसा कहा जाता है कि नादिरशाह ने ही इस हीरे का नाम 'कोहेनूर' रक्खा।

नादिरशाह के पश्चात् यह हीरा काबुल के अमीर अहमदशाह को उत्तराधिकार के रूप में मिला। अहमद शाह के पश्चात् उसके छोटे लड़के महमूद ने गद्दी पर अधिकार करके अपने बड़े भाई शाहशुजा को काबुल से भगा दिया। तब कोहेनूर भी शाह शुजा के साथ काबुल से निकल कर कश्मीर में आ गया। कश्मीर के तत्कालीन शासक अतामुहम्मद ने किसी कारण से शाह शुजा को कैद कर लिया। मगर इसके कुछ समय पश्चात् पंजाब केशरी रणजीत सिंह के सेनापति माखनचन्द कश्मीर पर आक्रमण करने गये। उस समय शाह शुजा की बेगम ने उनको सन्देश भेजा कि किसी प्रकार यदि वे शाह शुजा को जेल से छुड़ा देंगे तो कोहेनूर हीरा महाराज रणजीत सिंह को अर्पित करेंगे। सिक्ख सेनापति कश्मीर को विजय कर शाह शुजा को छुड़ा कर लाहौर ले आया। महाराज रणजीत सिंह ने शाह शुजा और उनकी बेगम का बड़ा आदर और अभ्यर्थना की। उसके बाद रणजीत सिंह ने जब उनसे हीरा माँगा तो वे कुछ आनाकानी करने लगे। तब महाराज रणजीत सिंह ने शाह शुजा को नजरबन्द कर दिया।

प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम के मतानुसार कुछ दिनों बाद शाहशुजा और रणजीत सिंह मित्रता के सूत्र में बँधकर पगड़ी बदल भाई हो गये। शाह शुजा ने कोहेनूर हीरा उनको भेंट किया और रणजीत सिंह ने उनके भरण पोषण के लिये २००००) की जागीर निकाल दी और काबुल राज्य का उद्धार करने में उनकी सहायता करने का वचन दिया।

सन् १८१३ की पहली जून को यह रत्न रणजीत सिंह को प्राप्त हुआ। कोहेनूर की चमक दमक को देख कर रणजीत सिंह बड़े विमुग्ध हुए। उन्होंने शाह शुजा से पूछा यह कैसी चीज है। शाह शुजा ने जवाब दिया कि विजयी और पराक्रमी पुरुष इसके पाने से भाग्यवान हो जाता है और हतभाग्य लोग इसको पाकर नष्ट हो जाते हैं। रणजीत सिंह तब से इस रत्न को अपनी भुजा पर बाँधते थे।

रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् यह रत्न उनके पुत्र दिलीप सिंह को मिला, मगर वह हतभाग्य पुरुष इसके तेज को सहन न कर सका और अन्त में लार्ड डलहौसी ने इस हीरे को छीन कर इंग्लैंड की महारानी के पास सन् १८४९ की २९ जनवरी को पहुँचा दिया। तब से यह जगत् प्रसिद्ध रत्न इंग्लैंड के राजमुकुट की शोभा को बढ़ा रहा है।

सुप्रसिद्ध यात्री टैवेनियर ने औरंगजेब की सभा में कोहेनूर देखकर लिखा है कि—"यह हीरा तौल में ३१९ रत्ती या २७९ ९/१६ कैरेट है। पहले यह हीरा जब कटा नहीं था तब ९०७ रत्ती का था। किन्तु मुगल सम्राट् बाबर ने अपने बाबर नामा में लिखा है कि "कोहेनूर वजन में ८ मिश्कल या ३२० रत्ती है। इसका मूल्य समस्त जगत् के आधे दिन का खर्च है।"

जिस समय कोहेनूर महारानी विक्टोरिया के पास पहुँचा उस समय में इसका वजन १८६ १/१६ कैरेट था। महारानी की इच्छानुसार इस हीरे में अधिक ज्योति पैदा करने के लिए हॉलैंड के एक कारीगरने ३८ दिन परिश्रम करके इस हीरेके तीन टुकड़े कर दिये। इस कटाई में ८००००) खर्च हुआ था। उसके पश्चात् गुलाब के फूल का आकार देने के लिए यह एक बार फिर तराशा गया। इस प्रकार इसका वजन घट कर अब केवल १०६ १/१६ कैरेट रह गया है।

आज कल यह ऐतिहासिक रत्न ब्रिटिशराज्य के अन्यान्य अनेक रत्नों के साथ लन्दन के टॉवर नामक किले में सुरक्षित है।

इस प्रकार इस इतिहास प्रसिद्ध हीरे ने संसार में कई साम्राज्यों के उत्थान और पतन को देखा है और अनेकों महान् नरेशों के मुकुट की शोभा को इसने बढ़ाई है।

वसु—विश्वकोष

कोहाट

पाकिस्तान के पश्चिमी पञ्जाब का एक जिला। इस जिले के उत्तर में पेशावर जिला, दक्षिण-पश्चिम में काबुल-राज्य, दक्षिण-पूर्व में बन्नू और मियावली के जिले और पूर्व में सिन्धु नदी है।

इस जिले में गन्धक, सेंधानमक और पत्थर का कोयला बहुत पाया जाता है।

सम्राट् अकबर के समय में यह जिला पठान जाति की बंगश और खटक नामक दो शाखाओं के अधिकार में था। कोहाट का पश्चिमी भाग और मीरानजाई उपत्यका बंगश-वंश के अधिकार में थी, और कोहाट का पूर्वी भाग सिन्धु नदी तक खटक-वंश के अधिकार में था।

सन् १५०५ में बाबर ने इस जिले पर आक्रमण कर इस प्रदेश को लूटा और उसके पश्चात् १७०७ में यह अहमदशाह दुर्रानी के कब्जे में आ गया मगर अहमदशाह दुर्रानी ने भी इस क्षेत्र को जीत कर इसका कार्य भार वापस बंगश और खटक वंश वालों को दे दिया'।

उसके बाद यह जिला महाराज रणजीत सिंह के अधिकार में आया। उसके पश्चात् अंग्रेजों की विजय होने पर यह जिला और पञ्जाब के शेष भाग अंग्रेजी राज्य में मिला लिये गये। देश-विभाजन के पश्चात् यह जिला पाकिस्तान में चला गया।

क्रोपाट्किन (प्रिन्स)

राजनीति के अराजकवाद सिद्धान्त के महान् प्रवक्ता, तत्वचिंतक, और मौलिक विचारक। जिनका जन्म सन् १८४२ में रूस के एक राजवर्गीय प्रतिष्ठित परिवार में हुआ और मृत्यु सन् १९२१ में हुई।

यह वह समय था जिस समय यूरोप में प्राचीन राज्य व्यवस्था, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ जनता की मनोभावनाओं में तीव्र बवण्डर उठ रहा था। और प्राचीन समाज व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन और मौलिक समाज व्यवस्था स्थापित करने के लिये यूरोप के विचारक और क्रान्तिकारी एड़ी चोटी का पसीना एक कर रहे थे।

इन्हीं विचारकों के तत्व मन्थन से उस समय समाज वाद, अराजकवाद, साम्यवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद इत्यादि कई प्रकार की विचारधाराओं ने जन्म लिया और अपने-अपने संगठन बनाये।

प्रिन्स क्रोपाट्किन इन्हीं में से 'अराजकवाद' विचार धारा के महान् प्रवक्ता थे। अराजकवाद की सबसे पहले वैज्ञानिक ढङ्ग से व्याख्या करने वाले माइकेल बाकुनिन के वे साथी और शिष्य थे। वह पहला व्यक्ति था जिसने अपने ग्रन्थों में राज्य विहीन समाज का पूर्ण, क्रम-बद्ध और वैज्ञानिक विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया कि अराजकवाद केवल एक काल्पनिक आदर्श नहीं है। उसको समाज में सफलतापूर्वक मूर्तरूप दिया जा सकता है।

उनके मत में समाज के अन्दर किसी राजनैतिक संगठन और राष्ट्र की आवश्यता नहीं है। राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा कुछ गिने चुने अधिकारी अपने अन्याय पूर्ण एकाधिपत्य को स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। राज्य एक ऐसी संस्था है जो हमेशा अपनी संगठित सेनाएँ रखता है और इससे संसार में युद्ध का खतरा हमेशा बना रहता है। राज्य की अर्थव्यवस्था भी बहुत असन्तुलित होती है। जिससे मनुष्य में अपराध प्रवृत्ति का उदय होता है और समाज में अपराधों की संख्या बढ़ती है राज्य के कानून इसप्रकार के बनाये जाते हैं जिसमें विशेषाधिकार सम्पन्न व्यक्ति अपने अधिकारों का अनुचित उपयोग कर अपनी सत्ता को बनाये रखना चाहते हैं। अराजकवाद का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को पूँजीवाद, राज्य एवं धर्म के नियंत्रण से मुक्त करना है।

क्रोपाट्किन के मतानुसार धर्म, प्रकृति के रहस्यों को प्रकट करने का एक असफल प्रयास है। अथवा वह एक ऐसी नैतिक प्रणाली है जो जनता पर अज्ञान तथा अन्ध विश्वास का आवरण चढ़ा कर, उसे वर्त्तमान राजनैतिक तथा आर्थिक अन्याय सहने को मजबूर करती है।

क्रोपाट्किन राज्य तथा वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। जिसमें उत्पत्ति के सब साधनों पर व्यक्तियों का सामूहिक अधिकार हो। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन के परिश्रम में, अपनी आन्तरिक प्रेरणा और क्षमता के अनुसार उचित भाग अदा करेगा और उस उत्पादन में से वह अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ पावेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने चिन्तन, मनन, आराम और मनोरंजन के लिए पर्याप्त अवकाश मिलेगा। इस अवकाश का उपयोग वह ज्ञान और विज्ञान की उन्नति और सुखोपभोग में करेगा।

अपने समयमें क्रोपट्किन की विचारधारा ने सारे संसार के विचारकोंका ध्यान आकर्षित किया। मगर उसके बाद मार्क्सवादी विचारधारा के संघर्ष में अराजकवाद की यह विचारधारा अपने अस्तित्व की रक्षा न कर सकी और इसका अस्तित्व केवल पुस्तकों में ही शेष रह गया।

फिर भी प्रिन्स क्रोपट्किनका नाम राजनैतिक साहित्य में एक मौलिक विचारक की तरह अमर है। उनके ग्रन्थों में 'रोटी का सवाल' 'संघर्ष और सहयोग' 'अराजकतावाद और उसके सिद्धान्त' 'इतिहास में राज्य का स्थान' इत्यादि ग्रन्थ आज भी एक मौलिक विचार प्रणाली को संसार के सामने उपस्थित करते हैं।

प्रिन्स क्रोपाट्किन की मृत्यु सन् १९२१ में हुई।

कौण्डिन्य

इण्डोचाइना के दक्षिणी भाग में 'कम्बुज' नामक एक नवीन राज्य की स्थापना करने वाला, एक भारतीय ब्राह्मण कौण्डिन्य। जो किसी के मत से ईसा की पहली शताब्दी में और किसी के मत से ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ। चीनी ग्रन्थों में कौण्डिन्य का वर्णन फूनान के नाम से किया गया है।

ऐसा कहा जाता है कि कौण्डिन्य को स्वप्न में किसी देवता ने एक धनुष देकर समुद्रयात्रा कर नवीन राज्य स्थापना का आदेश दिया। उसके अनुसार वह जहाज के द्वारा इण्डोचायना पहुँचा और वहां की एक राजकन्या सोमा से विवाह कर उसने कुछ सेना संग्रह की और 'कम्बुज' नामक एक छोटे राज्य की स्थापना की। जो आगे जाकर काफी बढ़ गया, आगे जाकर इसके वंशजों ने इस राज्य का और भी बहुत बढ़ाया।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र

विश्व की राजनीति का एक महान् ग्रन्थ, जिसकी रचना सुप्रसिद्ध राजनीति के पंडित आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में ईसवी पूर्व चौथी सदी में की थी।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र और राज्य शासन-शास्त्र का एक महान् ग्रन्थ है। राज्य-शासन से सम्बन्ध रखने वाली बारीक से बारीक बातों का जितना विचार पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है, उतना शायद संसार के किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं किया गया होगा। वैसे उसी युग में यूनान के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'अफलातून' 'अरस्तू' इत्यादि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में राजनीति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्वों की बड़ी गम्भीर विवेचना की है,

फिर भी व्यावहारिक रूप से राज्य-शासन में आनेवाली, गुत्थियों को जिस चतुराई के साथ 'कौटिल्य-अर्थ शास्त्र' में सुलझाया गया है, उतना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

इसका कारण यह है कि यूनान के राजनीतिज्ञ महान् तत्वचिन्तक होते हुए भी किसी महान् साम्राज्य के विध्वंसक और निर्माता नहीं थे। मगर आचार्य कौटिल्य ने अपनी कूटनीति से नन्द-साम्राज्य के समान साम्राज्य को जड़ मूल से विध्वंस कर के, मौर्य-साम्राज्य के समान विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। ऐसे साम्राज्य की, जिसने ग्रीक-विजेता 'सेल्यूकस' के भी दाँत खट्टे कर दिये थे।

साम्राज्य विध्वंस और पुनर्निमाण का शुरू से आखीर तक आचार्य कौटिल्य को व्यावहारिक ज्ञान था और इसी लिए इस सम्बन्ध में, उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया, वे समय और परिस्थिति के बदलते हुए चक्र की उपेक्षा करते हुए आज भी नवीन जान पड़ते हैं और आज भी उनकी उपयोगिता किसी रूप में कम नहीं आंकी जा सकती।

यह अवश्य है कि आज राज्य के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन हो गया है और राजतंत्र के स्थान पर सारे संसार में प्रजातंत्र का बोल-बाला हो रहा है। आचार्य कौटिल्य राजतंत्र के ही समर्थक और पक्षपाती थे। इस लिए प्रजा तंत्रीय सिद्धान्तों के साथ उनके सिद्धान्तों का पूरा मेल नहीं बैठ सकता। आज की परिस्थिति के अनुरूप बनाने के लिए उनमें कुछ संशोधन और परिवर्तन आवश्यक है।

फिर भी कुछ मौलिक तत्व ऐसे हैं, जो सभी कालों, सभी परिस्थितियों और सभी राज्य-प्रणालियों में निर्विवाद रूप से उपयोगी हो सकते हैं। खास कर ऐसे राज्यों के लिए, जिन्होंने नई नई स्वाधीनता प्राप्त की है और नवीन रूप से राष्ट्र के निर्माण-कार्य में लगे हुए हैं। उन्हें दिशाभ्रम से बचाने के लिए और सही रास्ते पर राष्ट्र निर्माण के कार्य में लगाने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुल चौदह अधिकरण हैं इसमें पहला 'विनयाधिकरण' है। इसमें इक्कीस अध्याय हैं।

विनयाधिकरण का प्रारम्भ करते हुए दूसरे अध्याय में (१) आन्वीक्षिकी (२) त्रयी (३) वार्त्ता और (४) दण्डनीति इन चार प्रकार की विद्याओंका निरूपण किया गया है। आन्वीक्षिकी विद्याके द्वारा मनुष्य अध्यात्म-विद्या और हेतुविद्या का ज्ञान प्राप्त करता है। त्रयी के द्वारा वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करता है। वार्त्ता के द्वारा वह कृषि, पशु पालन और वाणिज्य का ज्ञान प्राप्त करता है और दण्ड नीति के द्वारा वह राजनीति और शासन संचालन का ज्ञान प्राप्त करता है।

आगे चलकर आचार्य लिखते हैं कि आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ता इन तीनों विद्याओं का भलीभांति संचालन एक मात्र दण्डनीति ही कर सकती है। इस दण्ड-नीति को प्रतिपादन करने वाला तत्व राजनीतिशास्त्र कहलाता है। यह दण्ड नीति अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्य करवा देती है। जो प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा करती है। यह रक्षित वस्तु को बढ़ाती है और बढ़ी हुई वस्तु का उपयुक्त पात्र में उपयोग करवाती है। अतएव जो शासक लोकयात्रा का भली भाँति निर्वाह करने में तत्पर हो, उसे चाहिए कि वह हमेशा दण्डनीति का उपयोग करने को उद्यत रहे।

कठोर दण्ड से प्रजा उद्विग्न हो उठती है और मृदु दण्ड की नीति रखनेवाला शासक प्रजा पर से अपना प्रभाव खो बैठता है। इसलिए शासक तभी सफल हो सकता है जो यथोचित रूप में इसका उपयोग करे।

इसके पश्चात् आचार्य लिखते हैं कि शासक को जितेन्द्रिय होकर हिंसा, परायी स्त्री और पराये धन से हमेशा दूर रहना चाहिये।

उसके बाद राजा को अपने मंत्री और सेनापति का चुनाव किस प्रकार करना चाहिए और मंत्री तथा सेनापति में किन किन गुणों का होना आवश्यक है इसकी विवेचना की गई है।

इसके पश्चात् ये मंत्री और सेनापति कोई भ्रष्टाचार और राज विरोधी काम तो नहीं कर रहे हैं इसकी जाँच गुप्तचरों के द्वारा करवाने का विधान है।

गुप्तचर संगठन

इन गुप्तचरों के ग्रन्थ में कई भेद बतलाये गये हैं। जैसे कापटिक (छलवेषधारी छात्र) उदासीन, सन्यासी

तपस्वी, सत्री (विविध शास्त्रों का ज्ञाता गुप्तचर) तीक्ष्ण (शरीर को जोखिम में डालने वाले साहसी व्यक्ति) रसद (विष देने वाले लोग) और सन्यासिनी इत्यादि।

आगे चलकर आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि—शासक इन गुप्तचरों की राजभक्ति तथा कार्य कुशलता को देख कर निम्नलिखित १८ प्रकार के अधिकारियों की जाँच पर उन्हें नियुक्त करे।

१—मंत्री २—राजपुरोहित ३—सेनापति ४—युवराज ५—राजकुल का प्रधान प्रतिहार ६—अन्तःपुर का प्रधान अधिकारी ७—जेल का मुख्य अधिकारी ८—समाहर्त्ता (राज कर संग्रह करने वाला) ९—सन्निधाता (कोषाध्यक्ष १०—प्रदेष्टा (फौजदारी का न्यायाधीश) ११—नायक (कोतवाल) १२—पौर व्यौहारिक (अदालत का मुख्य विचारक) १३—कार्यान्तिक (खानों और उद्योगों का सञ्चालक) १४—मंत्री-परिषद-अध्यक्ष १५—दण्डपाल १६—दुर्गपाल १७—अन्तपाल (राज्य की सीमा का रक्षक) और १८—आटविक (बन-रक्षक अधिकारी।

उपरोक्त १८ उच्च अधिकारियों के यहाँ पर 'तीक्ष्ण' नामक गुप्तचर चपरासी, सेवक, नाई तथा पालकी और घोड़े की सवारी पर नौकरी करके उनके भीतरी और बाहरी आचरणों पर ध्यान रखें। और वहाँ के समाचारों का संग्रह करके सत्री नामक गुप्तचरों को दे और सत्री उन समाचारों को अपने प्रधान कार्यालय को भेजे।

मंत्री आदि अधिकारियों के भीतरी समाचारों को जानने के लिए 'रसद' नामक गुप्तचर रसोइया, मांस बनाने वाले, स्नान कराने वाले, देह दबाने वाले, बिस्तर बिछानेवाले के रूप में और स्त्रीगुप्तचर नर्तकियों के रूप में नौकरी करें। ये गुप्तचर इनके भीतरी समाचार लेकर सांकेतिक लिपि में उन समाचारों को लिखकर अपने प्रधान कार्यालय को भेजे। इस सांकेतिक लिपि को संस्था के अधिकारीतक न समझ सकें—इसका पूरा ध्यान रखें।

ये गुप्तचर नगर तथा राष्ट्र में फैली हुई अफवाहों से भी परिचित रहें और उन अफवाहों से शासक को सूचित कर दें और जो लोग शासन से सन्तुष्ट हों उनकी तथा असन्तुष्ट लोगों की सूचना राजा को देते रहें।

यह तो घरेलू गुप्तचर विभाग का वर्णन हुआ। अब शत्रु-पक्ष में राजा का गुप्तचर-विभाग किस प्रकार कार्य करे—इसका विवेचन करते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने हर राज्य की असन्तुष्ट तथा सन्तुष्ट प्रजा के कृत्य और अकृत्य—इस प्रकार दो भेद किये हैं—ऐसी असन्तुष्ट प्रजा जो शत्रु की प्रेरणा से विद्रोह कर सकती है और शत्रु की तरफ मिल सकती है उसे कृत्य कहते हैं और ऐसी राजभक्त प्रजा जो कभी भी राज-विद्रोह नहीं कर सकती उसको अकृत्य कहते हैं।

आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि—'राजा का गुप्तचर-विभाग शत्रु देश में जाकर गुप्त रूप से वहाँ की कृत्य या असन्तुष्ट प्रजा से अपना सम्पर्क बढ़ावे और उन लोगों के अन्दर शत्रु-राजा के विरुद्ध क्षोभ और विद्रोह की भावना पैदा करे।

उपर्युक्त असन्तुष्ट लोगों को राजा का गुप्त-विभाग जब फोड़कर लावे तो राजा उनकी हर तरह की सहायता कर उनको खुश रखने का यत्न करे।

मंत्रणा-गृह

इस प्रकार 'स्वराज्य' और 'शत्रु राज्य' में कृत्य तथा अकृत्य जनों को अपने वश में करके विजय का इच्छुक राजा शासन सम्बन्धी कार्यों को मंत्रणा के द्वारा निर्धारित करे। क्योंकि राज्य का सब कार्य मंत्रणापूर्वक ही करना पड़ता है।

मंत्रणा का स्थान चारों ओर से घिरा हुआ होना चाहिये। जिससे कि मंत्रणा का एक शब्द भी बाहर न जाने पावे और पक्षी भी उस स्थान को न देख सके। क्योंकि शुक सारिका आदि पक्षी तथा कुत्ते आदि पशु भी गुप्त मंत्रणा को प्रकाशित कर देते हैं। अतः मंत्रणा के समय कोई भी वहाँ बिना बुलाये हुए न जाय।

कभी-कभी दूत, मंत्री तथा स्वयं राजा के हाव-भाव तथा इंगित से भी मंत्रणा-भेद हो सकता है। जब तक मंत्रणा का कार्य सम्पन्न न हो जाय, तब तक हाव-भाव इंगित को भी छिपाये रखना चाहिए। मंत्रणा-कार्यों में लगे हुए अमात्यों के द्वारा गोपनीयता की पूर्ण रक्षा होनी चाहिए। कार्य-रूप में परिणित होने के पहले ही यदि

मन्त्रणा की बात प्रकाशित हो जाती है तो राजा और उसके सहायकों का 'योगक्षेम' नष्ट हो जाता है।

मन्त्रियों की संख्या कितनी होनी चाहिये—इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मनु के मतावलम्बियों का कहना है कि मन्त्री-परिषद १२ मन्त्रियों की होनी चाहिये। बृहस्पति के मत से १६ और शुक्राचार्य के मतानुसार २० मन्त्रियों की मन्त्रिपरिषद् होनी चाहिये। किन्तु आचार्य कौटिल्य का यह मत है कि राजा अपनी आवश्यकता के अनुसार मन्त्रियों की संख्या निर्धारित करे।

कार्यकुशल और बुद्धिमान राजाकी मन्त्रणा को दूसरे लोग नहीं जान सकेंगे। बल्कि वह अपने शत्रुओं के छिद्र को जान लेगा। जैसे कछुवा अपने अंगों को समेटे रहता है, वैसे ही राजा भी अपनी समस्त बातों को छिपाये रहे। जैसे अश्रोत्रिय ब्राह्मण सज्जनों के घर पर भोजन का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही राजनीति के ज्ञान से शून्य मन्त्री को मन्त्रणा विषयक बातें सुनने का अधिकार नहीं होता।

राजदूत-विधान

आचार्य कौटिल्य ने राजदूतों के तीन विभाग किये हैं। पहला निसृष्टार्थ, दूसरा परिमितार्थ तीसरा शासनहर। जो दूत राजनीति और अमात्य गुणसे पूर्ण सम्पन्न हो, वह निसृष्टार्थ दूत कहलाता है। जिस दूत में अमात्य-गुण तीन-चौथाई मात्रा में हो—वह परिमितार्थ और जिस दूत में अमात्य-गुण आधी मात्रा में हो, उसे शासनहर दूत कहते हैं।

शत्रु-देश में पहुँचे हुए राजदूत को अपने प्रभु राजा और शत्रु राजा दोनों के सैन्य-शिविर, युद्धोपयोगी भूमि और युद्ध से हटने की भूमि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। वह इस बात की जानकारी प्राप्त करे कि शत्रु का दुर्ग और उसका जनपद कितना बड़ा है। उसके राज्य में स्वर्ण, रत्न आदि सम्पदाका कितना उत्पादन होता है और कितनी सम्पत्ति एकत्र है। वहाँ के लोगों की जीविका के क्या साधन हैं। शत्रु-पक्ष के राजाकी सेना, गुप्तचर विभाग, शस्त्रास्त्र और रक्षा की क्या व्यवस्था है? उस राजा और राज्य में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं?

राजदूत के कर्तव्य का विवेचन करते हुए आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि—'अपने स्वामीका सन्देश शत्रु के पास पहुँचाना और उसका उत्तर अपने प्रभुके पास भेजना, पूर्वकाल में की गयी सन्धियोंका पालन करना और अवसर पाने पर अपने राजा का प्रताप प्रदर्शित करना, वफादार और मित्र लोगों का संगठन करना, शत्रु के जो लोग फूट सकते हों उन्हें फाड़ना, शत्रु के मित्रों में भेद डालना, शत्रु के गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर निकालना, शत्रु के बन्धु-बान्धव और रत्नों का अपहरण करना, गुप्तचरों के संवादों का संग्रह करना और शत्रु की कमजोरी देखते ही अपने राजाको उस पर आक्रमण करने की सलाह देना—इत्यादि कर्तव्य राजदूत के होते हैं।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण का नाम—अध्यक्ष-प्रचार अधिकरण है। यह ३६ अध्यायों में समाप्त होता है। इस अधिकरण में नवीन जनपदों को बसाना, उनमें खेती-बारी की तरक्की राजा के भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारियों के कर्तव्य का वर्णन करना—इत्यादि विषयों का समावेश है। इन जनपदों के ४ भेद किये गये हैं। १—संग्रहण, २—खार्वटिक, ३—द्रोणमुख और ४—स्थानीय। सबसे छोटी बस्ती का गाँव कहते हैं। १० गाँवों के समूह को संग्रहण कहते हैं। दो सौ गाँवों के बीच में जो नगर बसाया जाता है—उसे खार्वटिक, चार सौ ग्रामों के बीच में बसाये हुए नगर को द्रोणमुख और आठ सौ गाँवों के मध्य में बसाये गये शहर को स्थानीय नाम दिया गया है। जनपद के सीमान्त पर जनपद में प्रविष्ट होने और बाहर निकलने के द्वार-स्वरूप दुर्ग का निर्माण किया जाता है।

राजा का कर्तव्य है कि इन जनपदों में बहुमूल्य लकड़ियों के जंगल, कारखाने तथा क्रय और विक्रय के लिए जलमार्ग, स्थल मार्ग और बन्दरगाहों का निर्माण करवाये। कृषि की सुविधा के लिए कूएँ, तालाब और बाँध बँधवाने की व्यवस्था करे।

इन जनपदों में राज्य के कल्याण के लिए रचित, या सामूहिक रूप से प्रजा के हित के लिए संगठित संस्थाओं के सिवाय किसी भी राजद्रोहात्मक संस्थाका संगठन न होना चाहिये। ऐसे जनपदों में मनोरंजन के लिए बगीचा

तथा नाट्यशाला नहीं बनायी जासकती। नट, नर्तक, गायक, वादक, मदारी वहाँ जाकर काम में बाधा नहीं डाल सकते। क्योंकि इन जनपदों में नाट्यादि देखने की सुविधा न होने पर लोग सदा खेती के काम में व्यस्त रहेंगे जिससे वहाँ के उत्पादन में खूब वृद्धि होगी।

राजा इस बात पर सदा दृष्टि रखे कि उसका राज्य शत्रु-सेना तथा वनपालों के अत्याचारों से त्रस्त तथा अन्न इत्यादि के अभाव से पीड़ित न रहे।

आगे चलकर आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि मनुष्य का मन स्वभावतः चञ्चल रहता है और सत्ता तथा अधिकार पाने पर वह उन्मत्त हो जाता है। इसी कारण मनुष्य को अश्वका समानधर्मा कहागया है। जैसे रथ, गाड़ी इत्यादि वाहन पर जुतनेके पहले घोड़ा शान्त दिखाई देता है, परन्तु जुतने पर वह सरपट भागने लगता है, उसी प्रकार मनुष्य भी सत्ता और अधिकार पाने पर विकार ग्रस्त हो जाता है। अतएव उसके चरित्र की परीक्षा करते रहना बहुत आवश्यक है।

अतएव राजा को चाहिए कि जो आफिसर या अधिकारी अपहृत या अनैतिक धन से समृद्ध हुए हों, उनका सारा धन निकलवालें और उन्हें अपने पद से पदच्युत कर दें।

इसके पश्चात् कोषाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, कोष्ठगाराध्यक्ष (राज्य के अन्न भंडारों का व्यवस्थापक) पण्याध्यक्ष (विक्रय योग्य वस्तुओं का अधिकारी) उप्याध्यक्ष (वनसम्पदा का अधिकारी) शस्त्रागाराध्यक्ष (शस्त्रागार का अधिकारी) इत्यादि अधिकारियों के कर्तव्य और अधिकार का विवेचन किया गया है।

सीताध्यक्ष (कृषिकर्म का अधिकारी) का विवेचन करते हुए आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि सीताध्यक्ष को कृषि शास्त्र, शुल्ब शास्त्र (भूमि के भेद को बताने वाला शास्त्र) और वनस्पति शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का तीसरा अधिकरण धर्मस्थीयम् अधिकरण है। इस अधिकरण में दीवानी फौजदारी मुकदमे और न्यायाधीशों के कर्तव्य का, विवाह के धर्म, कन्यादान, स्त्री धन, बँटवारे के अधिकार, अचल सम्पत्ति, मकानों की बिक्री सम्बन्धी व्यवस्था, गोचर भूमि, ऋण के आदान-प्रदान, अमानत रकम की व्यवस्था, दास कर्म का विवेचन, मजदूरोंकी व्यवस्था, चोरी-डकैती के लिए दण्ड की व्यवस्था, मार-पीट के लिए दण्ड की व्यवस्था इत्यादि सब बातों का बड़ा सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ का चौथा अधिकरण 'कण्टकशोधनम्' है। आचार्य कौटिल्य ने प्रजा को सतानेवाले लोगों को 'कण्टक' कहा है और इन कण्टकों से प्रजा को बचाने का विवेचन इस अधिकरण में किया गया है। इस अधिकरण में व्यापारियों के द्वारा होनेवाले अन्याय का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि यदि व्यापारी लोग संगठित होकर माल को रोक लें और अनुचित मूल्य पर बेचें तो उनपर एक-एक हजार 'पण' जुर्माना करना चाहिए।

आगे चलकर इस अधिकरण में दैवीविपत्तियों याने व्याधि, दुर्भिक्ष, अग्नि, बाढ़, मूषक इत्यादि से रक्षा करने के उपाय बतलाये गये हैं।

इसके पश्चात् जनपद में प्रजाघाती छिपे हुए तत्वों को ढूँढ़ निकालने के लिए गुप्तचर लोगों की व्यवस्था का विधान बतलाया गया हैं और चोरों तथा डकैतों को गुप्तचरों के द्वारा किस प्रकार पकड़ा जाय, यह उपाय बतलाया गया है।

इस अधिकरण के सातवें अध्याय में आशु मृतक परीक्षा अर्थात् हत्या, दुर्घटना, विषप्रयोग इत्यादि कारणों से मरे हुए मनुष्य को शव-परीक्षा करने का उल्लेख किया गया है।

लिखा है कि जिस मृत व्यक्ति के हाथ पैर, दाँत और नाखून काले पड़ गये हों, मुँह से फेन गिरा हो तो उसे विष से मरा हुआ समझना चाहिए। जो शव रक्त से भींगा हुआ हो, जिसके अंग फट गये हों तो उसे लाठियों या पत्थर की मार से मरा हुआ समझना चाहिए।

इसी प्रकार से कई प्रकार की परीक्षाएँ दी हुई हैं।

आठवें अध्याय में गवाहों के साथ जिरह किस प्रकार की जाय—इसका विवेचन किया गया है।

इसके बाद इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में दण्डनीति का विशद विवेचन किया गया है। अर्थ-दण्ड को ३ प्रकार का बतलाया गया है। प्रथम साहस दण्ड, मध्यम साहस

दण्ड और उत्तम साहस दण्ड। उत्तम साहस दण्ड में एक हजार पण (तत्कालीन रुपया) का अर्थदण्ड, मध्यम साहस दण्ड में पाँच सौ पण का और प्रथम साहसदण्ड दोसौ पचास पण तक का अर्थदंड होता है। शरीर दण्ड में संड़सी से माँस नोचना, अंग काटना इत्यादि दण्डों का समावेश होता है। मृत्यु दण्ड दो प्रकार का होता है। एक शुद्ध मृत्य दण्ड और दूसरा चित्र मृत्युदण्ड कहलाता है। बिना कष्ट के प्राण ले लेने को शुद्ध मृत्यु दण्ड कहते हैं। और नाना प्रकार से कष्ट पहुँचा कर प्राण लेने का नाम चित्र मृत्यु दण्ड है।

इसके पश्चात् बंजर भूमि को तोड़कर उसे उपजाऊ बनाने तथा सुरक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्गों के निर्माण और उनकी वास्तुकला का विस्तार से विवेचन किया गया है।

सन्निधाता

इसके पश्चात् राज्य के प्रमुख कोष अधिकारी—सन्निधाता के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है। सन्निधाता कोष के लिए शुद्ध वजन में, पूर्ण और नया अन्न संग्रहीत करें। इसके अतिरिक्त राज्य के कोष के स्वर्ण और रत्नों की पूरी-पूरी व्यवस्था करे। राज्यकोषाध्यक्ष के पदपर बैठा हुआ अधिकारी यदि भ्रष्टाचार करे—राज्य के खजाने का दुरुपयोग करे तो उसे प्राणदण्ड की सजा दी जाय।

सन्निधाता को बाहरी अर्थात् जनपद से प्राप्त और आन्तरिक अर्थात् नगर से प्राप्त आमदनी की पूरी जानकारी रहनी चाहिए। उससे यदि सौ वर्ष पहले की आय और व्यय के सम्बन्ध में पूछा जाय तो उसे तुरन्त बताना चाहिये और खर्च करने के बाद बची हुई रकम को भी तत्काल दिखाना चाहिये।

इसके पश्चात् समाहर्ता या कर वसूल करने वाले अधिकारी के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। बतलाया है कि बुद्धिमान समाहर्ता आय और व्यय के हिसाब को पूरी तरह समझकर ऐसी व्यवस्था करे जिससे आय बढ़े और व्यय कम हो और खजाना भरा पूरा रहे।

इसके पश्चात् गाणनिक या आय-व्यय के प्रधान अधिकारी या आज कल की भाषा में 'एकाउण्टेण्ट-जेनरल' के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि ऐसे अधिकारी को निम्नलिखित विषयों को अपने रजिस्टर में दर्ज करना चाहिए।

१—राज्य-शासन के अन्तर्गत रहने वाले सभी विभागों की संख्या, उनके कर्तव्य सम्बन्धी नियम और उनके द्वारा होने वाली आय का परिमाण।

२—खनिज-द्रव्य और औद्योगिक कारखानों के द्वारा होने वाली आय का वर्णन।

३—सोना, चाँदी, रत्न इत्यादि वस्तुओं की जानकारी।

४—पूजा, सत्कार, हाथी, घोड़े और राजकर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतन का हिसाब।

५—राजा, उसकी रानी और उसके राजपुत्रों को दिये हुए रत्न और भूमि का रिकार्ड।

६—राजा और राजपुरुषों को नित्य दिये जाने वाले धन के अतिरिक्त उत्सव तथा विशिष्ट अवसरों के लिये दिये जाने वाले धन का ब्योरा।

७—सेना और युद्ध पर होनेवाले खर्च तथा युद्ध में होने वाली लूट और हर्जाने की आमदनी का वर्णन।

उपरोक्त सब कर्तव्यों को बिना प्रमाद के करना, गाणनिक का प्रधान कर्तव्य है। गणनाध्यक्ष के अज्ञान, आलस्य, दर्प और लोभ से सरकारी आय को भारी हानि पहुँच सकती है। इसलिए इस प्रकार के दोषों से युक्त गणनाध्यक्ष के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

भ्रष्टाचार से रक्षा

आगे चलकर आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि—'अगर राजा को इन अधिकारियों या राजपुरुषों पर राज्यधन के गबन करने या प्रजा से रिश्वत लेने का सन्देह हो तो उपयुक्त (अपराधों की जाँच करनेवाला अधिकारी) निधायक (राजधन-रक्षक) निबन्धक, प्रतिग्रहीता, दायक, दापक और अर्थमंत्री इन सब लोगों की एक जाँच-समिति बनाकर उस गड़बड़ी की जाँच करावें। यदि ये लोग अपराधी से मिलकर झूठ बोलें तो वही दण्ड इन्हें भी दिया जाय। उसके बाद राजा सभी इलाकों में यह घोषित

करे कि अमुक अधिकारी द्वारा प्रजावर्ग के जिन लोगों को कष्ट सहन करना पड़ा हो, वे सब लोग 'जाँच-समिति' के पास जाकर अपना दु.ख सुनावें। इस समिति के समक्ष जो व्यक्ति उस अधिकारी के द्वारा खायी हुई रकम का सप्रमाण हिसाब दे तो उतना धन उस अधिकारी से वसूल करके राजा उस व्यक्ति को दिला दे। यदि एक भी अभियोग उस अधिकारी पर प्रमाणित हो जाय तो उसे सब अभियोगों का उत्तरदायी माना जाय। इतना अवश्य है कि उस अपराधी अधिकारी को अपने अभियोग की सफाई देने का पूरा अवसर दिया जाय।

यदि कोई सूचक या गुप्तचर किसी अधिकारी के द्वारा संगठित रूप से धन-अपहरण के अपराध को प्रमाणित कर दे तो वसूल किये हुए धन का छठा हिस्सा उस सूचक या गुप्तचर को पुरस्कार के रूप में दिया जाय।

भिन्न-भिन्न अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न दण्डों की व्यवस्था का विशद विवेचन भी इस अधिकरण में किया गया है।

एक 'कुंभी पाक' नामक दण्ड की भी व्यवस्था इसमें बतलाई गई है। इसमें खौलते हुए तेलकी कड़ाहीमें भून देने की व्यवस्था है।

पाँचवाँ 'योग-वृत्त' नामक अधिकरण है। इस अधिकरण में राजा और राज्य के मार्ग में उपस्थित होने वाले कण्टको के शोधन का विधान है। राजा के मंत्री, पुरोहित, सेनापति या युवराज यदि शत्रुओं से मिल जांय अथवा अपने राजा के साथ विश्वासघात करें तो उन्हें कैसे समाप्त किया जाय इसका विवेचन किया गया है। इस अधिकरण में अगर राजा के कोप या खजाने पर कोई आकस्मिक अर्थसंकट आ पड़े तो उसे कैसे दूर किया जाय इसका विधान भी बतलाया गया है।

राज्य की आय में से राज्य के कर्मचारियों या सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर कितना खर्च किया जाय इस पर लिखते हुए कहा है कि 'राजा का कर्तव्य है कि दुर्ग तथा जनपदों से जितनी आय हो उसका एक चौथाई राजकीय सेवाओं पर खर्च की जाय। आवश्यकता पड़ने पर इससे कुछ अधिक भाग भी खर्च किया जा सकता है। फिर भी राजा का मुख्य कर्तव्य है कि वह राज्य के आयरूपी अंग पर हमेंशा दृष्टि रक्खें। यह भी बतलाया है कि राजकार्य करते २ जो राज कर्मचारी मर जाय तो उसके स्त्री बच्चे उसका वेतन पावेंगे। मृत कर्मचारी के योग्य बालक, वृद्ध एवं रुग्णजनों पर राजा की कृपा दृष्टि बनी रहनी चाहिए।

छुट्टी के दिनों को छोड़ कर बाकी सब दिन नित्य सूर्योदय के समय राजाको अपनी चतुरंगिणी सेना का अभ्यास देख कर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। राजा को इस सेना के प्रति हमेंशा सतर्क रहना चाहिए।

परराष्ट्र नीति

इसके बाद छठा मण्डलयोनि अधिकरण प्रारम्भ होता है। लिखा है अबतक के पांच अधिकरणों में विशेष रूप से राज्य की गृह और अन्तरंग नीति पर विचार किया गया है। अब आगे के सब अधिकरणों में राज्य की परराष्ट्र नीति पर विचार किया जावेगा।

इस अधिकरण में राजा में किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है। इसका विवेचन करते हुए बतलाया है कि राजा में तीन प्रकार की शक्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है (१) ज्ञान बल अर्थात् ज्ञान के द्वारा योगक्षेम साधन की सामर्थ्य को 'मंत्रशक्ति' कहते हैं (२) पराक्रम के बल को उत्साह शक्ति कहते हैं (३) और कोष तथा खजाने तथा सेना को बल को प्रभुशक्ति कहते हैं। इन तीनो शक्तियों से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ कहलाता है। दो शक्तियों से सम्पन्न राजा सम और इन शक्तियों से रहित राजा 'अधम' कहलाता है।

इसके बाद षाड्गुण्य नामक सातवां अधिकरण प्रारम्भ होता है।

संधि और विग्रह

इस अधिकरण में शत्रु राज्यों तथा पड़ोसी राज्यों से किन परिस्थितियों में सन्धि और किन परिस्थियों में युद्ध किया जाय इस विषय पर बहुत विशद विवेचन किया है। इसमें सन्धि और विग्रह के कई भेदोपभेद करके हर परिस्थिति के अनुसार उनपर विचार किया गया है।

सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधी भाव इन छः गुणो का राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में आश्रय

लिया जाता है। आचार्य्य कहते हैं कि शत्रु से अपने को दुर्बल समझने वाला राजा, बलवान् राजा के साथ कुछ दे, लेकर सन्धि कर लें। शक्ति, सिद्धि आदिमें अपने को प्रबल समझने वाला राजा दुर्बल राजा के साथविग्रह या युद्ध करके अपनी जिगीषा को शान्त कर सकता है। मुझे कोई शत्रु परास्त नहीं कर सकता और मुझे भी किसी को परास्त करने की आवश्यकता नहीं है यह समझने वाले राजा को 'आसन' या उपेक्षा भाव ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रबल और शक्तिशाली राजा कोई प्रसंग उपस्थित होने पर अपने शत्रु पर 'यान' अर्थात् चढ़ाई कर सकता है। जो राजा दुर्बल हो वह बलवान् राजा की शर्तों को मान कर उसके साथ 'संश्रय' कर ले। इसीप्रकार किसी कार्य्य में सहायता की अपेक्षा होने पर वह द्वैधी भाव का अवलम्बन कर सकता है। इन छहो गुणों में से एक २ गुण पर फिर एक २ अध्याय में विवेचन किया गया है।

आठवां अधिकरण व्यासनाधिकारिक के नाम से है इस अधिकरण में राजाओं पर आने वाली विपत्तियों के प्रतिकार का उपाय बतला गया है। ऐसी विपत्तियों के समय में शत्रु पर आक्रमण करना ठीक होगा या आत्म-रक्षा ही उचित होगी,इसका भी विवेचन किया गया है। ये आपत्तियां (व्यसन) सात प्रकार की बतलाई गई हैं। मंत्री व्यसन (मंत्रियों द्वारा आनेवाली विपत्ति) जनपद व्यसन, दुर्ग व्यसन, कोश व्यसन (खजाने की कमी से आने वाली विपत्ति) सेना व्यसन (सेना के विद्रोही होने पर आने वाली विपत्ति) और मित्र व्यसन (मित्रों के द्वारा आने वाली विपत्ति)।

आचार्य्य कहते हैं कि शत्रु के द्वारा आने वाली बाह्य विपत्ति से घर में उत्पन्न होने वाली आभ्यन्तरिक विपत्ति ज्यादा भयंकर होती है। इसके पश्चात् मनुष्य को होनेवाले व्यसन काम, क्रोध, जुआ व्यभिचार मद्यपान आदि का विवेचन किया गया है।

इसके पश्चात् नौवां 'अभियास्यत्कर्म' नामक अधि-करण प्रारम्भ होता है। इस अधिकरण में सेना की तैयारी, सेना के उपयोग और शत्रु सेना से टक्कर लेने वाली सेना के संगठन का वर्णन किया गया है। सेना-विज्ञान का विवेचन करने के साथ, युद्ध के समय भीतर और बाहर से होने वाले उपद्रवों और विश्वासघातों से सतर्क रहने पर जोर दिया गया है।

दसवां अधिकरण 'सांग्रामिक' नाम से है। इस अधि-करण में सेना के पड़ाव डालने की व्यवस्था तथा युद्ध के समय में व्यूहरचना का विवेचन किया गया है। व्यूह रचना का विवेचन करते हुए लिखा है कि—

'यदि सेना के अगले भाग पर आक्रमण होने की सम्भावना हो तो उसके प्रतिकार के लिए 'मकर व्यूह' की रचना करना चाहिए। यदि सेना के पिछले भाग पर आक्रमण का भय हो तो 'शकट व्यूह' की रचना करना चाहिए। यदि सेना के दोनों बाजुओं पर आक्रमण की सम्भावना हो तो 'वज्र व्यूह' और चारों तरफ से आक्रमण की सम्भावना हो तो 'सर्वतो भद्रव्यूह' की रचना करना चाहिए।

इसके बाद कूट युद्ध या युद्ध में धोखे से किस प्रकार अचानक आक्रमण करके असावधान शत्रु को समाप्त किया जाता है, इसका विवेचन किया गया है। इसी प्रकार युद्ध के समय पैदल सेना, घुड़सवार और हाथियों की सेना के कर्त्तव्य-कर्म का विवेचन किया गया है।

ग्यारहवां अधिकरण "संघ वृत्त" नाम से है। और बारहवां अधिकरण 'आबलीयसम्' के नाम से है। इन दोनों छोटे अधिकरणों में भेदनीति के उपयोग का विवेचन तथा दूत लोगों के कर्मों की व्याख्या की गई है।

तेरहवां अधिकरण 'दुर्गलम्भोपाय' का है इसमें शत्रु के दुर्ग का भेदन तथा छल-कपट के द्वारा शत्रु सेना को दुर्ग से बाहर लाकर युद्ध के लिए मजबूर करने के उपाय बतलाये हैं।

और चौदहवां अधिकरण 'औपनिषदिक' के नाम से है। इसमें तंत्र, मंत्र तथा विष प्रयोग के द्वारा शत्रु के प्राण लेने का विवेचन किया गया है। इस अधिकरण में विष प्रयोग इत्यादि का जो विधान बतलाया गया है वह आज के युग में अनैतिक माना जाता है।

मतलब यह कि जीवन का कोई अङ्ग ऐसा नहीं जिस पर इस महान् ग्रंथ में प्रकाश न डाला गया हो। यद्यपि,

रत्नादिक की परीक्षा आपको इसमें मिलेगी। खेती वाड़ी के व्यवहारिक ज्ञान का विवेचन इसमें मिलेगा। विवाह संस्था, उत्तराधिकार, राजनीति, कूटनीति, सेना का संगठन, व्यूह रचना, दण्डनीति का ज्ञान इसमें मिलेगा। गुप्तचर विभाग का संगठन, राजपुरुषों के कर्तव्य इत्यादि सभी विषयों का विवेचन – अगर मनुष्य शान्तिपूर्वक इसका अध्ययन करे— तो उसे इसमें मिल जायगा। इस प्रकार बाईस तेईस सौ वर्ष पुराना होनेपर भी यह ग्रन्थ युगयुगान्तरों तक मानव जाति के उपयोग में आता रहेगा।

इस अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने आचार्य विशालाक्ष, वृहस्पति, शुक्राचार्य, पाराशर, कौणपदन्त इत्यादि आचार्यों को उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि भारतवर्ष के राजनैतिक ज्ञान की सूक्ष्म परम्पराएँ आचार्य कैटिल्य से भी सैकड़ों वर्ष पहले हमारे यहां विकसित हो चुकी थीं।

इस ग्रंथ के कई अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। कुछ समय पूर्व रूसी भाषा में इसका अनुवाद हुआ था। वहां पर छपते ही इसकी लाखों प्रतियां बिक गईं। मगर हमारे देश में अबतक भी इस ग्रन्थ का जैसा उपयोग होना चाहिए, नहीं हो सका है।

कौलाचार सम्प्रदाय

तन्त्र-शास्त्र की एक विशिष्ट प्रकार की साधना को कौलाचार साधना कहा जाता है।

प्राचीन काल में कौलाचार के अनेक सम्प्रदाय भारतवर्ष में फैले हुए थे। जिनमें से रोमकूपादि कौल, महाकौल, योगिनी-कौल, पदोत्थित-कौल इत्यादि सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं।

चौरासी सिद्धों में से प्रसिद्ध सिद्ध मछिन्द्रनाथ योगिनी-कौल सम्प्रदाय के अनुयायो थे। सुप्रसिद्ध सिद्ध गोरखनाथ और कश्मीर के अभिनव गुन के समान प्रसिद्ध विद्वान भी कौलाचार मत के ही अनुयायी थे।

कौल सम्प्रदाय का प्रधान पीठ आसाम में कामाख्या देवी के क्षेत्र में था। वहाँ से इस मतका प्रचार प्रधान रूप से कश्मीर में हुआ।

कौलाचार-मत में पञ्चमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुनको—उपासना का मुख्य साधन माना गया है। सौन्दर्य लहरी के भाष्यकार लक्ष्मीधर ने सौन्दर्य लहरी की व्याख्या में कौल-सम्प्रदाय के दो अवान्तर भेदों का निर्देश किया है। इनमें पूर्व कौल, श्रीचक्र के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं किन्तु उत्तर कौल, सुन्दरी तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं और अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। उत्तर कौल के इस सम्प्रदाय पर तिब्बती-तन्त्र का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।

कहा जाता है कि वशिष्ट ने कामरूप में इस प्रकार की पूजा का प्रचार महाचीन या तिब्बत से लाकर किया था।

पञ्चमकारों की इन्हीं पूजा के कारण यह मत वामाचार के नाम से भी प्रसिद्ध होने लगा।

वैसे तात्विक दृष्टि से यह सम्प्रदाय शाक्तमत की साधना के दिव्यभाव का उपासक है, जो साधक द्वैत भावना का सर्वथा त्याग कर अपने उपास्य की सत्ता में अपनी सत्ता को लीन कर देता है, वह तांत्रिक भाषा में 'दिव्य' कहलाता है। उसकी मानसिक स्थिति 'दिव्य भाव' कहलाती है।

कौलाचार तांत्रिक आचारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि यह पूर्ण अद्वैत-भावना में रमने वाले दिव्य-साधक के द्वारा ही पूर्णतः गम्य और अनुसरणीय होता है।

—(ना० प्र० विश्वकोष)

कौशल

अयोध्या के आसपास प्रदेश। जो प्राचीन युग में कौशल नाम से प्रसिद्ध था और जिसका प्राचीन इतिहास आर्य्य-संस्कृति के प्राचीन इतिहास की परम्परा साथ-साथ चलता है।

कौशलके पूरबमें विदेह, वैशाली और अङ्ग के राज्य थे। दक्खिन में काशी राज्य या वत्स देश, पश्चिम में उत्तर पाञ्चाल, दक्षिणी पांचाल और हस्तिनापुर का राज्य था।

हमारी प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार आर्यावर्त का सबसे पहला राजा वैवस्वत मनु था। वैवस्वत मनु ने अपना विशाल साम्राज्य अपने दस पुत्रों में बांट

दिया। जिसमें उनके सबसे बड़े बेटे इक्ष्वाकु को मध्य देश का राज्य मिला जिसकी राजधानी अयोध्या थी।

इक्ष्वाकु से उन्नीसवीं पीढ़ी में भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध सम्राट मान्धाता हुए। जिनका विवाह यादव वंश के राजा शशबिन्दु की कन्या बिन्दुमतीसे हुआ था। मान्धाता इस युग का सबसे बड़ा चक्रवर्ती सम्राट् था। सम्राट् शब्द का उपयोग सबसे पहले उसी के लिए किया गया। उसने पौरवोंके देश, कन्नौज, आनवों के देश और दक्षिण हैहय वंश के राज्य को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स के भाई मुचकुन्द ने नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर 'मान्धाता' नगरी बसाई जो इस समय 'मान्धाता ओंकारेश्वर' के नाम से तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है।

इसके पश्चात् अयोध्या के राजवंश में त्रिशंकु और उनके पुत्र हरिश्चन्द्र हुए।

मान्धाता से बीस पीढ़ी बाद इस प्रदेश में 'सगर' नामक महान् प्रतापी राजा हुआ। सगर ने अपने बेटे असमंजस को हटाकर अपने पोते अंशुमान को राज्य दिया। राजा अंशुमान की दूसरी पीढ़ी में महान् प्रतापी और चक्रवर्ती सम्राट् भागीरथ हुआ। जिसके नाम से गंगा की एक शाखा का नाम भागीरथी हुआ। भागीरथ की छठी पीढ़ी में राजा ऋतुपर्ण हुआ। ऋतुपर्ण की छठी पीढ़ी में राजा दिलीप अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। इसके समय से ही अयोध्या के आसपास का देश 'कौशल देश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

राजा दिलीप का पोता महान् चक्रवर्ती राजा रघु हुआ। इसी 'रघु' के नाम से कौशल का सूर्यवंशी राजवंश रघु वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रघु का पुत्र अज हुआ और अज के पौत्र दशरथ हुए। दशरथ के पुत्र भगवान् रामचन्द्र हुए। जिन्होंने भारतीय इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। रामचन्द्र ने ही वनवास के समय सबसे पहले दक्षिणी भारत में प्रवेश कर वहाँ रहने वाली वानर, ऋक्ष इत्यादि आदिम जातियों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर, रक्ष-संस्कृति के पृष्ठपोषक रावण को पराजित किया, और दक्षिणी भारत में आर्यजाति के प्रवेश का मार्ग सुगम बना दिया। रामचन्द्र के पहले भी यद्यपि परशुराम, अगस्त्य आदि मुनि और उनके वंशज दक्षिण में बस चुके थे और दक्षिण भारत के वायव्य कोने में यादव लोगों का राज्य स्थापित हो चुका था। फिर भी रामचन्द्र के पश्चात् ही व्यापक रूप से दक्षिण में आर्य लोगों का प्रवेश हुआ।

चौदह बरस के वनवास के पश्चात् रामचन्द्र वापस अयोध्या आये और उन्होंने कौशल का राज्य सम्भाला। उनका शासन काल दीर्घ और समृद्धिशाली था।

रामचन्द्र के पश्चात् लव को कौशल का उत्तरी भाग मिला, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी और कुश को अयोध्या का राज्य प्राप्त हुआ।

रामचन्द्र वास्तव में कौशल देश के अन्तिम और महान् सम्राट् थे। उनके बाद त्रेता युग का अन्त होकर द्वापर युग का प्रारम्भ हुआ। द्वापर युग में कौशल का राज्य दूसरे राज्यों से पिछड़ गया और इस युग में कौशल का स्थान कुरु देश और पांचाल ने ले लिया। रामचन्द्र इक्ष्वाकु से ६४ वीं पीढ़ी में त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुए थे।

इस प्रकार कौशल देश का इतिहास अत्यन्त प्राचीन गौरवपूर्ण और आर्य सभ्यता के महान् प्रतीक की तरह रहा। इस देश के इतिहास को इक्ष्वाकु, मान्धाता, सगर, हरिश्चंद्र, दिलीप, रघु और रामचन्द्र के समान धर्मात्मा, सत्यवादी और महान् सम्राटों ने गौरवान्वित किया। जिसकी मिसाल संसार के इतिहास में अन्यत्र कहीं भी मिलना बहुत कठिन है।

जनपद युग में कौशल देश के इतिहास ने फिर महत्व ग्रहण किया। ई० सन् से करीब ६२५ वर्ष पूर्व कौशल में महा कौशल नामक एक राजा हुआ। इसने काशी राज्य को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। महाकौशल का पुत्र प्रसेनजित हुआ। प्रसेनजित की एक बहन मगध सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) को ब्याही थी। उसके नहाने और शृंगार के खर्च के लिए प्रसेनजित ने काशी का एक गाँव श्रेणिक बिम्बसार को दिया था जिसकी आमदनी एक लाख मुद्रा वार्षिक थी।

मगर कुछ समय पश्चात् मगध की राजगद्दी पर श्रेणिक का पुत्र अजातशत्रु आया। उस समय कौशल के राजा प्रसेनजित और अजातशत्रु में किसी कारण से अनबन हो गई और प्रसेनजित ने दहेज में दिया हुआ काशी का वह गांव वापस ले लिया। तब अजातशत्रु ने प्रसेनजित के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। तीन बार तो प्रसेनजित हार गया मगर चौथी लड़ाई में प्रसेनजित ने अजातशत्रु को बन्दी बना लिया। तब अजातशत्रु ने काशी के गाँव पर से अपना दावा छोड़ दिया। इस पर प्रसेनजित ने अजातशत्रु को छोड़ दिया, उसके साथ अपनी कन्या वंजिरा का विवाह भी कर दिया और काशी का वही ग्राम फिर उसे दहेज में दे दिया।

प्रसेनजित का पुत्र विड्रूरथ हुआ। विड्रूरथ के दिल में शाक्य लोगों के प्रति बड़ी घृणा के भाव थे। क्योंकि शाक्य राजा ने धोखे से वासभखत्तिया नामक अपनी एक दासी पुत्री से प्रसेनजित का विवाह कर दिया था और विड्रूरथ उसी का पुत्र था। दासी पुत्र होने से लोग उस पर हलकी जाति होने का व्यङ्ग करते थे। इसी प्रतिहिंसा की भावना से उसने शाक्य लोगों की राजधानी कपिलवस्तु पर चढ़ाई करके छोटे-छोटे बच्चो तक की हत्या कर दी।

अवसर देख कर अजातशत्रु ने कौशल पर आक्रमण कर दिया और इस राज्य के एक बड़े हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। तब से कौशल की शक्ति बड़ी क्षीण हो गई और मगध साम्राज्य का बहुत विस्तार हो गया।

इसके पश्चात् कौशल बहुत समय तक मगध साम्राज्य का अंग रहा, फिर बाद में कन्नौज के साम्राज्य में रहा उसके बाद यह मुसलमानों के राज्य में आया और इसका नाम अवधप्रान्त हो गया।

कौशाम्बी

प्राचीन वत्स राज्य की राजधानी। प्राचीन भारतवर्ष की एक समृद्ध नगरी, जो इलाहाबाद के समीप उसी स्थान पर बसी हुई थी जिस स्थान पर इस समय इलाहाबाद जिले का कोसम गांव स्थित है।

कुरु वंश के संस्थापक राजा कुरु की पांचवीं पुश्त में वसु नामक एक बहुत प्रतापी चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने मध्य देश से दक्षिण, दक्षिण मत्स्य से मगध तक के सारे राज्यों को विजय कर अपने राज्य में मिला लिया।

वसु के पश्चात् उसका साम्राज्य उसके पांच पुत्रों में विभाजित हो गया। उसके तीसरे पुत्र कौशाम्ब के हिस्से में वत्सराज्य आया। उसने अपने नाम से सुप्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी को बसाया। और वहाँ अपनी राजधानी बनाई। आगे के अनेक युगों तक 'कौशाम्बी' वत्स देश की राजधानी रही।

कौशाम्बी मे बहुत समय तक भरतवंश का राज्य चलता रहा। यह जमुना के किनारे पर स्थित थी और व्यापार तथा युद्ध के राज पथों पर नियंत्रण करने के लिए बहुत मौके के नाके पर थी। पश्चिमी समुद्र के बन्दरगाहों तथा गोदावरी काटे के प्रतिष्ठान से मध्य देश और मगध की नगरियों को जोड़ने वाले रास्ते कौशाम्बी से होकर ही गुजरते थे।

ई० सन् से पूर्व छठी शताब्दी में यहां पर भरत वंश का राजा उदयन राज्य करता था। आर्यावर्त्त के उस समय के सब राजवंशों में भरतवंश सबसे प्राचीन और कुलीन समझा जाता था। उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से उदयन की प्रेम कहानी साहित्य और इतिहास में प्रसिद्ध है। (यह कहानी इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में 'उदयन' नाम के अन्तर्गत देखे)। राजा उदयन बड़ा प्रतापी और लोकप्रिय राजा था। मगर इस पर मगध के राजा अजातशत्रु ने आक्रमण करके इसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। तब से कौशाम्बी के गौरव का भी अस्त हो गया।

कौशाम्बी के उदयन दुर्गके भग्नावशेष आज भी विद्यमान है। उसकी चहारदीवारी और बुर्जें अभी भी दिखलाई पड़ती हैं। दुर्ग की लम्बाई करीब १५४०० हाथ और प्राचीरों की ऊँचाई २४ हाथ है। बुर्जें इससे भी ऊँची ३४ हाथ तक की हैं। पहले प्राचीर के चारों ओर खाईं थी मगर अब उसकी जगह केवल गड्ढे रह गये हैं।

कौशाम्बी की सबसे प्राचीन कीर्ति उदयन राजा के

द्वारा बनाई हुई रक्त चन्दन काष्ठ से निर्मित भगवान् बुद्ध की प्रतिमा है। हुएन संग के मत से यह प्रतिमा उदयन ने बुद्ध के जीवन काल में ही बनाई थी। यह उदयन के महल के मध्य भाग में एक गुम्बजदार मन्दिर में प्रतिष्ठित थी। हुएनसंग के समय में वह कौशाम्बी के मध्य भाग में स्थित थीं। हुएनसंग के कथनानुसार कौशाम्बी से कुछ दूर पर अशोक के द्वारा निर्मित एक १३८ हाथ ऊँचा स्तूप बना हुआ था। मगर इस समय उसका कोई पता नहीं चलता। इधर के लोगों की परम्परा के अनुसार इस स्तूप के निकट बुद्धदेव तपस्या करते थे और उसके पास ही एक दूसरे स्तूप में उनके नख और दांत रक्खे हुए थे। कौशाम्बी के उप नगर गोशीर्ष नामक स्थान पर भगवान् बुद्ध ने आनन्द को वसुन्धरा व्रत सिखाया था।

कौशाम्बी से उत्तर पश्चिम झाऊ घाट से दो मील दूर रिठौरा नामक स्थान पर दो मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हुए हैं इन मन्दिरों की वास्तु-कला दर्शनीय है। इनमें एक मन्दिर हर गौरी का है। इस हर गौरी मन्दिर में एक बहुत पुराना शिला लेख लगा हुआ है उससे मालूम होता है कि गुप्त संवत् १३५ में राजा भीम वर्मा ने इस देवमूर्ति को प्रतिष्ठित किया था। इसके समीप ही सम्राट् समुद्र गुप्त का कीर्ति-स्तम्भ खड़ा है।

कौसानोस्ट्रा

इटाली के अन्दर अवैध रूप से नशीली चीजें बेचने वाले, खूनियों और अपराधियों का एक गैरकानूनी संगठन जो 'कौसानोस्ट्रा' के नाम से पुलिस की जानकारी में आया है।

कुछ ही समय पूर्व अमेरिका के एटर्नी जनरल राबर्ट कैनेडी ने अवैधमादक द्रव्य बेचनेवालों, चोरों और खूनियों के संगठन का संसार के सामने पर्दा फाश किया।

जोसेफ वेलाचीन नामक एकव्यक्ति जो स्वयं इस संगठन से सम्बन्धित था, सन् १९६० में अवैधमादक द्रव्य बेचने के अपराध में गिरफ्तार हुआ और एटलायण्ट की जेल में भेज दिया गया। उस जेल में कौसानोस्ट्रा का बड़ा सरदार 'वीटो गैनोवीस' पहले ही मौजूद था। जेल में इन दोनों के बीच में मतभेद होगये और गैनोवीस ने वैलाची को मारने का प्रयत्न किया मगर वैलाची किसी प्रकार चालाकी से बच गया और अपनी जीवनरक्षा के लिये इसने इस संस्था का सारा भेद बतला दिया।

उसके अनुसार इस संस्था के सदस्य इटालियन जाति के लोग ही हो सकते हैं। जब किसीको मेम्बर बनाया जाता है तो उसे रक्त की शपथ लेकर कहना पड़ता है कि 'अगर मैं किसीको इसका रहस्य बतलाऊँ तो मौत की सजा का पात्र होऊँगा।' कौसानोस्ट्रा के सरदार सारे अमेरिका के बड़े शहरों में फैले हुये अपने सदस्यों की सरगर्मियो का निरीक्षण करते रहते हैं।

सन् १९५२ में आरनाल्ड शल्टर नामक व्यक्ति का खून हुआ जिसके रहस्य का पुलिस को पता नहीं चला।

इस समय कौसा नोस्ट्रा का सबसे बड़ा सरदार है अपने प्रतिद्वन्द्वी कौसटेलो को मरवाना चाहता था। उसने दो बन्दूक वाले कोसटेलो को मारने के लिये भेजे। मगर कौसटेलो गोली लगने पर भी घायल होकर बच गया। कौसटेलो को मरवाने का यह कार्य एक दूसरे सरदार एन्सटाशिया को पसन्द नहीं आया। और उसने गैनोवीस से बदला लेने की ठानी। दोनों एक दूसरे को मारने की फिक्र करने लगे। एक दिन एन्सटाशिया न्यूयार्क के एक सैलून में बाल कटवा रहा था कि दो बन्दूक वालों ने आकर गोलियों से उसके शरीर को भून डाला।

१४ नवम्बर सन् १९५७ को न्यूयार्क में एक क्राइम कन्वेन्शन (Crime Convention) हुई। इसमें गैनोवीस तथा कौसटेला के झगड़े को सुना जाने वाला था। मगर उसी समय पोलिस को पता लग गया और उसने अचानक छापा मारकर ६५ सरदारों को पकड़ लिया। मगर गैनोवीस उस चक्कर से भी निकल भागा और इन सरदारों की गिरफ्तारी के कारण वह कौसानोस्ट्रा का सबसे बड़ा सरदार बन बैठा। द्वितीय महायुद्ध के समय गैनोवीस इटाली भाग गया क्योंकि इसके विरुद्ध हत्या का आरोप था। मगर कुछ समय बाद अमेरिकन पुलिस इसे फिर पकड़ लाई। मगर मुकदमे के दौरान इसके विरुद्ध जो गवाह था उसे किसी ने जेल में जहर देकर मार डाला। जिसके परिणाम स्वरूप प्रमाण के अभाव में गैनोवीस बरी कर दिया गया गया।

अमरीका का जासूसी विभाग इस सिण्डीकेट को तोड़ने का प्रयास कर रहा है। परन्तु इसका खयाल है कि इसमें काफी समय लग जावेगा।
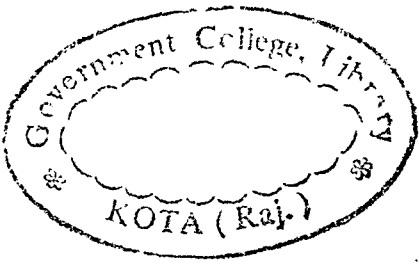
परिशिष्ट

कादम्बिनी

दिल्ली से प्रकाशित होनेवाली हिन्दी-भाषा की एक श्रेष्ठ मासिकपत्रिका। जिसका प्रकाशन सन् १९६० ई० से प्रारम्भ हुआ।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग में, जिन श्रेष्ठ मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, उनमें 'कादम्बिनी' अपना प्रमुख स्थान रखती है।

इस पत्रिका में हिन्दी के श्रेष्ठ और मंजे हुए साहित्यकारों की ऊँचे दर्जे की और उपयोगी रचनाओं का समावेश रहता है, तथा ज्ञान, विज्ञान, कहानी और ऐतिहासिक खोजों सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख इसमें पढ़ने को मिलते हैं। यह पत्रिका 'हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड की ओर से प्रकाशित होती है और इसके वर्तमान सम्पादक श्री रामानन्द 'दोषी' हैं।

कुमारगुप्त प्रथम

भारतवर्ष में गुप्त राजवंश का एक सुप्रसिद्ध सम्राट्। कुमारगुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की महादेवी ध्रुव देवी से उत्पन्न पुत्र था। जिसका शासन काल ई० सन् ४१४ से ४५५ तक रहा।

सम्राट् कुमार गुप्त प्रथम, गुप्त राजवंश का एक प्रतापी सम्राट् था। इसने सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य को ज्यों का त्यों अक्षुण्ण रक्खा। गुप्त शक्ति इस समय अपने चरम उत्कर्ष पर थी। सारे साम्राज्य में सुख, शान्ति और स्मृद्धि की लहरें प्रवाहित हो रही थीं। सम्राट् हिन्दू धर्म के उपासक परम भागवत थे मगर जैन, बौद्ध इत्यादि अन्य धर्मों के प्रति भी राज्य की नीति बहुत उदार थी और इन्हें भी फलने फूलने का काफी अवसर प्राप्त था।

सम्राट् कुमारगुप्त से सम्बन्ध रखने वाले १६ शिला लेख प्राप्त हुए हैं। इनसे मालूम होता है कि इस सम्राट् ने अश्वमेध यज्ञ भी किया था जो किसी भारी विजय के उपलक्ष्य में किया जाता है। मगर यह विजय कहाँ प्राप्त की गई थी इसकी जानकारी नहीं मिलती। सम्राट् कुमारगुप्त का साम्राज्य बलख से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था तथा मालवा, गुजरात और मध्य प्रदेश भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। पूर्वी मालवा में उसका गवर्नर घटोत्कच गुप्त और मन्दसौर में उसका गवर्नर बन्धुवर्मा था।

कुमारगुप्त के शासन काल में दूसरी बड़ी घटना श्वेत-हूणों का आक्रमण था जो उसके शासन के अन्तिम दिनों में प्रारम्भ हुआ। मगर युवराज स्कन्द गुप्त ने बड़ी वीरता से उस आक्रमण का मुकाबिला करके हूणों को एक बार तो पीछे भगा दिया। मगर इससे साम्राज्य की शक्ति को जो क्षति पहुँची वह भर नहीं सकी।

कुमारगुप्त हिन्दू होते हुए भी दूसरे धर्मों के प्रति उदार था। उसके उदयागिरि वाले शिला लेख में पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापन का वर्णन किया गया है तथा एक शिला लेख में बुद्ध स्तुति का भी उल्लेख है। भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नालन्द-विद्यापीठ का संस्थापक भी कुमारगुप्त ही माना जाता है।

कुमारगुप्त द्वितीय

कुमार गुप्त प्रथम के पश्चात् गुप्तवंश की राजगद्दी पर उसका पुत्र स्कन्द गुप्त आसीन हुआ। स्कन्द गुप्त के कोई पुत्र न होने से उसके बाद उसका बड़ा भाई पुरु गुप्त वृद्धावस्था में राजगद्दी पर आया। पुरुगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त राजा हुआ।

नरसिंह गुप्त के पश्चात् कुमार गुप्त द्वितीय मगध की राजगद्दी पर आया। इसका शासन सन् ४७३ से सन् ४७७ तक रहा। पुरुगुप्त के समय में वकाटक नरेश नरेन्द्र सिंह ने मालवे पर अपना अधिकार कर लिया था। कुमार गुप्त ने अपने शासन काल में मालव देश को पुनः वकाटकों से मुक्त करवा कर अपने राज्य में मिला लिया मगर इसी समय से गुप्त साम्राज्य की शक्ति तीव्रगति से क्षीण होने लग गई थी जो अन्त में गुप्त साम्राज्य के पतन का का कारण हुई।

कैफ़ी (ब्रजमोहन दत्तात्रय)

उर्दू भाषा के एक प्रसिद्ध कवि ब्रजमोहन कैफ़ी। जिनका जन्म सन् १८६५ के आस पास हुआ था।

ब्रजमोहन कैफ़ी कश्मीरी ब्राह्मण थे। सन् १८८५ में इन्होंने अपनी पहली उर्दू कविता का पाठ किया था। उसके बाद तो अपनी अनेक रचनाओं से ये उर्दू साहित्य संसार में बहुत आगे आ गये। "वारिदात" के नाम से इनकी कविताओं का एक बड़ा संग्रह निकल चुका है। इनके निबन्धों का संग्रह "मन्शूरात" के नाम से प्रकाशित हुआ है। उर्दू के व्याकरण पर इन्होंने "कैफ़िया" नामक पुस्तक की रचना की। समालोचना के क्षेत्र में भी इनका अच्छा नाम था।

क्वेटा

संयुक्त भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र का एक सुप्रसिद्ध नगर, जो सन् १९३५ ई० में भयंकर भूकम्प के कारण समूल नष्ट हो गया था, इसके बाद इसका फिर से निर्माण किया गया।

इस समय 'क्वेटा' पाकिस्तान का सबसे बड़ा सैनिक अड्डा बना हुआ है। सैनिक शिक्षा देने का सबसे बड़ा 'केन्द्र' इसी नगर में बना हुआ है। यह नगर रेलों के द्वारा अफगानिस्तान और ईरान की सीमाओं से जुड़ा हुआ है। ताजे फल और सूखे मेवों का उत्पादन भी यहाँ बहुत अधिक होता है।

यहाँ की जनसंख्या एक लाख से कुछ कम है।

एफिल टॉवर

फ्रांस के गुस्ताव एफिल नामक प्रसिद्ध शिल्प शास्त्री के द्वारातैयार की हुई तथा पेरिस में स्थापित ६८४ फुट ऊंची एक विशाल मीनार। जिसकी स्थापना मार्च सन् १८८९ में हुई।

गुस्ताव एफिल का जन्म सन् १८३२ में फ्रान्स के एक छोटे गाँव में हुआ था। इञ्जीनियरिंग स्कूल में अध्ययन करने के पश्चात् इसने 'इस्पात' के क्षेत्र में प्रवेश किया। यह आधुनिक इस्पात युग का निर्माता समझा जाता है। रेलोंके बड़े बड़े विशाल पुल जो पहले चूना, सीमेंट और ईंटों के द्वारा भारी लागत में तैयार होते थे। उन पुलों का निर्माण इस्पात के द्वारा, आधे मूल्य और आधी मजदूरी में करने के अन्दर एफिल ने आश्चर्य जनक सफलता पाई। इस्पात के द्वारा कई बड़े-बड़े पुलों का निर्माण एफिल के द्वारा स्थापित की हुई कम्पनी ने करके, इस्पात के इतिहास में एक नवीन और आश्चर्यजनक अध्याय जोड़ दिया। और अब तो प्रायः सारे संसार में रेलवे पुलों का निर्माण इस्पात के द्वारा ही होने लगा है।

मगर एफिल के जीवन की सब से महत्त्व पूर्ण कृति उसके द्वारा निर्मित किया हुआ पेरिस का सुप्रसिद्ध एफिल टॉवर है। जो शताब्दियों तक उसके नाम और कीर्ति को अमर रक्खेगा।

सन् १८८५ में फ्रान्स के अन्दर एक 'विश्व-मेले' का आयोजन किया गया। एफिल ने इस मेले की स्मृति में ३०० मीटर ऊँची एक इस्पात की मीनार बनाने की योजना रक्खी, जिसकी लागत सत्तर लाख रुपया बताई गई। फ्रान्स की सरकार ने इस रकम का २० प्रतिशत व्यय देना स्वीकार किया। तब एफिल ने अपनी कम्पनी का कुछ हिस्सा गिरवी रखकर शेष रकम जुटाई और सन् १८८७ के जनवरी मास से चालीस इंजीनियरोंने इसका काम प्रारम्भ किया। दो वर्ष में पन्द्रह हजार इस्पात की मीनारें और उनको जोड़ने के लिए ढाई लाख रिपिट बन कर तैयार हुए। सन् १८८९ में इन सब मेहराबों को जोड़कर यह ६८४ फुट ऊँची मीनार खड़ी कर दी गई और २१ तोपोंकी सलामी के साथ एफिलने उस पर फ्रान्स का राष्ट्रीय ध्वज फहराया। और कहा कि "केवल फ्रान्स को ही इस बात

का गौरव है कि उसका राष्ट्रीय ध्वज ६८४ फुटकी ऊंचाई पर फहरा रहा है।' एफिल ने इस टॉवर का निर्माण कर सारे संसार के भवन निर्माताओं को एक उत्साह वर्द्धक चुनौती दी।

एफिल टॉवर के निर्माण के बाद केवल आठ महीने में बीस लाख व्यक्तियों ने उसे देखा और उसकी आमदनी से एफिल का सारा कर्जा चुक गया। इसके बाद भी बीस वर्ष तक उसकी आमदनी पर उसका अधिकार रहा। अभी तक इस विशाल मीनार का एक भी पुर्जा खराब नहीं हुआ है।

सन् १६२३ में ६१ वर्ष की उम्र में इस संसार प्रसिद्ध शिल्पी की मृत्यु हुई।

★